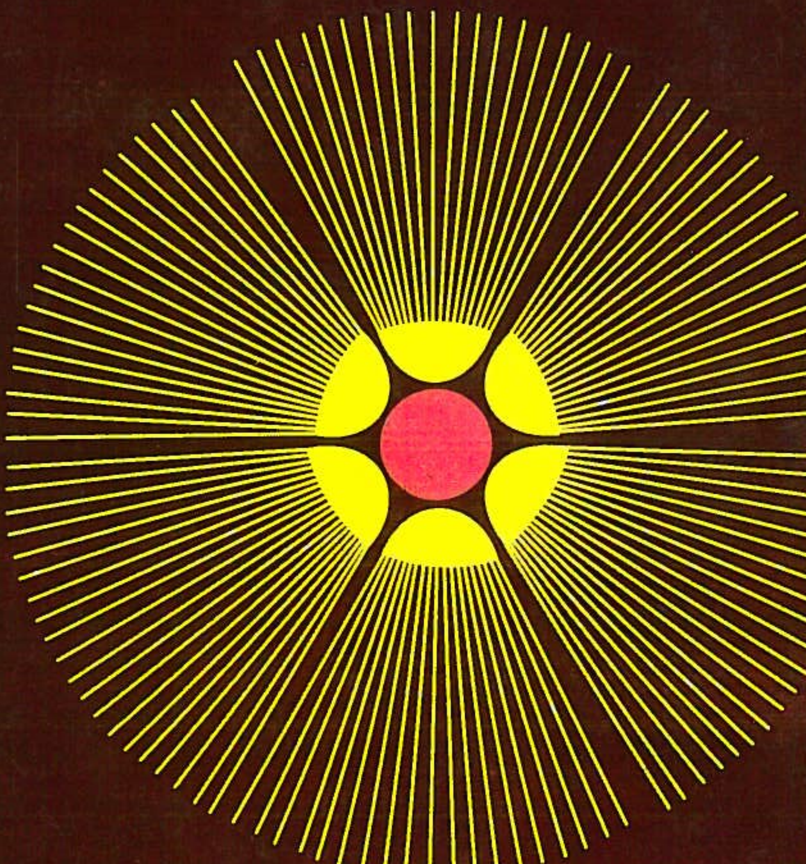
षड्दर्शनम्

(सूत्र और हिन्दी अनुवाद, सूत्र-अनुक्रमणिका सहित)

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती



ओ३म्

षड्दर्शनम्

[सूत्र और हिन्दी-अनुवाद]



अनुवादक

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

विषय-सूची

भूमिका	...	v
न्यायदर्शनम्	...	१
वैशेषिकदर्शनम्	...	५१
सांख्यदर्शनम्	...	९१
योगदर्शनम्	...	१४३
मीमांसादर्शनम्	...	१६५
वेदान्तदर्शनम्	...	४२१
सूत्र-अनुक्रमणिका	...	४७७

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

जन्म : २० जनवरी १९३१



शिक्षा : एम० ए० (संस्कृत) दिल्ली विश्वविद्यालय, १९६६, आप नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। १६ फरवरी १९७५ वसन्त पञ्चमी के ऐतिहासिक और पावन पर्व पर आप संन्यास-आश्रम में दीक्षित हुए। आपका सारा जीवन वैदिकधर्म के प्रचार और प्रसार के लिए समर्पित है। आप वैदिक वाङ्मय के प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक, चिन्तक और विचारक हैं।

सम्प्रति आप निरन्तर स्वाध्याय और वैदिक अनुसन्धान में संलग्न रहते हैं। अपने स्वाध्याय का रस औरों को भी पिलाते रहते हैं। अब तक आप छोटे-बड़े पचास ग्रन्थ लिख चुके हैं, जिनकी विद्वानों और सर्वसाधारण ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

आपका व्यक्तिगत पुस्तकालय बहुत विशाल है। वैदिक साहित्य का इतना विशाल संग्रह देहली में शायद ही कोई हो।

लेखक होने के साथ आप प्रभावशाली वक्ता भी हैं। आपके मुख से वेद-मन्त्रों की व्याख्या सुनकर श्रोता मुग्ध हो जाते हैं।

आप वेद के विद्वान् हैं, उपनिषदों का आपने मन्थन किया है, रामायण और महाभारत के समालोचक हैं। मत-मतान्तरों पर आपका गम्भीर अध्ययन है; सिद्धान्तों के आप मर्मज्ञ हैं; कर्मकाण्ड के विशेषज्ञ हैं। इस सबके साथ आप योगाभ्यासी भी हैं। आप स्वभाव के बड़े मधुर हैं; सादगी के पुञ्ज हैं; सच्चरित्र और ईमानदार हैं; बड़े मिलनसार और विनोदी हैं।

संन्यास में दीक्षित होने के पश्चात् आपने सूरिनाम, गयाना, ट्रीनिडाड, हालैण्ड, फिजी द्वीप और श्रीलंका में भी वैदिक धर्म की दुन्दुभि बजाई है। आपके जीवन और वेदोपदेश दोनों ने ही लोगों को प्रभावित किया। आपकी प्रेरणा से अनेक छात्र और छात्राएँ भारत के विभिन्न गुरुकुलों में वैदिक साहित्य का अध्ययन कर रहे हैं।

भूमिका

जब से मनुष्य का इस धरा-धाम पर प्रादुर्भाव हुआ तभी से उसने सोचना आरम्भ किया—मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ, मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? यह संसार क्या है ? इस संसार से मनुष्य का छुटकारा कैसे हो सकता है ? यह सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई ? इस सृष्टि का स्रष्टा कौन है ? सुख की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? परमात्मा की उपलब्धि कैसे हो सकती है ? आत्मा, परमात्मा और प्रकृति का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? ये और इस प्रकार के न जाने कितने प्रश्न उसके हृदय और मस्तिष्क में चक्कर काटते रहे। तत्त्व-दर्शियों के मत में मनुष्य को इन विषयों का तत्त्वज्ञान हो सकता है। इसी तत्त्वज्ञान को भारतीय मनीषियों, चिन्तकों और विचारकों ने 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है। तत्त्वज्ञान होने पर कर्म मनुष्य को बन्धन में नहीं डालते। तत्त्वज्ञान मनुष्य को कर्म-बन्धन से छुड़ा, प्रकृति और पुरुष का विवेक कराकर मानव-जीवन के चरम लक्ष्य=मोक्ष तक पहुँचा देता है।

व्युत्पत्ति-शास्त्र के अनुसार दर्शन का अर्थ है—

दृश्यतेऽनेन इति दर्शनम् जिसके द्वारा देखा जाए। क्या देखा जाए ? वस्तु का तात्त्विक स्वरूप। इस जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है ? यह जड़ है या चेतन ? इस संसार में हमारा कर्त्तव्य क्या है ? जीवन को श्रेष्ठ, सुन्दर और सुखी बनाने के साधन क्या हैं ? हम कौन हैं ? परमात्मा की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इन और इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर देना दर्शनों का कार्य है।

अर्थशास्त्र के प्रणेता कौटिल्य का कहना है—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षकी मता॥—कौ० अ० २।१२

यह अन्वीक्षकी विद्या सब विद्याओं का प्रदीप, सब कार्यों का साधनभूत तथा सब धर्मों का सदा आश्रयभूत मानी गई है।

पाश्चात्य विचारधारावाले दर्शन के लिए 'फ़िलॉसॅफ़ी' (Philosophy) शब्द का प्रयोग करते हैं। 'फ़िलॉसॅफ़ी' दो ग्रीक शब्दों के मेल से बना है—फ़िलॉस+सोफ़िया। 'फ़िलास' का अर्थ है प्रेम, अनुराग और 'सोफ़िया' का अर्थ है 'विद्या।' इस प्रकार इस शब्द का अर्थ हुआ विद्या का प्रेम=विद्यानुराग। आरम्भ में फ़िलॉसॅफ़ी में विज्ञान का भी समावेश था, परन्तु आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन और विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है।

भारतीय दर्शन की खोज का विषय रहा है 'आत्मा'। उपनिषदों ने घोषणापूर्वक

कहा—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**[1] । अरे ! वह आत्मा ही जानने-योग्य, दर्शन करने-योग्य है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४) में एक प्रसिद्ध कथा है । जब दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम का परित्याग कर संन्यास में प्रविष्ट होने लगे तब उन्होंने अपनी भार्या मैत्रेयी को बुलाकर कहा—"मैं इस गृहस्थाश्रम में पड़े रहना नहीं चाहता, मैं पर-लोक साधन करना चाहता हूँ, आओ मैं कात्यायनी और तुम्हारे लिए अपने धन का विभा-जन कर दूँ ।" याज्ञवल्क्य की बात सुनकर विदुषी मैत्रेयी ने पूछा—"यदि यह सारी पृथिवी धन-धान्य से परिपूर्ण होकर मेरी हो जाए तो **'कथं तेनामृता स्याम्'** क्या मैं उससे अमरत्व को प्राप्त कर सकूँगी ?" महर्षि ने उत्तर दिया—"जैसे साधन-सम्पन्न व्यक्ति सुख-चैन से जीवन निर्वाह करते हैं, वैसा ही तुम्हारा जीवन भी हो जाएगा. **'अमृतत्वस्य तु न आशा अस्ति वित्तेन'** धन-धान्य से अमरत्व पाने की तो तनिक भी आशा नहीं है ।" तब मैत्रेयी ने कहा—**"येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्'** जिस धन से अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती उसे लेकर मैं क्या करूँगी ।" इस उत्तर को सुनकर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में सदा अमर रहेगा । उन्होंने कहा—

"पति पति के लिए प्यारा नहीं होता, अपितु आत्मा के लिए । पत्नी पत्नी के लिए प्रिय नहीं है, प्रत्युत आत्मा के लिए । पुत्र पुत्र के लिए प्यारे नहीं होते, अपितु आत्मा के लिए प्रिय होते हैं । संसार की समस्त वस्तुएँ उनके लिए प्रिय नहीं होतीं अपितु आत्मा के लिए प्रिय होती हैं, अतः सबसे प्रिय वस्तु आत्मा है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदँ सर्वं विदितम् ॥

मैत्रेयी ! उस आत्मा का ही दर्शन करना चाहिए, श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और निदिध्यासन (निरन्तर ध्यान) करना चाहिए, क्योंकि आत्मा के दर्शन, श्रवण, मनन तथा विज्ञान से सब-कुछ जाना जा सकता है ।"

आत्मतत्त्व का श्रवण करना चाहिए श्रुति वाक्यों से, मनन करना चाहिए तार्किक युक्तियों से और निदिध्यासन करना चाहिए योग-प्रतिपादित उपायों से ।

भारतीय दर्शनों को दो भागों में विभाजित किया गया है—आस्तिक और नास्तिक । चारवाक, जैन और बौद्ध—ये तीनों नास्तिक दर्शन हैं । न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और वेदान्त—ये छह आस्तिक दर्शन हैं । इस ग्रन्थ में इन्हीं छह आस्तिक दर्शनों का संकलन है ।

कुछ लोगों का विचार है कि भारतीय दर्शनों में परस्पर विरोध है । परन्तु यह विचार ठीक नहीं है ।

दार्शनिक शिरोमणि महर्षि दयानन्द सरस्वती इस विषय में लिखते हैं—

"जैसे एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक-दूसरे से भिन्न प्रतिपादन

---

१. बृहदा० २।४।५

होता है, वैसे ही सृष्टि-विद्या के भिन्न-भिन्न छह् अवयवों का छह् शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मिट्टी, संयोग-वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्भकार कारण हैं, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है, उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं है। जैसे वैद्यक शास्त्र में निदान, चिकित्सा, औषधदान और पथ्य के प्रकरण भिन्न-भिन्न कथित हैं परन्तु सबका सिद्धान्त रोग की निवृत्ति है, वैसे ही सृष्टि के छह् कारण हैं। इनमें से एक-एक कारण की व्याख्या एक-एक शास्त्रकार ने की है। इसलिए इनमें कुछ भी विरोध नहीं।" —सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास

आगे चलकर सृष्टि-प्रकरण में ऋषिवर लिखते हैं —

"विरोध उसको कहते हैं कि एक कार्य में एक ही विषय पर विरुद्धवाद होवे। छह् शास्त्रों में अविरोध देखो इस प्रकार है—मीमांसा में—"ऐसा कोई भी कार्य जगत् में नहीं होता कि जिसके बनाने में कर्म-चेष्टा न की जाए।" वैशेषिक में—"समय न लगे बिना बने ही नहीं।" न्याय में—"उपादान कारण न होने से कुछ भी नहीं बन सकता।" योग में— 'विद्या, ज्ञान, विचार न किया जाए (तो नहीं बन सकता)।" सांख्य में—"तत्त्वों का मेल न होने से नहीं बन सकता, और वेदान्त में—"बनानेवाला न बनावे तो कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो सके।" इसलिए सृष्टि छह् कारणों से बनती है; उन छह् कारणों की व्याख्या एक-एक की एक-एक शास्त्र में है। इसलिए उनमें विरोध कुछ भी नहीं। जैसे छह् पुरुष मिलकर एक छप्पर उठाकर भित्तियों पर धरें वैसे ही सृष्टि-रूप कार्य की व्याख्या छह् शास्त्रकारों ने मिलकर पूरी की है। जैसे पाँच अन्धे और एक मन्द-दृष्टि को किसी ने हाथी का एक-एक देश बतलाया। उनसे पूछा कि हाथी कैसा है? उनमें से एक ने कहा खंभे, दूसरे ने कहा सूप, तीसरे ने कहा मूसल, चौथे ने कहा झाड़ू, पाँचवें ने कहा चौतरा और छठे ने कहा काला-काला चार खंभों के ऊपर कुछ भैंसा-सा आकारवाला है। इसी प्रकार आज-कल के अनार्ष नवीन ग्रन्थों को पढ़ने और प्राकृत भाषावालों ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ न पढ़कर नवीन क्षुद्र-बुद्धिकल्पित संस्कृत और भाषाओं के ग्रन्थ पढ़कर एक-दूसरे की निन्दा में तत्पर होके झूठा झगड़ा मचाया है। इनका कथन बुद्धिमानों के वा अन्य के मानने योग्य नहीं।" —स० प्र०, अष्टम समु०

दर्शन वेदाङ्ग हैं, अतः उनमें परस्पर भेद नहीं हो सकता। यहाँ हम कतिपय विषयों में दर्शनों का अविरोध दिखाते हैं—

ईश्वर

वेदान्तदर्शन ब्रह्म के विचार से ओत-प्रोत है। ब्रह्म क्या है? वेदान्तदर्शन में इस का उत्तर दिया है—

जन्माद्यस्य यतः॥—वेदा० १।१।२

जो इस संसार की उत्पत्ति, पालना और विनाश करनेवाला है, वही ब्रह्म है।

कुछ विद्वानों का ऐसा विश्वास है कि न्यायदर्शन में परमात्मा का वर्णन नहीं है। उनके भ्रम-भञ्जन के लिए निम्न प्रमाण प्रस्तुत है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥—न्या० ४।१।१९

अनेक बार पुरुष-कर्मों की असफलता देखे जाने से यही निश्चय होता है कि ईश्वर ही कर्मफल-प्रदाता और सृष्टि का कारण है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥—वै० १।१।३

नित्य, निर्दोष ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥—यो० १।२३

ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा अतिशीघ्र समाधिलाभ होता है।

कुछ लोग सांख्य के रचयिता कपिलाचार्य को नास्तिक मानते हैं परन्तु यह मत समीचीन नहीं है। ईश्वर के सम्वन्ध में महर्षि कपिल की मान्यता है—

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ॥—सां० ३।५६

वह परमात्मा सर्वान्तिर्यामी और सव जगत् का कर्त्ता है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ॥—सां० ३।५७

ऐसे सृष्टिकर्त्ता परमात्मा की सिद्धि सिद्ध है अथवा उसकी सिद्धि इस शास्त्र में दृढ़तापूर्वक की गई है।

कुछ भाष्यकारों का मत है कि मीमांसा में परमात्मा का खण्डन है परन्तु यह भी अयुक्त है।

देवताश्रये च ॥—मी० ६।२।१९

शास्त्र का ज्ञान देवता=परमेश्वर का आश्रय लेने से ही हो सकता है अन्यथा नहीं।

इस प्रकार सभी दर्शनकार परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते हैं, साथ ही उसे शरीर और इन्द्रियों से रहित, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, कर्मफल-प्रदाता आदि भी बताते हैं।

जीवात्मा

सभी दर्शनकार जीवात्मा को नित्य, अल्पज्ञ, ज्ञानादि गुणों से युक्त एकदेशी तथा कर्मफलभोक्ता मानते हैं। जीव और ब्रह्म एक नहीं हैं। इनका पृथक्-पृथक् प्रतिपादन किया गया है—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥—वे० १।१।१२

ब्रह्म की निरन्तर उपासना से जीवात्मा आनन्दमय हो जाता है। इस सूत्र से ब्रह्म और जीव का भेद स्पष्ट है।

भेदव्यपदेशाच्च ॥—वे० १।१।१७

वेद में भी जीवात्मा तथा परमात्मा का भेद वताया गया है।

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥—वे० २।३।१७

जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसकी जन्म-मरणविषयक श्रुति उपलब्ध नहीं होती।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ।। मी० ६।७।५

जीवात्मा के नित्य होने से उसका अन्य पदार्थों से कार्यकारण सम्बन्ध नहीं, अर्थात् जीव उत्पन्न नहीं होता।

शरीरदाहे पातकाभावात् ।।—न्या० ३।१।४

शरीर के जलाने में पाप न होने से आत्मा रीर से पृथक् है। इस सूत्र में महर्षि गौतम ने जीवात्मा की नित्यता का प्रतिपादन किया है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।—वै० ३।२।५

जैसे कारणरूप वायु नित्य तथा गन्धगुणयुक्त होने से द्रव्य है वैसे ही जीवात्मा किसी कारण से उत्पन्न न होने से नित्य और ज्ञानादि का आश्रय होने से द्रव्य है।

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ।।—सां० ५।६८

प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) को छोड़कर शेष सब-कुछ अनित्य है।

इस प्रकार सांख्य में भी जीव की सत्ता को नित्य माना है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।।—यो० ४।१८

चित्त की वृत्तियाँ सदा ही जानी जाती हैं, क्योंकि जीवात्मा नित्य एवं अपरिणामी है।

इस प्रकार सभी दर्शनों से यह सिद्ध है कि जीवात्मा जन्म-मरण से रहित अतएव नित्य है। सभी दर्शनकार उसे चेतन और ज्ञाता भी मानते हैं।

ज्ञोऽत एव ।।—वे० २।३।१८

आत्मा नित्य होने और श्रुतिद्वारा वैसा प्रतिपादित होने से ज्ञानवान्, चेतन और अभौतिक कहा जाता है।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ।।—न्याय० १।१।१०

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान आत्मा के लक्षण हैं।

वैशेषिक ३।२।४ में महर्षि कणाद ने भी जीव को ज्ञान गुणवाला स्वीकार किया है।

कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ।।—यो० ४।३४

ज्ञानशक्तिरूप जीवात्मा का सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का नाम कैवल्य=मोक्ष है।

यहाँ महर्षि पतञ्जलि ने जीव को चेतन एवं ज्ञानवाला लिखा है।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ।।—सां० ६।५५

चेतन, ज्ञानवान् जीवात्मा ही कर्त्ता और भोक्ता है।

जीवात्मा के सम्बन्ध में एक और समस्या है कि जीवात्मा का परिमाण क्या है? दर्शनों के अर्वाचीन टीकाकारों में इस विषय में मतभेद है। कोई जीवात्मा को विभु= सर्वव्यापक मानता है, कोई मध्यम परिमाणवाला और कोई अणु-परिमाणवाला मानता है। हमारे विचार में सभी दर्शनकार जीवात्मा को अणु-परिमाण मानते हैं। कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।।—वे० २।३।१९

मृत्यु के पश्चात् जीव का शरीर से निकलना, पुनः गति करके दूसरे शरीर में आना-जाना आदि बातों से सिद्ध है कि जीव अणु है, क्योंकि विभु में गमन आदि नहीं हो सकते ।

अर्थववेद १०।८।२५ में **'बालादेकमणीयस्कम्'** कहकर जीवात्मा को बाल से भी सूक्ष्म बताया है। मुण्डकोपनिषद् ३।१।९ में **'ऐषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः'**—यह आत्मा अणु है, अतः इसका ज्ञान चित्त से ही करना चाहिये ।

अविरोधश्चन्दनवत् ।।—वे० २।३।२३

जैसे शरीर में एक स्थान पर चन्दन लगाने से उसकी शीतलता का भान सर्वत्र होता है, इसी प्रकार जीवात्मा एक स्थान में रहता हुआ सर्वत्र कार्य करता है।

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ।।—न्या० १।१।१९

आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है, इसी को पुर्नजन्म कहते हैं। इससे सिद्ध है कि महर्षि गौतम जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर आना-जाना मानते हैं, और यह गमन-आगमन विभु में हो नहीं सकता, यह तो अणु में ही सम्भव है।

अन्य दर्शनों से भी यही सिद्ध होता है कि जीव एकदेशी तथा अणु है।

जीव कितने हैं ? दर्शनों के अनुसार जीव अनेक हैं—

अंशो नानाव्यपदेशात् ।।—वे० २।३।४३

जीव एकदेशी है, क्योंकि वेद में अनेक जीव बतलाये गये हैं।

व्यवस्थातो नाना ।।—वै० ३।२।२०

व्यवस्था से जीव अनेक हैं। सुखी-दुःखी, जीवित-मृत बद्ध-मुक्त, पापी-पुण्यात्मा, रंक-राजा आदि की व्यवस्था होने से जीव अनेक हैं। यदि जीव एक ही हो तो यह व्यवस्था नहीं हो सकती।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।।—सां० १।१४९

जन्म-मरण, सुख-दुःख आदि की व्यवस्था से जीव अनेक हैं, एक नहीं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।।—यो० १।२०

अन्य योगियों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से 'उपायप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

इस सूत्र में महर्षि पतञ्जलि भी जीवों की अनेकता को स्वीकार करते हैं ।

सभी शास्त्रकार जीवात्मा को कर्त्ता और भोक्ता भी मानते हैं। इस विषय में निम्न प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ।।—वे० २।३।३३

जीवात्मा कर्त्ता है, क्योंकि वेदों में जीवात्मा को कर्त्ता कहा गया है।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात्स्वयं प्रयोगे स्यात् ।।—मी० ३।७। १८

शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि का फल कर्त्ता को मिलता है, अतः उनका अनुष्ठान स्वयं करना चाहिए। इससे यह सिद्ध है कि मीमांसाकार जीव को कर्त्ता मानते हैं।

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ।।—न्याय० २।१।५९

यदि वेद में प्रतिपादित कर्मों का फल नहीं मिलता तो उसका कारण यह है कि कर्त्ता, कर्म और साधन में कोई दोष है। यहाँ महर्षि गौतम जीव को कर्त्ता मान रहे हैं।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ॥—वै० ३।१।१९

प्रत्येक आत्मा में प्रवृत्ति—अनुकूल कार्य को करना और निवृत्ति—प्रतिकूल कार्य को न करना दृष्टिगोचर होता है। इस सूत्र से सिद्ध है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति का कर्त्ता जीव है।

कर्तुः फलावगमः ॥—सां० १।७१

फल की प्राप्ति कर्त्ता को ही होती है।

द्रष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥—यो० २।२०

द्रष्टा जीवात्मा शुद्ध होता हुआ भी कर्मों का कर्त्ता है।

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात्सुखदुःखे ॥—वै० ५।२।१५

आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है। यहाँ स्पष्ट ही आत्मा को भोक्ता कहा है।

भोक्तृभावात् ॥—सां० १।१०८

भोक्ता होने के कारण आत्मा शरीर से पृथक् है।

भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥—यो० २।१८

यह संसार जीवात्माओं के भोग और मोक्ष के लिए है।

इन सभी सूत्रों द्वारा आत्मा का भोक्ता होना स्पष्ट है।

प्रकृति

जीव और ब्रह्म की भाँति प्रकृति की भी स्वतन्त्र सत्ता है। प्रकृति भी नित्य है। प्रकृति जड़ है और कार्यजगत् का उपादान कारण है। सभी दर्शनों में जीव को भोक्ता, परमात्मा को निमित्तकारण और प्रकृति को उपादानकारण माना है। कुछ प्रमाण प्रस्तुत हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥—वे० १।४।२३

प्रकृति जगत् का उपादान कारण है, क्योंकि वेदों में प्रकृतिविषयक प्रतिज्ञा और दृष्टान्त पाये जाते हैं।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥—वे० १।४।२५

वेदों में साक्षात् दोनों कारणों का पृथक्-पृथक् उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि जगत् का निमित्तकारण ब्रह्म और उपादानकारण प्रकृति है।

सत्त्वरजतमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ॥—सां० १।२६

सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है।

यहाँ सांख्यकार ने प्रकृत्ति की सत्ता स्वीकार की है।

सदकारणवन्नित्यम् ॥—वै० ४।१।१

जो वस्तु सत्तावाली है, जो किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं होता, वह पदार्थ नित्य कहलाता है, ऐसी मूल प्रकृति इस जगत् का उपादान कारण है।

मुक्ति और उसके साधन

मुक्ति और उसके साधनों के विषय में भी सभी दर्शनकारों का एक ही मत है, अवलोकन कीजिए—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।।—न्या० १।१।२२

जन्म-मरणरूप दुःख से छूटकर परमानन्द को प्राप्त होने का नाम मुक्ति है। यहाँ महर्षि गौतम ने दुःखों से छूटने को मुक्ति माना है।

ब्राह्मणे जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ।।—वे० ४।४।५

मुक्त जीव दुःखों से छूटकर ब्रह्म के आनन्द में रहता है। इस सूत्र से यह स्पष्ट है कि जीव मुक्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है।

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ।।—सां० १।१

तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाने को मुक्ति कहते हैं। यहाँ कपिलाचार्य ने भी दुःखों से छूटने को मुक्ति माना है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा
चितिशक्तिरिति ।।—यो० ४।३४

जब गुणों के द्वारा जीव को सांसारिक सुख-दुःख मिलना बन्द हो जाता है तथा जीवात्मा परमात्मा के स्वरूप में स्थिर हो जाता है, उसे मुक्ति कहते हैं। यहाँ पतञ्जलि ने दुःखाभाव और ब्रह्मप्राप्ति को मोक्ष माना है।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।।—वै० ५।२।१८

शरीरधारक मनः कर्म के अभाव होने पर शरीर से आत्मा के संयोग का अभाव और शरीरान्तर का प्रादुर्भाव न होना (जन्म-मरण के चक्र से छूटने का नाम) ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधनों के विषय में भी दर्शनकारों में विरोध नहीं, मतैक्य ही है।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।।—न्या० ४।२।४१

वन, गुहा और नदी आदि के तट पर बैठकर मुक्ति के लिए योगाभ्यास करना चाहिए।

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।।—न्या० ४।२।४५

मोक्ष-प्राप्ति के लिये यम-नियम-योग और अध्यात्म-शास्त्रोक्त उपायों द्वारा आत्मा का संस्कार करना चाहिए।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ।।—सां० ६।२९

ध्यान, धारणा, अभ्यास, वैराग्य आदि से उन वासनाओं, चित्त की वृत्तियों का निरोध करना चाहिए।

अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षणदिङ्नक्षत्रमन्त्रकाल-
नियमाश्चादृष्टाय ।।—वै० ६।२।२

स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, मन्त्रों का जप आदि धर्म मुक्ति के लिए होते हैं—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया
तेषामवश्यमनुष्ठेयत्वात् ।।—वे० ३।४।२७

मुमुक्षु को चाहिए कि वह शम-दम आदि साधनों से मुक्ति प्राप्त करे क्योंकि, वे मुक्ति के अंग हैं, अतः उनका अवश्य अनुष्ठान करना चाहिए।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥

—यो० २।२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग हैं।

जीव मुक्ति से भी वापस आता है। दर्शनकारों का इस विषय में भी एक ही मत है—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥—सां० १।१२४

इस सर्ग के समान सब सर्गों में संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता, मुक्ति के पश्चात् जीव पुनरपि संसार में लौटता है।

कुछ लोग सांख्य और वेदान्त के निम्न सूत्रों को मुक्ति से न लौटने के पक्ष में लगाते हैं—

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यनावृत्तिश्रुतेः ॥—सां० ६।१७

मुक्तात्मा का मोक्ष से बन्धन में आना सम्भव नहीं, क्योंकि श्रुति से अनावृत्ति सिद्ध है।

अनावृत्तिशब्दादनावृत्तिशब्दात् ॥—वे० ४।४।२२

शब्दप्रमाण से सिद्ध है कि जीव मुक्ति से नहीं लौटता, नहीं लौटता।

इन सूत्रों का ऐसा अर्थ करना उचित नहीं है। इन सूत्रों का तात्पर्य केवल इतना है कि—

यावदायुष्यं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥—छान्दो० ८।१५।१

जब तक मुक्ति की अवधि है, तब तक उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती, अवधि समाप्त होने पर तो लौटता ही है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है

सभी दर्शनकार वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं। यथा—

शास्त्रयोनित्वात् ॥—वेदा० १।१।३

अनेक विद्याओं से युक्त प्रदीपवत् सब अर्थों का प्रकाश करनेवाले सर्वज्ञ शास्त्र का कारण ब्रह्म है। ऐसे सर्वज्ञ गुणों से युक्त शास्त्र को सर्वज्ञ परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं बना सकता।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥—मी० १।१।५

वेद के प्रत्येक पद का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, अतः वह धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है, क्योंकि वह परमेश्वर द्वारा उपदिष्ट है। जो अर्थ प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता उसका उपदेश भी वेद द्वारा परमात्मा ने किया है, अतः वेद स्वतःप्रमाण है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥—वै० १।१।३

ईश्वर का वचन होने से वेद-चतुष्टय का प्रमाण है।

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥—न्या० २।१।६९

मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की भाँति वेद का भी प्रामाण्य है, क्योंकि वह परमपुरुष, पूर्ण-आप्त परमात्मा द्वारा उपदिष्ट है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥—यो० १।२६

वह परमेश्वर काल द्वारा नष्ट न होने के कारण पूर्व ऋषि-महर्षियों का भी गुरु है।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम् ॥—सां० ५।५१

परमात्मा की निज शक्ति=स्वाभाविक शक्ति से प्रकट होने के कारण वेदों का स्वतःप्रामाण्य है।

पुनर्जन्म

मनुष्य के शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार उसका पुनर्जन्म होता है, इस विषय में भी सभी दर्शनकार एकमत हैं। प्रमाण निम्न हैं—

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥—न्या० १।१।१९

मरने के पश्चात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि के साथ जीवात्मा के पुनः सम्बन्ध को पुनर्जन्म कहते हैं।

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥—न्या० ३।१।१९

सद्योजात=अभी-अभी पैदा हुए बालक को हर्ष, भय, शोक आदि होते हैं, इससे सिद्ध होता है कि पुनर्जन्म है।

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥—न्या० ३।१।२२

जन्म होते ही बालक स्तनपान की अभिलाषा करता है, बालक का यह अभ्यास पुनर्जन्म का साधक है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ॥—यो० २।९

विवेकशील पुरुष भी मरना नहीं चाहता, मरने से सब डरते हैं। यह अभिनिवेश=मरणभय पुनर्जन्म का साधक है।

सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥—यो० २।१३

अविद्यादि क्लेश, संस्कार और वासनाओं के शेष रहने पर उनके फल, जाति, आयु और भोग का चक्र चलता रहता है, अर्थात् पुनर्जन्म होता रहता है।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालाः ॥—सां० ३।४८

सत्त्व प्रधान=सतोगुणी पुरुष उच्च योनियों में जन्म लेते हैं।

तमोविशाल मूलतः ॥—सां० ३।४९

तमोगुणी पुरुष तिर्यक् तथा स्थावर आदि नीच योनियों में जन्म लेते हैं।

मध्ये रजोविशाला ॥—सां० ३।५०

रजोगुण प्रधान जीव मध्य योनियों में जन्म लेते हैं।

इस प्रकार सांख्यदर्शन में पुनर्जन्म का प्रतिपादन है।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितनिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।।—वै० २।३।४२

जीव को अपने कर्म के अनुसार ही शुभ-अशुभ फल तथा दूसरा शरीर मिलता है। यदि ऐसा न हो तो विहित तथा प्रतिषिद्ध सब कर्मफल निष्फल हो जाएँ।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।।—वै० ५।२।१८

शुभाशुभ कर्म का अभाव होने से जीव का पुनर्जन्म नहीं होता और पुनर्जन्म के न होने से मोक्ष हो जाता है।

इस प्रकार सभी दर्शनों में पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है।

एक प्रसिद्ध विरोधाभास का परिहार

मीमांसा दर्शन में शब्द को नित्य माना है, परन्तु न्याय में शब्द को अनित्य माना है—यह प्रत्यक्ष विरोध है।

विरोध नहीं है। शब्द दो प्रकार के होते हैं—एक नित्य और दूसरा अनित्य। इनमें जो शब्द, अर्थ और सम्बन्ध परमेश्वर के ज्ञान में हैं, वे सब नित्य ही होते हैं और जो हम लोगों की कल्पना से उत्पन्न होते हैं, वे अनित्य हैं। मीमांसा में वैदिक शब्दों को ही नित्य सिद्ध किया गया है क्योंकि, उनका अधिकरण परमेश्वर नित्य ज्ञानवाला है, उसका ज्ञान कभी भी नष्ट नहीं हो सकता।

इस प्रकार शब्द की नित्यता और अनित्यता के विषय में दर्शनों में कोई विरोध नहीं है।

भारतीय दर्शनों की कुछ विशेषताएँ

भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता उनका व्यावहारिक पक्ष है। उनका उद्देश्य है नाना प्रकार के दुःखों से पीड़ित मनुष्यों को राग-द्वेष और अविद्या से छुड़ाकर मोक्ष की प्राप्ति करा देना।

भारतीय दर्शन की दूसरी विशेषता है—आशावाद। दुःखमय वर्तमान से असन्तोष हुए बिना सुखमय भविष्य की कल्पना दुराशामात्र ही है। इस जगत् पर दृष्टिपात करने पर विवेकीजन इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह संसार नितान्त दुःखमय है। इस दुःख का कारण द्रष्टा और दृश्य का संयोग है, इस दुःख को दूर करना है और दुःख को दूर करने के लिए मार्ग खोजना है। इस प्रकार भारतीय दर्शन वर्तमान दशा से असन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने का प्रयत्न करता है।

भारतीय दर्शन की तीसरी विशेषता है—नैतिक व्यवस्था में विश्वास। मनुष्य जो कर्म करता है, उनका लोप नहीं होता अपितु उन कर्मों से एक 'अपूर्व' की सृष्टि होती है। यही अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। न्याय-वैशेषिक में इसी 'अपूर्व' को अदृष्ट की संज्ञा दी गई है।

भारतीय दर्शन की चौथी विशेषता है—कर्मसिद्धान्त। मनुष्य जो भी कर्म करता है, उसका नाश कभी नहीं होता तथा जिस फल को हम भोग रहे हैं, वह पूर्वजन्म में किये हुए कर्म का ही फल है। कर्म-सिद्धान्त को स्वीकार कर मनुष्य जहाँ एक ओर पाप करने से बच जाता है, वहाँ दूसरी ओर शुभ कर्मों के अनुष्ठान से अपने आगामी जीवन को

उच्च, दिव्य एवं महान् बना सकता है।

भारतीय दर्शन की पाँचवीं विशेषता है—मोक्षमार्ग का निर्देश। संसार में बन्धन का कारण है अविद्या। अविद्या से बन्धन होता है और ज्ञान से मुक्ति। जीवन-यापन के दो मार्ग हैं—प्रेय और श्रेय। मनुष्य प्रायः आपाततः रमणीय विषयों की ओर आकृष्ट होकर संसार में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति का मूल कारण है राग और द्वेष। यह प्रेय मार्ग मनुष्य की अधोगति का कारण है। श्रेय मार्ग मनुष्य के मङ्गल का मूल है। दर्शनकार इस मङ्गल-मार्ग पर आरूढ़ होने के लिए यम-नियम आदि अष्टाङ्ग योग का विधान करते हैं। मनुष्य को जैसे भी हो इस संसार के उच्छेद के लिए, त्रिविध तापों से छूटने के लिए, ब्रह्म की प्राप्ति के लिए महान् प्रयत्न एवं पुरुषार्थ करना चाहिए।

दर्शनों का काल

दर्शन कब लिखे गये, इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है। दर्शनकारों ने इस विषय में कोई लिखित प्रमाण नहीं छोड़ा है। परन्तु एक बात सुनिश्चित है कि सभी दर्शन ऋषियों द्वारा प्रणीत हैं और ऋषियों का युग महाभारत तक अविच्छिन्न रहा है। अतः दर्शन महाभारत से पूर्व और महाभारत-काल के आस-पास लिखे गये। इस प्रकार दर्शनों का समय आज से कम-से-कम पाँच सहस्रवर्ष पूर्व है। पाश्चात्य लेखकों द्वारा निर्दिष्ट काल सर्वथा भ्रामक, तथ्यों से दूर और युक्तिशून्य है।

धन्यवाद

श्री विजय कुमार जी सञ्चालक गोविन्दराम हासानन्द का मैं हार्दिक आभारी हूँ जिन्होंने दर्शन जैसे महाग्रन्थ को प्रकाशित कर वैदिक साहित्य के प्रति अपने अनुराग को प्रकट किया है। श्री सुनील जी शर्मा को भी साधुवाद देता हूँ जिन्होंने प्रूफ-संशोधन में भारी सहायता की है, उनकी सहायता के बिना ग्रन्थ इतना सुन्दर एवं शुद्ध न छप पाता। सरस्वती मुद्रण प्रतिष्ठान के संचालक और कर्मचारियों का भी धन्यवाद है जिन्होंने पुस्तक के सुन्दर मुद्रण में सहयोग प्रदान किया है। विशेषरूप से मैं श्री मधुकर जी वेदी का धन्यवाद करता हूँ जिन्होंने न केवल मुद्रण में ही रुचि दिखाई अपितु शाहदरा से माडल टाउन प्रूफ भी पहुँचाते रहे।

जहाँ तक मेरी जानकारी है, इतिहास में छह दर्शन हिन्दी-अनुवाद-सहित एक ही जिल्द में प्रथम बार प्रकाशित हो रहे हैं। यहाँ व्याख्या नहीं है। जिन्हें विस्तृत व्याख्या पढ़नी हो वे आचार्य उदयवीर जी के ग्रन्थ पढ़ें। हाँ, इस ग्रन्थ को पढ़ने पर भी दर्शन के अनेक रहस्य समझ में आएँगे। यह ग्रन्थ यात्रा में साथ रखने के लिए अतीव उपयोगी संस्करण सिद्ध होगा, ऐसा मुझे विश्वास है। यदि पाठक इस ग्रन्थ की कमियों की ओर ध्यान दिलाएँगे तो अगले संस्करण में उन्हें सुधार दिया जाएगा।

शमित्योम्

शुभ कामनाओं सहित

—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

२६-३-७६

'वेद सदन

एच १/२, माडल टाउन

दिल्ली-११०००६

न्यायदर्शनम्

न्यायदर्शन एक दृष्टि में

न्यायदर्शन के आदि प्रवर्त्तक महर्षि गौतम हैं। महर्षि गौतम से पूर्व का कोई ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसमें तर्क, प्रमाण, वाद आदि का नियमबद्ध विवेचन हो। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रत्येक में दो-दो आह्निक हैं और ५३८ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय में उद्देश्य तथा लक्षण और अगले अध्यायों में पूर्वकथन की परीक्षा की गई है।

'न्याय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होता है परन्तु दार्शनिक साहित्य में 'न्याय' का अर्थ है—

नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थ सिद्धिरनेन इति न्यायः।

जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके, उसी का नाम 'न्याय' है।

न्यायदर्शन को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१. सामान्य ज्ञान की समस्या को हल करना।

२. जगत् की पहेली को सुलझाना।

३. जीवात्मा तथा मुक्ति।

४. परमात्मा और उसका ज्ञान।

उपर्युक्त समस्याओं के समाधान के लिए न्यायदर्शन ने प्रमाण आदि सोलह पदार्थ माने हैं।

न्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है।

मुक्ति—प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति=पाप-पुण्य, दोष=राग-द्वेष, मोह और मिथ्याज्ञान; इनमें से उत्तर-उत्तर के नाश से उससे अनन्तर (पूर्व) का नाश होने से मोक्ष होता है।

शरीर को आत्मा समझना इत्यादि जो मिथ्याज्ञान है, उससे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग-द्वेष से पुण्य-पाप, पुण्य-पाप से जन्म और जन्म से दुःख होता है। यह संसार-चक्र है। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तब उससे मिथ्याज्ञान का नाश होता है। मिथ्या-ज्ञान के नाश से राग-द्वेष आदि का नाश होकर दुःख का नाश होता है। दुःख का अत्यन्त नाश ही मोक्ष है।

ईश्वर—न्याय आस्तिक दर्शन है। नैयायिक ईश्वर को जगन्नियन्ता और कर्मफल-प्रदाता मानते हैं। ईश्वर की सिद्धि में न्यायदर्शन में निम्न युक्तियाँ हैं—

१. जितने पदार्थ हैं, वे सब सावयव हैं, अतः उनका कोई चैतन्य कर्ता होना चाहिए।

२. मनुष्यों को उनके कर्मों की फलप्रदाता कोई चैतन्य सत्ता होनी चाहिए।

३. वेद ज्ञान के भण्डार हैं और अपौरुषेय हैं। ईश्वर ही उनका कर्ता है।

४. ईश्वर का साक्षात्कार बाह्य साधन से न होकर शुद्ध अन्तःकरण से होता है।

अथ न्यायदर्शनम्

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डा-हेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥१॥

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रहस्थान—इन सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति होती है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥२॥

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष तथा मिथ्याज्ञान में से उत्तर-उत्तर पदार्थों से छुटकारा पाने पर उनके पूर्व-पूर्व पदार्थों की निवृत्ति होने पर मोक्ष होता है। (तत्त्वज्ञान से मिथ्या-ज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का अभाव होता है, इत्यादि।)

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥३॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द—न्यायदर्शन के अनुसार ये चार प्रमाण हैं।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥४॥

नेत्रादि इन्द्रिय तथा रूप आदि अर्थ=विषय के संयोग से उत्पन्न होने वाला, शब्द से व्यवहार करने के अयोग्य (निर्विकल्पक) भ्रमरहित, निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रत्यक्ष' नामक प्रमाण कहाता है।

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टं च ॥५॥

प्रत्यक्ष प्रमाण के वर्णन के पश्चात् अनुमान प्रमाण का निरूपण किया जाता है। प्रत्यक्षपूर्वक तीन प्रकार का 'अनुमान' प्रमाण होता है—१. पूर्ववत्=कारणपूर्वक, २. शेषवत्=कार्यपूर्वक और सामान्यतोदृष्ट=उक्त दोनों से भिन्न सामान्य व्याप्ति से देखा गया भी।

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥६॥

प्रसिद्ध पदार्थ (गवादि) के सादृश्य से साध्य के साधन को (जानने योग्य के जानने को) 'उपमान' नामक प्रमाण कहते हैं।

आप्तोपदेशः शब्दः ॥७॥

आप्त=पूर्ण विद्वान्, धर्मात्मा, परोपकार-प्रिय पुरुष का उपदेश और पूर्ण आप्त परमेश्वर का उपदेश वेद 'शब्द' प्रमाण कहाता है।

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥८॥

वह शब्द प्रमाण दो प्रकार का है—१. दृष्ट—इस लोक में प्रत्यक्ष फल देनेवाला और २. अदृष्ट—परलोक में ज्ञात होनेवाले विषयवाला।

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥९॥

आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग—ये बारह प्रमेय (जानने योग्य) हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥१०॥

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख तथा ज्ञान—ये छह विशेष गुण आत्मा के साधक हेतु हैं। (इनसे शरीर से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है।)

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥११॥

हित की प्राप्ति तथा अहित के परिहाररूप चेष्टा, इन्द्रिय एवं अर्थ=विषयों के आधार को शरीर कहते हैं।

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥१२॥

नासिका, जिह्वा, नेत्र, त्वचा और श्रोत—ये पांच ज्ञानेन्द्रियाँ पांच महाभूतों से उत्पन्न हुई हैं।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥१३॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पाँच भूत कहाते हैं और ये ही इन्द्रियों के कारण हैं।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥१४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द—ये पांच पृथिव्यादि पांच भूतों के गुण और नासिका आदि इन्द्रियों के विषय हैं।

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥१५॥

बुद्धि, उपलब्धि (प्राप्ति) और ज्ञान—ये तीनों समानार्थक=पर्यायवाची शब्द हैं। (इन पर्यायों से जो पदार्थ कहा जाए वह 'बुद्धि' है।)

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥१६॥

एक समय में अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना, एक समय में एक ही ज्ञान होना मन का लिङ्ग=लक्षण समझना चाहिए।

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥१७॥

वाणी, बुद्धि (मन) और शरीर से किये जानेवाले कार्य प्रवृत्ति कहाते हैं।

प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥१८॥

प्रवृत्ति के कारण दोष हैं। (राग, द्वेष और मोह को दोष कहते हैं—ये ही तीनों जीव की प्रवृत्ति कहाते हैं।)

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥१९॥

मरकर पुनः जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं।

प्रवृत्ति दोषजनितोऽर्थः फलम् ॥२०॥

प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न सुख-दुःखरूप अर्थ को 'फल' कहते हैं।

बाधनालक्षणं दुःखम् ॥२१॥

प्राणिमात्र को प्रतिकूल (बुरा) लगनेवाले प्रमेय का नाम 'दुःख' है।

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥२२॥

उस (जन्मरूप) दुःख से अत्यन्त निवृत्ति = छुटकारे का नाम अपवर्ग = मोक्ष है।

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ॥२३॥

(प्रमेय का वर्णन कर अब क्रमशः संशय का लक्षण कहते हैं) एक ही वस्तु में समानधर्म के प्रत्यक्ष होने और उसके विशेष धर्म के अप्रत्यक्ष रहने से उसी वस्तु में दो परस्पर विरोधी भावों का उत्पन्न होना 'संशय' नामक तीसरा पदार्थ है। १. साधारण धर्म के ज्ञान से, २. विशेष धर्म के ज्ञान से, ३. विरुद्ध दो पक्षों को विषय करनेवाले वाक्यों से उत्पन्न हुए ज्ञान से, ४. उपलब्धि = प्राप्ति और अनुपलब्धि = अप्राप्ति की व्यवस्था एक पक्ष में स्थिर न होने से—पाँच प्रकार का 'संशय' होता है।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ॥२४॥

जिस विषय को उद्देश्य कर प्राणियों की प्रवृत्ति होती है, वह 'प्रयोजन' नामक चतुर्थ पदार्थ है।

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

जिस पदार्थ में लोकव्यवहार को जाननेवाले शास्त्रशून्य साधारण मनुष्य और शास्त्र को जाननेवाले परीक्षक—ऐसे दोनों प्रकार के प्राणियों की बुद्धि समान पाई जाए वह पदार्थ दृष्टान्त कहाता है।

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥२६॥

प्रमाण से सिद्ध हुए बाधारहित निर्णय को 'सिद्धान्त' कहते हैं।

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥२७॥

वह सिद्धान्त चार प्रकार का है—१. सर्वतन्त्र, २. प्रतितन्त्र, ३. अधिकरण और ४. अभ्युपगम नामक भेद से।

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥२८॥

जिसका एक शास्त्र में प्रतिपादन किया गया हो परन्तु सम्पूर्ण शास्त्रों में उसका कहीं विरोध न हो—ऐसे अर्थ को 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं।

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥२९॥

एक तन्त्र = शास्त्र में सिद्ध और दूसरे में असिद्ध को 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहते हैं। (अपने-अपने तन्त्र का सिद्धान्त।)

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥३०॥

जिसके सिद्ध होने पर, दूसरे प्रकरण की सिद्धि होती हो, वह 'अधिकरण-सिद्धान्त' कहलाता है।

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥३१॥

परीक्षा के बिना किसी वस्तु को स्वीकार कर उसकी विशेष परीक्षा करने को

अभ्युपगम सिद्धान्त कहते हैं।

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥३२॥

(अब अवयवों का वर्णन करते हैं) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन—ये पाँच न्याय के अवयव कहलाते हैं।

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥३३॥

साध्य को बतानेवाले वचन को 'प्रतिज्ञा' कहते हैं। (जैसे घट अनित्य है।)

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥३४॥

उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करनेवाले वाक्य को 'हेतु' कहते हैं। जैसे, उत्पत्ति धर्मवान् होने से घट अनित्य है।

तथा वैधर्म्यात् ॥३५॥

उसी प्रकार उदाहरण के वैधर्म्य से भी साध्य को सिद्ध करनेवाले वाक्य 'वैधर्म्य हेतु' कहे जाते हैं। जैसे, जो उत्पत्ति धर्मवान् नहीं, वह नित्य है, जैसे आत्मा।

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥३६॥

साध्य के साथ समानता से, साध्य के धर्म का प्रतिपादन करनेवाले दृष्टान्त को 'उदाहरण' कहते हैं। जैसे घट उत्पत्ति धर्मवाला है, इसलिए अनित्य है, पट की भाँति। यहाँ पट दृष्टान्त है।

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥३७॥

साध्य के विपर्य=विपरीत लक्षण से जो दृष्टान्त होता है, उसे वैधर्म्य उदाहरण कहते हैं, जैसे, जो उत्पत्ति धर्मवाला न हो वह नित्य देखा गया है जैसे आकाश आदि।

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥३८॥

उदाहरणाधीन 'तथा'=वैसा ही है अथवा 'न तथा'=वैसा नहीं है—इस रूप से साध्य के उपसंहार को 'उपनय' कहते हैं। जैसे, ऐसे ही घट भी उत्पत्ति धर्मवाला है।

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥३९॥

हेतु कथन के बाद प्रतिज्ञा को फिर से दुहराने को 'निगमन' कहते हैं। जैसे, उत्पत्ति धर्मवान् होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ।

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥४०॥

(अब तर्क का लक्षण कहते हैं) जिस पदार्थ का वास्तविक रूप ज्ञात नहीं है, उसके तत्त्वज्ञान के लिए उसकी सिद्धि में प्रमाणपूर्वक विचार को 'तर्क' कहते हैं।

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥४१॥

संशय उत्पन्न होने पर पक्ष और प्रतिपक्ष (पक्ष का स्थापन और प्रतिपक्ष का खण्डन) दोनों के द्वारा अर्थ के निश्चय करने को 'निर्णय' कहते हैं।

॥ इति न्यायदर्शने प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्तविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरि-ग्रहोवादः ॥१॥

जिसमें प्रमाण और तर्क से स्वपक्ष का स्थापन और प्रतिपक्ष का खण्डन हो, जो स्व-स्वीकृत सिद्धान्त का विरोधी न हो, प्रतिज्ञादि पांच अवयवों से युक्त हो, ऐसे पक्ष और विपक्ष की सिद्धि का प्रकाश करनेवाले वाक्यसमूह को 'वाद' कहते हैं।

यथोक्तोपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

वाद के लक्षणों से युक्त, छल, जाति तथा निग्रहस्थान से स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का खण्डन जिसमें किया जाए, उसे 'जल्प' कहते हैं।

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥३॥

जिसमें प्रतिपक्ष का स्थापन न हो ऐसे जल्प को 'वितण्डा' कहते हैं।

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः ॥४॥

जो हेतु से दीख पड़ें, वस्तुतः हेतु के लक्षणों से रहित हों, उन्हें हेत्वाभास कहते है। १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम और ५. अतीतकाल— ये पाँच हेत्वाभास हैं।

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥५॥

जो हेतु एक पक्ष में स्थिर न होने से एकान्तिक नहीं होता वह व्यभिचार= अव्यवस्था दोषयुक्त होने से 'सव्यभिचार' नामक दुष्ट हेतुं होता है।

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥६॥

जिस सिद्धान्त को मानकर प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्त के विरोधी हेतु को 'विरुद्ध' हेत्वाभास कहते हैं।

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥७॥

साध्य का निश्चयपूर्वक कथन किये जाने पर भी जिसके द्वारा प्रकरण को सिद्ध करने की चिन्ता होती है, वह 'प्रकरणसम' दुष्ट हेतु होता है।

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥८॥

हेतु के स्वयं साध्य होने से, साध्य के समान होने के कारण 'साध्यसम' हेत्वा-भास कहाता है।

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥९॥

समय के व्यतीत होने पर जिस हेतु का कथन किया जाए वह 'कालातीत' नामक हेत्वाभास होता है।

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥१०॥

वादी (वाक्य कहनेवाले) के भाव से विरुद्ध अर्थ करके, वाक्य का खण्डन करना 'छल' कहाता है।

तत्त्रिविधं—वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति ॥११॥

वह उपर्युक्त छल तीन प्रकार का है—१. वाक्छल, २. सामान्य छल और ३.

उपचारच्छल।

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥१२॥

साधारण रूप से कहे हुए शब्द के अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ की कल्पना करना 'वाक्छल' कहाता है।

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥१३॥

अत्यन्त सामान्य शब्दों के संयोग से जो अर्थ निकल सकता है, उसका वैसा अर्थ न करके असम्भव अर्थ करना 'सामान्य छल' कहाता है।

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥१४॥

मुख्य तथा गौण=लाक्षणिक अर्थों में से किसी एक का प्रयोग करने पर वक्ता के अभिप्रायवाले अर्थ का निषेध करना 'उपचारच्छल' कहाता है।

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तद्विशेषात् ॥१५॥

वाक्छल ही उपचारच्छल भी है। दोनों पर्यायवाची हैं, क्योंकि दोनों में दूसरे अर्थ की कल्पना करना समान है।

न, तदर्थान्तरभावात् ॥१६॥

वाक्छल ही उपचारच्छल नहीं हो सकता, अर्थान्तर की कल्पना से।

अविशेषे वा किंचित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसंगः ॥१७॥

केवल साधर्म्य होने से वाक्छल और उपचारच्छल एक ही मान लिये जाएँ तो एकच्छलवाद का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा अर्थात् एक ही सामान्य छल रह जाएगा।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ॥१८॥

समान और विरुद्ध धर्म से किये जानेवाले खण्डन को 'जाति' कहते हैं।

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥१९॥

विरुद्ध ज्ञान और अज्ञान भी वादी को पराजित करने के कारण निग्रहस्थान कहलाता है। (विपरीत ज्ञान का नाम विप्रतिपत्ति है तथा दूसरे के द्वारा सिद्ध किये पक्ष का खण्डन न करना अथवा अपने पक्ष पर लगाये दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है। ये दोनों निग्रहस्थान=पराजय के स्थान हैं।)

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥२०॥

साधर्म्य तथा वैधर्म्य से निषेधरूप जाति का तथा विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति—दोनों निग्रहस्थानों के अनेक प्रकार के विकल्प होने से जाति और निग्रहस्थान भी अनेक प्रकार के हैं। (अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहते हैं। दूसरे के प्रश्न का उत्तर न देना, दूसरे की बात न समझना अथवा उसका विपरीत अर्थ समझना अप्रतिपत्ति है। इनसे भिन्न प्रतिज्ञाहानि आदि विप्रतिपत्ति के अन्तर्गत हैं।)

॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥१॥

साधारण और विशेष धर्म के निश्चय से अथवा दो में से किसी एक धर्म के निश्चय से संशय होता है, केवल साधारण अथवा विशेष धर्म से संशय नहीं हो सकता।

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥२॥

केवल विप्रतिपत्ति = विरुद्ध ज्ञान और केवल अव्यवस्था से भी संशय नहीं हो सकता।

विप्रतिपत्तौ च सम्प्रतिपत्तेः ॥३॥

दो विरुद्ध कोटियों के ज्ञान में भी, यथार्थ ज्ञान होने के कारण संशय नहीं हो सकता।

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥४॥

अव्यवस्था के अपने स्वरूप में व्यवस्थित होने से (अव्यवस्था में उपलब्धि एवं अनुपलब्धि) संशय नहीं हो सकता।

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥५॥

इस प्रकार समान धर्म के निरन्तर विद्यमान होने के कारण अत्यन्त सन्देह की प्राप्ति हो जाएगी।

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥६॥

(इस सूत्र द्वारा पूर्वपक्षों का निराकरण करते हैं—) पूर्वोक्त (१.१.२३) सामान्य धर्मादि के निश्चयात्मक ज्ञान से ही, उस विशेष धर्म के ज्ञान की अपेक्षा से, संशय की प्राप्ति होने पर संशयरहित नहीं होता अथवा अत्यन्त संशय भी नहीं रहता।

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसंग ॥७॥

जिस प्रमाणादि पदार्थ की परीक्षा में सन्देह हो, उस-उसकी परीक्षा में प्रतिवादी द्वारा संशय का निषेध करने पर प्रश्नोत्तर करके परीक्षा की जाती है।

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥८॥

(अब प्रमाणों की परीक्षा की जाती है) प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द में प्रमाण नहीं बन सकता क्योंकि प्रमेय पदार्थ की त्रिकाल (भूत, वर्तमान, भविष्यत्) में सिद्धि नहीं हो पाती।

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्ति ॥९॥

प्रमेय से पूर्वकाल में प्रमाण की सिद्धि मानें तो—'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष होता है'—यह सिद्धान्ती का प्रत्यक्ष का लक्षण नहीं बनेगा।

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥१०॥

गन्धादि प्रमेय के अपर=पश्चात् काल में इस प्रत्यक्ष की सिद्धि मानें तो 'प्रमाणों से प्रमेयसिद्धि' का सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥११॥

प्रमाण तथा प्रमेय पदार्थ की एक ही काल में सिद्धि मानने पर बुद्धियों=ज्ञानों के प्रत्येक विषय में नियत होने के कारण 'ज्ञान क्रम से होता है'—यह क्रमवृत्ति न बन पाएगी।

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१२॥

तीनों कालों में सिद्ध न होने से पूर्वपक्षी का निषेध नहीं बन सकता।

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१३॥

तथा सम्पूर्ण प्रमाणों का निषेध करने से भी पूर्वपक्षी का प्रतिषेध नहीं बन सकता।

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥१४॥

अथवा अवयवादिकों को अपने वाक्य में प्रमाण मानने पर भी समग्र प्रमाणों का प्रतिषेध सिद्ध नहीं होगा।

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥१५॥

ध्वनिरूप शब्द से वाद्ययन्त्र की सिद्धि की भाँति प्रमाणरूप कारण की सिद्धि होने से प्रमाणों में भूत, वर्तमान तथा भविष्यत्—ऐसे तीनों कालों का प्रतिषेध भी नहीं हो सकता।

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥१६॥

प्रमाणता के साथ तुला प्रमेय भी है अर्थात् तुला=तौल प्रमेय है, प्रमाण होने के समान।

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥१७॥

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की प्रमाण से सिद्धि मानी जाए तो इन से भिन्न अन्य प्रमाण के सिद्ध करने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत्प्रमेयसिद्धिः ॥१८॥

अथवा दूसरे साधक प्रमाण की आवश्यकता न मानकर प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि के समान विना प्रमाण के प्रमेय पदार्थों की सिद्धि होने लगेगी।

न, प्रदीपप्रकाशवत्तत्सिद्धेः ॥१९॥

पूर्वपक्षी ऐसा नहीं कह सकता, दीप के प्रकाश के समान प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सत्ता सिद्ध होने से।

क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदेकान्तः ॥२०॥

कहीं (प्रदीप आदि में) दूसरे प्रमाण की निवृत्ति दीखने से और कहीं (पट रूप आदि में) निवृत्ति न दीखने से यह हेतु अनैकान्तिक=व्यभिचारी है।

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥२१॥

'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं'—प्रत्यक्ष प्रमाण का यह लक्षण अयुक्त है क्योंकि प्रत्यक्ष में आत्मा और मन का सन्निकर्ष भी कारण

होता है। उसे सिद्धान्ती ने लक्षण में नहीं कहा है।

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥२२॥

आत्मा और मन--इन दोनों के सन्निकर्ष के बिना प्रत्यक्ष प्रमाण की उत्पत्ति नहीं होगी।

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥२३॥

दिशा, देश, काल तथा आकाश द्रव्यों में भी यही प्रसङ्ग उपस्थित हो जाएगा।

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोधः ॥२४॥

(सिद्धान्ती उत्तर देता है—) आत्मा की ज्ञानरूप हेतु मे सिद्धि होने के कारण (प्रत्यक्ष लक्षण में) उसका असंग्रह नहीं है।

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥२५॥

तथा अनेक ज्ञानों के एक काल में न होने का साधक होने से मन का भी प्रत्यक्ष लक्षण में असंग्रह नहीं है, समावेश ही है।

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥२६॥

सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानों में कारण होने से ही इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष को नाम-ग्रहणपूर्वक प्रत्यक्ष लक्षण में पढ़ा गया है।

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥२७॥

सोये हुए तथा किसी एक विषय में लीन मन वाले पुरुषों के प्रत्यक्ष में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्षरूप निमित्त कारण होने से भी (इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष को नामग्रहणपूर्वक प्रत्यक्ष लक्षण में पढ़ा गया है)।

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥२८॥

ज्ञान विशेषों (घ्राणज, चाक्षुष आदि विभिन्न प्रत्यक्ष ज्ञानों) का उन्हीं इन्द्रियों और पदार्थों से व्यवहार होता है।

व्याहतत्वादहेतुः ॥२९॥

(पूर्वपक्षी कहता है—) व्याघात दोष होने के कारण यह हेतु ठीक नहीं है।

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥३०॥

उत्तरपक्ष—किसी इन्द्रिय विशेष के प्रबल होने से, व्याघात दोष नहीं है।

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥३१॥

प्रत्यक्ष अनुमान ही है क्योंकि उसका एक देश के ग्रहण (वृक्षादि के अग्र भाग के देखने से) से ज्ञान होता है।

न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥३२॥

नहीं, क्योंकि उस अवशिष्ट एक देश का ग्रहण भी प्रत्यक्ष से ही होता है।

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥३३॥

एक देश का ही प्रत्यक्ष नहीं होता, अपितु उसके साथ अवयवी का भी प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वहाँ अवयवी भी रहता है।

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥३४॥

सिद्ध करने योग्य होने से अवयवों से भिन्न वृक्षादिरूप अवयवी में संशय है।

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥३५॥

और अवयवों से भिन्न अवयवी की सिद्धि न होने से द्रव्य, गुण, कर्म आदि सम्पूर्ण पदार्थों का ग्रहण नहीं होगा।

धारणाऽऽकर्षणोपपत्तेश्च ॥३६॥

तथा धारण (पकड़ रखना) तथा आकर्षण (खींचना) की उपपत्ति से भी अवयवी का भिन्न एवं स्वतन्त्र पदार्थ होना सिद्ध होता है।

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥३७॥

सेना या वन के ज्ञान के समान घटादि परमाणु समूहों का ग्रहण होता है—ऐसा भी नहीं मान सकते क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं, उनका इन्द्रियों से ग्रहण नहीं हो सकता।

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥३८॥

रोध (जल के रोकने) उपघात (चींटियों के स्थान के नष्ट-भ्रष्ट होने) तथा सादृश्य (मयूर आदि की नकली ध्वनि) से अनुमान मिथ्या सिद्ध होने के कारण यह भी अप्रमाण है।

न, एकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥३९॥

नहीं, क्योंकि एक देश, त्रास, सादृश्य हेतुओं से उन उदाहरणों में अर्थान्तर आ जाता है।

वर्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥४०॥

वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि गिरी हुई वस्तु के केवल पतित काल तथा पतितव्य काल ही उपपन्न हैं।

तयोरप्यभावो वर्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥४१॥

वर्तमान काल के न होने पर वर्तमानापेक्षित भूत और भविष्यत् काल की भी अनुपपत्ति=अनुपलब्धि हो जाएगी।

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥४२॥

भूत और भविष्यत् इन दोनों कालों की परस्पर अपेक्षा से सिद्धि नहीं हो सकती।

वर्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४३॥

वर्तमान काल के अभाव में प्रत्यक्ष न होने से किसी भी पदार्थ का ग्रहण नहीं होगा।

कृतताकर्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥४४॥

कृतता (काटा गया आदि भूत व्यापार) और कर्तव्यता (काटा जाएगा आदि भविष्यत् व्यापार) ऐसा दो प्रकार का ज्ञान होने के कारण दोनों समय (भूत तथा भविष्यत्) से वर्तमान काल का ग्रहण होता है।

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥४५॥

अत्यन्त सादृश्य, प्राय सादृश्य और एकदेश सादृश्य के कारण उपमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥४६॥

प्रसिद्ध साधर्म्य (लोक में प्रसिद्ध समान धर्म को लेकर) और उपमान नामक पृथक् प्रमाण सिद्ध होने के कारण पूर्वपक्षी द्वारा कथित दोष नहीं बनेंगे।

प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥४७॥

(तो उपमान को अनुमान ही मान लें) क्योंकि उपमान में भी प्रत्यक्ष के सादृश्य से अप्रत्यक्ष की सिद्धि होती है।

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥४८॥

नहीं, गवय (नील गाय) का प्रत्यक्ष न होने पर प्रमाण के लिए उपमान आवश्यक है।

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥४९॥

'तथा'—वैसा यह—इस कथन से भी उपमान सिद्ध होने से अनुमान तथा उपमान दोनों एक नहीं हो सकते।

शब्दोऽनुमानमर्थमस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥५०॥

प्रत्यक्ष से शब्द के अर्थ का ज्ञान न होने के कारण अनुमेय होने से शब्द-प्रमाण अनुमान है।

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥५१॥

शब्दज्ञान और अनुमान् के भिन्न प्रकार का न होने से (शब्द अनुमान नहीं है।)

सम्बन्धाच्च ॥५२॥

शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध होने से भी शब्द अनुमान ही सिद्ध होता है।

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययः ॥५३॥

आप्तोपदेश सामर्थ्य से शब्द द्वारा ही अर्थ ज्ञान हो जाता है।

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥५४॥

मोदक कहने से मुख का भर जाना, अग्नि तथा असि शब्दों से जलना तथा फट जाना न होने से शब्द तथा अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध नहीं है।

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥५५॥

लोक में शब्द तथा अर्थ की व्यवस्था देखने से शब्द तथा अर्थ के परस्पर प्राप्तिरूप स्वाभाविक सम्बन्ध का निषेध नहीं हो सकता।

न, सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य ॥५६॥

पूर्वपक्षी का मत ठीक नहीं क्योंकि शब्दार्थ की व्यवस्था सम्बन्धापेक्ष नहीं, अपितु संकेतापेक्ष है।

जातिविशेषे चानियमात् ॥५७॥

जातिविशेष में नियम न होने से भी शब्दार्थ सम्बन्ध नहीं बनता।

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥५८॥

मिथ्यात्व=असत्यता, व्याघात=परस्पर विरोध और पुनरुक्तिदोष के कारण वेदरूप शब्द विशेष प्रमाण नहीं हैं।

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥५९॥

वेदों में पूर्वपक्षी द्वारा कथित अनृत दोष नहीं है क्योंकि कर्म, कर्ता तथा

साधन=करणों में अपूर्णता होने से (वहाँ फलादर्शन है)।

अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥६०॥

स्वीकार करके पुनः विधिविरुद्ध हवन करने वाले को उक्त दोष (हवियों को कुत्ता खा जाता है) कहने से (व्याघात दोष भी नहीं है)।

अनुवादोपपत्तेश्च ॥६१॥

सार्थक आवृत्तिरूप अनुवाद होने से (वेद में पुनरुक्ति दोष भी नहीं है)।

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥६२॥

वाक्यविभाग के अर्थवान् होने से भी शब्द प्रमाण है।

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥६३॥

ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है—१. विधि, २. अर्थवाद तथा ३. अनुवादवचन।

विधिर्विधायकः ॥६४॥

विधायक=कर्म का विधान करनेवाले वाक्यों को 'विधि' कहते हैं।

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥६५॥

अर्थवाद चार प्रकार का होता है—१. स्तुति, २. निन्दा, ३. परकृति=विरुद्ध विधि का कथन और ४. पुराकल्प=ऐतिहासिक विधि।

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥६६॥

विधि=शब्द और विहित=अर्थ का अनुवचन 'अनुवाद' कहलाता है।

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥६७॥

सिद्धान्ती द्वारा कहे हुए अनुवाद और पुनरुक्ति—दोनों में शब्द का अभ्यास होने से कोई अन्तर नहीं है।

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥६८॥

अतिशीघ्र जाने की आज्ञा के समान आवृत्ति होने से पुनरुक्ति और अनुवाद में समानता नहीं है।

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥६९॥

मन्त्र और आयुर्वेद के प्रामाण्य की भाँति वेद का भी प्रामाण्य है क्योंकि वह परमपुरुष, पूर्ण आप्त परमात्मा द्वारा उपदिष्ट है।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् ॥१॥

केवल चार ही प्रमाण नहीं, अपितु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव भी प्रमाण हैं।

**शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावा-
नर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥२॥**

शब्द में ऐतिह्य तथा अनुमान में अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव के अन्तर्भाव हो जाने से (प्रमाण-चतुष्ट्य का निषेध नहीं हो सकता)।

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥३॥

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, व्यभिचारी दोष होने के कारण।

अनर्थापत्तावर्थापत्त्याभिमानात् ॥४॥

अर्थापत्ति में व्यभिचार नहीं आता, अनर्थापत्ति के अभिमान से। (भाव यह है कि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।)

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥५॥

पूर्वपक्षी का अर्थापत्ति का प्रमाण न होना रूप निषेध भी अप्रमाण होगा, व्यभिचार दोष आने से।

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥६॥

पूर्वपक्षी के प्रतिषेध का प्रामाण्य हो तो अर्थापत्ति का भी अप्रमाणत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥७॥

अभाव प्रमाण नहीं, क्योंकि उसका कोई प्रमेय नहीं मिलता।

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः ॥८॥

अलक्षितों में अलक्षण लक्षित होने से अलक्षित (रंगीन और बिना रंगे कपड़ों में, बिना रंगे वस्त्र) अभाव के प्रमेय बन जाएँगे।

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्न, अन्यलक्षणोपपत्तेः ॥९॥

अर्थ=सत्ता के न होने पर अभाव नहीं बनेगा, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि उस अभाव का अन्य लक्षणों से उपपादन हो सकता है।

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥१०॥

अलक्षितों में उस लक्षण का न होना अभाव की सिद्धि में हेतु नहीं बन सकता।

न, लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ॥११॥

अहेतु नहीं है, लक्षण की स्थिति की अपेक्षा से उसकी सिद्धि हो जाएगी।

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥१२॥

पदार्थ की उत्पत्ति से पूर्व अभावोत्पत्ति बन जाने से भी अहेतु नहीं है।

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ॥१३॥

शब्द अनित्य है—आदिमान्=कारणवाला होने से, ऐन्द्रियक=श्रोत्ररूप बाह्येन्द्रिय से गृहीत होने से और कार्य के समान व्यवहार होने से भी।

न, घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥१४॥

घटाभाव सामान्य के नित्य होने से तथा नित्य में अनित्यवत् आरोप से (वे तीनों हेतु शब्द का अनित्यत्व सिद्ध नहीं कर सकते)।

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥१५॥

तत्त्व=पारमार्थिक तथा भाक्त=गौण में नानात्वरूप विभाग है, अतः उन हेतुओं में व्यभिचार नहीं है।

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥१६॥

शब्द में सन्तान (परम्परा) के अनुमान विशेषण से भी (शब्द अनित्य ही है)।

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचारः ॥१७॥

कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द द्वारा कथन होने से नित्यों में भी व्यभिचार नहीं आ सकता।

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥१८॥

उच्चारण से पूर्व अनुपलब्ध होने से तथा आवरण आदि द्वारा अनुपलब्धि न माने जाने से (शब्द अनित्य है।)

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥१९॥

उसकी अनुपलब्धि का ग्रहण न होने से आवरण की उपपत्ति हो सकती है।

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥२०॥

अनुपलम्भ (ग्रहण न होने) से भी अनुपलब्धि की सत्ता के कारण आवरणानुपलब्धि अनुपलम्भ से नहीं मान सकते।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥२१॥

अनुपलम्भात्मक (प्राप्ति के अभावरूप) होने से अनुपलब्धि का वह हेतु अहेतु है।

अस्पर्शत्वात् ॥२२॥

स्पर्शरहित होने से (आकाश की भाँति) शब्द भी नित्य है।

न, कर्मानित्यत्वात् ॥२३॥

व्यभिचारी होने से यह हेतु ठीक नहीं क्योंकि कर्म का भी स्पर्श नहीं होता परन्तु वह अनित्य है।

न, अणुनित्यत्वात् ॥२४॥

परमाणु का स्पर्श होता है, फिर भी वह नित्य है, इसलिए 'अस्पर्शता' हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

सम्प्रदानात् ॥२५॥

(आचार्य द्वारा शिष्य को) शब्द का सम्प्रदान होता है, अतः शब्द नित्य है।

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥२६॥

देने और लेने के बीच में शब्द के उपलब्ध न होने से 'सम्प्रदान' शब्द की नित्यता का साधक नहीं हो सकता।

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥२७॥

पढ़ाये जाने के कारण शब्द के सम्प्रदान=दिये जाने का निषेध नहीं हो सकता।

उभयोः पक्षयोन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥२८॥

दोनों ही पक्षों में (अध्यापन में गुरु और शिष्य—दोनों के ही तुल्य होने से) अध्यापन से सम्प्रदान में हेतुत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता और सम्प्रदान न होने से शब्द नित्य नहीं हो सकता।

अभ्यासात् ॥२९॥

बारम्बार आवृत्ति होने के कारण शब्द नित्य है।

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥३०॥

नहीं, क्योंकि नित्य न होने पर भी उसमें औपचारिक अभ्यास का व्यवहार होता है।

अन्यदयन्स्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ॥३१॥

यह 'अन्य' दूसरे से अनन्य होने से अनन्य ही है, अतः अन्यता नहीं बन सकती।

तदभावे नास्त्यनन्यता, तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥३२॥

उस 'अन्य' के अभाव में अनन्यता भी नहीं बन सकती, क्योंकि उन दोनों की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है।

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥३३॥

शब्द के नष्ट होने का कारण न जान पड़ने से (शब्द नित्य है)।

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥३४॥

शब्द न सुनाई पड़ने के कारण उपलब्ध न होने से शब्द सदा श्रवण होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता, अतः शब्द नित्य है।

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥३५॥

शब्द का विनाशकारण अनुमान से उपलभ्यमान होकर भी उसकी अनुपलब्धि होने से वह नहीं है, अतः यह हेतु असिद्ध होने के कारण दुष्ट हेतु है, इससे शब्द की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती।

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥३६॥

हाथ के निमित्त से (घण्टे को बजाकर हाथ से पकड़ लेने पर) शब्द का अभाव (बन्द) हो जाने से, उसको विनाशकारण की प्राप्ति न होती। (इससे यही सिद्ध होता है कि शब्द अनित्य है।)

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥३७॥

शब्द के नाश का कारण उपलब्ध न होने से उसे स्थिर मानना पड़ेगा, उस दशा में शब्द को नित्य मानना पड़ेगा।

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥३८॥

शब्द के स्पर्शरहित होने से उक्त (३६वें) सूत्र का दोष नहीं आता।

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥३९॥

समास में एक द्रव्य में ही विभक्ति पाई जाने से भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द उपलब्ध होने से भी प्रतिषेध नहीं बनता।

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥४०॥

व्याकरणशास्त्र में एक वर्ण दूसरे वर्ण का विकार है तथा एक वर्ण के स्थान में दूसरे वर्ण का आदेश होता है, ऐसा दोनों प्रकार का उपदेश होने के कारण वर्णरूप शब्द विकार है या आदेश—ऐसा संशय होता है।

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥४१॥

प्रकृति (कारण) की वृद्धि होने पर विकार (कार्य) में भी वृद्धि होनी चाहिए थी (परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता अतः वर्णों के विकार नहीं होते)।

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ।।४२।।

विकारों के कम, समान या अधिक पाये जाने से उपर्युक्त हेतु मान्य नहीं हो सकता।

द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः ।।४३।।

दृष्टान्त के समान तथा विरुद्ध धर्मवाले, दोनों प्रकार के हेतुओं के अभाव से पूर्वपक्षी का दृष्टान्त असाधक है।

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ।।४४।।

यह आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के विकार भिन्न-भिन्न कार्य होते हैं (अतः विकार मानना ठीक नहीं है)।

द्रव्यविकारवैषम्याद् वर्णविकारविकल्पः ।।४५।।

द्रव्यों के विकार में विषमता के समान वर्णों के विकारों में विकल्प हो सकता है।

न, विकारधर्मानुपपत्तेः ।।४६।।

ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि वर्णों में विकार धर्म की प्राप्ति नहीं होती।

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ।।४७।।

विकार रूप को प्राप्त हुए वर्णों के पुनः अपने स्वरूप में न आने के कारण (भी वर्णों को विकार मानना ठीक नहीं)।

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ।।४८।।

सुवर्ण, मृत्तिका आदि द्रव्यों के पुनः अपने स्वरूप में आ जाने से उपर्युक्त हेतु ठीक नहीं है।।

न, तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ।।४९।।

यहाँ सुवर्णोदाहरण नहीं घटता क्योंकि उस सुवर्ण के विकार उससे अतिरिक्त नहीं हैं।

वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।।५०।।

वर्णत्व के सामान्य होने से वर्णविकारों का प्रतिषेध युक्त नहीं (अतः वर्णविकार पक्षसंगत है)।

सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ।।५१।।

सामान्यवान् का विकारधर्म (कार्य योग) सामान्य का नहीं बन सकता (अतः वर्णों का विकारपक्ष असङ्गत है)।

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ।।५२।।

वर्णों के नित्य होने पर उनमें विकार नहीं बनेगा और अनित्य मानने पर उनका अनवस्थान होगा (अतः वर्णों का विकार मानना सर्वथा असंगत है)।

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।।५३।।

नित्य पदार्थों के इन्द्रियों से गृहीत न होने के कारण और उनके धर्मों का विकल्प होने के कारण भी वर्णों का विकार नहीं होता—यह प्रतिषेध नहीं बन सकता।

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥५४॥

वर्णों के अनवस्थायित्व (स्वल्पकाल स्थायित्व) होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय से उनकी उपलब्धि की भांति उनमें विकार भी बन जाएगा।

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥५५॥

वर्णों को विकारी मानने पर उनमें नित्यत्व न रहने से तथा कालान्तर में विकार के हो सकने से प्रतिषेध (वर्णों का विकारवाद) सिद्ध नहीं होता।

प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् ॥५६॥

वर्णों में प्रकृति और विकृति (कारण और कार्य) का नियम न होने से वर्ण-विकार की मान्यता नहीं बनती।

अनियमे नियमान्नानियमः ॥५७॥

यह अनियम में नियम होने से अनियम नहीं, नियम ही है।

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥५८॥

नियम, अनियम—दोनों का शाश्वतिक विरोध होने से, अनियम में नियम बताने से प्रतिषेध नहीं बनता।

**गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु
विकारोपपत्तेर्वर्णविकाराः ॥५९॥**

१. गुणान्तरापत्ति=उदात्त आदि स्वरों की प्राप्ति, २. उपमर्द=एक रूप हटकर दूसरा रूप होना, ३. ह्रास=दीर्घ का ह्रस्व विधान, ४. वृद्धि=ह्रस्व का दीर्घ होना, ५. लेश=छोटा होना और ६. श्लेष=प्रकृति या प्रत्यय का आगम—इन कारणों से विकार हो सकने के कारण वर्णों के विकार कहे जाते हैं।

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥६०॥

वे वर्ण यदि विभिक्त्यन्त हों तो 'पद' कहलाते हैं।

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥६१॥

गो शरीररूप व्यक्ति, गौ का गल कम्बल आदि आकार तथा गौओं में वर्तमान गोत्व जाति—तीनों की सन्निधि में उपचार होने से संशय होता है कि गोपद का अर्थ व्यक्ति है, आकार है अथवा जाति।

**या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासाऽनु-
बन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥६२॥**

'या'—यह शब्द, समुदाय, त्याग, परिग्रह=स्वीकार, संख्या, वृद्धि, अपचय=घटना, वर्ण, समास, तथा अनुबन्ध—इनके व्यक्तियों में व्यवहार होने से व्यक्ति (गौ आदि शरीर रूप) ही गौ पद का अर्थ है।

न तदवस्थानात् ॥६३॥

व्यक्ति पदार्थ नहीं है, उस व्यक्ति के स्थिर न होने के कारण।

**सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधि-
पत्येभ्यो ब्राह्मणमंचकटराजसक्तुचन्दनगंगाशाटकान्न-
पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ॥६४॥**

सहचरण = साथ में रहना, स्थान, तादर्थ्य = उसके लिए होना, वृत्त = आचरण, धारण = तौल, सामीप्य, योग, साधन तथा आधिपत्य—इन निमित्तों से ब्राह्मण, मञ्च, कट, राजा, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न, पुरुष—इनका अतद्भाव में भी तदुपचार (उस शब्द के न होने पर भी उस शब्द का प्रयोग) होता है।

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥६५॥

गो आदि प्राणियों के स्वरूप की सिद्धि आकृति-अपेक्ष होने के कारण आकृति को ही पद का अर्थ मान लें ?

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसंगात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥६६॥

गो की मिट्टी की मूर्ति में व्यक्ति तथा आकृति—दोनों के होते हुए भी 'गो का प्रोक्षण करो, गो का दान करो'—इत्यादि शास्त्रोक्त विधि के न होने के कारण गोत्व जाति ही गो शब्द का अर्थ है—ऐसा मान लें ?

न आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥६७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जाति की पहचान व्यक्ति और आकृति की अपेक्षा रखती है।

व्यक्तत्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥६८॥

व्यक्ति, आकृति और जाति—ये तीनों पद के अर्थ हैं (क्योंकि शब्द की शक्ति तीनों में है)।

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥६९॥

गुण विशेष (गुरुत्व, कठिनत्व, द्रवत्व आदि) आश्रित मूर्ति को व्यक्ति कहते हैं।

आकृतिर्जातिलिंगाख्या ॥७०॥

जिससे जाति तथा उसके लिंग = चिह्न प्रकट हों, उसे आकृति कहते हैं।

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥७१॥

जो विभिन्न अधिकरणों में समान बुद्धि उत्पन्न करे उसे 'जाति' कहते हैं।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥१॥

दर्शन और स्पर्शन द्वारा एक ही पदार्थ का ज्ञान होने से (आत्मा देहादि से भिन्न है)।

न, विषयव्यवस्थानात् ॥२॥

इन्द्रियों से भिन्न चेतन आत्मा की आवश्यकता नहीं, इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों के व्यवस्थित होने के कारण।

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ॥३॥

इन्द्रियों से अपने-अपने विषय रूप आदि ग्रहण के नियम होने से ही इन्द्रियों से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध होने के कारण, इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता।

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥४॥

शरीर के जलाने में पाप न होने से (आत्मा शरीर से पृथक् है)।

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥५॥

आत्मा के नित्य होने के कारण सजीव शरीर को जलाने में भी पाप नहीं होगा।

न, कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥६॥

यह पूर्वपक्ष ठीक नहीं, क्योंकि हम शरीर तथा तदाश्रयभूत इन्द्रियों के उच्छेद को 'हिंसा' कहते हैं।

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥७॥

बाईं आँख द्वारा देखे गये पदार्थ का दाईं आँख द्वारा प्रत्यभिज्ञान=पहचान होने से (आत्मा देहादि से पृथक् है)।

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥८॥

यह कथन युक्तियुक्त नहीं क्योंकि एक चक्षुरिन्द्रिय में नासिका अस्थि (नाक की हड्डी) का व्यवधान होने से द्वित्त्व का भ्रम हो जाता है।

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥९॥

एक आँख के नष्ट हो जाने पर दूसरी आँख का विनाश न होने से एकत्व सिद्धि नहीं हो सकती।

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥१०॥

लोक में अवयव के खण्डित होने पर भी अवयवी रहता है, अतः पूर्वपक्षी का मत ठीक नहीं।

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥११॥

विरुद्ध दृष्टान्त देकर चक्षुरिन्द्रिय के एक होने का निषेध नहीं हो सकता।

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥१२॥

(किसी इन्द्रिय से उसके विषय को ग्रहण करने पर) अन्य इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होने से आत्मा देहादि से पृथक् है।

न, स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥१३॥

स्मृति के स्मर्तव्य विषयक होने से (पृथक् आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं)।

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥१४॥

उस स्मृति को आत्मा का गुण मानने से इन्द्रियों तथा विषयों से भिन्न आत्मा का निषेध नहीं हो सकता।

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥१५॥

और स्मृति के विषयों की उस प्रकार (सूत्र १३) परिगणना न करने से (उक्त कथन कर दिया गया है)।

न, आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥१६॥

आत्मा के साधक हेतुओं के मन में सम्भव होने से (मन से भिन्न अन्य कोई आत्मा नहीं हो सकता)।

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥१७॥

ज्ञात के ज्ञान-साधन की उपलब्धि होने से केवल नाम का भेद ही है। (कर्ता और करण-इन्द्रिय भिन्न होने से मन को आत्मा मानना असंगत है।)

नियमश्च निरनुमानः ॥१८॥

पूर्वपक्षी का 'बाह्येन्द्रिय तो है परन्तु मन नहीं'—यह नियम अनुमान प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ॥१९॥

पूर्वजन्म में अभ्यास किये कर्मों के स्मरण के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दूध पीने-वाले बालक को आनन्द, भय तथा शोक=दुःख का ज्ञान होने के कारण यह सिद्ध होता है कि आत्मा है।

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥२०॥

कमल आदि पुष्पों में जैसे खिलना और संकुचित होना आदि विकार होते हैं, वैसे ही छोटे बालक में हँसना-रोना आदि विकार होते हैं (नित्य आत्मा मानने की कोई आवश्यकता नहीं)।

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥२१॥

पञ्चभौतिक कमल आदि के विकार गर्मी, सर्दी और वर्षा के निमित्त से होते हैं, अतः पूर्वपक्ष युक्तियुक्त नहीं।

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥२२॥

मरने के पश्चात् पूर्वाभ्यासकृत स्तन-पान की इच्छा का होना भी आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥२३॥

अयस्कान्तमणि=चुम्बक के पास लोहे के अभिगमन की भाँति उस शिशु का भी स्तन की ओर उपसर्पण हो सकता है।

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥२४॥

अन्यत्र प्रवृत्ति न होने से उक्त हेतु ठीक नहीं।

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥२५॥

सांसारिक विषयों से विरक्त मनुष्य का पुनर्जन्म न होने से आत्मा नित्य है।

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥२६॥

सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की भाँति रागवाले आत्मा के उत्पन्न होने से आत्मा का अनादित्य और नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

न, सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥२७॥

राग आदि के संकल्पमूलक होने से पूर्वपक्षी की मान्यता युक्त नहीं।

पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः ॥२८॥

मनुष्य आदि प्राणियों का शरीर पार्थिव, जलीय तथा तैजस—इन तीन भूतद्रव्यों से उत्पन्न होने के कारण 'त्रैभौतिक' है क्योंकि इनमें पृथिवी आदि तीनों द्रव्यों के गन्ध, गीलापन तथा उष्णता नामक तीनों विशेष गुणों की उपलब्धि होती है।

निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकम् ॥२९॥

मनुष्य आदि प्राणियों के शरीर में गन्ध आदि गुणों के साथ श्वास, उच्छ्वास की उपलब्धि होने से इसे चातुर्भौतिक मान लें?

गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम् ॥३०॥

शरीर में गन्ध, क्लेद=गीलापन, अन्नपाक, भुक्तान्नपान, रससञ्चरण तथा दूसरे भूतों को इतस्ततः सञ्चरण के लिए अवकाशदान से इसे पाञ्चभौतिक मान लें।

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥३१॥

पृथिवी के विशेष गुणों की उपलब्धि होने से मनुष्य आदिकों का शरीर पार्थिव है।

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥३२॥

वेद के प्रमाण से भी मानवशरीर पार्थिव है।

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरिच्य चोपलम्भात् संशयः ॥३३॥

कनीनका=आँख की पुतली के होने पर तथा उसके विषय से पृथक्=दूर होने पर रूपोपलब्धि होती है, अतः संशय होता है कि चक्षु-इन्द्रिय आहंकारी है अथवा भौतिक।

महदणुग्रहणात् ॥३४॥

महत् और अणुपरिमाण (बड़े और छोटे) वाले पदार्थों का प्रत्यक्ष होने के कारण इन्द्रियाँ अभौतिक हैं।

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥३५॥

आँख की रश्मि और अर्थ के सन्निकर्ष विशेष से महद् और अणु का ग्रहण होता

है। (इससे सिद्ध है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं।)

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥३६॥

चक्षु आदि इन्द्रियों के किरण की उपलब्धि न होने से यह हेतु ठीक नहीं।

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥३७॥

अनुमान-प्रमाण से सिद्ध होने वाले पदार्थ की प्रत्यक्षतः उपलब्धि न होने पर भी वह उसके अभाव का कारण नहीं होता।

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥३८॥

द्रव्य तथा गुण पदार्थ के धर्म भिन्न-भिन्न होने से भी उपलब्धि=प्रत्यक्ष होने का नियम नहीं हो सकता।

अनेक द्रव्यसमवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥३९॥

अनेक द्रव्यों के समवाय सम्बन्ध होने से तथा 'उद्भूत' नामक रूप विशेष से रूप-गुण तथा रूपवान् द्रव्य—इन दोनों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥४०॥

प्राणियों के किये पुण्य तथा पापकर्म से प्रेरित चक्षु आदि इन्द्रियों की रचना उपभोग की साधिका है।

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥४१॥

और भौतिक द्रव्य में प्रतिघात=रुकावट होने की निर्दोष व्यवस्था है, अतः इन्द्रियाँ भौतिक हैं, अभौतिक नहीं।

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥४२॥

मध्याह्न में तारा प्रकाश की अनुपलब्धि की भाँति चक्षु-इन्द्रिय की किरणों की भी उपलब्धि नहीं होती।

न, रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥४३॥

रात्रि में भी मृत्तिका=मिट्टी में प्रकाश की उपलब्धि न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥४४॥

बाह्य प्रकाश की सहायता से रूपोपलब्धि होने से उस रूप की अनभिव्यक्ति से भी अनुपलब्धि हो सकती है।

अभिव्यक्तौ चाभिभावात् ॥४५॥

अभिव्यक्ति में अभिभव (तिरस्कार) होने पर भी नेत्र रश्मिवान् हैं।

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥४६॥

रात्रि में घूमने फिरनेवाले प्राणियों की चक्षुरश्मि देखे जाने से भी नेत्र रश्मिवान् हैं।

अप्राप्यग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥४७॥

इन्द्रियों में विषयों को प्राप्त न होकर भी ग्रहण करने की शक्ति है, काँच, अभ्रक और स्फटिक का व्यवधान होने पर भी वस्तु की उपलब्धि होने से (अतः इन्द्रिय तथा अर्थ का सन्निकर्ष ज्ञान का कारण नहीं)।

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥४८॥

भित्ति के व्यवधान (रुकावट) युक्त पदार्थ का चाक्षुष ज्ञान न होने के कारण चक्षु-रश्मियों के सन्निकर्ष के ज्ञान में कारण मानने का निषेध नहीं हो सकता।

अप्रतिघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥४९॥

काँच आदि स्वच्छ द्रव्यों से चक्षु-इन्द्रिय की रश्मियों का अप्रतिघात (रुकावट) न होने के कारण संयोगादि रूप सन्निकर्ष हो सकता है।

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥५०॥

आदित्य रश्मि के स्फटिक से व्यवहित होने पर भी दाह्यकर्म में गतिरोध न होने से (संयोग सिद्ध है)।

नेतरेतरधर्मप्रसंगात् ॥५१॥

अलग-अलग धर्म का प्रसङ्ग होने से (काँच और भीत के धर्म परस्पर विरुद्ध होने से) उपर्युक्त मान्यता ठीक नहीं है।

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥५२॥

दर्पण तथा जल दोनों के स्वच्छ स्वभाव होने से प्रतिबिम्ब के रूप का ग्रहण होने के समान काँच आदि के व्यवधान में पदार्थ का ज्ञान होता है।

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥५३॥

प्रत्यक्ष तथा अनुमान से सिद्ध पदार्थों के बारे में विधि और निषेध (ऐसा क्यों होता है, ऐसा नहीं हो सकता) नहीं बनते।

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥५४॥

अनेक स्थानों में अनेक पदार्थों के होने से और एक पदार्थ के अनेक स्थानों में होने से सन्देह होता है कि इन्द्रियाँ अनेक हैं या एक।

त्वगव्यतिरेकात् ॥५५॥

व्यतिरेक=पार्थक्य न होने से त्वगिन्द्रिय नामक एक ही इन्द्रिय है।

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥५६॥

एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान न होने के कारण एक ही इन्द्रिय नहीं है।

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥५७॥

व्याघात दोष होने से भी त्वक्=त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है।

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥५८॥

इन्द्रियों के पाँच विषय होने से भी त्वचा ही एक इन्द्रिय नहीं है।

न, तदर्थबहुत्वात् ॥५९॥

उन इन्द्रियों का प्रयोजन बहुत्व (अनेक विषय) होने से पाँच ही इन्द्रियाँ नहीं हैं।

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥६०॥

गन्धसमूह में गन्धत्व के एक होने से गन्ध आदि पाँच गुणरूप अर्थों का निषेध नहीं हो सकता।

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥६१॥

फिर विषयत्व के पृथक् न होने से इन्द्रिय का एकत्व होना चाहिए।

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः ॥६२॥

नहीं, बुद्धि=ज्ञान, लक्षण, रूप, अधिष्ठान=आश्रय, गति=गमनरूप क्रिया आकृति और जाति के पाँच प्रकार के होने से इन्द्रिय एक नहीं हो सकती।

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥६३॥

पञ्चभूतों के गुण विशेष की उपलब्धि होने से इन्द्रिय भूतकार्य हैं।

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥६४॥

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा शब्द गुणों में, गन्ध से लेकर स्पर्श तक पृथिवी के गुण हैं।

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥६५॥

इनमें से पूर्व का एक-एक छोड़कर जल, तेज, वायु के विषय हैं, आकाश का केवल अन्तिम (शब्द) विषय है। (रस, रूप, स्पर्श जल के गुण हैं, रूप और स्पर्श तेज के और स्पर्श वायु का गुण है।)

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥६६॥

पृथिव्यादिकों के सर्वगुणों की इन्द्रियों से उपलब्धि न होने के कारण उक्त नियम युक्त नहीं है।

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तरोत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥६७॥

एक-एक पृथिव्यादि भूत द्रव्यों का एक-एक गन्धादि गुण होने के कारण आगे-आगे के रूप आदि गुणों का घ्राणेन्द्रिय आदि से ज्ञान नहीं होता।

विष्टं ह्यपरं परेण ॥६८॥

पृथिव्यादि द्रव्य दूसरे जलादि द्रव्य से व्याप्त हैं अतः यह नियम उपपन्न नहीं हो सकता।

न, पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥६९॥

पार्थिव और आप्य=जलीय द्रव्यों के प्रत्यक्ष होने से उक्त गुणनियम ठीक नहीं है।

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम ॥७०॥

पूर्व-पूर्व गुण के उत्कर्ष होने से वह-वह प्रधान होता है (यही कारण है कि एक इन्द्रिय से अनेक गुणों का ग्रहण नहीं होता)।

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥७१॥

उस द्रव्य का प्रकृष्टत्व=बहुलता होने से वैसी व्यवस्था बन जाती है।

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥७२॥

इन्द्रियों का इन्द्रियत्व स्वविषय सहित होता है।

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥७३॥

उसी से उसका ग्रहण नहीं होता।

न, शब्दगुणोपलब्धेः ॥७४॥

शब्दगुण श्रोत्र से उपलब्ध होता है, अतः इन्द्रियाँ अपने गुणों को ग्रहण नहीं

करतीं, ऐसा कहना ठीक नहीं।

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥७५॥

परस्पर द्रव्य गुणों के वैधर्म्य से उस (शब्द) की उपलब्धि होती है।

॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

कर्माकाशसाधर्म्यात्संशयः ॥१॥

कर्म तथा आकाश के समान (अस्पर्शत्व) धर्म होने के कारण बुद्धि नित्य है या अनित्य यह सन्देह होता है।

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥२॥

विषयों का प्रत्यभिज्ञान[1] होने से बुद्धि को नित्य समझना चाहिए।

साध्यसमत्वादहेतुः ॥३॥

साध्यसम होने से यह (प्रत्यभिज्ञान) हेतु हेत्वाभास है।

न, युगपदग्रहणात् ॥४॥

एक समय में अनेक विषयों का ज्ञान न होने के कारण (वृत्ति और वृत्तिमान् एक नहीं हैं)।

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसंगः ॥५॥

(वृत्ति और वृत्तिमान् के एक मानने पर) प्रत्यभिज्ञान के न रहने पर वृत्तिमान् का नाश मानना पड़ेगा।

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥६॥

इन्द्रियों के क्रमवृत्ति=कालभेद से व्यापार होने के कारण एक काल में इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान नहीं होता, इस अयुगपज्ज्ञान के कारण भी वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद है।

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासंगात् ॥७॥

मन के विषयान्तर में आसक्त=लीन होने से प्रत्यभिज्ञान का अभाव हो जाता है (इससे भी वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद प्रकट होता है।)

न गत्यभावात् ॥८॥

विभु पदार्थ में गति के न होने से युगपज्ज्ञान होने लगेगा (परन्तु हम प्रत्यक्ष मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग देखते हैं, अतः मन को विभु मानना ठीक नहीं)।

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥९॥

---

१. जिस अर्थ को मैं पहले जानता था, उस अर्थ को ही अब जान रहा हूँ—इस प्रकार दो ज्ञानों का समान अर्थ में प्रतिसन्धि ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' कहलाता है।

स्फटिकमणि में अन्यत्व के आरोप के समान उस वृत्ति में भी अन्यत्व का आरोप (भ्रम) दिखाई देता है।

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥१०॥

स्फटिक में दूसरे-दूसरे पदार्थों की उत्पत्ति होते रहने के कारण पदार्थों के क्षणिक होने से उक्त हेतु अहेतु है।

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥११॥

पदार्थमात्र उत्पत्ति तथा विनाश स्वभाव वाले हैं, ऐसा नियम मानने में कोई प्रमाण न होने से जैसा जिस पदार्थ में देखा जाता है, वैसा स्वीकार किया जाता है।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥१२॥

उत्पत्ति और विनाश के कारणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन ठीक नहीं है।

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुत्पत्तिः ॥१३॥

दूध के विनाश में कारण के उपलब्ध न होने के समान तथा दही की उत्पत्ति के समान स्फटिक की भी क्षण-क्षण में उत्पत्ति सिद्ध होती है।

लिंगतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥१४॥

उक्त विनाश तथा उत्पत्ति का लिंग द्वारा ग्रहण होने से वहां कारण की अनुपलब्धि नहीं है।

न पयसः परिणाम-गुणान्तर प्रादुर्भावात् ॥१५॥

यहां दूध का विनाश नहीं होता अपितु परिणामाख्य गुणविशेष प्रादुर्भूत होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥१६॥

रचनान्तर से द्रव्यान्तरोत्पत्ति का दिखाई देना पूर्वद्रव्य की निवृत्ति का अनुमान करा देता है।

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥१७॥

विनाश कारण की कहीं उपलब्धि और कहीं अनुपलब्धि होने से पूर्वपक्षी का मत अनेकान्त=व्यभिचारी है।

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानात् ॥१८॥

बुद्धि, इन्द्रिय तथा अर्थ—इन दोनों का गुण नहीं है क्योंकि इन दोनों के नष्ट होने पर भी ज्ञान रहता है।

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥१९॥

एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान न होने से भी बुद्धि मन का गुण नहीं है।

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥२०॥

ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी बात वही (एक काल में अनेक विषयों का ज्ञान होना) रहेगी।

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥२१॥

इन्द्रियों का मन के साथ संयोग न होने से एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते।

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥२२॥

ज्ञान की उत्पत्ति में प्रमाण न देने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

विनाश कारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसंग ॥२३॥

ज्ञान के नाश के कारण की अनुपलब्धि से उसके सदा वर्तमान रहने पर वह ज्ञान नित्य हो जाएगा, यह आपत्ति आती है।

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥२४॥

बुद्धि=ज्ञान के अनित्य होने के कारण बुद्ध्यन्तर से उसका विनाश हो जाता है, शब्दों के समान।

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥२५॥

ज्ञानसंयुक्त आत्मप्रदेशों के साथ मन का संयोग होने से स्मृति की उत्पत्ति होती है, अतः एक काल में अनेक ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥२६॥

मन के अन्तःशरीर वृत्ति (शरीर के मध्य में) रहने के कारण ऐसा कहना युक्त नहीं है।

साध्यत्वादहेतुः ॥२७॥

अन्तःशरीर वृत्तिता स्वयं साध्य होने से हेतु नहीं हो सकता।

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥

स्मरण करनेवाले पुरुष का शरीरधारण सिद्ध होने से 'मन के शरीर में रहने में प्रमाण नहीं है'—ऐसा पूर्वपक्षी का निषेध युक्त नहीं है।

न, तदाशुगतित्वान्मनसः ॥२६॥

मन के शीघ्रगामी होने से, स्मरणकाल में शरीर के गिर जाने का दोष नहीं हो सकता।

न स्मरणकालानियमात् ॥३०॥

स्मरणकाल के नियत न होने से पूर्वपक्षी का आक्षेप संगत नहीं है।

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥३१॥

मन का शरीर के बाहर संयोग आत्मप्रेरणा, यदृच्छा=अकस्मात् तथा ज्ञातृता से भी नहीं हो सकता (अतः एक काल में अनेक स्मृतियों के न होने का उत्तर संगत नहीं है)।

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥३२॥

जिसका मन किसी विषय में आसक्त है, ऐसे मनुष्य के पैर में अकस्मात् काँटा आदि चुभने से पैर के साथ जो अकस्मात् मन का विशेष संयोग होता है, उसी प्रकार अकस्मात् अन्य स्थलों में भी मन का संयोग विशेष हो सकता है।

प्रणिधानलिंगादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम् ॥३३॥

चित्त की एकाग्रता और लिंग आदि ज्ञानों के एकसाथ न होने से एक समय में अनेक स्मरण नहीं हो सकते।

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्ते यौगपद्यप्रसंगः ॥३४॥

प्रतिभाजन्य ज्ञान के समान प्रणिधान आदि निमित्तों की जहाँ अपेक्षा नहीं है,

ऐसे स्मृतिरूप ज्ञानों में स्मृति के युगपत् होने का अवसर प्राप्त होगा।

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्योः ॥३५॥

इच्छा-द्वेष आदि भी ज्ञाता के ही गुण हैं क्योंकि अर्थ में प्रवृत्ति और निवृत्ति ज्ञाता के ही इच्छा और द्वेष के कारण होती हैं।

तल्लिगत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३६॥

इच्छा और द्वेष की प्रवृत्ति और निवृत्ति का लिंग=साधक होने से पार्थिव आदि देहों में चैतन्य प्रतिषेध नहीं बनता (पार्थिवादि शरीरों में ही प्रवृत्ति और निवृत्ति दिखाई पड़ने से भौतिक शरीर ही चेतन आत्मा है, यह सिद्ध होता है)।

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥३७॥

परशु=कुल्हाड़ी आदि में भी प्रवृत्ति और निवृत्ति दिखाई देने से यह हेतु ठीक नहीं है।

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥३८॥

घड़े आदि में रचनाविशेष के होने पर भी ज्ञान-सुख आदि की उपलब्धि न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥३९॥

इच्छा और द्वेष के नियम और अनियम तो उस आत्मा के भेद साधक हैं।

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥४०॥

यथोक्त हेतुओं से (१.१.१०) पारतन्त्र्य से तथा अकृताभ्यागम दोष से बुद्धि मन का गुण नहीं हो सकता।

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥४१॥

परिशेष[1] तथा उक्त हेतुओं की उपपत्ति से भी (ज्ञान आत्मा का ही गुण है)।

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात् ॥४२॥

ज्ञाता का स्वभाव होने से स्मरण भी आत्मा का ही धर्म है।

प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यासलिंगलक्षणसादृश्यपरिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तर्य-वियोगैककार्यविरोधाऽतिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्व-क्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥४३॥

१. प्रणिधान=हेतु का चिन्तन, २. निबन्ध=एक ग्रन्थ में कहे हुए अर्थ, ३. अभ्यास, ४. लिंग=साधक, ५. लक्षण, ६. सादृश्य=समानता, ७. परिग्रह=स्वीकार, ८. आश्रय=आधार, ९. आश्रित=आधार की अधीनता, १०. सम्बन्ध, ११. आनन्तर्य=पश्चात् होना, १२. वियोग=विरह, १३. एककार्य, १४. विरोध, १५. अतिशय=अधिकता, १६. प्राप्ति, १७. व्यवधान, १८. सुख-दुःख, १९. इच्छा-द्वेष, २०. भय, २१. अर्थित्व=याचना, २२. क्रिया, २३. राग, २४. धर्म और २५. अधर्म —इन पच्चीस निमित्तों से कालान्तर में स्मरण होता है।

---

१. प्रसक्त=प्राप्तों का निषेध कर दिये जाने पर अन्यत्र प्रसंग प्राप्त न होने से अवशिष्ट को मान लेना परिशेष कहाता है।

कर्मानववस्थायिग्रहणात् ॥४४॥

अनस्थायी कर्म के ग्रहण करने से (बुद्धि उत्पत्ति और विनाश वाली है)।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्सम्पाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥४५॥

यदि रूपज्ञान अनवस्थायी होगा तो वह विद्युत् सम्पात् में क्षणिक अव्यक्त रूप ज्ञान की भाँति अव्यक्त ही ग्रहीत होगा, ऐसे ही ज्ञेय का अस्पष्ट ग्रहण होगा।

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥४६॥

हेतु के स्वीकार करने के कारण प्रतिषेध करने योग्य सिद्धान्त मत का स्वीकार हो जाता है।

प्रदीपार्चिः सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥४७॥

दीपक की ज्वालाओं के समुदाय के स्पष्ट ज्ञान होने के समान बुद्धि के उत्पाद-विनाश स्वभाव होने पर भी उन द्रव्यों का स्पष्ट ज्ञान होता है (यही मानना उचित है)।

द्रव्ये स्वगुण परगुणोपलब्धेः संशयः ॥४८॥

द्रव्यों में स्वगुण तथा परगुण दोनों की उपलब्धि होने से संशय होता है कि शरीर में गृहीत होने वाली चेतना शरीर का गुण है अथवा किसी अन्य द्रव्य का ?

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥४९॥

रूप आदि गुणों के यावच्छरीरभावी (जब तक शरीर है तब तक वर्तमान रहने से चेतना शरीर का गुण नहीं है।

न, पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥५०॥

अग्नि से उत्पन्न दूसरे गुण की उत्पत्ति होने से पूर्वपक्षी का कथन असंगत है।

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥५१॥

विरोधी गुणों की सिद्धि होने से यहाँ पाकज गुणों वाला प्रतिषेध भी नहीं बनता।

शरीरव्यापित्वात् ॥५२॥

शरीरव्यापी होने से भी चेतना शरीर का गुण नहीं है।

न, केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥५३॥

केश और नखादि में चेतना की उपलब्धि न होने से उक्त कथन संगत नहीं है।

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसंगः ॥५४॥

शरीर के त्वचापर्यन्त होने से केश-नखादि में चेतनता की आपत्ति नहीं हो सकती।

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥५५॥

शरीर के गुणों (रूप, गुरुत्वादि) से विलक्षण होने से भी चेतना शरीर का गुण नहीं है।

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥५६॥

रूप आदि गुणों के परस्पर विरुद्ध होने के कारण उक्त कथन ठीक नहीं।

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥५७॥

इन्द्रिय-ग्राह्य होने के कारण रूपादिकों के शारीरिक गुण होने का निषेध नहीं हो सकता।

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ।।५८।।

एक समय में अनेक ज्ञानों के न होने के कारण मन एक ही है।

न, युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ।।५६।।

एक समय में अनेक क्रियाओं (चलना, पढ़ना, मार्ग देखना आदि) की उपलब्धि होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ।।६०।।

घूमते हुए अलातचक्र (आतिशबाजी की चर्खी) की भाँति शीघ्र सञ्चार के कारण उन क्रियाओं की युगपदुपलब्धि हो जाती है।

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ।।६१।।

उक्त हेतु से (एकसाथ अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने से) मन का अणु होना भी सिद्ध होता है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ।।६२।।

पूर्वजन्म में किये गये पाप-पुण्यरूप कर्मफल से शरीर की उत्पत्ति होती है।

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ।।६३।।

(नास्तिक कहता है—) भूतों से अन्य द्रव्यों की उत्पत्ति की भाँति शरीरोत्पत्ति होती है।

न, साध्यसमत्वात् ।।६४।।

इस हेतु के साध्यसम होने के कारण (नास्तिक का मत युक्त नहीं है)।

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ।।६५।।

शरीरोत्पत्ति भूतों के समान नहीं है क्योंकि शरीरोत्पत्ति में माता-पिता निमित्त हैं।

तथाऽऽहारस्य ।।६६।।

तथा आहार के निमित्त से शरीर की उत्पत्ति होती है (अतः शरीर को कर्म-निमित्त नहीं मान सकते)।

प्राप्तौ चानियमात् ।।६७।।

प्राप्ति (दम्पती-संयोग) में नियम न होने से उक्त कथन ठीक नहीं।

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ।।६८।।

जैसे शरीर की उत्पत्ति का निमित्त कर्म है, उसी प्रकार (आत्मा और शरीर) के संयोग की उत्पत्ति का निमित्त भी कर्म ही है।

एतेन नियमः प्रत्युक्तः ।।६९।।

इस (उपर्युक्त व्यवस्था) से अनियमवाद का भी उत्तर दे दिया गया।

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ।।७०।।

कर्मों के क्षय की सिद्धि से शरीर का वियोग (मृत्यु अथवा मोक्ष के रूप में) भी सिद्ध होता है।

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसंगोऽपवर्गे ।।७१।।

शरीर अदृष्टकारित है, ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि ऐसा मानने पर मोक्षावस्था में भी उसका प्रसंग उपस्थित हो जाएगा (मुक्तात्माओं का भी शरीर मानना पड़ेगा)।

मनः कर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ।।७२।।

अदृष्टकर्म का मन को निमित्त मानें तो उसके संयोग की समाप्ति ही न होगी (अतः यह मत भी समीचीन नहीं) ।

नित्यत्वप्रसंगश्च प्रायणानुपपत्तेः ।।७३।।

विनाश=मृत्यु न होने से शरीर में नित्यत्व-प्रसंग होने लगेगा ।

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ।।७४।।

अणु के श्यामता के नित्यत्व की भाँति यह शरीर अपवर्ग=मोक्ष होने पर विनष्ट हो जाएगा (मोक्ष होने पर पुनः शरीरोत्पत्ति नहीं होगी) ।

नाकृताभ्यागमप्रसंगात् ।।७५।।

अकृताभ्यागम (बिना कर्म के ही सुख-दुःखरूप फल की प्राप्ति) दोष होने से यह दृष्टान्त ठीक नहीं (अतः शरीरों की उत्पत्ति में कर्म को ही कारण मानना चाहिए) ।

।। इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥१॥

प्रवृत्ति (मन, वाणी और शरीर से किसी कार्य का आरम्भ करना) की व्याख्या पहले १.१.१७ में की जा चुकी है।

तथा दोषाः ॥२॥

उसी प्रकार दोष के लक्षण और उसकी परीक्षा भी १.१.१८ में की जा चुकी है।

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥३॥

उन दोषों के तीन समुदाय हैं—राग, द्वेष और मोह—इस भेद से।

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥४॥

एक तत्त्वज्ञान ही उन तीनों का विरोधी (नाशक) होने से रागादि भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं।

व्यभिचारादहेतुः ॥५॥

'एक तत्त्वज्ञान से तीनों दोष नष्ट होते हैं'—दोषों के एक होने में दिया गया यह हेतु व्यभिचारदोषग्रस्त होने के कारण दुष्ट हेतु है।

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥६॥

उन तीनों दोषों में मोह नामक दोष अनर्थ का कारण होने से अत्यन्त पापयुक्त है, क्योंकि मोहरहित प्राणी को राग और द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती।

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥७॥

तब तो मोह कारणकार्यभाव होने से राग-द्वेषों से भिन्न होगा। (तब मोह में दोषत्व कैसे रहेगा ?)

न, दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥८॥

मोह के दोष-लक्षणों में संग्रह होने से ऐसा नहीं कह सकते। (दोष-प्रवृत्ति के हेतु हैं १.१.१८, इस दोष-लक्षण के मोह में भी घट जाने से मोह भी दोषों में परिगणित है।)

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥९॥

तथा समान जातीय द्रव्यों में कारणकार्यभाव होने पर भी निषेध नहीं हो सकता।

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥१०॥

आत्मा को नित्य मानने पर प्रेत्यभाव=बार-बार जन्म-मरण सिद्ध होता है।

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥११॥

(यह उत्पत्ति कैसे होती है ?) व्यक्त से व्यक्त की (रूपादि गुणयुक्त समूह

पृथिव्यादि परमाणुओं से शरीरादिकों के आधार स्थूल पृथिव्यादिकों की) उत्पत्ति होती है, प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध होने के कारण।

न घटाद् घटनिष्पत्तेः ॥१२॥

आपका मत ठीक नहीं है, क्योंकि संसार में घट से घट की उत्पत्ति नहीं देखी जाती।

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥१३॥

व्यक्त मृतिका आदिकों से व्यक्त घट की उत्पत्ति होने के कारण हमारा मत खण्डित नहीं होता।

अभावाद् भावोत्पत्तिः नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥१४॥

अभाव से भाव=कार्य की उत्पत्ति होती है, क्योंकि बीज का नाश हुए बिना अंकुर की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

व्याघातादप्रयोगः ॥१५॥

व्याघात=वचनविरोध (विनष्ट होकर प्रादुर्भूत होता है) होने से यह अभाव से भावोत्पत्ति प्रयोग उचित नहीं।

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥१६॥

अतीत और अनागत (भूत और भविष्यत्) काल में भी कारण शब्द का प्रयोग देखा जाने से उक्त दोष नहीं आता।

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥१७॥

नष्ट (बीजादी) से (अंकुरादि की) उत्पत्ति होने से अभाव से भाव की उत्पत्ति-वाला सिद्धान्त उचित नहीं।

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥१८॥

उक्त सिद्धान्त (विनाश-प्रादुर्भाव) में जो क्रमनिर्देश (पौर्वापर्य नियम) पूर्वपक्षी ने कहा है, उसका निषेध नहीं है।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥१९॥

पुरुष कर्मों का बहुधा नैष्फल्य देखा जाने से ईश्वर ही इस सृष्टि का कारण है।

न, पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥२०॥

पुरुष-प्रयत्न के अभाव में फलनिष्पत्ति न होने से उक्त कथन ठीक नहीं।

तत्कारितत्वादहेतुः ॥२१॥

पुरुष कर्म में ईश्वर के सहायक होने से आपका हेतु हेत्वाभास है।

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥२२॥

काँटे आदि में बिना कारण (स्वाभाविक) तीक्ष्णता आदि दिखाई पड़ने से सभी भावरूप कार्यों की उत्पत्ति बिना किसी निमित्त=कारण के ही होती है।

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥२३॥

अनिमित्त के ही निमित्तकारण होने से अनिमित्त (बिना कारण के) से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती।

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥

निमित्त और अनिमित्त—दोनों में भेद होने से निषेध नहीं हो सकता।

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥२५॥

(कुछ ऐसा मानते हैं—) उत्पत्ति तथा नाशधर्म वाले होने से सभी पदार्थ अनित्य हैं।

नानित्यतानित्यत्वात् ॥२६॥

यह मत उचित नहीं अनित्यता के नित्य होने से।

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥२७॥

जैसे अग्नि जलाने योग्य काष्ठ आदि को नष्ट कर स्वयं भी नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार वह अनित्यता भी नित्य है।

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात् ॥२८॥

उपलब्धि के अनुसार व्यवस्था होने के कारण नित्य पदार्थों का प्रत्याख्यान=खण्डन नहीं हो सकता।

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥२९॥

(कुछ दार्शनिकों का मत है—) पञ्चभूतों के नित्य होने से सभी पदार्थ नित्य हैं।

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३०॥

उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि होने के कारण सब द्रव्य=पदार्थ नित्य नहीं हैं।

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥३१॥

उन द्रव्यों (गौ, घट आदि) के भूतलक्षणाक्रान्त होने से उनकी नित्यता का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥३२॥

उन गौ, घटादि द्रव्यों की उत्पत्ति तथा उत्पत्तिकारण उपलब्ध होने से वे नित्य नहीं हैं, अनित्य हैं।

न, व्यवस्थानुपपत्तेः ॥३३॥

व्यवस्था की उत्पत्ति न होने से वैसा नित्यत्व नहीं बन पाता।

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥३४॥

(कुछ दार्शनिकों का मत है—) संसार के सम्पूर्ण पदार्थ पृथक्-पृथक् हैं क्योंकि भाव के लक्षण (गन्ध, रस, रूप आदि) पृथक्-पृथक् हैं।

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥३५॥

अनेक लक्षणों से एक ही भावपदार्थ की उत्पत्ति होने के कारण संसार के सम्पूर्ण पदार्थ अनेकरूप होते हैं, यह कथन असंगत है।

लक्षणव्यवस्थानादेवाऽप्रतिषेधः ॥३६॥

और भी, पदार्थों के लक्षणों की व्यवस्था होने से ही एक अवयवी का निषेध नहीं हो सकता।

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥३७॥

(कुछ दार्शनिकों का मत है—) सम्पूर्ण पदार्थ अभावरूप हैं क्योंकि भावरूप सम्पूर्ण पदार्थों में परस्पर अभावरूपता सिद्ध होती है।

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥३८॥

भावरूप पदार्थों के अपने-अपने धर्मरूप स्वभाव से सिद्ध होने के कारण सब भाव अभाव नहीं हैं।

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥३९॥

सभी भावों के आपेक्षिक होने से स्वभावसिद्धि नहीं बनती।

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥४०॥

व्याघात दोष के कारण पूर्वपक्षी का मत अयुक्त है।

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥१४॥

कारण की अनुपपत्ति और उपपत्ति (न होने तथा होने) होने से सांख्यैकान्तवाद (तत्त्व की संख्या का नियमवाद) सिद्ध नहीं हो सकता।

न कारणावयवभावात् ॥४२॥

कारण के अवयवाभाव से सांख्यैकान्त की सिद्धि हो जाएगी।

निरवयवत्वादहेतुः ॥४३॥

कारण के निरवयव होने से पूर्वपक्षी का हेतु दुष्टहेतु है (अवयव कार्य के होते हैं, कारण के नहीं)।

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥४४॥

तत्काल और कालान्तर में फल की प्राप्ति होने से संशय होता है (कि यज्ञ आदि सद्यः फलप्रद हैं या कालान्तर में)।

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥४५॥

(स्वर्ग के) कालान्तर में भोग-योग्य होने से उक्त क्रिया सद्यः फलप्रद नहीं है।

कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥४६॥

कारण के नष्ट हो जाने से कालान्तर में उक्त फल की प्राप्ति नहीं हो सकती।

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात् ॥४७॥

वृक्ष के फल के समान स्वर्गादि निष्पत्ति से पूर्व वह क्रिया (यज्ञादि) फल का साधन तो होगी ही।

नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥४८॥

यह निष्पन्न=सिद्ध होनेवाला फल निष्पत्ति से पूर्व न सत् है, न असत् है और न सदसत् है क्योंकि सत् और असत् दोनों एक-दूसरे के विरुद्ध धर्मवाले हैं।

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥४९॥

उत्पत्ति और विनाश दिखाई पड़ने से (उत्पत्ति से पूर्व यह उत्पत्तिधर्मा असत् ही है—यह पक्ष ठीक है)।

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥५०॥

वह असत् बुद्धिविषयक है (ज्ञान से सिद्ध होता है)।

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥५१॥

'वृक्ष-फलोत्पत्ति के समान' यह दृष्टान्त परलोकभावी फल का असाधक है क्योंकि उभयलोकानुगत सुख-दुःख आदि रूप फल का आश्रय कोई नहीं है।

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥५२॥

प्रीति=सुख के आत्मरूप आश्रय में रहने के कारण स्वर्गरूप पारलौकिक सुख-रूपी फल का निषेध नहीं हो सकता।

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥५३॥

समान आश्रय नहीं बनेगा क्योंकि (उस अग्निहोत्र का) पुत्र, स्त्री, पशु, सुवर्ण, अन्न आदि फल भी निर्दिष्ट किया गया है, केवल सुख ही नहीं।

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥५४॥

स्त्री, पुत्र आदि के सम्बन्ध से सुखरूपी फल की सिद्धि होने के कारण उन पुत्र आदिकों में फल के समान गौण व्यवहार होता है।

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥५५॥

अनेक प्रकार से दुःख का सम्बन्ध होने के कारण शरीरादि की उत्पत्ति दुःख ही है।

न सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः ॥५६॥

बीच-बीच में सुख की उपलब्धि होने से यह सुख का प्रत्याख्यान=खण्डन नहीं है।

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥

तथा सुख का अनुभव करनेवाले प्राणी को तृष्णा की अनुवृत्ति होने के कारण दुःख-निवृत्ति न होने से सुख का निषेध नहीं हो सकता।

दुःखविकल्पे सुखाभिमानच्च ॥५८॥

दुःख के विकल्प में सुख का अनुमान होने से भी (शरीरादि की उत्पत्ति दुःखरूप ही है)।

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥५९॥

ऋण (देव, ऋषि तथा पितृऋण) क्लेश और प्रवृत्ति के अनुबन्ध (बन्धन) के कारण अपवर्ग=मोक्ष नहीं हो सकता।

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥६०॥

जहाँ शब्द का मुख्यार्थ संगत न हो वहाँ लाक्षणिक गौण शब्द से निन्दा और प्रशंसा की उपपत्ति=सिद्धि होने से अनुवाद कर लिया जाता है।

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥६१॥

(आगे चलकर) अग्नियों का आत्मा में समारोपण बताने से प्रव्रज्या=संन्यास का निषेध नहीं बनता (और आत्मा में अग्नियों का समारोपण कथित होने के कारण संन्यासियों के लिए ऋणों के बन्धन के कारण अपवर्ग का निषेध करना असंगत है)।

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥६२॥

(एक और युक्ति देते हैं—) अग्निहोत्रकर्म के पात्रों के दाहकर्म में अग्नि में न

रख सकने से भी, फल-कामना नहीं है, यह सिद्ध होता है (जो मनुष्य संन्यास नहीं लेता, गृहस्थ ही रहता है, उसके यज्ञपात्र उसकी अग्नि के साथ ही जला दिये जाते हैं)।

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥६३॥

सोते हुए मनुष्य को स्वप्न के न दीखने की अवस्था में (गाढ़निद्रा में) क्लेशों का अभाव होने से अपवर्ग में क्लेशानुबन्ध-विच्छेद (दुःखों के बन्धन का छूटना) सम्भव है।

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥६४॥

रागादि क्लेशों से रहित ज्ञानी मनुष्य की पुनर्जन्म लेने के लिए प्रवृत्ति नहीं होती। (जन्म लेना रूप अप्रतिसन्धान ही अपवर्ग होने के कारण प्रवृत्ति-सम्बन्ध से मोक्ष नहीं हो सकता—यह पूर्वपक्षी का कथन सर्वथा असंगत है)।

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥६५॥

रागादि क्लेशसमूह के स्वभावसिद्ध होने के कारण क्लेशानुबन्ध का अत्यन्त नाश नहीं हो सकता।

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम ॥६६॥

उत्पन्न होने से पूर्व अभाव की अनित्यता के समान स्वाभाविक क्लेशसन्तति में भी अनित्यता हो सकती है।

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥६७॥

पार्थिव परमाणुओं के श्यामरूप गुण की अनित्यता के समान क्लेशसन्तति का अनित्यत्व बन सकता है।

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥६८॥

राग आदि के सङ्कल्पनिमित्तक (इच्छा से उत्पन्न) होने के कारण क्लेशसन्तति स्वाभाविक नहीं है।

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥१॥

राग आदि दोषों के कारणों का वास्तविक ज्ञान होने से अहंकार की निवृत्ति हो जाती है।

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥२॥

मिथ्याज्ञानरूप संकल्पकृत रूपादि विषय राग-द्वेषादि दोषों के मूल कारण हैं।

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥३॥

उन रागादि दोषों का कारण स्त्री आदि के सुन्दर शरीररूप अवयवी में अभिमान (मिथ्या मोह) है।

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥४॥

विद्या और अविद्या के दो प्रकार के होने से बाह्य अवयवीरूप पदार्थों में संशय होता है।

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥५॥

बाह्य पदार्थरूप अवयवी में संशय नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व (दूसरे अध्याय में अवयवी सिद्धि के प्रकरण में) कहे हुए हेतुओं से वह प्रसिद्ध है।

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥६॥

(विज्ञानवादी कहता है—) हमारा भी यही कहना है कि वहाँ संशय नहीं होता क्योंकि उस अवयवी की सत्ता की सिद्धि नहीं होती।

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥७॥

(अपने कथन के समर्थन में वह कहता है—) अवयवी के सम्पूर्ण या एक देश में अवयवों के न रहने से अवयवी की सिद्धि नहीं होती।

तेषु चाऽवृत्तेरवयव्यभावः ॥८॥

उन अवयवों के न रहने के कारण अवयवी का अभाव है।

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥९॥

अवयवों से पृथक् उसकी सत्ता न होने के कारण भी अवयवी सिद्ध नहीं होता।

न चावयव्यवयवाः ॥१०॥

और अवयव अवयवी नहीं हो सकते।

एकस्मिन् भेदाभावात् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥११॥

एक अखण्ड अवयवी में भेद न होने के कारण भेदवाचक 'कृत्स्न', 'एक-देश' आदि शब्दों का प्रयोग न हो सकने के कारण पूर्वपक्षी का अवयवों में अवयवी सम्पूर्णतया रहता है या एक देश से—यह प्रश्न नहीं बन सकता।

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥१२॥

एक अवयव के दूसरे अवयव होने पर भी उसमें अवयवी के न रहने से पूर्वपक्षी का वह हेतु हेत्वाभास है।

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥१३॥

तिमिर रोग (मोतियाबिन्द) ग्रस्त रोगी को केशसमूह की उपलब्धि के समान परमाणुसमुदाय (घटादि अवयवी) का ज्ञान होता है।

**स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणस्य
तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥१४॥**

अपने-अपने विषय (रूप, रसादि) के अनतिक्रमण से इन्द्रियों के तीव्र और मन्द होने के कारण विषयज्ञान में तीव्रता और मन्दता आ जाती है परन्तु अपने से भिन्न विषयों में उनकी प्रवृत्ति नहीं होती।

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥१५॥

(पृथक् अवयवी न मानने से) अवयवों के भी अवयवी प्राप्त होंगे, इस प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का प्रलय=अभाव हो जाएगा।

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥१६॥

परमाणुओं के विद्यमान रहने के कारण सम्पूर्ण पदार्थों का अभाव नहीं होगा।

परं वा त्रुटेः ॥१७॥

जो नाश से परे है, जिसे और अधिक तोड़ा नहीं जा सकता, जो सबसे लघु विभाग है, उसे परमाणु कहते हैं।

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥१८॥

(शून्यवादी कहता है—) परमाणुओं में आकाश के बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान होने से परमाणु निरवयव और नित्य नहीं माने जा सकते अपितु वे सावयव और अनित्य हैं—यह सिद्ध होता है।

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥१९॥

अथवा 'आकाश सर्वव्यापक है'—यह सिद्धान्त छोड़ना पड़ेगा।

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥२०॥

भीतर और बाहर—यह व्यवहार कार्यद्रव्य में हो सकता है, कारणरूप सूक्ष्म परमाणुओं में नहीं बन सकता।

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥२१॥

संयोग और शब्द के सर्वत्र होने से आकाश सर्वव्यापक है।

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥२२॥

१. अव्यूह=मिले हुए पदार्थों का आघात से अलग-अलग होना, २. अविष्टम्भ=अन्य देश में गति का रुकना, और ३. विभुत्व=व्यापकता—ये आकाश के धर्म हैं।

मूर्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥२३॥

मूर्तिमान् द्रव्यों में परिमाण (गोल, चपटा आदि) विशेष के होने के कारण अवयवों की सत्ता सिद्ध है।

संयोगोपपत्तेश्च ॥२४॥

परमाणुओं का परस्पर संयोग होने से भी अवयव की सत्ता सिद्ध है।

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥२५॥

अनवस्थाकारी होने से और अनवस्था की सिद्धि न होने से परमाणुओं के निरवयवत्व का निषेध नहीं हो सकता। (जो भी मूर्तिमान् वा संयुक्त है वह सब सावयव है, ये दोनों हेतु अनवस्था उत्पन्न करनेवाले हैं।)

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥२६॥

बुद्धि द्वारा विवेचन करने पर बाह्य भावपदार्थों की यथार्थ उपलब्धि नहीं होती, तन्तुओं=धागों के खींचने पर पट=कपड़े की सत्ता की उपलब्धि न होने के समान बाह्य पदार्थों की अनुपलब्धि ही है।

व्याहतत्वादहेतु ॥२७॥

व्याघात-दोष होने के कारण पूर्वपक्षी का बुद्धिविवेचन हेतु अयुक्त है।

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥२८॥

तन्तुरूप अवयवों के आश्रित होने के कारण पट द्रव्य का तन्तुओं से पृथक् ग्रहण नहीं होता।

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥२९॥

प्रमाण से अर्थ की उपलब्धि होती है, इसलिए भी उक्त कथन ठीक नहीं।

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥३०॥

प्रमाणों की उपपत्ति=प्राप्ति और अनुपपत्ति से भी पूर्वपक्ष ठीक नहीं।

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥३१॥

'यह प्रमाण है, यह प्रमेय है' इत्यादि अभिमान स्वप्न में देखे हुए मिथ्या विषयों की सत्यता के अभिमान के समान, मिथ्याज्ञान की भाँति है।

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥३२॥

अथवा यह कल्पना कल्पित गन्धर्वनगर या मृगतृष्णा की भाँति मिथ्या है।

हेत्वभावादसिद्धिः ॥३३॥

उक्त अभिमान कल्पना में हेतु न होने से पूर्वपक्षी का मत सिद्ध नहीं हो सकता।

स्मृतिसङ्कल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥३४॥

स्मृति और संकल्प के समान स्वप्न विषय का अभिमान है।

मिथ्योपलब्धेर्विनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥३५॥

जागने पर जैसे स्वप्नविषयक अभिमान का नाश हो जाता है, वसे ही तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश हो जाता है।

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥३६॥

इस प्रकार कारण और सत्ता की उपलब्धि होने से बुद्धि=मिथ्याज्ञान की सत्ता सिद्ध होती है।

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥३७॥

तत्त्व=धर्मीस्वरूप और प्रधान=आरोप—इन दो भेदों से मिथ्याज्ञान भी यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का हो सकता है।

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥३८॥

योगशास्त्र में प्रतिपादित समाधिविशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है।

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥३९॥

सांसारिक विषयों के प्रबल होने के कारण समाधि की सिद्धि नहीं होती।

क्षुदादिभिः प्रवर्तनाच्च ॥४०॥

भूख आदि की प्रवृत्ति से भी यही मानना ठीक है।

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥४१॥

पूर्वजन्म में किये हुए योगाभ्यास के सामर्थ्य से समाधि की उत्पत्ति हो जाती है।

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥४२॥

योगशास्त्र में आचार्यों ने वन, गुहा तथा समुद्र या नदी के तट आदि एकान्त स्थानों में बैठकर योगाभ्यास करने का उपदेश दिया है।

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ।।४३।।

मोक्षावस्था में भी बुद्धि बाह्यविषयों की ओर आकृष्ट होगी।

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ।।४४।।

पूर्वकर्मानुसार उत्पन्न हुए शरीर में ही बाह्यज्ञान के अवश्यम्भावी होने से मोक्ष में यह सब-कुछ नहीं होता।

तदभावश्चापवर्गे ।।४५।।

मोक्षावस्था में ज्ञान के कारण शरीर का अभाव है। (मोक्षावस्था में शरीर न रहने से विषयों का ग्रहण नहीं हो सकता।)

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।।४६।।

उस मोक्ष-प्राप्ति के लिए यम, नियम, योग तथा अध्यात्मशास्त्रोक्त उपायों से आत्मा का संस्कार करना चाहिए।

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ।।४७।।

उस मोक्ष-प्राप्ति के लिए विद्याओं का अध्ययन तथा उसका अभ्यास और मोक्ष के मर्मज्ञों के साथ संवाद करना चाहिए।

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयिभिरभ्युपेयात् ।।४८।।

उस आत्मज्ञान को शिष्य, गुरु, सहाध्यायी तथा किसी तत्त्वज्ञानी के साथ जो कि जिज्ञासु का कल्याण चाहते हों, तथा उससे ईर्ष्या न रखते हों, संवाद करके प्राप्त करे।

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ।।४९।।

तत्त्वज्ञान की इच्छा होने पर तत्त्वनिर्णयरूप अपने प्रयोजन के लिए प्रतिपक्षी न होकर ही ज्ञान प्राप्त करे।

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ।।५०।।

जिज्ञासु को तत्त्वज्ञान के संरक्षण के लिए जल्प तथा वितण्डा का भी प्रयोग करना चाहिए जैसे अन्यत्र अनपेक्षित कण्टकशाखावरण (कांटों का घेरा) क्षेत्र-रक्षण के लिए अतीव आवश्यक होता है।

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ।।५१।।

जल्प तथा वितण्डा से प्रतिवादी के पराजय करने की इच्छा से झगड़कर तत्त्ववस्तु का कथन करे।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंग-प्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धि-नित्यानित्यकार्यसमाः ॥१॥

१. साधर्म्यसम, २. वैधर्म्यसम, ३. उत्कर्षसम, ४. अपकर्षसम, ५. वर्ण्यसम, ६. अवर्ण्यसम, ७. विकल्पसम, ८. साध्यसम, ९. प्राप्तिसम, १०. अप्राप्तिसम, ११. प्रसंगसम, १२. प्रतिदृष्टान्तसम, १३. अनुत्पत्तिसम, १४. संशयसम, १५. प्रकरणसम, १६. अहेतुसम, १७. अर्थापत्तिसम, १८. अविशेषसम, १९. उपपत्तिसम, २०. उपलब्धि-सम, २१. अनुपलब्धिसम, २२. नित्यसम, २३. अनित्यसम, तथा २४. कार्यसम—ये चौबीस प्रकार की जातियाँ होती हैं।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥२॥

केवल साधर्म्य (समान धर्म) और वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) से वादी द्वारा साध्य का उपसंहार करने पर प्रतिवादी द्वारा उस साधर्म्य के व्यतिरेक [व्याप्ति की अपेक्षा न करनेवाले] केवल साधर्म्य, वैधर्म्य से उपपादन (सिद्ध) करना साधर्म्यसम तथा वैधर्म्य-सम जाति कहलाती हैं।

गोत्वाद् गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥३॥

व्याप्ति विशिष्ट गोत्व हेतु से गौ की सिद्धि के समान उपर्युक्त साधर्म्यसम एवं वैधर्म्यसम जाति असंगत है।

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्य-विकल्पसाध्यसमाः ॥४॥

साध्य तथा दृष्टान्त के धर्मविकल्प से दोनों के सिद्ध करनेयोग्य होने से १. उत्कर्षसम, २. अपकर्षसम, ३. वर्ण्यसम, ४. अवर्ण्यसम ५. विकल्पसम तथा ६. साध्यसम—ये छह प्रतिषेध बनते हैं।

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥५॥

साध्य की सिद्धि में कुछ साधर्म्य के होने से वैधर्म्य के कारण प्रतिषेधयुक्त नहीं।

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥६॥

साध्य के अतिदेश (सादृश्य) से दृष्टान्त की उपपत्ति हो जाती है।

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥७॥

प्राप्ति में विशेषता न होने के कारण हेतु से साध्य को प्राप्त कर या प्राप्त मत

कर, प्राप्ति और अप्राप्ति द्वारा असाधक होने से 'प्राप्तिसम' तथा 'अप्राप्तिसम' दोष कहलाते हैं ।

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥८॥

घटादि की निष्पत्ति तथा शत्रु को पीड़ा देने में अभिचार देखे जाने से प्राप्ति तथा अप्राप्ति को लेकर दी हुई आपत्तियाँ नहीं हो सकतीं ।

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रति-दृष्टान्तसमौ ॥६॥

दृष्टान्त के प्रमाण के न कहने से तथा प्रतिदृष्टान्त के प्रतिषेध से क्रमशः 'प्रसंग-सम' तथा 'प्रतिदृष्टान्तसम' प्रतिषेध कहलाते हैं ।

प्रदीपोपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥१०॥

दीपक के ग्रहण में जैसे प्रसंग की निवृत्ति होती है, वैसे ही प्रसंगसम की निवृत्ति है ।

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥११॥

प्रतिदृष्टान्त के हेतुत्व (समाधान सामर्थ्य) में दृष्टान्त अहेतु नहीं है (अर्थात् विरुद्ध दृष्टान्त के प्रमाण होने पर दृष्टान्त अप्रमाण नहीं है)।

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥१२॥

उत्पत्ति से पूर्व कारण के अभाव से 'अनुत्पत्तिसम' प्रतिषेध होता है ।

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः ॥१३॥

उत्पन्न हुए शब्द के 'शब्द' कहलाने पर तथा उसमें कारण की उपपत्ति होने से कारण का प्रतिषेध नहीं हो सकता ।

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ॥१४॥

सामान्य और दृष्टान्त में ऐन्द्रियकत्व समान होने से नित्य और अनित्य के साधर्म्य से 'संशयसम' प्रतिषेध होता है ।

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः ॥१५॥

साधर्म्य से संशय होने पर भी वैधर्म्य से संशय नहीं रहता । यदि दोनों प्रकार से संशय माना जाए तो संशय कभी मिटेगा ही नहीं और नित्यत्व के न मानने के कारण भी सामान्य का निषेध नहीं होता ।

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥१६॥

दोनों (नित्य तथा अनित्य) के साधर्म्य से और पक्ष तथा प्रतिपक्ष दोनों की प्रवृत्ति होने से 'प्रकरणसम' नामक प्रतिषेध (जाति) कहलाता है ।

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥१७॥

प्रतिपक्ष से प्रकरण (संशय की) सिद्धि होने पर प्रतिपक्ष की उपपत्ति होने से प्रतिषेध की उपपत्ति नहीं होती ।

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥१८॥

हेतु के तीनों कालों में सिद्ध न होने के कारण 'अहेतुसम' नामक जाति होती है ।

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥१९॥

हेतु (साधक) से साध्य की सिद्धि हो जाने से तीनों कालों में उसकी असिद्धि नहीं हो सकती।

प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥२०॥

और प्रतिषेध की अनुपपत्ति से निषेधव्य (निषेधयोग्य) का निषेध नहीं हो सकता।

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥२१॥

अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष की सिद्धि 'अर्थापत्तिसम' जाति कहलाती है।

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥२२॥

अनुक्त को अर्थापत्ति कहा जाने से तथा अनैकान्तिक होने से अर्थापत्ति से पक्ष-हानि ही बनती है।

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥२३॥

अविशेष (सामान्य) में एक धर्म की उपपत्ति होने से सम्पूर्ण अविशेष के प्रसंग आने से सद्भाव की उपपत्ति होना 'अविशेषसम' प्रतिषेध कहलाता है।

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥२४॥

उस एक धर्म की कहीं उपपत्ति और कहीं अनुपपत्ति से प्रतिषेध नहीं बनता।

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥२५॥

दोनों (नित्य तथा अनित्य) कारणों की उपपत्ति से 'उपपत्तिसम' प्रतिषेध कहलाता है।

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥२६॥

उपपत्तिकारण की स्वीकृति से उक्त प्रतिषेध नहीं बनता।

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥२७॥

निर्दिष्टकारण का अभाव होने पर भी साध्य की उपलब्धि होने से 'उपलब्धिसम' प्रतिषेध कहलाता है।

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥

कारणान्तर (दूसरे कारण) द्वारा उस धर्म की उपपत्ति होने से उक्त प्रतिषेध नहीं बनता।

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥२९॥

उस (आवरण) की अनुपलब्धि के गृहीत न होने के कारण उसके अभाव सिद्ध होने पर उसके विपरीत आवरण की उपलब्धि के सिद्ध होने पर 'अनुपलब्धिसम' नामक जाति होती है।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥३०॥

अनुपलब्धि के अनुपलम्भात्मक होने से वह हेतु हेत्वाभास है।

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥३१॥

ज्ञानविकल्पों के भाव (होने) और अभाव (न होने) के आत्मा में अनुभव होने से भी उक्त हेतु अहेतु है।

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः ॥३२॥

समान धर्म से समान धर्म की उपपत्ति होने के कारण संसार में सम्पूर्ण पदार्थों में अनित्यता आने के प्रसङ्ग से 'अनित्यसम' नामक जाति होती है।

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥३३॥

साधर्म्य की असिद्धि मानने पर प्रतिषेधसाधर्म्य से प्रतिषेध की भी असिद्धि होने लगेगी।

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥३४॥

और, दृष्टान्त में साध्यसाधनभाव से प्रज्ञात धर्म के हेतुत्व से और उस हेतु के अन्वय तथा व्यतिरेक—दोनों प्रकार से होने के कारण भी प्रतिषेध नहीं बनता।

नित्यमनित्यभावादनित्येनित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥३५॥

नित्य में अनित्य की और अनित्य में नित्य की भावना होने से 'नित्यसम' प्रतिषेध होता है।

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधभावः ॥३६॥

प्रतिषेध्य (निषेधयोग्य शब्द) में अनित्य भाव के सर्वदा रहने से तथा अनित्य शब्द में भी अनित्यत्व धर्म के होने के कारण अनित्यता का निषेध नहीं हो सकता।

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥३७॥

प्रयत्न कार्य के अनेक प्रकार का होने के कारण 'कार्यसम' प्रतिषेध होता है।

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥

कार्य के दो प्रकार के भेद होने पर भी प्रयत्न कारण नहीं है, अनुपलब्धि कारण की उपपत्ति से।

जातिभेद समाप्त हुआ; अब षट्पक्षीरूप कथाभास का प्रसङ्ग उठा रहे हैं।

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥३९॥

(यदि व्यभिचार दोष के कारण हेतु साध्य का असाधक है तो—) प्रतिषेध= निषेधपक्ष में भी समान दोष है।

सर्वत्रैवम् ॥४०॥

सर्वत्र (पूर्वोक्त चौबीस जातियों में) ऐसा ही है।

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥४१॥

प्रतिषेध के विप्रतिषेध=खण्डन में प्रतिषेध के दोष के समान ही दोष हैं।

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥४२॥

प्रतिषेध को दोषयुक्त मानकर प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समान दोष-प्रसङ्ग उठाना 'मतानुज्ञा' (निग्रहस्थान या स्वीकृति) है।

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युप-गमात्समानो दोष इति ॥४३॥

अपने पक्ष में दोष को देखता हुआ हेतु के निर्देश में (पर-पक्ष का उपसंहार करने पर) पर-पक्ष में दोष के स्वीकार से समान दोष (निग्रहस्थान) होता है।

॥ इति पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥१॥

१. प्रतिज्ञाहानि, २. प्रतिज्ञान्तर, ३. प्रतिज्ञाविरोध, ४. प्रतिज्ञासंन्यास, ५. हेत्वन्तर, ६. अर्थान्तर, ७. निरर्थक, ८. अविज्ञातार्थ, ९. अपार्थक, १०. अप्राप्तकाल, ११. न्यून, १२. अधिक, १३. पुनरुक्त, १४. अननुभाषण, १५. अज्ञान, १६. अप्रतिभा, १७. विशेष, १८. मतानुज्ञा, १९. पर्यनुयोज्योपेक्षण, २०. निरनुयोज्यानुयोग, २१. अपसिद्धान्त, तथा २२. हेत्वाभास—ये निग्रहस्थान = पराजित होने के कारण हैं।

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥२॥

स्वपक्ष में परपक्ष के धर्म को स्वीकार कर लेना 'प्रतिज्ञाहानि' कहलाता है।

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥३॥

प्रतिज्ञा किये अर्थ का निषेध होने पर धर्मविकल्प से उस प्रतिज्ञा के अर्थ को कहना 'प्रतिज्ञान्तर' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥४॥

प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध 'प्रतिज्ञाविरोध' कहलाता है।

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५॥

अपने पक्ष का व्यभिचार आदि दोष से निषेध होने पर प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ को छिपाना (छोड़ना) 'प्रतिज्ञासंन्यास' कहलाता है।

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥६॥

सामान्य रूप से कहे हुए हेतु के प्रतिषिद्ध (खण्डित) होने पर उसमें कुछ विशेष कहने की इच्छा की जाए तब उसे हेत्वन्तर' कहते हैं।

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥७॥

प्रकृत = प्रस्तुत अर्थ से असम्बद्ध अर्थ कहना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान है।

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥८॥

वर्णक्रमनिर्देश (व्यर्थ वर्णों के क्रम को कहना) की भाँति अवाचक प्रयोग 'निरर्थक' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥९॥

जो परिषत् और प्रतिवादी के तीन बार कहने पर भी न जाना जा सके उसे 'अविज्ञातार्थ' निग्रहस्थान कहते हैं।

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥१०॥

पूर्वापर की संगति न होने से 'असम्बद्ध' अर्थ को 'अपार्थक' कहते हैं।

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥११॥

अवयवों (प्रतिज्ञादि हेतुओं) के विपरीत वचन को 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान कहते हैं।

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥१२॥

किसी एक अवयव से हीन को 'न्यून' निग्रहस्थान कहते हैं।

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥१३॥

हेतु तथा उदाहरणों की अधिकता से 'अधिक' नामक निग्रहस्थान होता है।

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥१४॥

शब्द या अर्थ का पुनर्वचन 'पुनरुक्त' कहलाता है, अनुवाद को छोड़कर।

अनुवादेत्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः ॥१५॥

अनुवाद में दो बार बोलना पुनरुक्त नहीं होता क्योंकि वहाँ शब्द के दुहराने से अर्थविशेष का बोध होता है।

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥१६॥

अर्थापत्ति से सिद्ध का स्ववाचक शब्द से पुनर्वचन (फिर कहना) भी पुनरुक्त कहाता है।

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥१७॥

जाने हुए अर्थ का परिषद् द्वारा तीन बार कहे जाने पर भी उच्चारण न करना 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥१८॥

(प्रतिवादी से तीन बार कहे हुए अर्थ को भी) न समझ पाना 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥१९॥

उत्तर की प्रतिपत्ति = सूझ न होना 'अप्रतिभा' निग्रहस्थान कहलाता है।

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥२०॥

कार्य-व्यासङ्ग (किसी कार्य के बहाने) से कथाविच्छेद (विवाद को टाल देना) करना 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

स्वपक्षेदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥२१॥

अपने पक्ष में दोष स्वीकार करके विरोधी पक्ष में दोष दिखाना 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान कहलाता है।

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥२२॥

निग्रहस्थान (पराजय) को प्राप्त हुए वादी का निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्यो-

पेक्षण' निग्रहस्थान कहलाता है ।

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥२३॥

अनिग्रहस्थान (पराजित न होनेवाले) को निगृहीत कहना निरनुयोज्यानुप्रयोग निग्रहस्थान कहलाता है ।

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः ॥२४॥

किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार कर अनियम से कथाप्रसङ्ग (वाद) करना अपसिद्धान्त नामक निग्रहस्थान कहलाता है ।

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥२५॥

पूर्वकथित 'हेत्वाभास' भी निग्रहस्थान हैं ।

॥ इति पंचमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

समाप्तं चेदं न्यायदर्शनम्

वैशेषिकदर्शनम्

वैशेषिकदर्शन एक दृष्टि में

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता महर्षि कणाद हैं। खेतों से अन्न के कण बीनकर अपने उदर की पूर्ति करने के कारण इनका यह नाम पड़ा था। इस ग्रन्थ में दस अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में दो-दो आह्निक हैं; और सूत्रों की संख्या ३७० है। महर्षि कणाद ने भी पहले ही अध्याय में अपने दर्शन का उद्देश्य बतला दिया है। वह उद्देश्य है निःश्रेयस अथवा मोक्ष की प्राप्ति।

वैशेषिक का अर्थ है—

विशेषं पदार्थमधिकृत्य कृतं शास्त्रं वैशेषिकम्।

विशेष (पृथिव्यादि परम सूक्ष्म भूततत्त्वों का नाम विशेष है) नामक पदार्थ को मूल मानकर प्रवृत्त होने के कारण इस शास्त्र का नाम वैशेषिक है।

वैशेषिक का सार है—

१. पदार्थ छह हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय।

२. द्रव्य नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

३. गुण चौबीस हैं—स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, शब्द, संख्या, विभाग, संयोग, परिमाण, पार्थक्य, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, धर्म, अधर्म, प्रयत्न, संस्कार, स्नेह, गुरुत्व और द्रवत्व।

४. कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन।

५. सामान्य दो प्रकार का होता है—सत्तासामान्य और द्रव्यत्वादि (विशिष्ट) सामान्य।

६. विशेष—विशेष किसी पदार्थ की उस सत्ता का नाम है, जो उसे अन्य पदार्थों से भिन्न दिखलाता है।

७. समवाय—दो वस्तुओं के नित्य सम्बन्ध को समवाय कहते हैं, जैसे गुलाब में सुगन्धि, मनुष्य में मनुष्यता।

वैशेषिकदर्शन के मूल सिद्धान्त निम्न हैं—

१. **परमाणुवाद**—जगत् के मूल उपादान कारण परमाणु हैं। विभिन्न परमाणुओं के संयोग से विभिन्न वस्तुएँ बनी हैं।

२. **अनेकात्मवाद**—आत्माएँ अनेक हैं और कर्मफलभोग के लिए भिन्न-भिन्न शरीर धारण करती हैं।

३. **असत्कार्यवाद**—कारण से कार्य उत्पन्न होता है और कार्य अनित्य है।

४. **परमाणुनित्यतावाद**—परमाणु नित्य हैं, अवयवरहित होने के कारण उनका नाश नहीं होता।

५. **सृष्टिवाद**—बिना कारण के कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है और उसका कर्ता ईश्वर है।

६. **मोक्षवाद**—आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना जीव का चरम लक्ष्य है।

वैशेषिकदर्शनम्

प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम्

अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ॥१॥

शिष्य जिज्ञासा के अनन्तर, शिष्यों के उपस्थित होने के कारण अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे।

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥२॥

जिससे अभ्युदय=इहलौकिक और निःश्रेयस=पारलौकिक सुख की सिद्धि होती है, वह धर्म है।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् ॥३॥

तत्=धर्मप्रवचन शास्त्र होने से वेद का प्रामाण्य है अथवा तत्=नित्य निर्दोष ईश्वर का वचन होने से वेद की प्रामाणिकता है।

धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ॥४॥

धर्मविशेष से उत्पन्न १. द्रव्य, २. गुण, ३. कर्म, ४. सामान्य, ५. विशेष, तथा ६. समवाय नामक छह पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य (साधारण और असाधारण विशेषताओं) के तत्त्वज्ञान से मुक्ति होती है।

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि ॥५॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल=समय, दिशा, आत्मा और मन—ये नौ द्रव्य हैं।

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः ॥६॥

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व=अलग होना, संयोग, विभाग, परत्व=दूर होना, अपरत्व=समीप होना, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और (गुरुत्व=भारीपन, द्रवत्व=पिघलापन, स्नेह=बिखरे पदार्थ को पिण्ड बना देने की क्षमता, संस्कार, धर्म=पुण्यकर्म, अधर्म=पापकर्म, शब्द)—ये चौबीस गुण हैं।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि ॥७॥

१. उत्क्षेपण=ऊपर की ओर फेंकना, २. अवक्षेपण—नीचे की ओर गिराना, ३. आकुञ्चन=सिकुड़ना या सिकोड़ना, ४. प्रसारण=फैलना-फैलाना और ५. गमन=शेष सब प्रकार की सामान्य क्रिया—ये कर्म हैं।

सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुण-कर्मणामविशेषः ॥८॥

सत्ता से युक्त होना, अनित्य=विनाशी होना, द्रव्य से सम्बद्ध होना, कार्य=उत्पन्न होनेवाले, कारण=किसी अन्य कार्य के प्रति कारण होना, सामान्य धर्मयुक्त होने पर भी एक-दूसरे से भिन्न रहनेवाले—ये द्रव्य, गुण और कर्मों के सामान्य धर्म हैं।

द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम् ॥९॥

द्रव्य तथा गुण पदार्थ का अपने समान जाति के पदार्थ को उत्पन्न करना साधर्म्य=समान धर्म है।

द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम् ॥१०॥

पृथिव्यादि बहुत-से द्रव्य मिलकर दूसरे द्रव्य को और गुण अपने सजातीय दूसरे गुणों को उत्पन्न करते हैं।

कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते ॥११॥

द्रव्य और गुण के समान एक कर्म से दूसरा कर्म, एक क्रिया से दूसरी क्रिया उत्पन्न नहीं होती।

न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति ॥१२॥

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता।

उभयथा गुणाः ॥१३॥

किन्तु गुण दोनों प्रकार से अर्थात् अपने कार्यगुण तथा कारणगुण से भी नष्ट हो जाते हैं।

कार्यविरोधि कर्म ॥१४॥

कर्म अपने कार्य से नष्ट हो जाता है।

क्रियगुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम् ॥१५॥

क्रिया तथा गुण के आश्रय और समवायिकारण को द्रव्य कहते हैं।

द्रव्याश्रय्यगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् ॥१६॥

द्रव्य में आश्रित होनेवाले, गुणरहित तथा संयोग और विभाग में कारण न हों और निरपेक्ष हों, उन्हें गुण कहते हैं।

एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम् ॥१७॥

एक ही द्रव्य में आश्रित, गुणरहित=गुण का अनाश्रय, संयोग और विभाग को उत्पन्न करने में निरपेक्ष कारण होना—यह कर्म का लक्षण है।

द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम् ॥१८॥

नौ द्रव्य, चौबीस गुण और पाँच कर्मों का द्रव्य ही समवायि (नित्य) कारण होता है, इतने अंश में तीनों में साधर्म्य=समानता है।

तथा गुणः ॥१९॥

वैसे ही गुण भी द्रव्य, गुण तथा कर्म का असमवायि (अनित्य) कारण हैं।

संयोगविभागवेगानां कर्म समानम् ॥२०॥

संयोग, विभाग और वेग—इन तीनों का कर्म समान कारण है।

न द्रव्याणां कर्म ॥२१॥

कर्म द्रव्यों का कारण नहीं होता, अर्थात् द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से नहीं होती।

व्यतिरेकात् ॥२२॥

द्रव्योत्पत्ति से पूर्व ही कर्म का अन्त हो जाने के कारण कर्म द्रव्य का कारण नहीं हो सकता।

द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम् ॥२३॥

अनेक द्रव्यों का यह साधर्म्य=सामान्य धर्म है कि वे कार्यरूप द्रव्य को उत्पन्न करें।

गुणवैधर्म्यान्न कर्मणां कर्म ॥२४॥

द्रव्य तथा गुणों से वैधर्म्य होने के कारण अनेक कर्म मिलकर एक कर्म उत्पन्न नहीं कर सकते।

द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च ॥२५॥

दो से लेकर परार्धपर्यन्त संख्या, पृथक्त्व, संयोग और विभाग—इतने गुण अनेक द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं, एक से नहीं।

असमवायात् सामान्यकार्यं कर्म न विद्यते ॥२६॥

कर्मों का द्रव्यों से समवाय=नित्य सम्बन्ध न होने के कारण कर्म को अनेक द्रव्यों का कार्य मानना प्रमाणसिद्ध नहीं है।

संयोगानां द्रव्यम् ॥२७॥

दो अथवा अनेक संयोगों का कार्य एक द्रव्य होता है।

रूपाणां रूपम् ॥२८॥

अनेक रूपगुणों का एक रूपगुण कार्य होता है अर्थात् रूप से रूप की उत्पत्ति होती है।

गुरुत्वप्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम् ॥२९॥

गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग—इन सब गुणों का उत्क्षेपणकर्म एक कार्य है।

संयोगविभागाश्च कर्मनाम् ॥३०॥

संयोग और विभाग कर्मों के कार्य हैं।

कारणसामान्ये द्रव्यकर्मणां कर्माकारणमुक्तम् ॥३१॥

कारणसामान्य के प्रकरण में यह कहा गया है कि द्रव्य और कर्मों का कारण कर्म नहीं हो सकता।

॥ इति प्रथमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणाभावात्कार्याभावः ॥१॥

कारण के अभाव से कार्य का भी अभाव होता है। (तन्तु आदि कारणों के न रहने पर वस्त्रादि कार्य भी नहीं होते।)

न तु कार्याभावात्कारणाभावः ॥२॥

परन्तु कार्य का अभाव होने पर भी कारण का अभाव नहीं होता।

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम् ॥३॥

सामान्य और विशेष—ये दो प्रकार के पदार्थ बुद्धि=ज्ञान की अपेक्षा से होते हैं।

भावोनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव ॥४॥

भाव=सत्ता केवल सामान्य है क्योंकि वह अनुवृत्ति=बुद्धि का हेतु होती है, व्यावृत्ति का नहीं।

द्रव्यत्वं गुणवत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च ॥५॥

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व—ये तीनों तथा पृथिवीत्व, रूपत्व और उत्क्षेपणत्व आदि जातियाँ—ये सामान्य और विशेष दोनों प्रकार की हैं।

अन्यत्रान्त्येभ्यो विशेषेभ्यः ॥६॥

अन्त्य 'विशेष' पदार्थ को छोड़कर (सामान्य के विषय में) सामान्य और विशेष शब्द का प्रयोग किया गया है।

सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता ॥७॥

द्रव्य, गुण, कर्म—इन तीनों में जिस पदार्थ से ऐसा ज्ञान और व्यवहार होता है कि ये 'सत्' हैं—वह धर्म 'सत्तासामान्य' कहलाता है।

द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता ॥८॥

परन्तु यह सत्ता द्रव्य, गुण तथा कर्म से भिन्न पदार्थ है।

गुणकर्मसु च भावान्न कर्म न गुणः ॥९॥

सत्ता गुण और कर्म में विद्यमान रहने पर भी, यह सत्ता गुण और कर्म नहीं हो सकती क्योंकि गुण में दूसरा गुण और कर्म में दूसरा कर्म नहीं रह सकता।

सामान्यविशेषभावेन च ॥१०॥

सामान्यविशेष के अभाव के कारण भी 'सत्ता' द्रव्य, गुण और कर्मों से भिन्न है।

अनेकद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् ॥११॥

द्रव्यमात्र में रहने वाले धर्म को द्रव्यत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ॥१२॥

द्रव्यत्व में सामान्यविशेषात्मक द्रव्यत्व के न रहने के कारण द्रव्यत्व को द्रव्य से भिन्न कहा गया है।

तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् ।।१३।।

रूप, रस आदि चौबीस गुणों में समवायसम्बन्ध से वर्तमान धर्म को गुणत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ।।१४।।

गुणत्व में भी सामान्यविशेषात्मक गुणत्व के अभाव के कारण गुणत्व को गुण से भिन्न कहा गया है।

कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम् ।।१५।।

सभी प्रकार के कर्मों में रहनेवाले धर्म को कर्मत्व कहा गया है।

सामान्यविशेषाभावेन च ।।१६।।

कर्मत्व में भी सामान्यविशेषात्मक कर्मत्व के अभाव के कारण कर्मत्व को कर्म से भिन्न कहा गया है।

सदिति लिंगविशेषाव् विशेषलिंगाभावाच्चैको भावः ।।१७।।

द्रव्य, गुण, कर्म—तीनों में भाव अथवा सत्ता एक ही है क्योंकि 'है' इस प्रतीति में किसी प्रकार का परिवर्तन न होने से तथा भेदक चिह्न अथवा अनुमान के भी अभाव में (द्रव्य, गुण तथा कर्म में रहनेवाली) सत्ता एक ही सिद्ध होती है।

।। इति प्रथमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयेऽध्याये प्रथममाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी ॥१॥

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणोंवाले द्रव्य को पृथिवी कहते हैं। (पृथिवी रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्शवाली है।)

रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः ॥२॥

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व=बहनेवाले तथा स्नेहगुणों से युक्त द्रव्य को जल कहते हैं।

तेजो रूपस्पर्शवत् ॥३॥

शुक्ल भास्वर रूप तथा उष्ण स्पर्शवाले द्रव्य का नाम तेज=अग्नि है।

स्पर्शवान् वायुः ॥४॥

स्पर्श गुणवाला द्रव्य वायु है। (वायु स्पर्श गुणवाला है।)

त आकाशे न विद्यन्ते ॥५॥

ये—रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नामवाले चार गुण आकाश में उपलब्ध नहीं होते। (आकाश काल, दिशा, आत्म, मन सभी का उपलक्षण है।)

सर्पिर्जतुमधूच्छिष्टानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥६॥

घृत, लाख और मोम—इन वस्तुओं को गर्मी पहुँचाने से इनमें द्रवत्व=बहाव उत्पन्न हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है।

त्रपुसीसलोहरजतसुवर्णानामग्निसंयोगाद् द्रवत्वमद्भिः सामान्यम् ॥७॥

इसी प्रकार रांगा, सीसा, लोहा, चाँदी और सोना—इन धातुओं में भी अग्नि के संयोग से द्रवत्व उत्पन्न हो जाता है, इतने अंश में इनकी जलों के साथ समानता है।

विषाणी ककुद्मान् प्रान्तवालधिः सास्नावानिति गोत्वे दृष्टं लिंगम् ॥८॥

सींगों से युक्त होना, ऊँची ककुद्=टाठवाला होना, पूँछ के अन्तिम भाग में बाल होना और सास्ना=गलकम्बलयुक्त होना—ये गोत्व के प्रत्यक्ष लक्षण हैं।

स्पर्शश्च वायोः ॥९॥

स्पर्शगुण वायु के जानने का चिह्न=साधन है।

न च दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिंगो वायुः ॥१०॥

स्पर्श प्रत्यक्षसिद्ध पृथिवी, जल और तेज का गुण नहीं है, इसलिए अदृष्ट वायु का ही यह चिह्न है।

अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम् ॥११॥

द्रव्य में अनाश्रित होने के कारण परमाणुरूप वायु भी द्रव्य है।

क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च ॥१२॥

क्रियाश्रय=क्रियावान् और स्पर्श आदि गुणों के आश्रय होने के कारण भी वायु-परमाणु द्रव्य ही है।

अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम् ॥१३॥

किसी अन्य अवयव द्रव्य से उत्पन्न न होने के कारण वायु-परमाणु को नित्य कहा गया है।

वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्व लिंगम् ॥१४॥

दो या दो से अधिक वायुखण्डों की परस्पर टक्कर होने से अनेक वायुओं के होने का अनुमान होता है।

वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिंग न विद्यते ॥१५॥

वायु के अत्यन्त समीप होने पर भी उसे आँख से नहीं देखा जा सकता, इसलिए उसके लिंग स्पर्श को भी दृष्ट नहीं माना जा सकता।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ॥१६॥

सामान्यतोदृष्ट=सादृश्यमूलक अनुमान से तो केवल अनुभूयमान स्पर्श के आश्रयभूत एक द्रव्य की सामान्य रूप से सिद्धि होती है, न कि 'वायु' इस द्रव्यविशेष की।

तस्मादागमिकम् ॥१७॥

प्रमाणानुसार वायु का ज्ञान आगम=वेद के आधार पर होता है।

संज्ञा कर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम् ॥१८॥

इन विशिष्ट पदार्थों का नाम और कर्म हम लोगों से विशिष्टों[1] (परमेश्वर और योगियों) की अनुमति में हेतु है।

प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्मणः ॥१९॥

संज्ञा और कर्म का प्रवर्तक ईश्वर है क्योंकि उसको सब पदार्थ प्रत्यक्ष हैं।

निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंगम् ॥२०॥

निकलना और प्रवेश करना—इस प्रकार की क्रिया का सम्भव होना आकाश के अस्तित्व के चिह्न हैं।

तदलिंगमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः ॥२१॥

निकलना और प्रवेश करना-रूप कर्म स्पर्शवाले द्रव्यों के हैं और आकाश स्पर्श-रहित है, अतः ये आकाश के लक्षण नहीं हो सकते।

कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च ॥२२॥

आकाश समवाय=संयोगरहित है, अतः वह किसी वस्तु का समवायिकारण भी नहीं हो सकता, इसलिए निकलना और प्रवेश करना—ये दोनों कर्म आकाश की सिद्धि में प्रमाण नहीं माने जा सकते।

---

१. सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ —मनु० १।२०

सर्ग के आरम्भ में ब्रह्मा आदि ऋषियों ने सब वस्तुओं के नाम और उनके कर्म तथा वर्णाश्रम आदि की व्यवस्था का वेदोक्त शब्दों के आधार पर ही निर्माण किया।

संयोगादभावः कर्मणः ।।२३।।

अवरोधक संयोग से क्रिया का अभाव हो जाता है। आकाश निकलने और प्रवेश करने का निमित्त कारण है—उसी रूप में ये आकाश के लिंग हैं।

कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः ।।२४।।

कारण में जो गुण होते हैं वही कार्य में भी देखे जाते हैं।

कार्यान्तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः ।।२५।।

शब्द स्पर्शवाले पृथिवी आदि का गुण नहीं है क्योंकि पृथिव्यादि के कार्य घट-पटादि से शब्द प्रकट नहीं होता अतः शब्द को आकाश का ही गुण मानना होगा।

परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनो गुणः ।।२६।।

आत्मा से भिन्न द्रव्यों में शब्द के समवेत होने से शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता और श्रवण=कान से प्रत्यक्ष होने के कारण शब्द को मन, दिक् तथा काल का गुण भी नहीं माना जा सकता।

परिशेषाल्लिंगमाकाशस्य ।।२७।।

अतः परिशेष=अवशिष्ट अनुमान से यह सिद्ध होता है कि शब्द आकाश का ही लक्षण है।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२८।।

आकाश के द्रव्यत्व और नित्यत्व को वायु के समान ही समझना चाहिए।

तत्त्वं भावेन ।।२९।।

आकाश द्रव्य सत्ताजाति के समान एक है, न कि अनेक।

शब्दलिंगविशेषाद् विशेषलिंगाभावाच्च ।।३०।।

शब्द रूप की विशेषता न होने से, शब्दलिंग के सामान्य होने से और विशेष लक्षण का अभाव होने से भी आकाश का एक होना सिद्ध है।

तदनुविधानादेकपृथक्त्वं चेति ।।३१।।

एकपृथक्त्व एकत्व का अनुसरण करता है अतः एकत्वयुक्त आकाश का एक-पृथक्त्व भी सिद्ध है।

।। इति द्वितीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

पुष्पवस्त्रयोः सति सन्निकर्षे गुणान्तराप्रादुर्भावो वस्त्रे गन्धाभावलिंगम् ।। १।।

पुष्प और वस्त्र के संयोग होने पर भी अन्य गुण का प्रकट न होना वस्त्र में गन्ध के अभाव का चिह्न है।

एतेनाप्सूष्णता व्याख्याता ।।२।।

इससे जल में उष्णता की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए अर्थात् जल में उष्णता औपाधिक है।

व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः ॥३॥

गन्ध पृथिवी का स्वाभाविक गुण है।

तेजस्युष्णता ॥४॥

उष्णता=गर्मी अग्नि का स्वाभाविक गुण है।

अप्सु शीतता ॥५॥

शैत्य=शीतलता जल का स्वाभाविक गुण है।

अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमितिकाललिंगानि ॥६॥

अपर और पर (छोटे और बड़े का, नये और पुराने का) का ज्ञान, एकसाथ होने का ज्ञान, विलम्ब और शीघ्रता आदि—ये सम्पूर्ण ज्ञान काल के साधक चिह्न हैं।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥७॥

काल का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के परमाणुओं के समान ही समझना चाहिए।

तत्त्वं भावेन ॥८॥

सत्ता के समान काल भी एक ही है।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति ॥९॥

आत्मा आदि नित्य पदार्थों में काल के अभाव के कारण और मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनित्य पदार्थों में काल के होने से 'कारण' की काल संज्ञा है[1] अर्थात् काल को कारण और मनुष्य, पक्षी आदि को कार्य कहा जाता है। यह कालप्रकरण पूर्ण हुआ।

इत इदमिति यतस्तद्दिश्यं लिंगम् ॥१०॥

वह यहाँ से दूर है और यहाँ से निकट है—इत्यादि प्रतिपत्तियाँ जिसके कारण होती हैं, उसे दिशा कहते हैं।

द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ॥११॥

दिक्=दिशा का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु के परमाणुओं के समान ही समझना चाहिए।

तत्त्वं भावेन ॥१२॥

दिक् का एकत्व भी सत्ता के समान ही सिद्ध है।

कार्यविशेषेण नानात्वम् ॥१३॥

कार्यभेद से दिशा का पूर्व-पश्चिम आदि अनेकत्व प्रतीत होता है।

आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची ॥१४॥

जिस दिशा से सूर्य भूत में उदय हुआ, अब होता है और भविष्य में होगा—उस दिशा को प्राची—पूर्व दिशा कहते हैं।

तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च ॥१५॥

इसी प्रकार सूर्य के संयोगविशेष के आधार पर ही दक्षिण, पश्चिम, उत्तर आदि व्यवहृत होते हैं।

---

१. अथर्ववेद (१९।४५।१) में कहा है—**कालादापः समभवन्।** काल से अप् उत्पन्न हुए।

एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि ॥१६॥

इसी से दिशाओं के अन्तराल=आवान्तर दिशाओं का विवरण भी समझ लेना चाहिए।[1]

सामान्यप्रत्यक्षाद् विशेषाप्रत्यक्षाद् विशेषस्मृतेश्च संशयः ॥१७॥

सामान्यधर्म के प्रत्यक्ष होने से और विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होकर मात्र उनका स्मरण होने से जो द्विधायुक्त प्रत्यक्ष होता है, वह संशय कहाता है।

दृष्टं च दृष्टवत् ॥१८॥

एक दृष्ट पदार्थ दूसरे दृष्ट पदार्थ के समान होने पर (जैसे स्थाणु और पुरुष) संशय उत्पन्न करनेवाला होता है।

यथादृष्टमयथादृष्टत्वाच्च ॥१९॥

जैसा पूर्व में देखा था वैसा न देखा जाने पर भी संशय का कारण होता है।

विद्याविद्यातश्च संशयः ॥२०॥

विद्या और अविद्या=सामान्य रूप से ज्ञान और विशेष रूप से अज्ञान से भी संशय होता है।

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः ॥२१॥

जो विषय श्रवणेन्द्रिय=कान से ग्रहण किया जाए वह शब्द है।

तुल्यजातीयेष्वर्थान्तरभूतेषु विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ॥२२॥

शब्द के विशेषधर्म श्रोत्रग्राह्यत्व का समानजातीय पदार्थरूप आदि और असमान-जातीय द्रव्य—दोनों में देखे जाने से शब्द के विषय में संशय होता है कि यह गुण है, द्रव्य है या कर्म?

एकद्रव्यत्वान्न द्रव्यम् ॥२३॥

एक द्रव्यवाला होने से शब्द द्रव्य नहीं है।

नापि कर्माऽचाक्षुषत्वात् प्रत्ययस्य ॥२४॥

चक्षु-इन्द्रिय से गृहीत न होने कारण शब्द कर्म भी नहीं हो सकता।

गुणस्य सतोऽपवर्गः कर्मभिः साधर्म्यम् ॥२५॥

शब्द गुण ही है। हाँ, कर्म के समान शीघ्रविनाशी=तृतीय क्षण में नाश होने के कारण कर्म के साथ शब्द का साम्य है।

सतो लिंगाभावात् ॥२६॥

शब्द की नित्यता के साधन में कोई हेतु, लक्षण, लिंग=चिह्न उपलब्ध नहीं होता।

नित्यवैधर्म्यात् ॥२७॥

नित्य के साथ वैधर्म्य=विरुद्ध लक्षणवाला होने से शब्द नित्य नहीं है।

---

१. पूर्व और दक्षिण के बीच की दिशा को आग्नेयी, दक्षिण और पश्चिम के बीच की दिशा को नैर्ऋति, पश्चिम और उत्तर के बीच की दिशा को वायवी तथा उत्तर और पूर्व के बीच की दिशा को एशानी कहते हैं।

अनित्यश्चायं कारणतः ॥२८॥

कारणजनित होने, उत्पत्ति देखे जाने से भी शब्द अनित्य है।

न चासिद्धं विकारात् ॥२९॥

विकार (ढोल आदि पर थाप पड़ने) से उत्पन्न होने के कारण शब्द कार्य है, अतएव उसका कार्यवान् होना सिद्ध है।

अभिव्यक्तौ दोषात् ॥३०॥

अभिव्यक्ति में दोष है, शब्द अभिव्यक्त नहीं होता, किन्तु उत्पन्न होता है।

संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः ॥३१॥

(मृदंग तथा दण्ड के परस्पर) संयोग से (दो बाँसखण्डों के परस्पर) विभाग से और पूर्व-पूर्व शब्द से भी शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है।

लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ॥३२॥

लिंग = उत्पन्न होनेवाला होने से भी शब्द अनित्य है।

द्वयोस्तु प्रवृत्त्योरभावात् ॥३३॥

गुरु और शिष्य की अध्यापन और अध्ययन की प्रवृत्ति के कारण शब्द को नित्य मानना चाहिए। (यह मीमांसकों का पूर्वपक्ष है।)

प्रथमाशब्दात् ॥३४॥

और भी, यदि शब्द अनित्य हो तो 'त्रिः प्रथमामन्वाह' (ऐतरेय ब्रा० ३।३) आदि वाक्यों में तीन बार उच्चारण करनेवाले प्रथमा शब्द की उपपत्ति नहीं होगी क्योंकि एक बार उच्चारण होने पर शब्द नष्ट हो जाएगा।

संप्रतिपत्तिभावाच्च ॥३५॥

शब्द के बारम्बार पहचानने और स्मरण आने से भी शब्द का नित्यत्व ही सिद्ध होता है।

संदिग्धाः सति बहुत्वे ॥३६॥

शब्द के नित्य होने में जो हेतु दिये गये हैं वे सब संदिग्ध हैं। इन हेतुओं से शब्द की नित्यता सिद्ध नहीं होती। शब्द के अनेकत्व के कारण भी पूर्वोक्त हेतु सन्दिग्ध हैं।

संख्याभावः सामान्यतः ॥३७॥

वर्णों की संख्या का व्यवहार तो (तत्तत् अक्षर में रहनेवाली कत्व, गत्व आदि) जाति के आधार पर ही उपपन्न होता है। (क्योंकि वर्ण स्वयं गुण हैं और संख्या भी गुण है, फिर गुण में गुण की सत्ता कैसे रह सकती है? अतः शब्द को अनित्य ही मानना चाहिए।)

॥ इति द्वितीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम्।

प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः ॥१॥

इन्द्रियों के ग्राह्यविषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) प्रसिद्ध ही हैं।

इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः ॥२॥

इन्द्रिय और उनके ग्राह्यविषयों की प्रसिद्धि ही इन्द्रिय एवं उनके ग्राह्यविषयों से भिन्न आत्मारूप पदार्थ की सिद्धि में हेतु हैं।

सोऽनपदेशः ॥३॥

शरीर के ज्ञान का आश्रय सिद्ध करनेवाला हेतु हेत्वाभास है क्योंकि जो जिसके आश्रित हो वह उसका कार्य हो यह नियम नहीं है।

कारणाज्ञानात् ॥४॥

शरीर के कारणभूत शरीर-अवयवों में ज्ञान की प्रतीति नहीं होती। इसलिए भी ज्ञान=चैतन्य को शरीर का गुण नहीं माना जा सकता।

कार्येषु ज्ञानात् ॥५॥

(यदि यह कहो कि हम तो पञ्चभूतों में ज्ञान मानते हैं, तद्भिन्न आत्मा को क्यों मानें तो) घट-पट आदि पञ्चभौतिक कार्यों में भी ज्ञान होना चाहिए।

अज्ञानाच्च ॥६॥

पञ्चभूतों में अज्ञान होने से भी यही मान्यता सिद्ध होती है कि ज्ञान का आश्रय आत्मा शरीर से भिन्न है।

अन्यदेव हेतुरित्यनपदेशः ॥७॥

हेतु साध्य से भिन्न ही होता है। साध्य के साथ हेतु का तादात्म्य मानने में वस्तुतः शुद्ध हेतु नहीं होता।

अर्थान्तरं ह्यर्थान्तरस्यानपदेशः ॥८॥

साध्य से भिन्न भी साध्य को सिद्ध करने में प्रामाणिक नहीं होता (जैसे धूम से अग्नि का ज्ञान तो होता है परन्तु गाय का होना सिद्ध नहीं हो सकता)।

संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च ॥९॥

हेतु=लिंग चार प्रकार का होता है—१. संयोगी, २. समवायी, ३. एकार्थसमवायी और ४. विरोधी।

कार्यं कार्यान्तरस्य ॥१०॥

एक कार्य दूसरे कार्य का साधन होता है। (जिस वस्तु में रूपगुण समवाय सम्बन्ध से वर्तमान है, उसी में दूसरा कार्य 'स्पर्श' भी देखा जाता है—इसे एकार्थ समवायि कहते हैं।)

विरोध्यभूतं भूतस्य ।।११।।

अभूत (वर्षा का अभाव) भूत (वर्षा की विद्यमानता) का विरोधी लिङ्ग है। यह विरोधी लिङ्ग का उदाहरण है ।

भूतमभूतस्य ।।१२।।

जो है, वह न हुए का विरोधी लिङ्ग है ।

भूतो भूतस्य ।।१३।।

जो है, वह हुए का विरोधी लिङ्ग है। (विद्यमान वस्तु भी अन्य विद्यमान वस्तु की सिद्धि में विरोधी लक्षण है जैसे साँप और नकुल परस्प विरोधी होते हुए भी एक स्थान पर पाये जाते हैं ।)

प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य ।।१४।।

अपदेश=हेतुनिर्देश तो प्रसिद्धिपूर्वक=व्याप्तिज्ञानपूर्वक अथवा साध्य-साधन के नियत साहचर्य की यथार्थ जानकारीपूर्वक ही होता है ।

अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः ।।१५।।

प्रसिद्धि=व्याप्ति से रहित हेतु हेतु नहीं, हेत्वाभास होता है तथा असत्=असिद्ध, विरुद्ध और सन्दिग्ध=सव्यभिचार, अनैकान्तिक भी हेत्वाभास होते हैं ।

यस्माद्विषाणी तस्मादश्वः ।।१६।।

क्योंकि यह सींगोंवाला है, इसलिए घोड़ा है। (यह असिद्ध हेत्वाभास का उदाहरण है क्योंकि जिस-जिसके सींग हों वह घोड़ा कभी नहीं होता ।)

यस्माद्विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम् ।।१७।।

क्योंकि यह सींगवाला है अतः बैल है, यह अनैकान्तिक हेतु का उदाहरण है। (सींग बकरी आदि के भी देखे जाते हैं, अतः गोत्व में यह हेतु असाधारण हेतु नहीं अपितु अति व्याप्तिवाला है ।)

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यन्निष्पद्यते तदन्यत् ।।१८।।

आत्मा, इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह आत्मा का अनुमापक होता है। वह उपर्युक्त हेत्वाभासों से भिन्न है (अतः उसके द्वारा सम्पन्न अनुमति यथार्थ है) ।

प्रवृत्तिनिवृत्ती च प्रत्यगात्मनि दृष्टे परत्र लिङ्गम् ।।१९।।

जैसी प्रवृत्ति=राग से उत्पन्न प्रयत्न और निवृत्ति=द्वेष से उत्पन्न प्रयत्न अपने आत्मा में देखे जाते हैं, ऐसी ही प्रवृत्ति और निवृत्ति पर-शरीर में देखी जाने पर वहाँ भी आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

।। इति तृतीयाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ।।

अथ तृतीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिङ्गम् ।।१।।

आत्मा, इन्द्रिय और घट-पट आदि अर्थों का सन्निकर्ष होने पर ज्ञान का होना और न होना मन की सिद्धि में हेतु है।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।२।।

मन का द्रव्यत्व और नित्यत्व वायु (परमाणु) के समान ही समझना चाहिए।

प्रयत्नायौगपद्याज्ज्ञानायौगपद्याच्चैकम् ।।३।।

एक काल में अनेक प्रयत्न और एक काल में अनेक ज्ञान एकसाथ न होने के कारण यह सिद्ध होता है कि एक शरीर में एक ही मन है।

प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः
सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नश्चात्मनो लिङ्गानि ।।४।।

प्राण-अपान, निमेष-उन्मेष, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार, सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, और प्रयत्न—आत्मा के लिङ्ग=चिह्न, साधक हेतु हैं।

तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते ।।५।।

उस आत्मा का द्रव्य होना और नित्य होना वायुपरमाणु के विषय में कही गई रीति से व्याख्यात समझना चाहिए।

यज्ञदत्त इति सन्निकर्षे प्रत्यक्षाभावाद् दृष्टं लिङ्गं न विद्यते ।।६।।

'यह यज्ञदत्त है'—इन्द्रिय-अर्थ का ऐसा सन्निकर्ष होने पर भी आत्मा=साध्य और उसके साधक हेतु के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष न होने से, अनुमानप्रमाण के आधार पर आत्मा की सिद्धि युक्त प्रतीत नहीं होती।

सामान्यतोदृष्टाच्चाविशेषः ।।७।।

सामान्यतोदृष्ट हेतु से भी ज्ञानादि का क्वचिदाश्रित तत्त्वमात्र सिद्ध होता है। इससे आत्मा की विशेष रूप से सिद्धि नहीं होती।

तस्मादागमिकः ।।८।।

अतः आत्मा की सिद्धि केवल आगम=वेदप्रमाण[1] से माननी चाहिए।

अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकान्नागमिकम् ।।९।।

'अहम्' शब्द का पृथिव्यादि भूतों के विषय में प्रयोग न होने से तत्पदवाच्य आत्मा का अनुमान भी होता है। केवल आगम से ही आत्मा की सिद्धि नहीं होती। (मैं और मेरा का व्यवहार पृथिव्यादि द्रव्यों में नहीं पाया जाता, अतः पृथिव्यादि आठ द्रव्यों में से किसी को आत्मा मानना शास्त्रानुकूल नहीं होगा।)

---

१. यजुर्वेद [४०।७] में कहा है—**आत्मैवाभूद्विजानतः।** आत्मज्ञानी के लिए सारे प्राणी अपनी आत्मा के तुल्य ही हो जाते हैं।

बृहदारण्यकोपनिषद् [२।४।५] में कहा है—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।** आत्मा जानने, श्रवण करने, मनन करने और ध्यान करने योग्य है।

द्वितीय अर्थ—'अहम्' = 'मैं हूँ'—ऐसी प्रतीति में शब्दप्रमाण के न होने से आत्मा को केवल आगमबोध्य मानना उचित नहीं है। (लोकव्यवहार में बिना शब्द-प्रमाण का नाम सुने भी प्रत्येक व्यक्ति 'अहम्' के रूप में आत्मा का अनुमान करता है।)

यदि दृष्टमन्वक्षमहं देवदत्तोऽहं यज्ञदत्त इति ॥१०॥

यदि 'मैं देवदत्त हूँ, मैं यज्ञदत्त हूँ' इत्यादि प्रतीतियों से आत्मा का प्रत्यक्ष हो जाता है तब उसकी सिद्धि के लिए अनुमानप्रमाण की क्या आवश्यकता है!

दृष्ट आत्मनि लिङ्गे एक एव दृढत्वात् प्रत्यक्षवत् प्रत्ययः ॥११॥

प्रत्यक्षसिद्ध होने पर भी आत्मा का दृढ़ निश्चयात्मक ज्ञान होने के लिए अनुमान-रसिक विद्वान् अनुमान से भी आत्मा की सिद्धि करते हैं।

देवदत्तो गच्छति यज्ञदत्तो गच्छतीत्युपचाराच्छरीरे प्रत्ययः ॥१२॥

'देवदत्त जाता है, यज्ञदत्त जाता है' आदि प्रयोग आत्मसम्बद्ध शरीर के लिए औपचारिक = गौण रूप से होता है।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१३॥

(जब आत्मा और शरीर दोनों के लिए 'अहम्' पद का प्रयोग होता है तब) सन्देह होता है कि 'अहम्' पद का प्रयोग आत्मा के विषय में औपचारिक है या शरीर के विषय में।

अहमिति प्रत्यगात्मनि भावात् परत्राभावादर्थान्तरप्रत्यक्षः ॥१४॥

'अहम्—मैं हूँ'—यह प्रतीति स्वात्मविषयक ही होती है, परात्मविषयक नहीं, अतः 'अहम्' विषयक प्रत्यक्ष शरीर से भिन्न—आत्मा के विषय में ही होता है।

देवदत्तो गच्छतीत्युपचारादभिमानात्तावच्छरीरप्रत्यक्षोऽहंकारः ॥१५॥

'देवदत्त जाता है' आदि प्रयोग को औपचारिक मानना ठीक नहीं, क्योंकि अभि-मान से अहंकार का प्रत्यक्ष शरीरविषयक ही है, आत्मविषयक नहीं।

सन्दिग्धस्तूपचारः ॥१६॥

उपर्युक्त उपचार में 'अहम्' विषयक प्रत्यक्ष को शरीरविषयक मानना भी तो संदिग्ध ही है।

न तु शरीरविशेषाद् यज्ञदत्तविष्णुमित्रयोर्ज्ञानं विषयः ॥१७॥

यज्ञदत्त और विष्णुमित्र के परस्पर भिन्न शरीर के प्रत्यक्ष होने पर भी उनके ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं होता है, अतः अहं भाव का शरीर में उपचार से ग्रहण होता है।

अहमिति मुख्ययोग्याभ्यां शब्दवद् व्यतिरेकाव्यभिचारात्
विशेषसिद्धेर्नागमिकः ॥१८॥

मुख्य तथा प्रमाणसिद्ध अहंकारक ज्ञान के शरीर में न होने के कारण 'अहम्' पदार्थ आत्मा को केवल आगमप्रमाण या अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध न समझना चाहिए अपितु आत्मा को प्रत्यक्षसिद्ध भी समझना चाहिए।

सुखदुःखज्ञाननिष्पत्त्यविशेषादैकात्म्यम् ॥१९॥

सुख-दुःख और ज्ञान की निष्पत्ति = उत्पत्ति समानरूप से पायी जाने से आत्मा एक ही है, ऐसा सिद्ध होता है।

व्यवस्थातो नाना ॥२०॥

व्यवस्था से=प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न स्थिति के कारण, प्रत्येक देह में आत्मा अलग-अलग है।

शास्त्रसामर्थ्याच्च ॥२१॥

वेद-शास्त्र[1] के प्रमाण से भी आत्मा का नानात्व सिद्ध होता है।

॥ इति तृतीयाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

---

१. जीवा ज्योतिरशीमहि।—ऋ० ७।३२।२६
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।—यजु० ११।५
एको बहूनां यो विदधाति कामान्।—कठोप० २।२।१३
इन सब स्थलों में जीवों, आत्माओं के अनेक होने का वर्णन है।

चतुर्थाध्याये प्रथममाह्निकम्

सदकारणवन्नित्यम् ॥१॥

जो पदार्थ भावरूप=सत्यस्वरूप है, जिसका अन्य कोई कारण भी नहीं, वह पदार्थ नित्य कहलाता है (ऐसी मूल प्रकृति ही इस जगत् का मूल उपादान कारण है)।

तस्य कार्यं लिङ्गम् ॥२॥

उस प्रकृति की सिद्धि के लिए कार्यरूप जगत्=पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि ही प्रमाण हैं।

कारणभावात् कार्यभावः ॥३॥

कारण के होने से कार्य होता है। (कारण के अभाव से कार्य भी नहीं हो सकता जैसे बिना मिट्टी के घड़ा नहीं बन सकता।)

अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः ॥४॥

'यह अनित्य है'—इस प्रकार नित्य का निषेधभाव ही विशेषरूप से नित्य पदार्थ की सिद्धि करता है।

अविद्या ॥५॥

मूल उपादानकारण को अनित्य सिद्ध करनेवाले सारे हेतु हेत्वाभास हैं, भ्रम हैं, अज्ञान हैं।

महत्यनेकद्रव्यवत्त्वात् रूपाच्चोपलब्धिः ॥६॥

महत्परिमाणवाले=स्थूल, अनेक द्रव्याश्रित=संयोग से निर्मित और रूपवाले पदार्थों का ही चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। (परमाणु में इन तीनों का अभाव है परन्तु परमाणु का प्रत्यक्ष न होने मात्र से परमाणु की असत्ता नहीं हो सकती।)

सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः ॥७॥

द्रव्यत्व और महत्परिमाण के होने पर भी रूपसंस्कार का अभाव होने से वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥८॥

अवयवी में अनेक द्रव्यों के समवाय से और रूप में वैशिष्ट्य के अभिव्यक्त होने से रूप का प्रत्यक्ष होता है।

तेन रसगन्धस्पर्शेषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥९॥

उपर्युक्त रूप-प्रत्यक्ष व्यवस्था से ही रस, गन्ध तथा स्पर्श के प्रत्यक्ष प्रकार की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

तस्याभावादव्यभिचारः ॥१०॥

परमाणु में रूपविशेष का अभाव होने से (यदि उनका चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता तब भी) उक्त नियम में कोई व्यभिचार=दोष नहीं है।

संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे कर्म च रूपिद्रव्यसमवायाच्चाक्षुषाणि ॥११॥

संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग-विभाग, परत्व-अपरत्व, कर्म और 'चकार' से स्नेह, द्रवता, वेग—इन सब का रूपवाले द्रव्य में समवाय होने से चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है।

अरूपिष्वचाक्षुषाणि ॥१२॥

रूपरहित द्रव्यों में वर्तमान संख्यादि उपर्युक्त गुणों का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं होता।

एतेन गुणत्वे भावे च सर्वेन्द्रियं ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१३॥

इसी प्रकार गुणत्व तथा सत्ताजाति के विषय में सब इन्द्रियों द्वारा होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान व्याख्यात समझना चाहिए।

॥ इति चतुर्थाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ चतुर्थाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् ॥१॥

वे पृथिव्यादि कार्यद्रव्य भी शरीर, इन्द्रिय और विषय के भेद से तीन प्रकार के होते हैं।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते ॥२॥

प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष वस्तुओं के संयोग के अप्रत्यक्ष होने से शरीर को पञ्चभौतिक नहीं माना जा सकता।

गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम् ॥३॥

कारणगुणपूर्वक दूसरे गुणों (जल तथा तेज के प्रवाह एवं उष्णता गुण आदि) के प्रकट न हो सकने से शरीर त्रैभौतिक=तीन पदार्थों से बना भी नहीं है।

अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः ॥४॥

अणु के संयोग का निषेध नहीं किया गया है। (पूर्वसूत्रों में शरीर के पञ्चभौतिक या त्रैभौतिक होने का निषेध किया है परन्तु परमाणुओं के संयोग का निषेध नहीं किया है।)

तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजं च ॥५॥

शरीर दो प्रकार का है—योनिज और अयोनिज।

अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात् ॥६॥

सर्गारम्भ में दिशा और देश पूर्वनियत न होने के कारण (ये शरीर अयोनिज कहलाते हैं) अथवा अयोनिज देहरचना के परमाणुपूर्वक होने से ये शरीर अयोनिज कहलाते हैं।

धर्मविशेषाच्च ।।७।।

(अयोनिज शरीर के कारण परमाणुओं में क्रिया तो) धर्म और अधर्मविशेष=पुण्य और पाप के कारण ही होती है।

समाख्याभावाच्च ।।८।।

प्रसिद्ध नाम (अग्नि, वायु आदि) पाये जाने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है।

संज्ञाया आदित्वात् ।।९।।

संज्ञा=नाम के सर्वप्रमथ होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है।

सन्त्ययोनिजाः ।।१०।।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध हुआ कि अयोनिज शरीर भी होते हैं।

वेदलिङ्गाच्च ।।११।।

वेद[1] के प्रमाणों से भी अयोनिज शरीर सिद्ध हैं।

।। इति चतुर्थाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

---

१. अथर्ववेद (३।२८।१) में कहा है—

एकैकया सृष्ट्या संबभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून् क्षिणाति रिफती रुशति ।।

यह सृष्टि एक परमात्मा और एक प्रकृति से उत्पन्न हुई। परमात्मा की ईक्षण-सामर्थ्य से पृथिवी ने गर्भ धारण किया। इस अमैथुनी सृष्टि में नाना प्रकार के जंगम, प्राणी, मनुष्य आदि और जीव गर्भधारक क्षेत्र प्रकट हुए। यह सृष्टि अपर्तुः—ऋतु, वीर्य-हीन अर्थात् अमैथुनी है, न कि मैथुनी। जिस उत्पन्न हुई सृष्टि में यमलजन्य=स्त्री-पुरुष संगतिजन्य सृष्टि विविध प्रकार से उत्पन्न होती है वह मैथुनी सृष्टि काम-चेष्टा के लिए आपस में हिंसा करती हुई अतएव क्रुद्ध हुई-हुई जीवों को नष्ट करती है।

अथ पञ्चमाऽध्याये प्रथममाह्निकम्

आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म ॥१॥

प्रयत्नवान् आत्मा का हाथ के साथ संयोग होने से कर्म=उत्क्षेपण आदि की उत्पत्ति होती है।

तथा हस्तसंयोगाच्च मुसले कर्म ॥२॥

उसी प्रकार हाथ का मूसल के साथ संयोग होने से मूसल में कर्म की उत्पत्ति होती है।

अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः ॥३॥

चोट देने से उत्पन्न हुए मूसल आदि में जो कर्म उत्पन्न होता है उसमें हाथ का मूसल के साथ संयोग कारण नहीं है क्योंकि हाथ के साथ प्रयत्नयुक्त आत्मा का संयोग नहीं रहता।

तथात्मसंयोगो हस्तकर्मणि ॥४॥

इसी प्रकार आत्मा का हाथ के साथ संयोग हाथ के उठनेरूप कर्म में भी कारण नहीं होता।

अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म ॥५॥

(फिर मूसल उठने में कारण क्या है ?) चोट मारने से तथा मूसल के साथ हाथ का संयोग होने से हाथ में उत्क्षेपण कर्म की उत्पत्ति होती है।

आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च ॥६॥

हाथ के संयोग और वेग से शरीर में कर्म उत्पन्न होता है।

संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् ॥७॥

हाथ का संयोग न रहने पर द्रव्य के भारी होने से वह द्रव्य नीचे गिरता है।

नोदनविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गमनम् ॥८॥

नोदन=प्रेरणाविशेष के न होने से गुरु द्रव्य ऊपर और इधर-उधर को न जाकर पृथिवी की ओर आता है।

प्रयत्नविशेषान्नोदनविशेषः ॥९॥

प्रयत्नविशेष से नोदनविशेष उत्पन्न होता है।

नोदनविशेषादुदसनविशेषः ॥१०॥

नोदनविशेष से उदसन=ऊर्ध्वगमन, उछाल उत्पन्न होता है।

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम् ॥११॥

हाथ की क्रिया से दारक=बालक की प्रयत्नहीन हाथ-पैर आदि संचालन—क्रिया की व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

तथा दग्धस्य विस्फोटने ॥१२॥

उसी प्रकार जली हुई वस्तु के टूटने-फूटने अथवा फफोला पड़ने की क्रिया भी आत्मप्रेरणा के बिना ही होती है।

यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम् ॥१३॥

सोये हुए अथवा अचेत व्यक्ति के यत्न न करने पर भी उठकर चल देने आदि की क्रिया होती है।

तृणे कर्म वायुसंयोगात् ॥१४॥

तिनके में वायु के संयोग से कर्म उत्पन्न होता है।

मणिगमनं सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणकम् ॥१५॥

मणि का चलना और अयस्कान्त=चुम्बक की ओर सूई आदि का सरकना चुम्बक और मणि में अदृष्ट आकर्षण-शक्ति के कारण होता है।

इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः ॥१६॥

धनुष की डोरी से भिन्न हुए बाण में आरम्भ से अन्त तक क्रमशः होनेवाले कर्मों के भिन्न होने में संयोगविशेष कारण बन जाते हैं।

नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्काराडुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च ॥१७॥

बाण का पहला कर्म तो नोदन=पुरुषप्रयत्न से उत्पन्न होता है और उस कर्म से उत्पन्न एक ही वेग नामक संस्कार से उत्तरोत्तर क्रम में उत्तरोत्तर कर्म की उत्पत्ति होती है।

संस्काराभावे गुरुत्वात् पतनम् ॥१८॥

किन्तु जब संस्कार नष्ट हो जाता है तब गुरुत्व=भारीपन के कारण बाण का पतन हो जाता है।

॥ इति पञ्चमाऽध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ पञ्चमाऽध्याये द्वितीयमाह्निकम्

नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्च पृथिव्यां कर्म ॥१॥

नोदन=प्रेरणारूप अभिघात से और संयुक्त पदार्थों के साथ संयोग से पृथिवी में कर्म=गमन और भूकम्प आदि की उत्पत्ति होती है।

तद्विशेषेणादृष्टकारितम् ॥२॥

पृथिवी का गतिक्रिया विशेष रूप से अदृष्ट आकर्षण-शक्ति के कारण है।

अपां संयोगाभावे गुरुत्वं पतनम् ॥३॥

संयोग के अभाव से भारी होने के कारण जलों का पतन=वर्षण होता है।

द्रवत्वात् स्यन्दनम् ॥४॥

द्रवत्व=गीला और पतला होने के कारण जल नीचे की ओर बहते हैं।

नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम् ॥५॥

प्रखर सूर्य-किरणों और वायु के संयोग से जल वाष्परूप में ऊपर चढ़ता है।

नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च ॥६॥

प्रवल वायु के प्रेरण और दवाव तथा संयुक्तसंयोग=धक्के से भी पानी ऊपर को चढ़ता है।

वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ॥७॥

वृक्षमूल में डाले हुए जल का पूरे वृक्ष में उद्गमन अदृष्ट=ईश्वरीय व्यवस्था के कारण होता है।

अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात् ॥८॥

जलों का जम जाना और गलकर तरल हो जाना विद्युत् आदि बलवत्तर तेज के संयोग से होता है।

तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ॥९॥

मेघमण्डल में ठहरे हुए जलों के जमाव में तेजसंयोग होने का प्रमाण उनमें होनेवाली कड़क और चमक है।

वैदिकं च ॥१०॥

वेद[1] के प्रमाण से भी इसी वैदिक सिद्धान्त की सम्पुष्टि होती है।

अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नोः ॥११॥

जलों के संयोग और विभाग से बिजली की उत्पत्ति और कड़क होती है।

पृथिवीकर्मणा तेजःकर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ॥१२॥

पृथिवी-कर्म के साथ-साथ सामान्यरूप से तेज तथा वायु के कर्मों की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यक् पवनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ॥१३॥

अग्नि का ऊपर की ओर को जलना, वायु का तिरछा बहना, परमाणु तथा मन के प्रथम कर्म का उत्पादन अदृष्ट के कारण (परमात्मा की प्रेरणा से) होता है।

हस्तकर्मणा मनसः कर्म व्याख्यातम् ॥१४॥

मनःकर्म की व्याख्या हस्तकर्म की व्याख्या के समान समझनी चाहिए। (जैसे जीवात्मा की प्रेरणा से हाथ काम करता है, वैसे ही मन भी।)

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षात् सुखदुःखे ॥१५॥

आत्मा, इन्द्रिय, मन और विषय के परस्पर सम्बन्ध से आत्मा में सुख-दुःख आदि की अनुभूति होती है।

तदनारम्भ आत्मस्थे मनसि शरीरस्य दुःखभावः स योगः ॥१६॥

मन के आत्मा में स्थित हो जाने पर, इन्द्रियों द्वारा उनके विषयों का ग्रहण न होने से शारीरिक सुख-दुःख का अभाव हो जाता है—वह योग=समाधिलाभ कहलाता है।

---

१. अग्ने गर्भो अपामसि। (यजु० १२।३७) यह अग्नि जलों का गर्भरूप है।

अपसर्पणमुपसर्पणमशितपीतसंयोगाः कार्यान्तरसंयोगाश्चेत्यदृष्टकारितानि ।।१७।।

पूर्वशरीर से आत्मा, मन, इन्द्रिय आदि का बाहर निकल जाना, देहान्तर में प्रवेश कर जाना, खान-पान के सम्बन्ध से होनेवाले क्रियाकलाप और इन्द्रिय, प्राण आदि के सम्बन्ध से होनेवाले कर्म—ये सब अदृष्ट = प्रारब्ध-कर्मानुसार होते हैं।

तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।।१८।।

शरीरधारक मनःकर्म के अभाव होने पर शरीर से आत्मा के संयोग का अभाव और शरीरान्तर का प्रादुर्भाव न होना ही मोक्ष कहाता है।

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः ।।१९।।

द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के वैधर्म्य से अन्धकार वस्तुतः तेजोऽभाव ही है। (अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है।)

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च ।।२०।।

तथा, तेज के अन्य द्रव्य द्वारा रुक जाने से भी प्रकाश का अभाव = अन्धकार होता है, अतः वह तेजोऽभाव ही है।

दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि ।।२१।।

दिशा, काल और आकाश—क्रियाशून्य पदार्थ हैं क्योंकि ये क्रियावाले पदार्थों से विरुद्ध धर्मी हैं।

एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः ।।२२।।

इसी उपर्युक्त कथन से कर्म और गुणों की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए (जैसे दिशा आदि अमूर्त होने से निष्क्रिय हैं, वैसे ही गुण और कर्म भी निष्क्रिय हैं)।

निष्क्रियाणां समवायः कर्मभ्यो निषिद्धः ।।२३।।

क्रियारहित गुण तथा कर्मपदार्थों का द्रव्यों के साथ समवाय सम्बन्ध ही होता है। यह समवाय क्रियाओं से निषिद्ध = रहित है, इसकी सीमा में क्रियाओं का प्रवेश नहीं है।

कारणं त्वसमवायिनो गुणाः ।।२४।।

गुण अपने कार्यों के प्रति असमवायिकारण होते हैं।

गुणैर्दिग्व्याख्याता ।।२५।।

गुणपदार्थों के व्याख्यान से दिशा की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए।

कारणेन कालः ।।२६।।

निमित्त कारण होने से काल का व्याख्यान भी हो चुका। (काल निमित्त कारण है, अतः उसे सक्रिय नहीं कह सकते।)

।। इति पञ्चमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथ षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम्

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ।।१।।

वेदों के वाक्यों की रचना बुद्धिपूर्वक है (ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण) ।

ब्राह्मणे संज्ञाकर्म सिद्धिलिङ्गम् ।।२।।

ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञादि का नामकरण भी बुद्धिपूर्वक वेदरचना का साधक चिह्न है।

बुद्धिपूर्वो ददातिः ।।३।।

वेद में दान का निर्देश भी बुद्धिपूर्वक है (अतः वेद ईश्वरीय ज्ञान है)।

तथा प्रतिग्रहः ।।४।।

उसी प्रकार दान का स्वीकार भी वेद की ज्ञानपूर्वक रचना का प्रमाण है।

आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वात् ।।५।।

एक आत्मा के गुण अन्य आत्मा में कारण न होने से एक का फल दूसरे को नहीं मिलता (किन्तु उसी आत्मा में पुण्यादि का उत्पादन करते हैं) ।

तद दुष्टभोजने न विद्यते ।।६।।

वह अभ्युदयरूप फल दूषित व्यक्तियों द्वारा ऐश्वर्य भोगते रहने पर नहीं रहता है।

दुष्टं हिंसायाम् ।।७।।

निषिद्ध आचार में लीन, दूसरों को कष्ट देनेवाला पुरुष ही दुष्ट कहलाता है।

तस्य समभिव्याहारतो दोषः ।।८।।

उस दुष्ट व्यक्ति के समान व्यवहार करने से समाज में दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

तद् दुष्टे न विद्यते ।।९।।

वह सामाजिक दोषरूप फल, श्रेष्ठ पुरुष के समान व्यवहार करने पर नहीं होता।

पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ।।१०।।

निरन्तर श्रेष्ठ पुरुषों के प्रति प्रवृत्ति=झुकाव रखना चाहिए।

समे हीने वा प्रवृत्तिः ।।११।।

अपने से विशिष्ट पुरुषों के अभाव में अपने समान और उसके भी अलाभ होने पर अपने से हीन अदुष्टपुरुष को आर्थिक सहयोग आदि देना चाहिए।

एतेन हीनसमविशिष्टधार्मिकेभ्यः परस्वादानं व्याख्यातम् ।।१२।।

जैसे दान के विषय में विशिष्ट, सम तथा हीन व्यक्ति का नियम है वैसे ही दान लेने में भी अधम, मध्यम और उत्तम धार्मिक पुरुषों का नियम समझना चाहिए। (इसी प्रकार के प्रतिग्रह से पुण्य होता है।)

तथा विरुद्धानां त्यागः ॥१३॥

उसी प्रकार निर्धारित व्यवस्थाओं से विपरीत दान का परित्याग करना उचित है।

हीने परे त्यागः ॥१४॥

यदि दाता आर्थिक अथवा बौद्धिक दृष्टि से हीन हो तो उसके दान का परित्याग कर देना चाहिए।

समे आत्मत्यागः परत्यागो वा ॥१५॥

दाता और आदाता के समान होने पर चाहे आदाता=लेनेवाला प्राप्त होनेवाले सहयोग का परित्याग कर दे अथवा दाता स्वयं सहयोग की भावना को त्याग दे।

विशिष्टे आत्मत्याग इति ॥१६॥

यदि दाता अपने से उत्तम धार्मिक हो तो आदाता उसके द्वारा दिये जानेवाले सहयोग को स्वयं त्याग दे। यह प्रसंग समाप्त हुआ।

॥ इति षष्ठाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ षष्ठाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

दृष्टादृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय ॥१॥

दृष्ट और अदृष्ट (प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष) फल देनेवाले दो प्रकार के कर्मों में प्रत्यक्ष फल के अभाव में परलोक सुखरूप अदृष्ट फल की कल्पना करनी चाहिए।

**अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुलवासवानप्रस्थयज्ञदानप्रोक्षण-
दिङ्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाश्चादृष्टाय ॥२॥**

स्नान, उपवास, ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान, प्रोक्षण=यज्ञ के श्रुवा आदि की जल द्वारा शुद्धि, दिक्=पूर्वादि दिशाओं में नियतरूप से यजमान आदि का बैठना, नक्षत्र=पुष्य आदि विहित नक्षत्रों में संस्कार आदि कर्म करना, मन्त्र=मन्त्रोच्चारणपूर्वक यज्ञादि करना, काल=उत्तरायण आदि समयविशेष में कर्म करना, नियम=समाज व शासनव्यवस्था का सम्यक् परिपालन—और भी ऐसे ही कर्म अदृष्ट फल के लिए हैं।

चातुराश्रम्यमुपधा अनुपधाश्च ॥३॥

ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमधर्मों के अनुष्ठान से भी अदृष्ट फल की उत्पत्ति होती है तथा उपधा और अनुपधा से भी अदृष्ट=धर्माधर्म की उत्पत्ति होती है।

भावदोष उपधाऽदोषोऽनुपधा ॥४॥

कर्माचरण की भावना में राग आदि दोष ही उपधा है और उस भावना में श्रद्धा, आस्तिक्य बुद्धि आदि अनुपधा है।

यदिष्टरूपरसगन्धस्पर्शं प्रोक्षितमभ्युक्षितं च तच्छुचि ॥५॥

जो मनभावने रूप, रस, गन्ध, स्पर्श—अपना गाढ़ा पसीना बहाकर कमाये गये हों और समाज वा शासन द्वारा अनुमोदित हों वही रस-रूप आदि पवित्र हैं।

अशुचीति शुचिप्रतिषेधः ॥६॥

जो पवित्र का उलटा है, वही अपवित्र है।

अर्थान्तरं च ॥७॥

विधान किये हुए पदार्थ से भिन्न दूसरा पदार्थ भी अशुद्ध है।

अयतस्य शुचिभोजनादभ्युदयो न विद्यते नियमाभावाद्विद्यते वाऽर्थान्तरत्वाद्यमस्य ॥८॥

व्यवस्था का अभाव हो जाने से, अहिंसा आदि यमों का पालन न करनेवाले व्यक्ति का पवित्र उपभोगों (शुद्ध भोजन करने) से कल्याण नहीं होता अथवा जो व्यक्ति यमों का पालन नहीं करता उसके लिए भी पवित्र साधनों से प्राप्त उपभोग कल्याणरूप होते हैं।

असति चाभावात् ॥९॥

उपभोग के साधनों का पवित्र होना और अहिंसा आदि यमों का पालन करना—इन दोनों में से किसी एक के न रहने पर भी तज्जन्य अभ्युदय नहीं होता।

सुखाद्रागः ॥१०॥

सुख से राग=विषयों में आसक्ति उत्पन्न होती है।

तन्मयत्वाच्च ॥११॥

विषयों में तन्मय हो जाने से भी राग की उत्पत्ति होती है।

अदृष्टाच्च ॥१२॥

अदृष्ट=पूर्वजन्मार्जित संस्कार से भी राग की उत्पत्ति होती है।

जातिविशेषाच्च ॥१३॥

जातिविशेष से भी राग की उत्पत्ति होती है।

इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मयोः प्रवृत्तिः ॥१४॥

मनुष्य की इच्छा राग और द्वेषपूर्वक धर्माधर्म में प्रवृत्त होती है।

तत्संयोगो विभागः ॥१५॥

उस धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति से जन्म और मरण होता है।

आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ॥१६॥

आत्मज्ञान प्राप्त करानेवाले कर्मों से मुक्त होना वेद में कहा गया है।

॥ इति षष्ठाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम्

उक्ता गुणाः ॥१॥

गुणों का वर्णन हो गया।

पृथिव्यादिरूपरसगन्धस्पर्शा द्रव्यानित्यत्वादनित्याश्च ॥२॥

पृथिवी, जल, तेज तथा वायु के गन्ध, रस, रूप तथा स्पर्शगुण पृथिव्यादि के अनित्य होने से अनित्य ही होते हैं।

एतेन नित्येषु नित्यत्वमुक्तम् ॥३॥

इस कथन से यह भी स्पष्ट है कि नित्य द्रव्यों के उपर्युक्त गुण नित्य होते हैं।

अप्सु तेजसि वायौ च नित्या द्रव्यनित्यत्वात् ॥४॥

द्रव्यों के नित्य होने से जल, अग्नि और वायु के परमाणुओं में रहनेवाले गुण भी नित्य ही हैं।

अनित्येष्वनित्या द्रव्यानित्यत्वात् ॥५॥

द्रव्यों के अनित्य होने से अनित्य द्रव्यों में गुण भी अनित्य होते हैं।

कारणगुणपूर्वकाः पृथिव्यां पाकजाः ॥६॥

कार्यरूप पृथिवी में अन्य द्रव्यों के साथ पकने से उत्पन्न हुए रस, रूप और स्पर्श-गुण अपने-अपने कारणों के गुणों से आये हुए होते हैं।

एकद्रव्यत्वात् ॥७॥

(श्याम-रक्त विरोधी गुणों के) एक द्रव्य अधिकरणवाले होने से भी उपर्युक्त कथन की पुष्टि और सिद्धि होती है।

अणोर्महतश्चोपलब्ध्यनुपलब्धी नित्ये व्याख्याते ॥८॥

अणु और महत् की उपलब्धि और अनुपलब्धि नित्य कही गई है।

कारणबहुत्वाच्च ॥९॥

कारणों के अनेक होने से महत् परिमाण की उत्पत्ति होती है।

अतो विपरीतमणु ॥१०॥

महत्परिमाण से विपरीत जो परिमाण है, वह अणुपरिमाण कहलाता है।

अणु महदिति तस्मिन् विशेषभावात् विशेषाभावाच्च ॥११॥

'यह अणु है' और 'यह महत् है', एक वस्तु में परिमाणविषयक इस प्रकार का जो व्यवहार होता है, उस पदार्थ में विशेष अपकर्ष के होने से अणु और विशेष के न होने से महत् व्यवहार होता है।

एककालत्वात् ॥१२॥

एक काल में होने से अणु और महत् का व्यवहार होता है। (जिस काल में आँवले को सेब से छोटा कहते हैं, उसी काल में आँवले को बेर से बड़ा कहते हैं।)

दृष्टान्ताच्च ॥१३॥

दृष्टान्त=उदाहरण से भी पूर्वोक्त कथन की सिद्धि होती है।

अणुत्वमहत्त्वयोरणुत्वमहत्त्वभावः कर्मगुणैर्व्याख्यातः ॥१४॥

अणु और महत् परिमाणों में अन्य अणु और महत् परिमाण का अभाव है यह तथ्य कर्म और गुणों द्वारा कह दिया गया है।

कर्मभिः कर्माणि गुणैश्च गुणा व्याख्याताः ॥१५॥

कर्मों से कर्म और गुणों से गुणों का व्याख्यान कर दिया गया।

अणुत्वमहत्त्वाभ्यां कर्मगुणाश्च व्याख्याताः ॥१६॥

अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से कर्म और गुण की भी व्याख्या हो गई।

एतेन दीर्घत्वह्रस्वत्वे व्याख्याते ॥१७॥

इसीसे दीर्घ और ह्रस्व परिमाण भी कह दिये गये।

अनित्येऽनित्यम् ॥१८॥

अनित्य द्रव्य में उपर्युक्त चारों परिमाण—अणुत्व, महत्त्व, दीर्घत्व, ह्रस्वत्व अनित्य होते हैं।

नित्ये नित्यम् ॥१९॥

नित्य द्रव्यों में परिमाण गुण भी नित्य होता है।

नित्यं परिमण्डलम् ॥२०॥

गोल अथवा वर्तुलाकार परमाणु का परिमाण भी नित्य होता है।

अविद्या च विद्यालिङ्गम् ॥२१॥

अविद्या=अज्ञान, विद्या=ज्ञान का अनुमापक लक्षण है।

विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा ॥२२॥

व्यापक होने से आकाश और परमात्मा महत् परिमाणयुक्त हैं।

तदभावादणु मनः ॥२३॥

विभुत्व=सर्वव्यापकत्व के अभाव से मन अथवा मनवाला जीवात्मा अणु-परिमाणवाला है।

गुणैर्दिग् व्याख्याता ॥२४॥

गुणों के द्वारा दिक्=दिशा द्रव्य का भी व्याख्यान हो गया समझना चाहिए।

कारणेन कालः ॥२५॥

कारण के समान ही काल का भी व्याख्यान समझना चाहिए।

॥ इति सप्तमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

रूपरसगन्धस्पर्शव्यतिरेकादर्थान्तरमेकत्वम् ॥१॥

रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुणों से भिन्न होने के कारण एक-दो आदि संख्या रूपादि गुणों से भिन्न वस्तु है।

तथा पृथक्त्वम् ॥२॥

वैसे ही पृथक्त्व गुण भी रूपादि से भिन्न समझना चाहिए।

एकत्वैकपृथक्त्वयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥३॥

एकत्व और पृथक्त्व गुण में दूसरे एकत्व और दूसरे पृथक्त्व का अभाव है, यह तथ्य अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से व्याख्यात समझना चाहिए।

निःसंख्यत्वात् कर्मगुणानां सर्वैकत्वं न विद्यते ॥४॥

गुण और कर्म के संख्यारहित होने से सब पदार्थों में एकत्व संख्या नहीं रहती।

भ्रान्तं तत् ॥५॥

'एकं कर्म, एकं रूपम्'—ऐसा लोकज्ञान भ्रममूलक है।

एकत्वाभावाद्भक्तिस्तु न विद्यते ॥६॥

एकत्व का अभाव होने से तो भाक्त=गौण प्रयोग भी नहीं रहता।

कार्यकारणयोरेकत्वैकपृथक्त्वाभावादेकत्वैकपृथक्त्वं न विद्यते ॥७॥

समान जातीय कार्य और कारण में एकत्व और एकपृथक्त्व के अभाव से एकत्व और एकपृथक्त्व नहीं है। (भाव यह है कि कार्य और कारण एक नहीं हो सकते।)

एतदनित्ययोर्व्याख्यातम् ॥८॥

यह एकत्व और एकपृथक्त्व की अनित्यता का व्याख्यान समझना चाहिए।

अन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्च संयोगः ॥९॥

दो द्रव्यों में से किसी एक द्रव्य की क्रिया से उत्पन्न, दोनों द्रव्यों की क्रिया से उत्पन्न और संयोग से उत्पन्न होनेवाला संयोग गुण कहाता है।

एतेन विभागो व्याख्यातः ॥१०॥

इसीसे विभाग गुण की भी व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

संयोगविभागयोः संयोगविभागाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥११॥

संयोग और विभाग में संयोग और विभाग का अभाव है—यह अणुत्व और महत्त्व के द्वारा व्याख्यात समझना चाहिए।

कर्मभिः कर्माणि गुणैर्गुणा अणुत्वमहत्त्वाभ्यामिति ॥१२॥

कर्मों से कर्म, गुणों से गुण अणुत्व और महत्त्व से व्याख्यात समझ लेने चाहिएँ। यह प्रकरण समाप्त हुआ।

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः संयोगविभागौ न विद्येते ॥१३॥

युतसिद्धि के अभाव से (जुड़े हुए न होने से) कार्य और कारण में परस्पर संयोग और विभाग नहीं होते।

गुणत्वात् ॥१४॥

शब्द के गुण होने से द्रव्य और गुण में संयोग और विभाग नहीं मान सकते।

गुणोऽपि विभाव्यते ॥१५॥

रूप, रस आदि गुण भी शब्द के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है।

निष्क्रियत्वात् ॥१६॥

क्रियारहित होने से शब्द का अर्थ के साथ संयोगसम्बन्ध नहीं है क्योंकि संयोग क्रिया से उत्पन्न होता है।

असति नास्तीति च प्रयोगात् ॥१७॥

पदार्थ के न होने पर भी 'यह नहीं है'—ऐसा प्रयोग होने से भी शब्द को संयोगात्मक नहीं मान सकते।

शब्दार्थावसम्बन्धौ ॥१८॥

शब्द और अर्थ परस्पर संयोगसम्बन्धरहित हैं।

संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च ॥१९॥

संयोगसम्बन्ध वाले दण्ड से तथा समवायसम्बन्ध वाले हस्त आदि से शब्द का विशेष—भेद है अतः शब्द का अर्थ के साथ संयोग या समवायसम्बन्ध नहीं हो सकता।

सामयिकः शब्दादर्थप्रत्ययः ॥२०॥

शब्द से अर्थ की प्रतीति ईश्वरीय प्रेरणा से होती है।

एकदिक्काभ्यामेककालाभ्यां सन्निकृष्टविप्रकृष्टाभ्यां परमपरं च ॥२१॥

एक ही दिशा में, एक ही काल में रहनेवाले दो मूर्त्त द्रव्यों के समीप और दूर होने से एक-दूसरे की अपेक्षा वहाँ परत्व और अपरत्व गुण व्यवहृत होते हैं।

कारणपरत्वात् कारणापरत्वाच्च ॥२२॥

कारण के दूर और समीप होने से भी परत्व और अपरत्व होता है।

परत्वापरत्वयोः परत्वापरत्वाभावोऽणुत्वमहत्त्वाभ्यां व्याख्यातः ॥२३॥

परत्व और अपरत्व में परत्व और अपरत्व का अभाव अणुत्व और महत्त्व के व्याख्यान से व्याख्यात समझ लेना चाहिए।

कर्मभिः कर्माणि ॥२४॥

कर्म में कर्म नहीं होता—इस व्याख्यान से ही कर्म में परत्व और अपरत्व नहीं होता—यह स्पष्ट हो जाता है।

गुणैर्गुणाः ॥२५॥

गुण में गुण के अभाव के वर्णन से ही गुण में परत्व और अपरत्व का अभाव स्पष्ट हो जाता है।

इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः ॥२६॥

जिससे कार्य और कारण में ऐसा प्रतीत होता है कि इस आधार में यह आधेय है (इसमें यह है) वह समवाय नामक सम्बन्ध समझा जाता है।

द्रव्यत्वगुणवत्वप्रतिषेधो भावेन व्याख्यातः ।।२७।।

द्रव्यत्व और गुणत्व का निषेध भावसत्ता जाति के व्याख्यान द्वारा व्याख्यात समझना चाहिए ।

तत्त्वं भावेन ।।२८।।

सत्ता के समान ही समवाय भी एक अतएव नित्य है ।

।। इति सप्तमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ।।

अथाष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम्

द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्यातम् ॥१॥

पृथिव्यादि द्रव्यों के विषय में ज्ञान की व्याख्या हो चुकी।

तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ॥२॥

उन द्रव्यों में आत्मा और मन का प्रत्यक्ष नहीं होता।

ज्ञाननिर्देशे ज्ञाननिष्पत्तिविधिरुक्तः ॥३॥

ज्ञान-निर्देश के प्रसङ्ग (३।१।१८) में ज्ञान की उत्पत्ति का प्रकार बता दिया गया है।

गुणकर्मसु सन्निकृष्टेषु ज्ञाननिष्पत्तेर्द्रव्यं कारणम् ॥४॥

इन्द्रियों से सम्बद्ध गुण तथा कर्मों के ज्ञान में द्रव्य कारण है। (इन्द्रियों के साथ गुण और कर्मों का संयोग होने पर रूप और गति आदि का ज्ञान होता है।)

सामान्यविशेषेषु सामान्यविशेषाभावात्तत एव ज्ञानम् ॥५॥

सामान्य और विशेषों में दूसरे सामान्य और दूसरे विशेष के अभाव से उससे ही सामान्यविशेषविषयक ज्ञान हो जाता है।

सामान्यविशेषापेक्षं द्रव्यगुणकर्मसु ॥६॥

किन्तु द्रव्य-गुण-कर्मविषयक ज्ञान—इन सबमें रहनेवाले सामान्यविशेष ज्ञान की अपेक्षा रखता है।

द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मापेक्षम् ॥७॥

द्रव्यविषयक सविकल्पक ज्ञान द्रव्य-गुण-कर्म की अपेक्षा=सहयोग से उत्पन्न होता है।

गुणकर्मसु गुणकर्माभावाद् गुणकर्मापेक्षं न विद्यते ॥८॥

गुण तथा कर्मों में गुण तथा कर्मों का अभाव रहने के कारण गुण तथा कर्म के ज्ञान की उत्पत्ति में गुण एवं कर्म की अपेक्षा नहीं होती है।

**समवायिनः श्वैत्यात् श्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते एते
कार्यकारणभूते ॥९॥**

समवाय=नित्य सम्बन्ध से वर्तमान श्वेतगुण और श्वेतगुणविषयक विशेष ज्ञान से श्वेतपदार्थ में जो विशेष ज्ञान उत्पन्न होता है—वे दोनों कार्य-कारणभावयुक्त होते हैं।

द्रव्येष्वनितरेतरकारणाः ॥१०॥

अनेक द्रव्यों में जो अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे एक-दूसरे के कारण नहीं हैं।

कारणायौगपद्यात् कारणक्रमाच्च घटपटादिबुद्धीनां क्रमो न हेतुफलभावात् ॥११॥

ज्ञान के कारणों के युगपत्=एकसाथ न होने से तथा कारणों के क्रमपूर्वक होने से ही घट-पट आदि ज्ञानों में आगा-पीछा होता है, उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव होने से नहीं।

॥ इत्यष्टमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथाऽष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अयमेष त्वया कृतं भोजयैनमिति बुद्ध्यपेक्षम् ॥१॥

'यह है', 'वह है', 'यह तूने किया है', 'इसको भोजन कराओ'—ऐसा प्रयोग-जन्य ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा रखता है।

दृष्टेषु भावाददृष्टेष्वभावात् ॥२॥

प्रत्यक्ष हुए पदार्थों में होने से और अप्रत्यक्ष पदार्थों में न होने से—होना और न होना माना जाता है।

अर्थ इति द्रव्यगुणकर्मसु ॥३॥

द्रव्य-गुण-कर्म में 'अर्थ' ऐसा व्यवहार किया जाता है। (प्रस्तुत शास्त्र में अर्थ का तात्पर्य है—द्रव्य-गुण और कर्म।)

द्रव्येषु पञ्चात्मकत्वं प्रतिषिद्धम् ॥४॥

कार्य-द्रव्यों में पञ्चात्मकता=पञ्चभूतों का निषेध किया गया है।

भूयस्त्वाद् गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः ॥५॥

बहुत होने से और गन्धवाली होने से पृथिवी गन्ध का ज्ञान करनेवाली नासिका इन्द्रिय में उपादान कारण है। (गन्धज्ञापक घ्राण का उपादान कारण पृथिवी ही है।)

तथापस्तेजोवायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥६॥

इसी प्रकार रस, रूप तथा स्पर्श के अधिक होने और रसादि समवायित्व होने के कारण जिह्वा, चक्षु तथा त्वक् इन्द्रियों के उपादान भी क्रमशः जल, तेज और वायु हैं।

॥ इत्यष्टमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ नवमाध्याये प्रथममाह्निकम्

क्रियागुणव्यपदेशाभावात् प्रागसत् ॥१॥

क्रिया और गुण का व्यवहार न होने से कार्योत्पत्ति से पूर्व कार्य नहीं था, इस प्रतीति से कार्य का 'प्रागभाव' सिद्ध होता है।

सदसत् ॥२॥

कारणरूप से विद्यमान अतएव सत् (घटादि) पदार्थ भी मुग्दरपात आदि से ध्वस्त हो जाता है, इस प्रतीति से 'ध्वंसाभाव' भी सिद्ध हो जाता है।

असतः क्रियागुणव्यपदेशाभावादर्थान्तरम् ॥३॥

असत्=अभाव, अविद्यमान से सत्=भाव, विद्यमान भिन्न पदार्थ है क्योंकि असत् में क्रिया और गुण का व्यवहार नहीं होता।

सच्चासत् ॥४॥

विद्यमान पदार्थ भी अभावरूप कहा जाता है, इस प्रतीति से 'अन्योन्याभाव' भी सिद्ध होता है। (घट पट नहीं और पट घट नहीं। दोनों के विद्यमान रहते हुए भी दोनों का एक-दूसरे से भेद है।)

यच्चान्यदसदस्तदसत् ॥५॥

पूर्वोक्त तीनों अभावों से भिन्न जो एक और अभाव है वह चौथा 'अत्यन्ताभाव' कहलाता है।

असदिति भूतप्रत्यक्षाभावाद् भूतस्मृतेर्विरोधिप्रत्यक्षवत् ॥६॥

'अब नहीं है'—ऐसा जो ज्ञान है वह भूत=उत्पन्न होकर नष्ट हुए घटादि के प्रत्यक्ष न होने से, परन्तु भूत का स्मरण हो आने से 'विरोधिप्रत्यक्ष' के समान है।

तथाऽभावे भावप्रत्यक्षत्वाच्च ॥७॥

इसी प्रकार असत् में भी सत् के प्रत्यक्ष होने से विपरीत लक्षण का बोध होना सम्भव है। (भाव के प्रत्यक्षयोग्य होने पर प्रध्वंसाभाव की भाँति प्रागभाव का भी प्रत्यक्ष होता है।)

एतेनाघटोऽगौरधर्मश्च व्याख्यातः ॥८॥

इसी रीति से 'यह घट नहीं है', 'गाय नहीं है', 'धर्म नहीं है'—आदि अन्योऽन्यभाव का प्रत्यक्ष भी समझ लेना चाहिए।

अभूतं नास्तीत्यनर्थान्तरम् ॥९॥

'जो अभूत है' तथा 'जो नहीं है'—ये दोनों परस्पर विरोधी नहीं हैं, एक ही बात है। (अभूत और नास्ति—दोनों एकार्थी हैं।)

नास्ति घटो गेहे इति सतो घटस्य गेहसंसर्गप्रतिषेधः ॥१०॥

'घर में घड़ा नहीं है'—इस प्रकार अन्यत्र विद्यमान घड़े का घर के साथ संसर्ग का प्रतिषेध है।

आत्मन्यात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् ॥११॥

आत्मा में आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम् ॥१२॥

इसी प्रकार आत्मा और मन के संयोग से प्रकृतिपर्यन्त अन्य सूक्ष्म द्रव्यों का भी प्रत्यक्ष होता है।

असमाहितान्तःकरणा उपसंहृतसमाधयस्तेषां च ॥१३॥

जिनका अन्तःकरण निरन्तर समाधि में स्थित नहीं रहता (युञ्जान योगी) और जिन्होंने समाधि-अवस्था को पूर्णरूपेण सफलतापूर्वक प्राप्त कर लिया है (युक्त योगी)—ऐसे दोनों प्रकार के योगियों को सब पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है।

तत्समवायात् कर्मगुणेषु ॥१४॥

उन योगियों को द्रव्यों में समवाय से कर्मविषयक प्रत्यक्ष हो जाता है।

आत्मसमवायादात्मगुणेषु ॥१५॥

आत्मा में समवाय से आत्मा के चेतनत्वादि या सुख-दुःख आदि गुणों का प्रत्यक्ष हो जाता है।

॥ इति नवमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

अस्येदं कार्यं कारणं संयोगि विरोधि समवायि चेति लैङ्गिकम् ॥१॥

इस (साध्य) का यह कार्य है, यह कारण है, यह संयोगी है, यह विरोधी है और यह समवायि—सदा साथ मिला रहनेवाला है—इसको एकार्थ समवायि लैङ्गिक (लिङ्ग से होनेवाला) ज्ञान कहा जाता है। (इसीको अनुमित ज्ञान भी कहते हैं।)

अस्येदं कार्यकारणसंबन्धश्चावयवाद्भवति ॥२॥

इस लिङ्ग का यह लिङ्ग—व्याप्य है। इस प्रकार का लिङ्गलिङ्गि-सम्बन्ध अथवा व्याप्य-व्यापक-सम्बन्ध निश्चयपूर्वक अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु उदाहरण अवयवी और निगमन) से होता है।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम् ॥३॥

इस प्रत्यक्ष एवं लैङ्गिक ज्ञान के व्याख्यान से शब्दजन्य ज्ञान का व्याख्यान भी समझ लेना चाहिए।

हेतुरपदेशो लिङ्गंप्रमाणं करणमित्यनर्थान्तरम् ॥४॥

हेतु, अपदेश, लिङ्ग, प्रमाण, कारण—ये सब एकार्थवाची हैं।

अस्येदमिति बुद्ध्यपेक्षितत्वात् ॥५॥

इस लिङ्गी का यह लिङ्ग अथवा इस कार्य का यह कारण—ऐसा ज्ञान बुद्धि की अपेक्षा से होता है। (अतः उपमान आदि भी पृथक् प्रमाण नहीं हैं।)

आत्ममनसोः संयोगविशेषात् संस्काराच्च स्मृतिः ॥६॥

आत्मा और मन के संयोगविशेष से तथा संस्कार से स्मृतिज्ञान होता है।

तथा स्वप्नः ॥७॥

उसी प्रकार आत्मा और मन के संयोगविशेष से तथा संस्कार से स्वप्नज्ञान होता है।

स्वप्नान्तिकम् ॥८॥

स्वप्न के अन्तर्गत होनेवाला स्वप्नज्ञान भी स्मृतिरूप होता है।

धर्माच्च ॥९॥

धर्म और अधर्म से भी स्वप्नज्ञान होता है।

इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥१०॥

आंख, कान आदि इन्द्रियों में कोई दोष होने से और संस्कारों के दोष से अविद्या उत्पन्न होती है।

तद् दुष्टज्ञानम् ॥११॥

दोषपूर्ण ज्ञान का नाम अविद्या है।

अदुष्टं विद्या ॥१२॥

जो ज्ञान दोषपूर्ण नहीं है, वह विद्या (प्रमा अथवा यथार्थ ज्ञान) है।

आर्षं सिद्धदर्शनं च धर्मेभ्यः ॥१३॥

आर्ष-ज्ञान और सिद्ध-पुरुषों को हुआ ज्ञान धर्म (पूर्वकृत पुण्यकर्मों) से उत्पन्न होता है।

॥ इति नवमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये प्रथममाह्निकम्

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तरभावः ॥१॥

इष्ट (माला, चन्दनादि) और अनिष्ट (कण्टकादि) में परस्पर भेद तथा विरोध के कारण सुख और दुःख परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

संशयनिर्णयान्तराभावश्च ज्ञानान्तरत्वे हेतुः ॥२॥

तथा, संशय और निर्णय—इन दोनों के अन्तर्गत न आना भी, सुख-दुःख के ज्ञान से भिन्न होने में, कारण है। (सुख और दुःख ज्ञान से भिन्न हैं, इसमें एक हेतु यह है कि ये दोनों न संशय के अन्तर्गत आते हैं, न निर्णय के।)

तयोर्निष्पत्तिः प्रत्यक्षलैङ्गिकाभ्याम् ॥३॥

सुख और दुःख इन दोनों की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान से होती है।

अभूदित्यपि ॥४॥

भूतकाल में हुआ था और भविष्यत् में होगा—इससे भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है।

सति च कार्यादर्शनात् ॥५॥

सुख-दुःख के होने पर भी, सुख-दुःख का कार्य प्रत्यक्ष न देखे जाने से भी सुख-दुःख का होना सिद्ध होता है।

एकार्थसमवायिकारणान्तरेषु दृष्टत्वात् ॥६॥

एक द्रव्य (आत्मा) में समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले विशिष्ट कारणों की विद्यमानता में उसी द्रव्य में समवेत सुख-दुःख की उत्पत्ति देखी जाती है।

एकदेश इत्येकस्मिन् शिरः पृष्ठमुदरं मर्माणि तद्विशेषस्तद्विशेषेभ्यः ॥७॥

एक ही शरीर में शिर, पीठ, उदर, मर्मस्थल आदि, ऐसा व्यवहार शरीर के अवयवों में है, उन अंगों की विशेषता उनके कारणविशेष से है।

॥ इति दशमाध्याये प्रथममाह्निकम् ॥

अथ दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम्

कारणमिति द्रव्ये कार्यसमवायात् ॥१॥

'यह कारण है', इस प्रकार व्यवहार द्रव्यों में होता है क्योंकि कार्य का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य में ही होता है।

संयोगाद्वा ॥२॥

अथवा संयोग से भी समवायसम्बन्ध का होना सिद्ध होता है।

कारणे समवायात् कर्माणि ॥३॥

समवायिकारण में समवेत होने से कर्म असमवायिकारण होते हैं।

तथा रूपे कारणैकार्थसमवायाच्च ॥४॥

उसी प्रकार कारण का कार्य से समवायसम्बन्ध होने से रूप आदि गुणों में भी कारण होना माना जाता है।

कारणसमवायात् संयोगः पटस्य ॥५॥

तन्तु के समवायिकारण होने से उनका परस्पर संयोग पट का असमवायिकारण होता है।

कारणकारणसमवायाच्च ॥६॥

तथा, कारण के कारण में समवाय से भी कहीं संयोग असमवायिकारण होता है।

संयुक्तसमवायादग्नेर्वैशेषिकम् ॥७॥

संयुक्त समवाय से अग्नि का विशेष गुण—उष्ण स्पर्श पृथिवी में पाकजरूप आदि गुणों का निमित्त कारण होता है।

दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ॥८॥

वेदादि में उपदिष्ट कर्म, जिनको इस लोक में किया जाता है, तत्काल फल न मिलने पर भी मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए उनका अनुष्ठान करते ही रहना चाहिए।

तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यमिति ॥९॥

ईश्वर का कथन होने से वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। सूत्र के अन्त में 'इति' पद ग्रन्थ-समाप्ति का सूचक है।

॥ इति दशमाध्याये द्वितीयमाह्निकम् ॥

॥ समाप्तं चेदं वैशेषिकदर्शनम् ॥

सांख्यदर्शनम्

सांख्यदर्शन एक दृष्टि में

सांख्यदर्शन के रचयिता महर्षि कपिल हैं। इस ग्रन्थ में छह अध्याय हैं। सूत्रों की संख्या ४५१ है और प्रक्षिप्त श्लोकों को मिलाकर ५२७। इस दर्शन का उद्देश्य प्रकृति और पुरुष की विवेचना करके उनके अलग-अलग स्वरूप को दिखलाना है।

प्राय: गणनार्थक 'संख्या' से सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है परन्तु इसका सुन्दरतम और वास्तविक अर्थ है विवेकज्ञान। 'संख्या' शब्द सम् पूर्वक 'चक्षिङः ख्यान्' धातु से बनता है, जिसका अर्थ है 'सम्यक् ख्यानम्' अर्थात् सम्यक् विचार। इसी को विवेक-बुद्धि कहते हैं। जब मनुष्य विवेक द्वारा यह जान लेता है कि पुरुष (आत्मा और परमात्मा) प्रकृति से भिन्न है, तब उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'ईश्वरासिद्धेः' आदि सूत्रों को देखकर कुछ लोग महर्षि कपिल को नास्तिक कहते हैं। परन्तु इस सूत्र में तो उन्होंने जगत् के उपादानभूत कारण को असिद्ध बताया है। 'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता' आदि सूत्र महर्षि कपिल को परम आस्तिक बता रहे हैं।

सांख्यशास्त्र में तत्त्वों के चार प्रकार माने हैं—१. प्रकृति, २. प्रकृति-विकृति, उभयात्मक, ३. केवल विकृति और ४. अनुभयात्मक—प्रकृति और विकृति दोनों से भिन्न।

सांख्य के अनुसार तत्त्व पच्चीस हैं—प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएं, एकादश इन्द्रियां, पञ्च महाभूत और पुरुष।

सांख्य का एक प्रमुख सिद्धान्त है—'सत्कार्यवाद' अर्थात् जो कुछ इस जगत् में है वह सदा से है, और जो नहीं है वह कभी नहीं होता। इसके दो रूप हैं—परिणामवाद और विवर्तवाद।

सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टि का निर्माण होता है।

प्रकृति और पुरुष का संयोग अन्धे और लंगड़े का संयोग है। दोनों मिलकर रास्ता तय करते हैं। प्रकृति भोग्या और पुरुष भोक्ता है। परस्परापेक्षा रखनेवाले इस प्रकृति और पुरुष के द्वारा सृष्टि का क्रम चलता रहता है।

सांख्य के मत में आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दुःखों से सर्वथा निवृत्त हो जाना ही मुक्ति है। यह मुक्ति भी दो प्रकार की है—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। मुक्ति के लिए निम्न साधन हैं—१. प्रकृति का यथार्थ बोध; २. ध्यान—ध्यान तभी सम्भव है, जब मनुष्य रागरहित हो जाए; ३. निष्काम भाव से अपने आश्रमविहित कर्मों का पालन करना, और ४. अभ्यास तथा वैराग्य।

अथ सांख्यदर्शनम्

प्रथमोऽध्यायः

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः ॥१॥

अब अधिकारपूर्वक आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति जो परमपुरुषार्थ=मोक्ष है, उसके विधायक शास्त्र का आरम्भ करते हैं।

न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात् ॥२॥

लोक में प्राप्त होनेवाले बाह्य साधनों से अभीष्ट अत्यन्त दुःखनिवृत्ति की सिद्धि नहीं होती क्योंकि एक दुःख के निवृत्त हो जाने पर अन्य दुःखों की अनुवृत्ति दिखाई पड़ती है।

प्रात्यहिकक्षुत्प्रतिकारवत् तत्प्रतिकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम् ॥३॥

प्रतिदिन की भूख के प्रतिकार के समान अन्य दुःखों के प्रतिकार के लिए प्रयत्न किये जाने से दृष्ट-उपाय=बाह्य साधन भी पुरुषार्थ है।

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः ॥४॥

बाह्य साधन से सर्वदुःखनिवृत्ति होना सम्भव नहीं और बहुत प्रकार के साधन-समूह से सम्भव होने पर भी वास्तविक दुःखनिवृत्ति न होने के कारण विवेकी, मुमुक्षु पुरुषों के लिए दृष्ट उपायों का अवलम्बन हेय=त्याज्य है।

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ॥५॥

मोक्ष के सर्वश्रेष्ठ होने से भी उसकी उपादेयता सिद्ध है। वेद मोक्ष को सबसे उत्कृष्ट=श्रेष्ठ बताता है।

अविशेषश्चोभयोः ॥६॥

दुःखनिवृत्ति के लिए लौकिक और वैदिक, दृष्ट और अदृष्ट—दोनों प्रकार के उपायों का अभेद है, साधनों की समानता के कारण।

न स्वभावतो बद्धस्य मोक्षसाधनोपदेशविधिः ॥७॥

स्वभाव से बन्धन में पड़े हुए आत्मा के लिए मोक्ष प्राप्त करानेवाले साधनों का विधान संगत नहीं। (इससे स्पष्ट है कि आत्मा स्वभाव से बद्ध नहीं है।)

स्वभावस्यानपायित्वादननुष्ठानलक्षणमप्रामाण्यम् ॥८॥

स्वभाव के अविनाशी होने से बद्ध जीव को मोक्षसाधनोपदेश का विधान व्यर्थ और प्रमाणहीन है।

नाशक्योपदेशविधिरुपदिष्टेऽप्यनुपदेशः ॥९॥

अशक्य कर्म के लिए उपदेश का विधान नहीं है क्योंकि उपदेश किये जाने पर भी वह अनुपदेश ही है।

शुक्लपटवद् बीजवच्चेत् ॥१०॥

यदि श्वेत वस्त्र और बीज के समान (जीवात्मा का स्वाभाविक गुण दुःख) मान लिया जाए तो—

शक्त्युद्भवानुद्भवाभ्यां नाशक्योपदेशः ॥११॥

उक्त उदाहरणों में शक्ति के उद्भव=प्रादुर्भाव और अनुद्भव=तिरोभाव से आत्मा के मोक्ष का उपदेश अशक्य अर्थ का उपदेश नहीं है। (आत्मा स्वभाव से बद्ध नहीं, यदि स्वभाव से बद्ध हो तो उसके लिए त्रिविध दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का उपदेश संगत नहीं। आत्मा निमित्त से बद्ध है और निमित्त से बद्ध जीवात्मा के लिए मोक्ष का उपदेश अशक्य नहीं।)

न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात् ॥१२॥

आत्मा का बन्धन काल के योग से नहीं है क्योंकि व्यापी और नित्य आत्मा की विद्यमानता सर्वकाल में एकसमान रहती है।

न देशयोगतोऽप्यस्मात् ॥१३॥

देशयोग से भी आत्मा का बन्धन नहीं है, इसी पूर्वोक्त हेतु अर्थात् नित्य, व्यापी=गतिशील आत्मा का प्रत्येक काल में किसी-न-किसी देश के साथ सम्बन्ध बने रहने से।

नावस्थातो देहधर्मत्वात् तस्याः ॥१४॥

अवस्था से भी जीवात्मा का बन्धन नहीं है क्योंकि अवस्था शरीर का धर्म है।

असङ्गोऽयं पुरुष इति ॥१५॥

यह जीवात्मा स्वरूप से असङ्ग है, अवस्था, परिणामरूप देहधर्म से पृथक् है।

न कर्मणान्यधर्मत्वादतिप्रसक्तेश्च ॥१६॥

कर्म से भी जीवात्मा का बन्धन नहीं है क्योंकि कर्म अन्य (शरीर, अन्तःकरण आदि) का धर्म होने से और अतिप्रसङ्गदोष के उपस्थित होने से। (अन्य के धर्म से बन्धन स्वीकार करने में मुक्तात्माओं में भी बन्धन का प्रसङ्ग आ जाएगा।)

विचित्रभोगानुपपत्तिरन्यधर्मत्वे ॥१७॥

अन्य के धर्म से अन्य को फल-प्राप्ति का हेतु स्वीकार करने पर संसार में आत्मा के विचित्र भोगों की सिद्धि नहीं होगी।

प्रकृतिनिबन्धनाच्चेन्न तस्या अपि पारतन्त्र्यम् ॥१८॥

यदि यह कहो कि प्रकृति पुरुष के बन्धन का कारण है तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रकृति भी पराधीन है।

न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥१९॥

नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव आत्मा का बन्धन प्रकृति और पुरुष के योग से होता है। (अविवेक के कारण पुरुष प्रकृति में फँसकर बद्ध हो जाता है।)[1]

तद्योगोऽप्यविवेकान्न समानत्वम् ॥२०॥

वह प्रकृति-पुरुष योग अविवेक के कारण होता है, अतः पूर्वोक्त निमित्तों के साथ इसकी समानता नहीं है।

नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत् ॥२१॥

जैसे प्रकाश से अन्धकार दूर होता है उसी प्रकार विवेकरूप नियत कारण से अविवेकरूपी अन्धकार का नाश होता है।

प्रधानाविवेकादन्याविवेकस्य तद्धाने हानम् ॥२२॥

मुख्यपदस्थ प्रकृति और पुरुष के अविवेक के कारण अन्यविषयक (शरीर, इन्द्रिय, स्त्री-पुत्र) अविवेक होता है। उस मुख्यविषयक अविवेक के नष्ट होने पर गौणविषयक अविवेक भी नष्ट हो जाता है।

वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः ॥२३॥

पुरुष में अविवेक उपचाररूप में है, तत्त्वरूप में नहीं। अविवेक के चित्त (अन्तः-करण) में अवस्थित होने से। (आत्मा का अन्तःकरण के साथ संसर्ग होने से पुरुष अविवेक का अनुभव करता है। अपने को सुखी या दुःखी समझता है।)

---

१. यहाँ से आगे ३५ सूत्र प्रक्षिप्त हैं। १९वें सूत्र के पश्चात् ५५वाँ सूत्र ही आना चाहिए। हम उन प्रक्षिप्त सूत्रों को टिप्पणी में दे रहे हैं—

न विद्यातोऽप्यवस्तुना बन्धायोगात् ॥१॥

अविद्या से भी जीवात्मा का बन्धन नहीं है क्योंकि अवस्तु (अभावरूप अविद्या) से बन्धन नहीं हो सकता। (अवस्तु वस्तु को नहीं बाँध सकती।)

वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः ॥२॥

अविद्या को वस्तु मानने पर सिद्धान्त की हानि होती है।

विजातीयद्वैतापत्तिश्च ॥३॥

यदि अविद्या को विजातीय मान लिया जाए तो द्वैत की सिद्धि हो जाएगी।

विरुद्धोभयरूपा चेत् ॥४॥

यदि विद्या को वस्तु और अवस्तु दोनो रूपोंवाला मान लें तो—

न तादृक्पदार्थाप्रतीतेः ॥५॥

यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे पदार्थ की उपलब्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती।

न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत् ॥६॥

हम वैशेषिक आदि की भाँति छह पदार्थों के माननेवाले नहीं हैं।

अनियतत्वेऽपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम् ॥७॥

अनियत पदार्थवादी होने पर भी जो बात युक्तिप्रमाण आदि से सिद्ध नहीं होती उसे स्वीकार करना मूर्ख और पागलों के समान समझा जाएगा।

युक्तितोऽपि न बाध्यते दिङ्मूढवदपरोक्षादृते ।।२४।।

'युक्ति और प्रमाणों से भी अविवेक दूर नहीं हो सकता बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के, जैसे दिग्भ्रमित मनुष्य का भ्रम सूर्यप्रकाश के बिना नहीं हटता।

अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधो धूमादिभिरिव वह्नेः ।।२५।।

अप्रत्यक्ष (इतीन्द्रिय, इन्द्रियागोचर) पदार्थों का अनुमान से विवेक होता है, जैसे धूमादि से अग्नि का ज्ञान होता है।

नानादिविषयोपरागनिमित्तकोऽप्यस्य ।।८।।

जीवात्मा का बन्धन प्रवाह से अनादि विषय-वासना के निमित्त से भी नहीं है।

न बाह्याभ्यन्तरयोरुपरञ्ज्योपरञ्जकभावोऽपि देशव्यवधानात्
स्रुघ्नस्थपाटलिपुत्रस्थयोरिव ।।९।।

बाह्य विषयोपराग जीवात्मा के बन्धन का कारण नहीं है क्योंकि जैसे स्रुघ्न और पटना नगर में रखी हुई मणि की छाया एक-दूसरे के ऊपर नहीं पड़ सकती, वैसे ही बाह्य विषय और आभ्यन्तर आत्मा की भी एक-दूसरे पर छाया नहीं पड़ सकती क्योंकि विषय और विज्ञान में देश की भिन्नता है।

द्वयोरेकदेशलब्धोपरागान्न व्यवस्था ।।१०।।

विषय और आत्मा दोनों के एक देश में हुए विषय-उपराग सम्बन्ध से बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था न हो सकेगी।

अदृष्टवशाच्चेत् ।।११।।

अदृष्ट के कारण बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था हो जाएगी। (अदृष्ट धर्मविशेष बद्ध आत्मा का सम्पर्क विषय के साथ होने देगा, मुक्त के साथ नहीं) ऐसा मानें तो—

न द्वयोरेककालायोगादुपकार्योपकारकभावः ।।१२।।

क्षणिकवाद में अदृष्ट का कर्त्ता और भोक्ता दोनों की एक काल में अवस्थिति सम्भव नहीं, अतः दोनों में उपकार्य और उपकारक भाव अथवा निमित्त और नैमित्तिक भाव सम्भव नहीं, इसलिए विषयोपराग को आत्मा के बन्धन का कारण बताना युक्ति-संगत नहीं।

पुत्रकर्मवदिति चेत् ।।१३।।

पुत्रोत्पत्ति के निमित्त पिता गर्भाधान करता है और उससे पुत्र का उपकार होता है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न अदृष्ट और बन्ध में भी उपकार्य-उपकारक भाव हो जाएगा—यदि ऐसा कहो तो—

नास्ति हि तत्र स्थिर एकात्मा यो गर्भाधानादिना संस्क्रियते ।।१४।।

यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ में पुत्र के भिन्न-भिन्न रूपों में एक ही स्थिर आत्मा को गर्भाधान आदि संस्कार कर्म से संस्कृत किया जाता है।

स्थिरकार्यासिद्धेः क्षणिकत्वम् ।।१५।।

स्थिर कार्य की अनुपलब्धि से, वस्तुमात्र क्षणिक है, अतः आत्मा का भी क्षणिकत्व जानना चाहिए।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥२६॥

(वे तत्त्व कौन-से हैं ? सूत्रकार बताते हैं—) सत्त्व, रज और तम की साम्यावस्था प्रकृति है, प्रकृति से महत्तत्त्व=बुद्धितत्त्व प्रकट होता है। महत्तत्त्व से अहंकार प्रकट होता है। अहंकार से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द—ये पाँच तन्मात्राएँ=सूक्ष्मभूत तथा दोनों (आन्तर इन्द्रिय मन और बाह्य ज्ञान और कर्म) इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं। तन्मात्राओं से पृथिवी आदि स्थूलभूत प्रकट होते हैं। इनके अतिरिक्त पुरुष=चेतनसत्ता—ये पच्चीस तत्त्व हैं। इन पच्चीस पदार्थों का विवेक आवश्यक है।

स्थूलात् पञ्चतन्मात्रस्य ॥२७॥

स्थूल—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन स्थूलभूतों से इनके कारण पञ्चतन्मात्राओं=सूक्ष्मभूतों (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) का क्रमशः अनुमान से बोध=विवेक कर लेना चाहिए।

बाह्याभ्यन्तराभ्यां तैश्चाहङ्कारस्य ॥२८॥

बाह्य और आन्तर इन्द्रियों से और उन पञ्चतन्मात्राओं से कारणरूप अहंकार का अनुमान=बोध, विवेक होता है।

न प्रत्यभिज्ञाबाधात् ॥१६॥

प्रत्यभिज्ञा (पूर्वानुभूत विषय का पुनःस्मरण) की बाधा होने के कारण आत्मा क्षणिक नहीं है।

श्रुतिन्यायविरोधाच्च ॥१७॥

श्रुति और न्याय के विरुद्ध होने से भी आत्मा क्षणिक नहीं है।

दृष्टान्तासिद्धेश्च ॥१८॥

दृष्टान्त की असिद्धि से भी क्षणिकवाद (पदार्थों का क्षणिक होना) अयुक्त है।

युगपज्जायमानयोर्न कार्यकारणभावः ॥१९॥

एक काल में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों में कार्य-कारणभाव नहीं बन सकता।

पूर्वापाये उत्तरायोगात् ॥२०॥

क्षणिकवाद में उत्पत्ति-क्षण में ही उस वस्तु का विनाश हो जाने के कारण उसका उत्पाद्यमान वस्तु के साथ सम्बन्ध न होने से उन दोनों का कार्य-कारणभाव सम्भव नहीं।

तद्भावे तदयोगादुभयव्यभिचारादपि न ॥२१॥

कारण की विद्यमानता में उसका कार्य के साथ सम्बन्ध न होने से दोनों पदार्थों में कार्य-कारणविषयक व्यभिचार हो जाने से क्षणिकवाद ठीक नहीं।

पूर्वभावमात्रे न नियमः ॥२२॥

यदि कारण को नियत न मानकर पूर्वभाव-मात्र ही माना जाए तो यह नियम न रहेगा कि मिट्टी से ही घड़ा बनता है।

तेनान्तःकरणस्य ॥२९॥

उस अहंकार से उसके कारणरूप महत्तत्त्व=बुद्धि का अनुमान होता है।

ततः प्रकृतेः ॥३०॥

उस महत्तत्त्व से प्रकृति का अनुमान होता है।

संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य ॥३१॥

संहत (संघात, संयोग, पदार्थों का एकीकरण) परार्थ=दूसरों के लिए होने से पुरुष का अनुमान होता है।

मूले मूलाभावादमूलं मूलम् ॥३२॥

मूल में मूल का अभाव होता है, अतः मूल मूलरहित होता है। (जड़ की जड़ नहीं होती, ऐसे ही मूल का मूल नहीं होता।)

पारम्पर्येऽप्येकत्र परिनिष्ठेति संज्ञामात्रम् ॥३३॥

परम्परा मानने पर भी किसी एक स्थान पर पहुँचकर तो पर्यवसान=समाप्ति स्वीकार करनी होगी, अन्यथा अनवस्था दोष आ जाएगा। जहाँ समाप्ति होगी, उसे ही प्रकृति कहेंगे, केवल नाम का भेद है।

समानः प्रकृतेर्द्वयोः ॥३४॥

प्रकृति परार्थ है, अतः प्रकृति से बद्ध और मुक्त दोनों पुरुषों को समान लाभ है। अथवा, प्रकृति और पुरुष इन दोनों में से प्रकृति को ही जगत् का कारण मानना ठीक है।

न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतेः ॥२३॥

"केवल विज्ञान (मन की कल्पना) एकमात्र तत्त्व है, उसके अतिरिक्त कुछ नहीं", यह कथन असंगत है क्योंकि इन्द्रियों से बाह्य पदार्थों की प्रतीति होती है।

तदभावे तदभावाच्छून्यं तर्हि ॥२४॥

स्वप्न के समान बाह्य पदार्थों का अभाव मानने पर विज्ञान का भी अभाव मानना पड़ेगा, तब शून्य का प्रसङ्ग उपस्थित होगा। (प्रत्येक वस्तु को शून्य मानना पड़ेगा।)

शून्यं तत्त्वं भावो विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद्विनाशस्य ॥२५॥

केवल शून्य ही एक तत्त्व है, क्योंकि जो कुछ भाव है, वह सब नाशवान् है, कारण यह कि विनाश हो जाना वस्तु-मात्र का धर्म है।

अपवादमात्रमबुद्धानाम् ॥२६॥

सब कुछ नाशवान् है, इसलिए शून्य ही तत्त्व है, ऐसा कहना मूर्खों का प्रलाप है।

उभयपक्षसमानक्षेमत्वादयमपि ॥२७॥

दोनों पक्षों (क्षणिकवाद और विज्ञानवाद) में खण्डन के हेतु एक-समान होने से शून्यवाद का भी खण्डन जानना चाहिए।

अपुरुषार्थत्वमुभयथा ॥२८॥

शून्यवादी के मत में दोनों प्रकार से अपुरुषार्थता है। (जब दुःख है ही नहीं, केवल शून्य है तब उसकी निवृत्ति का उपाय क्यों किया जाए और मुक्ति भी शून्य होगी, उसके लिए साधन भी शून्य होंगे, तब ऐसे पदार्थ के लिए साधन भी शून्य होगा।)

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥३५॥

उत्तम, मध्यम और मन्द—तीन प्रकार के अधिकारी होने से समान अर्थसिद्धि (लाभ) होने का नियम नहीं है।

महदाख्यमाद्यं कार्यं तन्मनः ॥३६॥

प्रकृति का सर्वप्रथम कार्य जो महत्तत्त्व है, वह मन अथवा बुद्धितत्त्व है।

चरमोऽहङ्कारः ॥३७॥

उस (महत्) के पश्चात् का कार्य अहंकार=अभिमान है।

तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम् ॥३८॥

उसके पश्चात् कहे जानेवाले (पञ्चतन्मात्रा, आभ्यन्तर और बाह्य इन्द्रियाँ—ये सब) उस अहंकार के कार्य हैं।

आद्यहेतुता तद्द्वारा पारम्पर्येऽप्यणुवत् ॥३९॥

कार्य-कारण परम्परा द्वारा भी प्रकृति की आद्यहेतुता (प्रथम कारण होना) सिद्ध होती है, अणु के समान।

पूर्वभावित्वे द्वयोरेकतरस्य हानेऽन्यतरयोगः ॥४०॥

प्रकृति और पुरुष दोनों के अनादि होने पर भी उनमें से एक (पुरुष) का जगत्

न गतिविशेषात् ॥२९॥

गति (शुभाशुभ कर्म) विशेष से आत्मा का बन्धन होना भी ठीक नहीं है।

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् ॥३०॥

आत्मा निष्क्रिय है, उसमें गति आदि क्रिया का होना सम्भव नहीं।

मूर्त्तत्वाद् घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः ॥३१॥

यदि आत्मा को मूर्तिमान् माना जाए तो वह घट-पटादि के समान अनित्य, विनाशी और सावयव होगा। तब 'आत्मा नित्य है' के सिद्धान्त का खण्डन होगा।

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् ॥३२॥

श्रुति में आत्मा में जो गति कथन की है (**पापेन पापं लोकं नयति** ॥ प्रश्नो० २।७) वह सूक्ष्म शरीररूपी उपाधि के कारण है, आकाश के समान।

न कर्मणाप्यतद्धर्मत्वात् ॥३३॥

अदृष्ट कर्म से भी आत्मा का बन्धन नहीं हो सकता क्योंकि वे कर्म शरीर के धर्म हैं, आत्मा के नहीं।

अतिप्रसक्तिरन्यधर्मत्वे ॥३४॥

यदि किसी अन्य के धर्म से किसी अन्य का बन्धन मान लें तो अव्यवस्था हो जाएगी और मुक्त भी बन्धन में आ जाएँगे।

निर्गुणादिश्रुतिविरोधश्चेति ॥३५॥

यदि अदृष्ट को आत्मा का धर्म माना जाए तो (**असङ्गो ह्ययं पुरुषः** । बृ० ४।३।१५—आत्मा असङ्ग है, इत्यादि) श्रुतियों से विरोध आ जाता है, अतः गतियोग बन्धन का कारण नहीं है।

की उपादानकारणता में परित्याग हो जाता है, तब दूसरी प्रकृति को ही जगत् का उपादानकारण माना जा सकता है।

परिच्छिन्नं न सर्वोपादानम् ॥४१॥

उत्पाद-विनाशशील, अनित्य तत्त्व समस्त जगत् का मूल उपादान कारण नहीं हो सकता।

तदुत्पत्तिश्रुतेश्च ॥४२॥

प्रकृति जगत् का मूल उपादानकारण है, यह बात वेद से भी सिद्ध होती हैं।

नावस्तुनो वस्तुसिद्धिः ॥४३॥

अवस्तु=अभाव से जगद्रूप वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः जगत् का उपादान कारण प्रकृति वस्तुरूप है।

अबाधाददुष्टकारणजन्यत्वाच्च नावस्तुत्वम् ॥४४॥

जगत् के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होने से, दुष्ट कारण (पीलिया आदि रोग) से प्रतीत होनेवाला भी न होने से तथा ऋषि-महर्षियों द्वारा सत्य स्वीकार किये जाने से समस्त संसार को मिथ्या, असत्य, भ्रम नहीं कहा जा सकता।

भावे तद्योगेन तत्सिद्धिरभावे तदभावात् कुतस्तरां तत्सिद्धिः ॥४५॥

मूलकारण का भाव=सत्ता मानने पर उसके द्वारा सद्रूप कार्य की भी सत्ता सिद्ध हो सकती है। मूलकारण के अभाव में उसका अस्तित्व न होने से कार्यरूप जगत् की सिद्धि कैसे हो सकती है?—नहीं हो सकती, अतः जगत् का मूलकारण वस्तुरूप में होना चाहिए।

न कर्मण उपादानत्वायोगात् ॥४६॥

कर्म=क्रिया का उपादानता के साथ सम्बन्ध न होने से वह जगत् का उपादान-कारण नहीं हो सकता।

नानुश्रविकादपि तत्सिद्धिः साध्यत्वेनावृत्तियोगादपुरुषार्थत्वम् ॥४७॥

वैदिक कर्मकाण्ड से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि वैदिक कर्म भी साध्य कोटि (सांसारिक सुखों के समान) में होने के कारण क्षीण फलवाले हैं, अनुष्ठाता को बार-बार जन्म-मरण के चक्र में लानेवाले हैं, अतः ये अपुरुषार्थ हैं, मुक्ति को देनेवाले नहीं हैं।

तत्र प्राप्तविवेकस्यानावृत्तिश्रुतिः ॥४८॥

जिसने प्रकृति-पुरुषविषयक विवेक प्राप्त कर लिया है, ऐसा व्यक्ति बार-बार जन्म-मरण के चक्र में न आकर मुक्त हो जाता है, यह वेद बताता है।

दुःखाद्दुःखं जलाभिषेकवन्न जाड्यविमोकः ॥४९॥

विवेक के बिना यज्ञादि काम्य कर्मों से एक दुःख के पश्चात् दूसरा दुःख प्राप्त होता है, दुःख छूटते नहीं, जैसे जल में स्नान करने से शीत=जाड़ा दूर नहीं होता।

काम्येऽकाम्येऽपि साध्यत्वाविशेषात् ॥५०॥

काम्य और अकाम्य दोनों प्रकार के कर्मों में सांसारिक भोगों को प्रस्तुत करने की समानता से दोनों में दुःख-प्रसङ्ग है; विवेक के विना मोक्ष नहीं हो सकता।

निजमुक्तस्य बन्धध्वंसमात्रं परं न समानत्वम् ।।५१।।

स्वभाव से त्रिगुणातीत=मुक्तात्मा के बन्धन का नाश ही अपवर्ग है, अतः साध्य फलों के साथ इनकी समानता नहीं है।

द्वयोरेकतरस्य वाप्यसन्निकृष्टार्थपरिछित्तिः प्रमा तत्साधकतमं यत्तत् त्रिविधं प्रमाणम् ।।५२।।

प्रकृति और पुरुष दोनों अथवा उनमें से एक के विवेक के लिए पूर्व अज्ञात अर्थ का निश्चय होना प्रमा है, उस प्रमा का जो अत्यन्त साधक हेतु है वह तीन प्रकार का प्रमाण है।

तत्सिद्धौ सर्वसिद्धेर्नाधिक्यसिद्धिः ।।५३।।

तीन प्रकार के प्रमाणों की सिद्धि में प्रकृति-पुरुष के विवेक योग्य सब बातों की सिद्धि हो जाती है, अतः तीन प्रमाण से अधिक प्रमाण मानने की आवश्यकता नहीं।

यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् ।।५४।।

इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सम्बन्ध हो जाने पर जो विशिष्ट ज्ञान उस वस्तु के स्वरूप को दर्शानेवाला है, वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।।५५।।

योगियों को अबाह्य=अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होते हैं, अतः इस प्रत्यक्ष लक्षण में कोई दोष नहीं है।

लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ।।५६।।

अथवा लीन=मूलप्रकृति, सूक्ष्म, अतीन्द्रिय वस्तुओं में योगियों का निकटतम सम्बन्ध हो जाने के कारण प्रत्यक्ष लक्षण में अतिव्याप्ति दोष नहीं है।

ईश्वरासिद्धेः ।।५७।।

(प्रकृति को मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि ईश्वर ही जगत् का उपादान-कारण है, ऐसा कहो तो—) उपादानभूत ईश्वर किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता।[1]

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।।५८।।

मुक्त और बद्ध किसी भी अवस्था में न होने से उपादानभूत ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती।

उभयथाप्यसत्करत्वम् ।।५९।।

बद्ध और मुक्त दोनों अवस्थाओं में चेतन ईश्वर से जगद्रूप अचेतन सृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकती है? (जब उपादानकारण परमात्मा चेतन है, तब सृष्टि भी चेतन होनी चाहिए।)

---

१. इस सूत्र पर महर्षि दयानन्द सरस्वती लिखते हैं—यहाँ ईश्वर की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है और न ईश्वर जगत् का उपादानकारण है।—(स० प्र० सप्तम-समुल्लास) ऋषि के आशय को ऋषि ही ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा ॥६०॥

(उपनिषदों में परमात्मा के जगत् का उपादानकारण होने का संकेत है, ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि—) वह तो परमात्मा की प्रशंसा है, अथवा उपासना के लिए परमात्मा के निश्चित स्वरूप का वर्णन है।

तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥६१॥

प्रकृति के साथ सान्निध्य होने से ईश्वर में अधिष्ठातृत्व है, अयस्कान्तमणि=चुम्बक के समान।

विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ॥६२॥

विशेष कार्यों में जीवों का भी अधिष्ठाता होना सिद्ध है।

सिद्धरूपबोद्धृत्वाद् वाक्यार्थोपदेशः ॥६३॥

नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव आत्मा के बोद्धा=ज्ञाता होने के कारण उसके लिए वेदवाक्यार्थ का उपदेश है।

अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ॥६४॥

जीवात्मा के कारण अन्तःकरण के प्रकाशित होने से जीवात्मा में अधिष्ठातृत्व है, लोहे की भाँति। (जैसे लोहा अग्नि के सम्पर्क से प्रकाशित होता है।)

प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम् ॥६५॥

व्याप्ति के देखने से व्यापक का जो ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है। (जैसे धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान।)

आप्तोपदेशः शब्दः ॥६६॥

परम आप्त परमेश्वर और साक्षात्कृतधर्मा ऋषि-महर्षियों का उपदेश शब्द-प्रमाण कहलाता है।

उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ॥६७॥

प्रकृति और पुरुष दोनों की सिद्धि प्रमाणों से होती है, अतः प्रमाणों का उपदेश किया गया है।

सामान्यतोदृष्टादुभयसिद्धिः ॥६८॥

सामान्यतो दृष्ट (साधन के बिना कार्य का न होना, संहत=मिली हुई वस्तुओं का परार्थ=दूसरे के लिए होना, मरते हुए व्यक्तियों को देखकर प्राणिमात्र का मरण-धर्मा होना) अनुमान से प्रकृति और पुरुष, भोग्य और भोक्ता दोनों की सिद्धि होती है।

चिदवसानो भोगः ॥६९॥

भोग चेतन-पुरुष के लिए है। (जड़ जगत् की रचना चेतन आत्माओं के लिए है।)

अकर्त्तुरपि फलोपभोगोऽन्नाद्यवत् ॥७०॥

अकर्त्ता को भी फल का भोग होता है, अन्नादि के समान। (रसोइया भोजन बनाता है और उसका स्वामी खाता है।)

अविवेकाद्वा तत्सिद्धेः कर्त्तुः फलावगमः ॥७१॥

अथवा आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि की सिद्धि अविवेक के कारण होती है।

नोभयं च तत्त्वाख्याने ॥७२॥

विवेक से तत्त्वज्ञान हो जाने पर आत्मा में कर्तृत्व और भोक्तृत्व—सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती।

विषयोऽविषयोऽप्यतिदूरादेर्हानोपादानाभ्यामिन्द्रियस्य ॥७३॥

अति दूर आदि कारण से (आदि से—अति समीप होना, मन का स्थिर न होना, वस्तु का सूक्ष्म होना, दूसरे पदार्थ से अभिभूत होना, का ग्रहण होता है।) इन्द्रियों में विकार उत्पन्न होने से तथा उपादान=रुकावट आ जाने से विद्यमान पदार्थ भी दिखाई नहीं देता।

सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः ॥७४॥

अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण प्रकृति की अनुपलब्धि=अप्राप्ति है।

कार्यदर्शनात्तदुपलब्धेः ॥७५॥

प्रकृति के कार्य स्थूलजगत् के देख जाने से प्रकृति का होना सिद्ध होता है।

वादिविप्रतिपत्तेस्तदसिद्धिरिति चेत् ॥७६॥

वादी के विरुद्ध कथन (जगत् का कारण ब्रह्म है) से प्रकृति की असिद्धि है, यदि ऐसा कहो—

तथाप्येकतरदृष्ट्या एकतरसिद्धेर्नापलापः ॥७७॥

तो भी कार्यज्ञान द्वारा कारण की सिद्धि से प्रकृति का अपलाप=निषेध नहीं हो सकता।

त्रिविधविरोधापत्तेश्च ॥७८॥

ईश्वर को जगत् का उपादानकारण माना जाए तो संसार में अनुभूयमान त्रिविधता (सत्त्व, रजस् और तमस्) के विरोध की प्राप्ति होगी क्योंकि ईश्वर आदि त्रिगुणात्मक नहीं है।

नासदुत्पादो नृशृङ्गवत् ॥७९॥

जैसे मनुष्य के सींग नहीं होते, ऐसे ही असत् की भी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

उपादाननियमात् ॥८०॥

उपादान का नियम होने से, असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सर्वत्र सर्वदा सर्वासम्भवात् ॥८१॥

सब स्थानों पर, सब कालों में, सब वस्तुओं की उत्पत्ति असम्भव होने से कार्य के प्रति उपादान का नियम आवश्यक है।

शक्तस्य शक्यकारणात् ॥८२॥

जो कारण जिस कार्य को उत्पन्न करने में समर्थ है, वही उस कार्य को उत्पन्न करता है, अतः असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

कारणभावाच्च ॥८३॥

कारण में कार्य का भाव (मिट्टी में घड़ा और तन्तु में वस्त्र) होने से, असत् का उत्पाद नहीं होता।

न भावे भावयोगश्चेत् ।।८४।।

कारण में कार्य का भाव रहने पर उसका उत्पत्ति के साथ सम्बन्ध बताना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न, अभिव्यक्तिनिबन्धनौ व्यवहाराव्यवहारौ ।।८५।।

यह आशंका ठीक नहीं क्योंकि व्यवहार या अव्यवहार अभिव्यक्ति-कारण से हैं। (किसी कार्य का प्रकट होना ही उत्पत्ति कहलाता है।)

नाशः कारणलयः ।।८६।।

नाश का अर्थ नष्ट होना, सर्वथा अभाव हो जाना नहीं है अपितु नाश का अर्थ है कारण में लय हो जाना, तिरोभाव हो जाना, छिप जाना।

पारम्पर्यतोऽन्वेषणा बीजांकुरवत् ।।८७।।

अभिव्यक्ति का बीज और अंकुर के समान परम्परा से अन्वेषण करना चाहिए।

उत्पत्तिवद्वाऽदोषः ।।८८।।

अथवा, उत्पत्ति की भाँति अभिव्यक्तिवाद में भी कोई दोष नहीं है। (जैसे उत्पत्तिवाद में कारण से कार्य की उत्पत्ति होती है, ऐसे ही अभिव्यक्तिवाद में भी कारण से कार्य की अभिव्यक्ति होती है।

हेतुमदनित्यं सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।।८९।।

जो कारणवाला है, अनित्य है, क्रियावाला है (जिसमें गति, अगति आदि क्रिया हैं) अनेक=विविधरूप है, आश्रित है, उसे कार्य कहते हैं।

आञ्जस्यादभेदतो वा गुणसामान्यादेस्तत्सिद्धिः प्रधानव्यपदेशाद्वा ।।९०।।

प्रत्यक्ष से अथवा गुणसामान्य (जाति, स्वभाव) आदि के अभेद से अथवा प्रधान के व्यपदेश=वर्णन से, कार्य और कारण में भेदाभेद सिद्ध होता है।

त्रिगुणाचेतनत्वादि द्वयोः ।।९१।।

मूलकारण प्रकृति और कार्यरूप स्थूल जगत्—दोनों में त्रिगुणत्व (सत्त्व, रज और तम) तथा अचेतनत्व=जड़त्व समान हैं।

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम् ।।९२।।

प्रीति=प्रसन्नता, अप्रीति=अप्रसन्नता, विषाद=मोहादि गुणों के भेद से गुणों का परस्पर वैधर्म्य=भिन्नता है।

लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणानाम् ।।९३।।

लघुत्व, चञ्चलता तथा गुरुत्व आदि धर्मों के कारण गुणों का परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य है।

उभयान्यत्वात् कार्यत्वं महदादेर्घटादिवत् ।।९४।।

प्रकृति और पुरुष दोनों से भिन्न होने के कारण महत्तत्त्व से लेकर भूत और इन्द्रियपर्यन्त कार्य हैं, घटादि के समान।

परिमाणात् ।।९५।।

परिमित होने से महत्तत्त्वादि कार्य हैं, यह सिद्ध होता है।

समन्वयात् ॥९६॥

कारण-अनुसार रूपवान् होने से भी महत्तत्त्वादि कार्य सिद्ध होता है।

शक्तितश्चेति ॥९७॥

और, शक्ति (साधन और योग्य) होने से भी महत् आदि कार्य हैं। सूत्र में इति पद का प्रयोग इस हेतु-परम्परा की समाप्ति का सूचक है।

तद्धाने प्रकृतिः पुरुषो वा ॥९८॥

यदि महदादि को कार्य न मानें तो उन्हें प्रकृति या पुरुष मानना पड़ेगा।

तयोरन्यत्वे तुच्छत्वम् ॥९९॥

यदि महदादि को प्रकृति-पुरुष से भिन्न मानें तो उनमें तुच्छता का भाव मानना पड़ेगा परन्तु उनका अस्तित्व है, अतः उन्हें तुच्छ न मानकर कार्यरूप मानना ही ठीक है।

कार्यात् कारणानुमानं तत्साहित्यात् ॥१००॥

घड़े में मिट्टी की भाँति कार्य के कारण में समावेश से, कारण में रहने से कार्य से कारण का ज्ञान होता है।

अव्यक्तं त्रिगुणाल्लिङ्गात् ॥१०१॥

तीनों गुणोंवाले महत्तत्त्व से अव्यक्त प्रकृति का अनुमान होता है।

तत्कार्यतस्तत्सिद्धेर्नापलापः ॥१०२॥

प्रकृति के कार्य महदादि के द्वारा प्रकृति के सिद्ध होने से उसका अपलाप=खण्डन नहीं किया जा सकता।

सामान्येन विवादाभावाद्धर्मवन्न साधनम् ॥१०३॥

चेतन आत्मा के सम्बन्ध में सामान्य रूप से विवाद न होने के कारण उसकी सिद्धि के लिए विशेष साधन, तर्कादि की अपेक्षा नहीं है, धर्म के समान। (जैसे धर्म के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं।)

शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ॥१०४॥

शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से आत्मा पृथक् है।

संहतपरार्थत्वात् ॥१०५॥

संघात (संघातरूप में विद्यमान समस्त जड़ तत्त्व) परार्थ=दूसरे के लिए होते हैं, अतः आत्मा शरीर से भिन्न है।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ॥१०६॥

सत्त्व, रजस् और तमस्—इनके परिणाम महदादि और जड़त्व से विपरीत एक विलक्षण चेतन आत्मा है।

अधिष्ठानाच्चेति ॥१०७॥

शरीर का अधिष्ठाता होने से भी आत्मा शरीर से पृथक् है। 'इति' पद परमात्मा और जीवात्मा के समान धर्मों के कथन की समाप्ति का सूचक है।

भोक्तृभावात् ॥१०८॥

भोक्त होने से भी आत्मा शरीर से पृथक् है।

कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥१०९॥

पुरुष मोक्ष के लिए प्रयत्नशील होता है, इसलिए भी वह शरीर से भिन्न है।

जडप्रकाशायोगात् प्रकाशः ॥११०॥

जड़ का आत्मा से मेल न होने के कारण चेतन आत्मा स्वतःसिद्ध है।

निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा ॥१११॥

आत्मा के निर्गुण (तमोगुण आदि रहित) होने से वह 'चित्' धर्मवाला, चेतन धर्मवाला नहीं है। (आत्मा चिन्मात्र है, चिद्धर्मा नहीं।)

श्रुत्या सिद्धस्य नापलापस्तत्प्रत्यक्षबाधात् ॥११२॥

श्रुति द्वारा प्रतिपादित आत्मा का चेतनस्वरूप या निर्गुण होना आत्म-साक्षात्कार से भी पुष्ट होता है।

सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम् ॥११३॥

सुषुप्ति आदि अवस्थाओं का साक्षी होता हुआ आत्मा शरीर से भिन्न चेतन, प्रकाशस्वरूप है।

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ॥११४॥

जन्म-मरण की विविध अवस्थाएँ होने से सिद्ध होता है कि आत्माएं अनेक हैं।

उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ॥११५॥

जैसे आकाश का घटादि के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार शरीर का नाश हो जाने पर भी एक आत्मा का अनेक शरीरों के साथ सम्बन्ध होता है।

उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ॥११६॥

शरीर का नाश हो जाता है परन्तु आत्मा का नाश नहीं होता।

एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ॥११७॥

यदि आत्मा एक है तो उस सर्वत्र व्याप्त पुरुष में एक ही समय में विरुद्ध धर्मों—'मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ'—का अनुभव होना सम्भव नहीं, अतः आत्माएँ अनेक हैं।

अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ॥११८॥

सुख-दुःख आदि को अन्य=अन्तःकरण आदि का धर्म मानकर आत्माओं में उनका आरोप मान लेने से भी उचित व्यवस्था की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि एक आत्मा होने पर वह एक ही समय में सुखी-दुःखी, बद्ध और मुक्त नहीं हो सकता।

नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ॥११९॥

आत्मा को अनेक मानने पर अद्वैतप्रतिपादक श्रुतियों के साथ विरोध नहीं होगा क्योंकि अद्वैत शब्द जातिपरक है। (जैसे अमुक पुरुष अद्वितीय है, अर्थात् उसके समान दूसरा नहीं है।)

विदितबन्धकारणस्य दृष्ट्या तद्रूपम् ॥१२०॥

जिस व्यक्ति ने विवेक द्वारा आत्मा के बन्धन का कारण जान लिया है ऐसे आत्मदर्शी योगी के विवेकज्ञान द्वारा आत्मा का वह चेतन रूप जाना जा सकता है।

नान्धादृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः ।।१२१।।

अन्धों को दिखाई न देने से नेत्रवालों के द्वारा भी न देखा जाना सिद्ध नहीं होता।

वामदेवादिर्मुक्तो नाद्वैतम् ।।१२२।।

वामदेव आदि मोक्ष को प्राप्त हुए, इससे भी आत्माओं का अनेक होना सिद्ध होता है।

अनादावद्य यावदभावाद् भविष्यदप्येवम् ।।१२३।।

अनादिकाल से आज तक संसार का उच्छेद न होने से भविष्य में भी संसार के उच्छेद की सम्भावना नहीं है। (आत्माओं के असंख्य होने के कारण उनका मोक्ष होते रहने पर भी संसार के उच्छेद की सम्भावना नहीं, अनादि क्रम के कारण।)

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ।।१२४।।

इस समय या सर्ग के समान सब कालों=सर्गों में संसार का अत्यन्त उच्छेद नहीं होगा क्योंकि पुरुष का परममोक्ष=ब्रह्म में लय नहीं होता।

व्यावृत्तोभयरूपः ।।१२५।।

परमात्मा प्रकृति और पुरुष दोनों से भिन्न है।

साक्षात्सम्बन्धात् साक्षित्वम् ।।१२६।।

प्रकृति तथा जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से और उनका अधिपति होने से परमात्मा साक्षी है।

नित्यमुक्तत्वम् ।।१२७।।

वह परमात्मा नित्य मुक्त है।

औदासीन्यं चेति ।।१२८।।

वह परमात्मा उदासीन वृत्तिवाला अर्थात् पक्षपातरहित है।

उपरागात्कर्त्तृत्वं चित्सान्निध्याच्चित्सान्निध्यात् ।।१२९।।

प्रकृति और जीवात्मा के साथ सम्बन्ध होने से उस आत्मा की कर्त्तृत्व शक्ति का प्रसार दिखाई देता है। 'चित्सान्निध्यात्' पद की द्विरुक्ति अध्याय-समाप्ति की सूचक है।

।। इति प्रथमोऽध्यायः ।।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य ॥१॥

प्रधान=प्रकृति का कर्त्तृत्व और प्रवृत्ति आत्मा के भोग और मोक्ष के लिए है।

विरक्तस्य तत्सिद्धेः ॥२॥

जिस मनुष्य को परवैराग्य हो गया है, वही मोक्ष का अधिकारी है।

न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात् ॥३॥

अनेक जन्मों की वासनाओं के बलवान् होने से केवल सुनने ही से परवैराग्य की सिद्धि नहीं होती। (मनन, निदिध्यासन और अनेक प्रयत्नों से अनादि वासना की निवृत्ति होती है।)

बहुभृत्यवद् वा प्रत्येकम् ॥४॥

जैसे कोई व्यक्ति अपने नौकरों की सन्तुष्टि के लिए बराबर प्रयत्नशील रहता है, वैसे ही प्रकृति भी अनन्त आत्माओं के भोग और अपवर्ग की सिद्धि के लिए प्रवृत्त रहती है।

प्रकृतिवास्तवे च पुरुषस्याध्याससिद्धिः ॥५॥

प्रकृति को वास्तविक मानने पर ही पुरुष के अध्यास (चेतन में अचेतन और अचेतन में चेतन) की सिद्धि हो सकती है। (इस सूत्र से जगन्मिथ्यावाद का खण्डन हो जाता है।)

कार्यतस्तत्सिद्धेः ॥६॥

जगद्रूप कार्यों के देखने से प्रकृति के कारणत्व की सिद्धि स्पष्ट है।

चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत् ॥७॥

चेतन के उद्देश से प्रकृति की प्रवृत्ति होने के कारण एक व्यवस्था है कि प्रत्येक आत्मा का एक-साथ भोग या मोक्ष नहीं होता। विवेकी काँटे से काँटा निकालने के समान प्रकृति से मोक्ष प्राप्त करता है, अविवेकी भोग में लिप्त रहता है।

अन्ययोगेऽपि तत्सिद्धिर्नाञ्जस्येनायोदाहवत् ॥८॥

प्रकृति के साथ पुरुष=परमात्मा का सहयोग होने पर भी पुरुष वास्तव में सृष्टि का कारण नहीं हो सकता, जैसे लोहा और अग्नि का संयोग होने पर लोहा अग्नि नहीं हो जाता।

रागविरागयोर्योगः सृष्टिः ॥९॥

अचेतन प्रकृति के साथ चेतन परमात्मा के प्रेरणात्मक सहयोग से सृष्टि-रचना होती है; अथवा राग और द्वेष, भोग और अपवर्ग का योग ही सृष्टि कहलाती है।

महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम् ॥१०॥

महत्तत्त्वादि क्रम से पाँच भूतों की सृष्टि होती है। (द्रष्टव्य १।२६ से ३८ सूत्र)

आत्मार्थत्वात् सृष्टेर्नैषामात्मार्थ आरम्भः ॥११॥

महदादि की सृष्टि आत्मा के मोक्ष के लिए है, इनकी अपने लिए उत्पत्ति नहीं हुई है।

दिक्कालावाकाशादिभ्यः ॥१२॥

दिशा और काल आकाशस्वरूप से भिन्न नहीं हैं (अतः सर्गरचना में उनका पृथक् निर्देश नहीं किया गया।) अथवा जो दिशा और काल व्यवहार में लाये जाते हैं, उनका निश्चय आकाशादि से करना चाहिए।

अध्यवसायो बुद्धिः ॥१३॥

पुरुषशरीर में जो निश्चय करनेवाली वृत्ति है, उसे बुद्धि कहते हैं। यह सत्त्व-स्वरूपवाली होती है।

तत्कार्यं धर्मादि ॥१४॥

उस बुद्धि के अन्य कार्य हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्यों की प्रवृत्ति। ये रजोगुण के प्राधान्य से होते हैं।

महदुपरागाद् विपरीतम् ॥१५॥

जब बुद्धि तमोगुण से संयुक्त होती है तब अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य प्रकट होते हैं।

अभिमानोऽहंकारः ॥१६॥

पुरुषशरीर में अभिमान वृत्तिवाला अहंकार कहलाता है।

एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम् ॥१७॥

मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राएँ (रूप, रस आदि) अहंकार के कार्य हैं।

सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्त्तते वैकृतादहंकारात् ॥१८॥

सत्त्वप्रधान अहंकार से इन्द्रियों में ग्यारहवीं संख्यावाला सत्त्वप्रधान मन अभि-व्यक्त होता है।

कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम् ॥१९॥

पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—इन दशों के साथ जो आन्तरिक इन्द्रिय मन हैं, वह ग्यारहवीं संख्यावाला है।

आहंकारिकत्वश्रुतेर्न भौतिकानि ॥२०॥

अहंकार से उत्पन्न होने में श्रुतिप्रमाण होने से इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न होनेवाली नहीं हैं। (तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अहंकार से उत्पन्न होती हैं, भूतों से नहीं।)

देवतालयश्रुतिर्नारम्भकस्य ॥२१॥

श्रुति से विदित होता है कि इन्द्रियाँ देवताओं=भौतिक दिव्य गुणों में लीन हो जाती हैं। परन्तु लय होना एक बात है और उत्पन्न होना दूसरी बात। इन्द्रियाँ भूतों से उत्पन्न नहीं होतीं। इन्द्रियों के भूतों से उत्पन्न होने में कोई श्रुतिप्रमाण भी नहीं है।

तदुत्पत्तिश्रुतेर्विनाशदर्शनाच्च ॥२२॥

अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति में श्रुतिप्रमाण भी है और इन्द्रियों का अहंकार में लय देखा जाता है, अतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं; अथवा इन्द्रियों की उत्पत्ति-विषयक श्रुति होने से और इन्द्रियों का नाश देखे जाने से इन्द्रियाँ नित्य नहीं हैं अपितु अनित्य हैं।

अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने ॥२३॥

इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष नहीं हैं अपितु अत्यन्त सूक्ष्म हैं, अतीन्द्रिय हैं। बाहर के गोलक में इन्द्रिय-प्रतीति अज्ञानियों को होती है।

शक्तिभेदेऽपि भेदसिद्धौ नैकत्वम् ॥२४॥

इन्द्रियशक्तियों के भिन्न-भिन्न (गन्धग्रहण शक्ति आदि) होने पर इन्द्रियों के भेद की सिद्धि होती है, अतः इन्द्रिय एक नहीं, अनेक हैं।

न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य ॥२५॥

अपने-अपने विषय का ग्रहण करने रूप प्रत्यक्षप्रमाण से सिद्ध भेद का कल्पना= अनुमान से विरोध करना ठीक नहीं।

उभयात्मकं मनः ॥२६॥

मन का सम्बन्ध ज्ञान और कर्म दोनों प्रकार की इन्द्रियों के साथ है।

गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ॥२७॥

सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों के परिणामभेद से मन का नानात्व है (अनेकता है) देह में होनेवाली अवस्थाओं के समान।

रूपादिरसमलान्त उभयोः ॥२८॥

ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—दोनों के रूप आदि से लेकर रस-मल-पर्यन्त गुण हैं। (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों के तथा श्रवण, ग्रहण, गमन, आनन्द और मलत्याग, वाणी आदि कर्मेन्द्रियों के गुण हैं।)

द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम् ॥२९॥

द्रष्टृत्व=द्रष्टापन आदि आत्मा के धर्म हैं और करण=साधन होना इन्द्रियों का धर्म है। (आत्मा द्रष्टा है और इन्द्रियाँ उसके साधन हैं।)

त्रयाणां स्वालक्षण्यम् ॥३०॥

महत्=बुद्धि, अहंकार और मन—तीनों का अपना-अपना जो विशेष लक्षण है वही इनका असाधारण व्यापार है। बुद्धि का निश्चय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प।

सामान्या करणवृत्तिः प्राणाद्या वायवः पञ्च ॥३१॥

प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये पाँचों प्राण जो वायुरूप हैं सब करणों (पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, बुद्धि, अहंकार और मन—इन तेरह करणों) की साधारण वृत्ति=व्यापार है।

क्रमशोऽक्रमशश्चेन्द्रियवृत्तिः ॥३२॥

ग्यारह इन्द्रियों का व्यापार क्रमशः (एक-एक विषय में एक-एक इन्द्रिय का) और बिना क्रम, एक-साथ अनेक विषयों में होता है।

वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ।।३३।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच वृत्तियाँ हैं। इनके दो भेद हैं—एक क्लिष्ट=संसार-सागर में डुबोनेवाली और दूसरी अक्लिष्ट=मोक्ष की ओर ले जानेवाली।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।।३४।।

इन्द्रिय-वृत्तियों के निवृत्त हो जाने पर विषयों का प्रभाव शान्त होकर पुरुष अपने आत्मस्वरूप में स्थित होता है और कैवल्यानन्द को प्राप्त करता है।

कुसुमवच्च मणिः ।।३५।।

जैसे स्फटिक मणि फूल के सम्पर्क में रंग-बिरंगी भासती है और फूल के हटाने से स्वरूपतः शुद्ध रहती है, वैसे ही इन्द्रिय-वृत्तियों के शान्त हो जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है।

पुरुषार्थं करणोद्भवोऽप्यदृष्टोल्लासात् ।।३६।।

आत्मा के अदृष्ट=शुभाशुभ कर्मों के अनुसार करणों (अन्तःकरण और बहिष्करण) की प्रवृत्ति होती है, जो पुरुषार्थ के साधक हैं।

धेनुवद्वत्साय ।।३७।।

जैसे गौ बछड़े के लिए दूध स्रवित करने के लिए प्रवृत्त होती है वैसे ही आत्मा के लिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति होती है, उसे भोग प्रदान करने के लिए।

करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात् ।।३८।।

बाह्य-आभ्यन्तरभेद से करण=इन्द्रियाँ तेरह हैं। (पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, बुद्धि, अहंकार और मन।)

इन्द्रियेषु साधकतमत्वयोगात् कुठारवत् ।।३९।।

इन्द्रियों के अतिशय साधक होने के कारण इन्द्रियों में करण का व्यवहार होता है, कुल्हाड़े के समान। (जैसे लकड़ी काटने के लिए हाथ से प्रहार करते हुआ कुल्हाड़ा करण कहलाता है, वैसे ही बाह्य विषय को बुद्धि तक पहुँचाने में इन्द्रियों का अतिशय सहयोग होने के कारण वे करण कहलाती हैं।)

द्वयोः प्रधानं मनो लोकवद् भृत्यवर्गेषु ।।४०।।

बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार की इन्द्रियों में मन प्रधान है, मुख्य है, जैसे लोक में भृत्यों=नौकरों में स्वामी प्रधान होता है।

अव्यभिचारात् ।।४१।।

कोई भी इन्द्रिय मन के सहयोग के बिना कोई कार्य नहीं कर सकती। इस नियम का कभी अव्यभिचार=अपवाद, उल्लंघन न होने से मन प्रधान है।

तथाऽशेष संस्काराधारत्वात् ।।४२।।

समस्त संस्कारों का आधार होने से बुद्धि सब करणों में प्रधान है।

स्मृत्यानुमानाच्च ।।४३।।

स्मृति=चिन्तनरूपवृत्ति के द्वारा भी बुद्धि के प्रधान होने का अनुमान होता है।

(स्मृति संस्कार के बिना सम्भव नहीं और संस्कारों का आधार बुद्धि है, अतः बुद्धि की प्रधानता है।)

सम्भवेन्न स्वतः ।।४४।।

करणों की प्रवृत्ति स्वतः सम्भव नहीं। (क्योंकि अचेतन प्रकृति का परिणाम होने से ये अचेतन हैं।)

आपेक्षिको गुणप्रधानभावः क्रियाविशेषात् ।।४५।।

करणत्व तो सब इन्द्रियों में समान है परन्तु कर्मभेद (विशेष व्यापार) से इन्द्रियाँ एक-दूसरे की अपेक्षा गौण या मुख्य हैं।

तत्कर्मार्जितत्वात्तदर्थमभिचेष्टा लोकवत् ।।४६।।

आत्मा के कर्मानुसार अर्जित होने से आत्मा के लिए इन्द्रियों की प्रवृत्ति है जैसे लोक में मनुष्य ने किराया देकर गाड़ी ली, वह उसके उपभोग के लिए होती है।

समानकर्मयोगे बुद्धेः प्राधान्यं लोकवल्लोकवत् ।।४७।।

पुरुष के अर्थ-साधन के लिए सब करणों का प्रयोजन=साधनरूप कर्म समान होने पर भी बुद्धि की प्रधानता है, सर्वश्रेष्ठ होने से, जैसे लोक में जो अन्तरङ्गतम होता है, उसकी प्रधानता होती है। 'लोकवत्' पद का दो वार प्रयोग अध्याय-समाप्ति का सूचक है।

।। इति द्वितीयोऽध्यायः ।।

अथ तृतीयोऽध्यायः

अविशेषाद् विशेषारम्भः ॥१॥

अविशेषों=तन्मात्राओं, सूक्ष्मभूतों से स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है।

तस्माच्छरीरस्य ॥२॥

स्थूलभूतों से स्थूलशरीर का और सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्मशरीर का निर्माण होता है।

तद्बीजात् संसृतिः ॥३॥

स्थूलशरीर के बीजभूत तन्मात्राओं से निर्मित वासनायुक्त सूक्ष्मशरीर से आत्माओं का एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन होता है।

आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ॥४॥

और, उन बीजरूप तन्मात्राओं की स्थूलशरीर-निर्माणार्थ प्रवृत्ति तब तक रहती है जब तक विवेकज्ञान नहीं हो जाता।

उपभोगादितरस्य ॥५॥

स्थूलशरीर की प्रवृत्ति जब तक उपभोग हैं, तब तक बनी रहती है।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ॥६॥

उपभोगकाल में आत्मा स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से आबद्ध रहता है।

मातापितृजं स्थूलं प्रायशः इतरन्न तथा ॥७॥

स्थूलशरीर प्रायः (सर्गारम्भ में अमैथुन, अयोनिज होता है) माता-पिता से उत्पन्न होता है परन्तु सूक्ष्मशरीर माता-पिता में से किसी का भी नहीं होता।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ॥८॥

सृष्टि के आदि में उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मशरीर के भोग से केवल सूक्ष्मशरीर का भोग है, स्थूलशरीर का नहीं, ऐसा कहना असंगत होगा, अतः भोग स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरों का कार्य है। (न केवल सूक्ष्मशरीर से भोग सम्भव है और न केवल स्थूल शरीर से।)

सप्तदशैकं लिङ्गम् ॥९॥

पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच सूक्ष्मभूत=तन्मात्राएँ, मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों का लिङ्ग=सूक्ष्मशरीर होता है।

व्यक्तिभेदः कर्मविशेषात् ॥१०॥

कर्मभेद के कारण व्यक्तियों के शरीरों की भिन्नता है।

तदधिष्ठानाश्रये देहे तद्वादात् तद्वादः ॥११॥

आत्मा के अधिष्ठान लिङ्ग=सूक्ष्मशरीर के आश्रय स्थूलशरीर में देह पद का प्रयोग होने से उसके सम्बन्ध द्वारा सूक्ष्मशरीर में देह पद का व्यवहार होता है।

न स्वातन्त्र्यात् तदृते छायावच्चित्रवच्च ॥१२॥

स्थूलशरीर के बिना सूक्ष्मशरीर स्वतन्त्ररूप से नहीं रह सकता जैसे छाया या चित्र बिना आश्रय के नहीं रह सकता।

मूर्त्तत्वेऽपि न सङ्घातयोगात् तरणिवत् ॥१३॥

सूक्ष्मशरीर संघात के योग से मूर्त्त अतएव जड़ होने के कारण भोक्ता नहीं हो सकता, सूर्य के समान। (सूर्य प्रकाशस्वरूप है परन्तु जड़ होने के कारण परार्थ है, स्वयं भोक्ता नहीं।)

अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुतेः ॥१४॥

सूक्ष्मशरीर=मन अणु परिमाणवाला है, उसकी उत्पत्ति में श्रुतिप्रमाण होने से।

तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ॥१५॥

वह सूक्ष्मशरीर=मन अन्नमय है, ऐसी श्रुति होने से भी सूक्ष्मशरीर अणु परिमाण-वाला माना जाना चाहिए।

पुरुषार्थं संसृतिर्लिङ्गानां सूपकारवद्राज्ञः ॥१६॥

सूक्ष्मशरीररूपी करण का संसरण (एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन) चेतन आत्मा के लिए है, राजा के रसोइया की भाँति। (जैसे रसोइया राजा के लिए दौड़-धूप करता है।)

पाञ्चभौतिको देहः ॥१७॥

हमारा स्थूलशरीर पृथिवी आदि पाँच भूतों से बना है।

चातुर्भौतिकमित्येके ॥१८॥

कुछ आचार्य इसे आकाश के बिना पृथिवी आदि चार भूतों से निष्पन्न मानते हैं।

एकभौतिकमित्यपरे ॥१९॥

कुछ आचार्य स्थूलशरीर को एक भूत पृथिवी-मात्र से बना हुआ मानते हैं।

न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः ॥२०॥

देह में चैतन्य भूतों से उत्पन्न नहीं हुआ है, क्योंकि किसी भी भूत में चेतनता नहीं है।

प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च ॥२१॥

भौतिक देह को चेतन स्वीकार किया जाए तो समस्त जड़जगत् का तथा मरण, सुषुप्ति और मूर्च्छा का अभाव हो जाए।

मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः ॥२२॥

जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बनी मदिरा में मदशक्ति प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार देह में भी चैतन्य माना जाए तो ठीक नहीं क्योंकि सूक्ष्मरूप से प्रत्येक मादक द्रव्य में मदशक्ति होने के कारण उसके घोल में भी मादकता का उद्भव हो जाता है।

ज्ञानान्मुक्तिः ॥२३॥

ज्ञान से, तत्त्वज्ञान से, जड़-चेतन के भेद-साक्षात्कार से मोक्ष प्राप्त होता है।

बन्धो विपर्ययात् ॥२४॥

अज्ञान=अविवेक से बन्धन होता है।

नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ ॥२५॥

मुक्ति-प्राप्ति में ज्ञान अनिवार्य कारण है, अतः इस ज्ञान का न तो किसी अन्य साधन के साथ समुच्चय है और न ही विकल्प।

स्वप्नजागराभ्यामिव मायिकामायिकाभ्यां नोभयोर्मुक्तिः पुरुषस्य ॥२६॥

जैसे स्वप्न और जाग्रत अवस्था सर्वथा भिन्न हैं, स्वप्नावस्था कल्पित है और जाग्रत अवस्था अकल्पित, इन दोनों का समुच्चय नहीं हो सकता विकल्प होने से और विकल्प भी नहीं हो सकता भिन्न-भिन्न फल होने से, इसी प्रकार कर्म और ज्ञान के समुच्चय के सम्बन्ध में जानना चाहिए, अतः ज्ञान और कर्म के समुच्चय या विकल्प से मुक्ति नहीं होती।

इतरस्यापि नात्यन्तिकम् ॥२७॥

ज्ञान ही मोक्ष का साधन है, यज्ञादि कर्म मोक्षफल के देनेवाले नहीं हैं।

संकल्पितेऽप्येवम् ॥२८॥

संकल्प=मानसिक जप अथवा योगी का संकल्प भी मुक्तिफल को देनेवाला नहीं है।

भावनोपचयाच्छुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत् ॥२९॥

शुद्धान्तःकरण योगी समाधि-भावना की अत्युत्कृष्ट योगज शक्ति के कारण वह सब-कुछ कर सकता है जो प्रकृति-नियम के अनुकूल है।

रागोपहतिर्ध्यानम् ॥३०॥

संसार में आसक्ति अथवा ऐन्द्रिय भोगों में प्रवृत्ति का नाम राग है। इस राग की निवृत्ति ध्यान है, मन का स्थिर होना है।

वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः ॥३१॥

प्रमाण आदि पांच वृत्तियों के निरोध से ध्यान की सिद्धि होती हैं।

धारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः ॥३२॥

धारणा, आसन और स्वकर्म से वृत्तियों का निरोध होता है।

निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम् ॥३३॥

धारणारूप प्राण के छर्दन=वमन की भाँति वेग से प्राण को बाहर निकालने और विधारण=प्राण के रोकने से इन्द्रियवृत्ति का निरोध होता है।

स्थिरसुखमासनम् ॥३४॥

जिससे स्थिरता एवं सुखपूर्वक दीर्घकाल तक ध्यान में बैठ सकें उस अवस्था का नाम आसन है।

स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ॥३५॥

अपने आश्रम=मुमुक्षुत्व, संन्यासाश्रम के लिए विहित कर्म अहिंसा आदि का अनुष्ठान स्वकर्म कहलाता है।

वैराग्यादभ्यासाच्च ॥३६॥

वैराग्य और अभ्यास से वृत्तिनिरोध होकर समाधिलाभ होता है।

विपर्ययभेदाः पञ्च ॥३७॥

ज्ञान के प्रतिपक्षी=मिथ्या ज्ञान के (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) पाँच भेद हैं।

अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु ॥३८॥

अशक्ति अट्ठाइस प्रकार की है। इन्द्रियविघात, इन्द्रियशक्ति का अभाव ही अशक्ति है। (ग्यारह इन्द्रियों के कारण ग्यारह अशक्तियाँ हुईं। नौ तुष्टि और आठ सिद्धियाँ हैं। इन सत्रह के विघात के आधार पर सत्रह अशक्तियाँ और हैं। इस प्रकार अट्ठाइस अशक्तियाँ हैं।)

तुष्टिर्नवधा ॥३९॥

तुष्टि नौ प्रकार की है। (द्रष्टव्य सूत्र ४३)

सिद्धिरष्टधा ॥४०॥

सिद्धि आठ प्रकार की है। (द्रष्टव्य सूत्र ४४)

अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ॥४१॥

विपर्यय के सामान्य अवान्तर भेद वे हैं जो पहले (सूत्र ३४ में) कह दिये गये हैं। (विशेष भेद बासठ हैं।)

एवमितरस्याः ॥४२॥

इसी प्रकार अशक्ति के भेदों का विवेचन कर लेना चाहिए।

आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ॥४३॥

आध्यात्मिक आदि भेद से तुष्टि नौ प्रकार की है। (प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य—यह चार प्रकार की आध्यात्मिक तुष्टि है तथा पार, सुपार, पारावार, अनुत्तमाम्भ और उत्तमाम्भ—यह पाँच प्रकार की बाह्य तुष्टि है।)

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ॥४४॥

ऊह आदि भेदों से सिद्धि आठ प्रकार की है। (ऊह, शब्द, अध्ययन, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःखों का विनाश तथा सुहृत्-प्राप्ति एवं दान—ये आठ सिद्धियाँ हैं।)

नेतरादितरहानेन विना ॥४५॥

ऊह आदि से भिन्न विपर्यय आदि का हान=विघात, नाश हुए बिना अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती।

दैवादिप्रभेदा ॥४६॥

सृष्टि दैव आदि (तिर्यक् और मानुष) के भेदवाली है। (ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच—ये आठ देव-प्रभेद हैं। पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर—यह पाँच प्रकार का तिर्यक् सर्ग है। ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल-पर्यन्त मानव-मात्र का एक ही सर्ग है।)

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ।।४७।।

ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त सृष्टि आत्मा के भोग और अपवर्ग प्रदान करने के लिए उत्पन्न हुई है और विवेकज्ञान होने तक प्रवृत्त रहती है।

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ।।४८।।

दैव सृष्टि सत्त्वगुणप्रधान होती है अथवा सतोगुणी पुरुष उच्च गति को प्राप्त करते हैं, श्रेष्ठ माता-पिता के यहाँ जन्म लेते हैं।

तमोविशाला मूलतः ।।४९।।

तिर्यक् तथा स्थावर की सृष्टि तमोगुणप्रधान होती है।

मध्ये रजोविशाला ।।५०।।

मनुष्य-सृष्टि रजोगुणप्रधान होती है।

कर्मवैचित्र्यात् प्रधानचेष्टा गर्भदासवत् ।।५१।।

कर्मों की विचित्रता से प्रकृति की विविध प्रकार की सृष्टि रचने की प्रवृत्ति होती है, गर्भदास के समान। (जैसे दास के घर में उत्पन्न हुआ व्यक्ति सेवा-कर्म में स्वभावतः चतुर होता है, वैसे ही प्रकृति भी स्वभावतः पुरुष के निमित्त विविध चेष्टा करती है।)

आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ।।५२।।

ऊँची गति=ऊर्ध्वलोकप्राप्ति ही मोक्ष है, ऐसा विचार त्याज्य है क्योंकि वहाँ पर भी उत्तरोत्तर योनि=जन्मसम्बन्ध होने से पुनः-पुनः दुःखरूपी संसार में लौटना पड़ता है।

समानं जरामरणादिजं दुःखम् ।।५३।।

नीच योनि से लेकर ऊँच योनि तक—सब योनियों में जरा=बुढ़ापा और मृत्यु का दुःख समान है, अतः ऊँची योनियों में भी कृतकृत्यता नहीं है।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।।५४।।

कारणलय से, प्रकृति में तल्लीन होकर उसका साक्षात्कार कर लेने से कृतकृत्यता नहीं होती, पुनरावृत्ति का अभाव नहीं होता। यह स्थिति जलाशय में डुबकी लगाए हुए मनुष्य के समान है, जिसका पुनरुत्थान होता है।

अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ।।५५।।

प्रकृति के कार्य न होने पर भी वह कार्यरूप में परिणत होती है, परवशवर्ती होने के कारण। अथवा, ईश्वर का कार्य-परिणाम न होने पर भी उसका जगत् से सम्बन्ध है, जगत् के परवश होने के कारण।

स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता ।।५६।।

वह परमात्मा सर्वान्तर्यामी और सब जगत् का कर्त्ता है। (प्रकृति सृष्टि का उपादानकारण और सर्वज्ञ परमात्मा निमित्त कारण है।)

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।।५७।।

इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि इस शास्त्र में दृढ़तापूर्वक की गई है।

प्रधानसृष्टिः परार्थं स्वतोऽप्यभोक्तृत्वात् उष्ट्रकुंकुमवहनवत् ।।५८।।

प्रकृति से सृष्ट जगत् आत्मा के लिए है क्योंकि प्रकृति स्वयं भोग करनेवाली नहीं

है। जैसे ऊँट का केशर ढोना दूसरे के लिए है वैसे ही प्रकृति की सृष्टि स्वार्थ न होते हुए दूसरे=पुरुष के लिए है।

अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ।।५९।।

प्रकृति के अचेतन होने पर भी, माता के स्तनों में बच्चे के लिए दूध की प्रवृत्ति के समान ब्रह्म की प्रेरणा से प्रकृति आत्मा के लिए प्रवृत्त होने लगती है।

कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ।।६०।।

काल=ऋतु आदि की क्रियाओं के समान प्रकृति परमात्मा की प्रेरणा से कार्य-रूप जगत् को उत्पन्न करती है। ऋतु आदि क्रियायें यथासमय होतीं हैं, यह देखा जाता है।

स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ।।६१।।

प्रकृति विना किसी स्वार्थ के सेवक के समान स्वभाव से प्रवृत्त होती है।

कर्माकृष्टेर्वानादितः ।।६२।।

अथवा, अनादि काल से कर्मों के प्रभाव से प्रकृति चेष्टा करती है, सृष्टिरूप में परिवर्तित होती है।

विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ।।६३।।

विवेकज्ञान हो जाने पर उस आत्मा के लिए प्रकृति की सृष्टि समाप्त हो जाती है जैसे भोजन पक जाने पर पाचक रसोई से निवृत्त हो जाता है।

इतर इतरवत्तद्दोषात् ।।६४।।

बद्ध आत्मा दूसरे बद्ध आत्माओं के समान अपने अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में बना रहता है।

द्वयोरेकतरस्य वौदासीन्यमपवर्गः ।।६५।।

प्रकृति और पुरुष दोनों का एक-दूसरे से उदासीन=विरक्त हो जाना अपवर्ग है। अथवा, इन दोनों में से चेतन आत्मा का विवेकज्ञान हो जाने के कारण प्रकृति के सम्पर्क में न रहना अपवर्ग कहलाता है।

अन्यसृष्ट्युपरागेऽपि न विरज्यते प्रबुद्धरज्जु तत्त्वस्येवोरगः ।।६६।।

तत्त्वज्ञानी के प्रति सृष्टि कार्य से निवृत्त हो जाती है परन्तु अविवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति सृष्टि-रचना करने से विरक्त नहीं होती, जैसे रस्सी के वास्तविक रूप को जान लेनेवाले पुरुष को सर्पभय नहीं रहता परन्तु दूसरे को बराबर भय बना रहता है।

कर्मनिमित्तयोगाच्च ।।६७।।

जिनके कर्म अवशिष्ट हैं, उनके फलयोग के लिए प्रकृति प्रवृत्त रहती है, सृष्टि का निर्माण होता रहता है।

नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्युपकारेऽविवेको निमित्तम् ।।६८।।

प्रकृति निरपेक्ष है, परन्तु जब तक अविवेक है तब तक प्रकृति आत्मा के भोगा-पवर्गरूप उपकार में प्रवृत्त रहती है।

नर्तकीवत् प्रवृत्तस्यापि निवृत्तिश्चारितार्थ्यात् ॥६९॥

जिस प्रकार नर्तकी सफल होने पर नाचना बन्द कर देती है, उसी प्रकार तत्त्व-ज्ञान—विवेक हो जाने पर प्रवृत्तिशील प्रकृति भी मुक्तात्माओं के प्रति निवृत्त हो जाती है।

दोषबोधेऽपि नोपसर्पणं प्रधानस्य कुलवधूवत् ॥७०॥

जैसे कुलवधू अपना दोष प्रकट हो जाने पर पुरुष के पास जाने का साहस नहीं करती अपितु सकुचाती है, उससे निवृत्त होती है, वैसे ही प्रकृति अपने परिणाम, ताप, दुःख आदि दोषों के जान लिये जाने पर लज्जाशील-सी बनी हुई ज्ञानी के सम्मुख जाने को प्रोत्साहित नहीं होती।

नैकान्ततो बन्धमोक्षौ पुरुषस्याविवेकादृते ॥७१॥

पुरुष का बन्ध और मोक्ष स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत अविवेक के कारण है।

प्रकृतेराञ्जस्यात् ससङ्गत्वात् पशुवत् ॥७२॥

पुरुष का बन्ध और मोक्ष प्रकृति के संसर्ग से होता है, जैसे पशु खूंटे के संग रस्सी द्वारा बांधा जाता है और जब रस्सी का संयोग नहीं रहता तब मुक्त हो जाता है।

रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेन रूपेण ॥७३॥

प्रकृति सात रूपों (धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य—ये आठ प्रकृतिजनित हैं। इनमें ज्ञान को छोड़कर शेष सात आत्मा के बन्धन का कारण हैं) से आत्मा को बांधती है और एक रूप—ज्ञान से मुक्त करती है रेशम-कीट क समान। (रेशम का कीड़ा रेशम के खोल से सब ओर से आवेष्टित रहता है, एक द्वार से निकल जाता है। कोशकार का दृष्टान्त इसी रूप में दिया गया है।)

निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः ॥७४॥

अविवेक ही बन्धन का मुख्य कारण है, अतः अविवेक को दूर करने के लिए धर्मानुष्ठान आदि चित्तशोधक कर्म करने में कोई हानि नहीं है।

तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद् विवेकसिद्धिः ॥७५॥

आत्मतत्त्व के अभ्यास से न तो विकार आत्मा है और न मूलप्रकृति आत्मा है, इस त्यागरूप भावना से विवेक की सिद्धि होती है।

अधिकारिप्रभेदान्न नियमः ॥७६॥

मृदु, मध्य और अधिमात्र अधिकारियों के भेद से सबको समान रूप से एक-साथ मोक्ष हो जाने का नियम नहीं है।

बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः ॥७७॥

विवेक अवस्था में भी कर्मों की अनुवृत्ति से दुःखों का उपभोग बना रहता है। (विवेकज्ञान होते ही तत्काल शरीरपात नहीं होता।)

जीवन्मुक्तश्च ॥७८॥

ऐसा व्यक्ति जीवित रहता हुआ भी मुक्त है, अतः वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

उपदेश्योपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः ॥७९॥

उपदेश्य (विवेकार्थी उपदेश्य है) का उपदेष्टा होना चाहिए, अतः जीवन्मुक्त का होना सिद्ध होता है।

श्रुतिश्च ॥८०॥

जीवन्मुक्त की अस्तित्वसिद्धि में श्रुति भी प्रमाण है।

इतरथाऽन्धपरम्परा ॥८१॥

यदि जीवन्मुक्त उपदेष्टा न हो तो लोक में अन्धपरम्परा चल जाए।

चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः ॥८२॥

जैसे कुम्हार का चाक डण्डे से घुमाया हुआ डण्डे के हटा लेने पर भी कुछ काल तक घूमता रहता है, वैसे ही जीवन्मुक्त भी शरीर धारण किये रहता है।

संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ॥८३॥

किये हुए कर्मों के संस्कार शेष रह जाने से जीवन्मुक्त के शरीरधारण की सिद्धि है।

विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात् ॥८५॥

पूर्णविवेक से सब दुःखों की निवृत्ति होती है, तभी मनुष्य कृतकृत्य होता है, विवेकज्ञान के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं, और कोई मार्ग नहीं।

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

राजपुत्रवत् तत्त्वोपदेशात् ॥१॥

तत्त्वज्ञान के उपदेश से विवेक हो जाता है, राजपुत्र की भाँति। (अपने-आपको भील का पुत्र समझनेवाला राजकुमार मन्त्री के उपदेश से अपने-आपको भील समझने की मिथ्या भावना से मुक्त होकर राजकुमार समझने लग गया।)

पिशाचवदन्यार्थोपदेशेऽपि ॥२॥

दूसरे को दिये जाते हुए उपदेश को सुनकर भी समीपस्थ श्रोता को विवेक हो जाता है, पिशाच की भाँति। (जैसे श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये जाते हुए उपदेश को सुनकर भील को विवेक हो गया था।)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥३॥

वेद में एक से अधिक बार श्रवण का उपदेश है, अतः पुनः-पुनः उपदेश सुनना चाहिए। बार-बार दुहराना ज्ञान का साधन है।

पितापुत्रवदुभयोर्दृष्टत्वात् ॥४॥

पिता की मृत्यु और पुत्र का जन्म दोनों के देखे जाने से वैराग्यवान् होकर विवेक हो जाता है।

श्येनवत् सुखदुःखी त्यागवियोगाभ्याम् ॥५॥

जैसे बाज़ पक्षी मांस छीन लिये जाने पर दुःखी और स्वयं इच्छापूर्वक उसका त्याग कर देने पर सुखी होता है, वैसे ही विवेकी पुरुष इच्छापूर्वक सबका त्याग करके सुखी होता है।

अहिर्निर्ल्वयिनीवत् ॥६॥

जैसे सर्प शरीरस्थ जीर्ण केंचुली को हेय समझकर त्याग देता है वैसे ही विवेकी दीर्घकाल तक भोगी हुई सृष्टि को विवेक से त्यागकर सुखी होता है।

छिन्नहस्तवद्वा ॥७॥

जैसे कटे हुए हाथ को फिर कोई व्यक्ति लेना नहीं चाहता, इसी प्रकार मुमुक्षु को परित्यक्त विषयों का चिन्तन नहीं करना चाहिए।

असाधनानुचिन्तनं बन्धाय भरतवत् ॥८॥

जो वस्तु मोक्ष का साधन नहीं है, उसका चिन्तन न करे क्योंकि वह बन्धन का हेतु है जैसे राजा भरत हिरण के बच्चे के चिन्तन से बन्ध में फँस गया।

बहुभिर्योगे विरोधो रागादिभिः कुमारीशङ्खवत् ॥९॥

बहुत-से लोगों के साथ सङ्ग और राग-द्वेष आदि विरोधीभाव ध्यान में विघ्नरूप हैं, जैसे कुमारी के हाथों में चूड़ियाँ।

द्वाभ्यामपि तथैव ॥१०॥

दो मनुष्यों के एक-साथ रहने पर भी राग-द्वेष आदि के कारण विरोध होना सम्भव है, अतः विवेकी को एकाकी रहना ही ठीक है।

निराशः सुखी पिंगलावत् ॥११॥

विवेकी मनुष्य आशा को त्यागकर सुखी होता है, पिंगला नामक वेश्या के समान। योगी को आशा छोड़कर वैराग्य के साथ योगमार्ग का अवलम्बन लेना चाहिए।

अनारम्भेऽपि परगृहे सुखी सर्पवत् ॥१२॥

विवेकी जन अपना घर आदि न रखने पर भी दूसरों के घर में सुखी होता है, सांप के समान।

बहुशास्त्रगुरूपासनेऽपि सारादानं षट्पदवत् ॥१३॥

बहुत-से शास्त्रों और गुरुओं की उपासना में भी सार का ही ग्रहण करना चाहिए जैसे मधुकर=भौंरा फूलों से रस ग्रहण करता है।

इषुकारवन्नैकचित्तस्य समाधिहानिः ॥१४॥

बाण चलानेवाले के समान एकाग्रचित्त पुरुष की समाधि भङ्ग नहीं होती।

कृतनियमलङ्घनादार्थक्यं लोकवत् ॥१५॥

स्वीकार किये हुए नियमों का उल्लंघन करने से असफलता मिलती है जैसे लोक-व्यवहार के नियमों का उल्लंघन करने से अव्यवस्था हो जाती है।

तद्विस्मरणेऽपि भेकीवत् ॥१६॥

नियम के भूल जाने पर भी असफलता प्राप्त होती है, भेकी के समान।

(भेकी की कथा का सार यह है—एक राजकुमार ने एक भेकी कन्या के साथ इस शर्त पर विवाह किया कि वह उसे पानी में प्रवेश न करने देगा। कालान्तर में एक दिन राजकुमारी ने क्रीड़ा से परिश्रान्त होकर राजकुमार से जलाशय पूछा। राजकुमार को शर्त विस्मृत हो गई। उसने जलाशय बता दिया। राजकुमारी जलाशय में प्रविष्ट होकर डूब गई।)

नोपदेशश्रवणेऽपि कृतकृत्यता परामर्शादृते विरोचनवत् ॥१७॥

केवल उपदेशश्रवण से भी कृतकृत्यता नहीं होती, मनन और निदिध्यासन किये बिना विरोचन के समान। (प्रजापति से इन्द्र और विरोचन दोनों ने उपदेश श्रवण किया। विरोचन ने मनन और निदिध्यासन नहीं किया, अतः उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई।)

दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य ॥१८॥

उन दोनों (इन्द्र और विरोचन) में इन्द्र का मनन और निदिध्यासनरूप अभ्यास देखा गया है। अतः उसने कृतकृत्यता प्राप्त की, उसे आत्मज्ञान हो गया।

प्रणतिब्रह्मचर्योपसर्पणानि कृत्वा सिद्धिर्बहुकालात् तद्वत् ॥१९॥

इन्द्र के समान गुरु के प्रति नम्रभावना, ब्रह्मचर्यसेवन और श्रद्धापूर्वक गुरु-सेवा के द्वारा बहुत काल पश्चात् आत्मज्ञान होता है।

न कालनियमो वामदेववत् ॥२०॥

विवेकसिद्धि=आत्मज्ञान में काल का नियम नहीं है, वामदेव की भाँति। (वामदेव को एक ही जन्म में आत्मज्ञान हो गया पूर्वजन्म में किये साधनानुष्ठान से।)

अध्यस्तरूपोपासनात् पारम्पर्येण यज्ञोपासकानामिव ॥२१॥

गुरु से उपदिष्ट उपासना से, श्रवण, मनन, निदिध्यासन, साक्षात्काररूप परम्परा-क्रम से आत्मज्ञान होता है परन्तु, उसमें काल अपेक्षित है, यज्ञ के उपासकों की भाँति।

इतरलाभेऽप्यावृत्तिः पञ्चाग्नियोगतो जन्मश्रुतेः ॥२२॥

आत्मज्ञान के अतिरिक्त वेदोक्त यज्ञानुष्ठान से उत्कृष्ट लोकों की प्राप्ति होने पर भी पुनरावृत्ति होती है (इसी सर्ग में)। पञ्चाग्नि सम्बन्ध से जन्म के विषय में श्रुति का प्रमाण है। (यज्ञानुष्ठान मोक्ष का साधन नहीं।)

विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसक्षीरवत् ॥२३॥

विवेक को प्राप्त हुए मनुष्य के लिए त्यागनेयोग्य का त्याग और ग्रहण करने-योग्य का ग्रहण आवश्यक कार्य है, जैसे हंस जलमिश्रित दूध में से दूध को ग्रहण कर लेता है।

लब्धातिशययोगात् तद्वत् ॥२४॥

जिस मनुष्य ने ज्ञान की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया है, उसके सङ्ग से भी विवेकज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

न कामचारित्वं रागोपहते ॥२५॥

आत्मजिज्ञासुओं को राग आदि में ग्रस्त लोगों के पास यथेच्छ नहीं आना-जाना चाहिए।

गुणयोगाद् बन्धः शुकवत् ॥२६॥

जैसे तोता सुन्दर रूप और मधुर वाणी आदि गुणों के कारण लोहे के पिंजरे में बद्ध हो जाता है उसी प्रकार विवेकी पुरुष संसारी पुरुषों के साथ अधिक सम्पर्क रखने से उनके गुण=राग-द्वेष अथवा सत्त्व, रजस्, तमस् से अभिभूत होकर रागरूपी पिंजरे में बँध जाता है।

न भोगाद्रागशान्तिर्मुनिवत् ॥२७॥

जैसे भोगों से सौभरि मुनि की रागासक्ति दूर नहीं हुई थी, उसी प्रकार दूसरों की भी नष्ट नहीं होती।

दोषदर्शनादुभयोः ॥२८॥

भोक्ता और भोग्य, आत्मा और विषय—दोनों के दोषों को देखने से राग की शान्ति होती है। (पुनर्जन्म, गर्भवास, मरणभय, विभिन्न योनियों में गमन आत्मा के दोष हैं और परिणाम, विकार, भोग से अतृप्ति—भोग्य के दोष हैं।)

न मलिनचेतस्युपदेशबीजप्ररोहोऽजवत् ॥२९॥

मलिन चित्त में उपदेशरूपी बीज का अंकुर नहीं उगता जैसे भार्या के राग में आसक्त राजा अज पर वसिष्ठ के उपदेश का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

नाभासमात्रमपि मलिनदर्पणवत् ।।३०।।

मैले दर्पण के समान अतिमलिन चित्त में उपदेश का आभास-मात्र भी नहीं होता।

न तज्जस्यापि तद्रूपता पङ्कजवत् ।।३१।।

उत्तम उपदेश मलिन हृदय पर वैसा प्रभाव नहीं डालता जैसा शुद्ध हृदय पर, जिस प्रकार उत्तम कमल कीचड़ में पैदा होने के कारण उतना उत्तम नहीं होता जैसी उसकी स्वाभाविक स्थिति है।

न भूतियोगेऽपि कृतकृत्यतोपास्यसिद्धिवदुपास्यसिद्धिवत् ।।३२।।

विविध सिद्धियों की प्राप्ति में भी वैसी कृतकृत्यता नहीं है, जैसी कृतकृत्यता उपास्यसिद्धि=ब्रह्मसम्पत्ति में होती है। (विविध सिद्धियों से पुनरावृत्ति होती है और उपास्यसिद्धि से मोक्ष की प्राप्ति होती है।)

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात् फलदर्शनाच्छ्रुतितश्चेति ॥१॥

विवेकज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति होने पर भी मङ्गल=शुभकर्मों का आचरण आवश्यक है, शिष्टों का आचार होने से, प्रत्यक्ष फल देखे जाने से और श्रुतिप्रमाण से सिद्ध होने से।

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

कर्म के द्वारा फल की सिद्धि होने के कारण ईश्वर को अधिष्ठाता मानने पर फल की सिद्धि नहीं होती। (जब फलसिद्धि में कर्मों की अपेक्षा आवश्यक है तब ईश्वर को मानना निरर्थक है क्योंकि कर्म से ही फलों की सिद्धि हो जाएगी।)

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ॥३॥

जीवात्माओं के उपकार की भावना से अधिष्ठाता होना ईश्वर को लोक में होने-वाले साधारण व्यक्ति के समान बना देगा।

लौकिकेश्वरवदितरथा ॥४॥

स्वार्थ भावना से प्रवृत्त न मानने पर अर्थात् परार्थ भावना से ईश्वर की फलदान-प्रवृत्ति मानने पर पूर्णकाम, सत्यसंकल्प परमात्मा लौकिक राजा के समान हो जाएगा।

पारिभाषिको वा ॥५॥

अथवा, कल्पनामात्र, नाममात्र का ईश्वर रह जाएगा।

न, रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ॥६॥

(अब सूत्रकार चार सूत्रों में व्यक्त सन्देह का समाधान करते हैं—) पूर्वपक्ष असंगत है। राग के बिना भी ईश्वर-प्रवृत्ति सिद्ध हो जाती है, प्रत्येक मूल तत्त्व के अपने-अपने स्वरूप में व्यवस्थित होने से। (जगत् का मूल उपादान प्रकृति है। जड़ होने के कारण वह स्वयं प्रवृत्त होने में असमर्थ है। इस जड़ प्रकृति का प्रेरक चेतन ईश्वर है। उसकी प्रेरणा में राग या द्वेष की सम्भावना नहीं की जा सकती क्योंकि प्रकृति को जगद्रूप में प्रेरित करना उसका स्वभाव है।)

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ॥७॥

प्रकृति के साथ नियन्ता रूप में ईश्वर का सम्पर्क रहने पर वह नित्यमुक्त नहीं रहता, ऐसा नहीं है। (प्रकृति के साथ परमात्मा का सम्पर्क उसका नियन्त्रण करने के लिए है, अतः ईश्वर की नित्यमुक्त आदि स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।)

प्रधानशक्तियोगाच्चेत् संगापत्तिः ॥८॥

प्रकृतिरूप उपादानकारण के सहयोग से यदि ईश्वर को जगत् का उपादानकारण मान लिया जाए तो उससे संग-दोष की प्राप्ति होती है और ईश्वर को किसी आश्रय की आवश्यकता नहीं।

सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ॥६॥

यदि ईश्वर अपनी सत्ता से जगत् का उपादानकारण हो तो सारा संसार ईश्वर का रूप (चेतन, सर्वज्ञादि) होना चाहिए।

प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ॥१०॥

प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से ईश्वर को जगत् का उपादानकारण सिद्ध नहीं किया जा सकता।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ॥११॥

व्याप्य-व्यापक के सम्बन्ध का अभाव होने से अनुमाणप्रमाण द्वारा भी यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि ईश्वर जगत् का उपादानकारण है।

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ॥१२॥

श्रुति में भी जगत् प्रकृति का कार्य है, ऐसा कहा गया है।

नाविद्याशक्तियोगो निःसङ्गस्य ॥१३॥

ईश्वर असङ्ग है, उसका अविद्याशक्ति के साथ योग=एकता अथवा सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता।

तद्योगे तत्सिद्धावन्योऽन्याश्रयत्वम् ॥१४॥

पुरुष का अविद्याशक्ति से योग होने पर अविद्या की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष होता है।

न बीजांकुरवत् सादिसंसारश्रुतेः ॥१५॥

अविद्या और संसार का बीज और अंकुर के समान सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि श्रुति संसार को अनादि नहीं, सादि=उत्पन्न होनेवाला बताती है।

विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्मबाधप्रसङ्गः ॥१६॥

विद्या से अविद्या को भिन्न मानने पर ब्रह्म की बाधा (ब्रह्म के नाश होने) का प्रसङ्ग उपस्थित होता है।

अबाधे नैष्फल्यम् ॥१७॥

बाधा न होने पर (अविद्या को अनादि, स्वतन्त्र तत्त्व मान लेने पर भी यदि ब्रह्म ही जगत् का उपादानकारण है तो) अविद्या के ऐसे स्वरूप को स्वीकार करना निष्फल है।

विद्याबाध्यत्वे जगतोऽप्येवम् ॥१८॥

यदि विद्या से अविद्या की बाधा (नाश) हो जाती है तो उस अविद्या से उत्पन्न हुए जगत् का भी नाश होना चाहिए।

तद्रूपत्वे सादित्वम् ॥१९॥

अविद्या को जगत् का रूप मानने पर जगत् के समान अविद्या को भी सादि मानना पड़ेगा (तब अविद्या अनादि, अखण्ड नहीं रही।)

न धर्मापलापः प्रकृतिकार्यवैचित्र्यात् ॥२०॥

प्रकृति के कार्यों की विचित्रता के कारण धर्माधर्म की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

श्रुतिलिङ्गादिभिस्तत्सिद्धिः ॥२१॥

शब्द, अनुमान और प्रत्यक्ष प्रमाणों से भी धर्माधर्म की सिद्धि होती है।

न नियमः प्रमाणान्तरावकाशात् ॥२२॥

प्रत्यक्ष प्रमाण से ही वस्तु सिद्ध हो ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण के अतिरिक्त अनुमान और शब्दप्रमाण भी हैं।

उभयत्राप्येवम् ॥२३॥

इस प्रकार श्रुतिप्रमाण आदि से धर्म और अधर्म—दोनों की सिद्धि में समान निर्देश जानना चाहिए।

अर्थात् सिद्धिश्चेत् समानमुभयोः ॥२४॥

अर्थापत्ति से ही अधर्म की सिद्धि हो जाएगी क्योंकि धर्माधर्म दोनों में श्रुतिप्रमाण की समानता है।

अन्तःकरणधर्मत्वं धर्मादीनाम् ॥२५॥

धर्म-अधर्म आदि अन्तःकरण=बुद्धि के धर्म=गुण हैं।

गुणादीनाञ्च नात्यन्तबाधः ॥२६॥

विवेक के बिना उन धर्म-अधर्मरूप अन्तःकरण के गुणों का अत्यन्त अभाव=नाश नहीं होता।

पञ्चावयवयोगात् सुखसंवित्तिः ॥२७॥

पाँच ज्ञानेन्द्रियों के योग से सुख-दुःखादि का अनुभव होता है।

न सकृद्ग्रहणात् सम्बन्धसिद्धिः ॥२८॥

पुनः-पुनः कार्य-कारण के देखने से, देश-देश और काल-काल में वैसा ही दर्शन करने से कार्य-कारण की सिद्धि अनुमान से होती है।

नियतधर्मसाहित्यमुभयोरेकतरस्य वा व्याप्तिः ॥२९॥

दो पदार्थों में से एक का अथवा दोनों का जो नियत धर्म है, उसके साथ रहने के नियम को 'व्याप्ति' कहते हैं (जैसे धूम से अग्नि की सिद्धि)।

न तत्त्वान्तरं वस्तुकल्पनाप्रसक्तेः ॥३०॥

व्याप्ति कार्य-कारण से भिन्न कोई तीसरी वस्तु नहीं है, क्योंकि अतिरिक्त वस्तु की कल्पना व्यर्थ है।

निजशक्त्युद्भवमित्याचार्याः ॥३१॥

कार्य-कारण की जो स्वाभाविक शक्ति है, उसका प्रकट होना ही व्याप्ति है—ऐसा कपिल आचार्य मानते हैं।

आधेयशक्तियोग इति पञ्चशिखः ॥३२॥

आधेयशक्ति का योग ही व्याप्ति है, ऐसा आचार्य पञ्चशिख मानते हैं।

न स्वरूपशक्तिर्नियमः पुनर्वादप्रसक्तेः ॥३३॥

पुनरुक्ति-दोष-प्रसङ्ग से स्वरूपात्मक शक्ति को व्याप्ति नहीं माना जा सकता।

विशेषणानर्थक्यप्रसक्तेः ॥३४॥

'स्वरूपशक्ति ही व्याप्ति है'—इस मन्तव्य में विशेषण की निरर्थकता का प्रसङ्ग आता है, अतः यह मान्यता ठीक नहीं।

पल्लवादिष्वनुपपत्तेश्च ॥३५॥

पल्लव=पत्ते आदि में सिद्ध न हो सकने से स्वरूपशक्ति व्याप्ति नहीं मानी जा सकती।

आधेयशक्तिसिद्धौ निजशक्तियोगः समानन्यायात् ॥३६॥

आधेयशक्ति के सिद्ध होने पर यथार्थ अनुमान से, समान युक्ति से, निजशक्ति का संयोग ही व्याप्ति है—ऐसा हम जान लेते हैं।

वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः शब्दार्थयोः ॥३७॥

शब्द और अर्थ का परस्पर वाच्यवाचक भाव से सम्बन्ध होता है।

त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः ॥३८॥

शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध की सिद्धि तीन प्रकार से होती है—(१. आप्त उपदेश से, २. वृद्धों के व्यवहार से, और ३. प्रसिद्ध पदसहचार से)

न कार्ये नियम उभयथादर्शनात् ॥३९॥

क्रिया (विधिवाक्य) में ही उक्त शब्दार्थ सम्बन्ध है, अन्यत्र नहीं—ऐसा नियम नहीं है क्योंकि विधिवाक्य और सिद्धार्थवाक्य दोनों में शब्दार्थ-सम्बन्ध देखा जाता है।

लोके व्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः ॥४०॥

लौकिक शब्द में व्युत्पन्न (शब्दार्थ-सम्बन्ध को जाननेवाले) को वेद के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अथवा, लोकव्यवहार में निपुण व्यक्ति वेदार्थ को ठीक प्रकार से जान लेता है।

न त्रिभिरपौरुषेयत्वाद्वेदस्य तदर्थस्याप्यतीन्द्रियत्वात् ॥४१॥

वेद के अपौरुषेय और उसके अर्थों के अतीन्द्रिय होने से तीन उपायों (आप्तोपदेश, वृद्धव्यवहार और प्रसिद्ध पदसहचार) से भी उसके शब्दार्थ-सम्बन्ध का ग्रहण नहीं हो सकता।

न यज्ञादेः स्वरूपतो धर्मत्वं वैशिष्ट्यात् ॥४२॥

यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि यज्ञ, दान, अध्ययन के विधिपूर्वक अनुष्ठान से प्रत्यक्षरूप से धर्मफल उपलब्ध होता है, अतः वेदार्थ अतीन्द्रिय नहीं है।

निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या व्यवच्छिद्यते ॥४३॥

वेदों के अपौरुषेय होने पर भी वैदिक शब्दों में अर्थ की स्वाभाविक शक्ति है। वह स्वाभाविक अर्थशक्ति व्युत्पत्ति से विशेष सम्बन्ध रखती है। ऋषि-महर्षि उस व्युत्पत्ति का साक्षात्कार कर अपने शिष्यों को व्यवस्थापूर्वक उपदेश करते हैं।

योग्यायोग्येषु प्रतीतिजनकत्वात् तत्सिद्धिः ॥४४॥

इन्द्रियग्राह्य लौकिक शब्दार्थों में तथा अतीन्द्रियग्राह्य वैदिक शब्दार्थों में ज्ञानजनकत्व समान होने से व्युत्पत्ति की सिद्धि हो जाती है, जिससे मनुष्य वेदार्थज्ञान में व्युत्पन्न हो जाता है।

न नित्यत्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः ॥४५॥

स्वाभाविक शक्तिवाले होते हुए भी वेद नित्य नहीं हैं, क्योंकि श्रुति द्वारा यह सिद्ध होता है कि वेद उत्पन्न होते हैं।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् ॥४६॥

वेद की रचना करनेवाले पुरुष के अभाव के कारण वेद पौरुषेय नहीं हैं, अतः वेद ईश्वर से निर्मित होने के कारण अपौरुषेय हैं।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् ॥४७॥

मुक्त और बद्ध दोनों के अयोग्य होने से—वे वेद के कर्त्ता नहीं हो सकते, अतः सर्वज्ञ जगदीश्वर ही वेदों का कर्त्ता है।

नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादिवत् ॥४८॥

अपौरुषेय होने से वेदों का नित्य होना सिद्ध नहीं होता अंकुर आदि के समान। (अंकुर अपौरुषेय है परन्तु नित्य नहीं।)

तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः ॥४९ ॥

अंकुर आदि को अपौरुषेय मानने पर उनका नित्यत्व नहीं, क्योंकि अंकुरादि नष्ट होते देखे जाते हैं। इस प्रकार दृष्ट=प्रत्यक्ष की बाधा और फिर, बीज से उगेंगे, इस अनुमान की हानि का प्रसंग उपस्थित होता है, अतः अंकुर आदि के दृष्टान्त की असिद्धि से वेदों के नित्यत्व का निराकरण ठीक नहीं।

यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत् पौरुषेयम् ॥५०॥

जिस अदृष्ट वस्तु में भी, 'यह पुरुष द्वारा बनाई गई है', ऐसी प्रतीतिवाली बुद्धि उत्पन्न होती है, वह वस्तु पौरुषेय=पुरुषकृत जाननी चाहिए। वेद वैसे नहीं हैं। वेद कृत नहीं हैं। वे अभिव्यक्त होते हैं, प्रादुर्भूत होते हैं, अतः नित्य हैं।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतःप्रामाण्यम् ॥५१॥

परमात्मा की निज शक्ति=स्वाभाविक शक्ति से अभिव्यक्त होने के कारण वेदों का स्वतःप्रामाण्य है।

नासतः ख्यानं नृशृंगवत् ॥५२॥

असत् वस्तु का ज्ञान या प्रतीति सम्भव नहीं, मनुष्य के सींग के समान। (अतः वेद और जगत् असत् नहीं हैं, सत् हैं।)

न सतो बाधदर्शनात् ॥५३॥

जो वस्तु सत् है, उसका अभाव नहीं होता।

नानिर्वचनीयस्य तदभावात् ॥५४॥

अनिर्वचनीय का भाव नहीं हो सकता क्योंकि जो पदार्थ न सत् हो, न असत् हो, ऐसे पदार्थ का संसार में सर्वथा अभाव है।

नान्यथाख्यातिः स्ववचोव्याघातात् ॥५५॥

दृश्यमान जगत् का अन्यथा ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि वदतो-व्याघात दोष आता है।

सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधात् ॥५६॥[1]

बाध और अबाध से जगत् बारी-बारी से सत् और असत् धर्मवाला है।

नाद्वैतमात्मनो लिङ्गात् तद्भेदप्रतीतेः ॥५७॥

आत्मा एक नहीं, अनेक हैं, क्योंकि लक्षण से आत्माओं के परस्पर भेद का ज्ञान होता है।

नानात्मनाऽपि प्रत्यक्षबाधात् ॥५८॥

अनात्मा=जड़ प्रकृति नामक प्रधान के साथ भी प्रत्यक्ष बाधा देखी जाने से आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं होता। अथवा अचेतन शरीर के साथ भी बाधा देखी जाने से आत्मा का एक होना सिद्ध नहीं होता। (जिस शरीर से आत्मा निकलता है, वही मरता है, सब नहीं मरते, अतः आत्मा एक नहीं, अनेक हैं।)

नोभाभ्यां तेनैव ॥५९॥

उक्त हेतु से, आत्मा और शरीर अथवा आत्मा और प्रकृति—दोनों के पृथक् होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती।

अन्यपरत्वमविवेकानां तत्र ॥६०॥

'एकमेवाऽद्वितीयम्', 'ब्रह्म आत्मैवेदं सर्वम्'—इन श्रुतियों में अद्वैत की कल्पना अविवेकियों का कार्य है।

नात्माऽविद्या नोभयं जगदुपादानकारणं निःसंगत्वात् ॥६१॥

न तो आत्मा=ब्रह्म, न ही अविद्या और न दोनों मिलकर भी जगत् के उपादान-कारण हो सकते हैं, इनके निःसङ्ग होने से।

नैकस्यानन्दचिद्रूपत्वे द्वयोर्भेदात् ॥६२॥

परमात्मा और जीवात्मा—इन दोनों में भेद होने के कारण जीवात्मा में चेतनत्व तो है परन्तु वह आनन्दस्वरूप नहीं। परमात्मा चेतन और आनन्दस्वरूप है।

---

१. इस सूत्र के पश्चात् चार सूत्रों का प्रक्षेप है—

प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां न स्फोटात्मकः शब्दः ॥१॥

शब्द स्फोटरूप नहीं है, प्रतीति और अप्रतीति दोनों के होने से। (शब्द के अर्थ का ज्ञान प्रकट होने को स्फोट कहते हैं।)

न शब्दनित्यत्वं कार्यताप्रतीतेः ॥२॥

शब्द नित्य नहीं है, उसके कार्यत्व (उत्पत्ति और विनाश) की प्रतीति होने से।

पूर्वसिद्धसत्वस्याभिव्यक्तिर्दीपेनेव घटस्य ॥३॥

शब्द की सत्ता पहले से ही होती है, वह केवल वाणी द्वारा प्रकट होता है, जैसे दीपक से पूर्व विद्यमान घट की प्रतीति होती है।

सत्कार्यसिद्धान्तश्चेत् सिद्धसाधनम् ॥४॥

यदि सत्कार्य का सिद्धान्त (शब्द पहले से था, वह उच्चारण द्वारा प्रकट होता है) मान लिया जाए तो शब्द का नित्य होना सिद्ध होता है और उच्चारण उसे प्रकट करने-वाला साधन है।

दुःखनिवृत्तेर्गौणः ॥६३॥

मोक्ष में दुःख की निवृत्ति होने के कारण जीवात्मा का आनन्दस्वरूप कहा जाना गौण है, मुख्य नहीं।

विमुक्तिप्रशंसा मन्दानाम् ॥६४॥

मुक्ति में आनन्द की प्रशंसा मन्द=अविवेकियों की दृष्टि में है, विवेकीजनों के लिए तो दुःखनिवृत्ति है।

न व्यापकत्वं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा वास्यादिवच्चक्षुरादिवत् ॥६५॥

मन विभु=व्यापक नहीं है, कुठार के समान करण=साधन होने से अथवा नेत्रादि के समान इन्द्रिय होने से।

सक्रियत्वाद् गतिश्रुतेः ॥६६॥

मन के क्रियाशील होने के कारण और उसके सम्बन्ध में गति की श्रुति होने से मन विभु नहीं है।

न निर्भागत्वं तद्योगाद् घटादिवत् ॥६७॥

अणु होने पर भी मन सावयव है घटादि के समान। जैसे घटादि सावयव हैं और कार्य हैं, वैसे ही मन भी।

प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् सर्वमनित्यम् ॥६८॥

प्रकृति और पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) से भिन्न सब वस्तुएँ अनित्य हैं।

न भागलाभो भोगिनो निर्भागत्वश्रुतेः ॥६९॥

श्रुति में निरवयव प्रतिपादित किये जाने से भोक्त जीवात्मा और भोग्य=प्रकृति सावयव=भागवाले सिद्ध नहीं हो सकते।

नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात् ॥७०॥

आत्मा के आनन्दरूप धर्म से रहित होने के कारण आनन्द का प्रादुर्भाव मुक्ति नहीं है।

न विशेषगुणोच्छित्तिस्तद्वत् ॥७१॥

विशेष गुणों का उच्छेद=नाश भी मुक्ति नहीं है, उसी पूर्वोक्त हेतु से; अर्थात् आत्मा निर्धर्मक होने से वे गुण भी जीवात्मा के स्वाभाविक गुण नहीं हैं।

न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य ॥७२॥

संसार से ऊँची कोई विशिष्ट गति, ब्रह्मलोक-प्राप्ति भी मुक्ति नहीं है, जीवात्मा के निष्क्रिय होने से।

नाकारोपरागोच्छित्तिः क्षणिकत्वादिदोषात् ॥७३॥

विषय-वासना का उपराग-नाश भी मुक्ति नहीं, क्षणिक होने आदि दोष के कारण।

न सर्वोच्छित्तिरपुरुषार्थत्वादिदोषात् ॥७४॥[1]

सब आत्माओं का उच्छेद=सर्वनाश होना भी मुक्ति नहीं है, अपुरुषार्थ और

---

१. इस सूत्र के पश्चात् निम्न सूत्र उपलब्ध होता है—

एवं शून्यमपि ॥१॥

इस प्रकार शून्य भी मुक्ति नहीं हो सकता, अपुरुषार्थत्व आदि दोष से।

आत्मनाश का दोष उपस्थित होने के कारण।

न देशादिलाभोऽपि ॥७५॥

देशविशेष और साधनों का प्राप्त होना भी मोक्ष नहीं है, अपुरुषार्थ होने से। ('संयोगाश्च वियोगान्ता इति' पाठ सूत्रभाग प्रतीत नहीं होता।)

न भागियोगो भागस्य ॥७६॥

अंश का अंशी के साथ सम्बन्ध या उसमें लय हो जाना भी मोक्ष नहीं है। (जीवात्मा परमात्मा का ऐसा खण्ड नहीं है जैसे पृथिवी का पाषाण।)

नाणिमादियोगोऽप्यवश्यंभावित्वात् तदुच्छित्तेरितरयोगवत् ॥७७॥

अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति भी मोक्ष नहीं है क्योंकि उनका क्षय अवश्यम्भावी है। अन्य ऐश्वर्यों के समान ये अष्टसिद्धियाँ भी नाशवान् हैं।

नेन्द्रादिपदयोगोऽपि तद्वत् ॥७८॥[1]

उसी प्रकार इन्द्र आदि पद प्राप्त कर लेना भी मोक्ष नहीं है।

---

१. इस सूत्र के पश्चात् ३२ सूत्रों का प्रक्षेप है—

न भूतप्रकृतित्वमिन्द्रियाणामाहंकारिकत्वश्रुतेः ॥१॥

इन्द्रियों के अहंकार से उत्पन्न होने में श्रुतिप्रमाण उपलब्ध होने से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ पृथिव्यादि भूतों से उत्पन्न नहीं हुई हैं।

न षट्पदार्थनियमस्तद्बोधान्मुक्तिः ॥२॥

मुक्ति के विषय में षट्पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय) का नियम नहीं है कि इन पदार्थों के बोध से ही मुक्ति होती है।

षोडशादिष्वप्येवम् ॥३॥

इसी प्रकार सोलह पदार्थों के बोध से भी मुक्ति नहीं होती।

नाणुनित्यता तत्कार्यत्वश्रुतेः ॥४॥

अणु (पृथिव्यादि भूतों के कारण तत्त्व) नित्य नहीं हैं, क्योंकि उन परमाणुओं का कार्यरूप होना श्रुतिद्वारा प्रतिपादित है।

न निर्भागत्वं कार्यत्वात् ॥५॥

अणु कार्य अर्थात् संघातरूप है और कार्य सावयव (भागवाला) होता है।

न रूपनिबन्धनात् प्रत्यक्षनियमः ॥६॥

रूपवाली वस्तु का ही प्रत्यक्ष होता है, रूपरहित का नहीं, ऐसा नियम नहीं है।

न परिमाणचातुर्विध्यं द्वाभ्यां तद्योगात् ॥७॥

कार्यमात्र का चतुर्विध (अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घ) परिमाण मानना उचित नहीं क्योंकि अणु-महत् परिमाणों में ह्रस्व और दीर्घ का भी समावेश हो जाता है।

अनित्यत्वेऽपि स्थिरतायोगात् प्रत्यभिज्ञानं सामान्यस्य ॥८॥

सामान्य—कार्यवस्तु उत्पाद और विनाशशील होने के कारण अनित्य होती है, फिर भी कुछ काल तक उसका स्थिर रहना स्मृतिज्ञान से जाना जाता है।

समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता ॥७९॥

समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में पुरुष को ब्रह्मरूपता हो जाती है अर्थात् जैसा ब्रह्म आनन्दस्वरूप है ऐसा ही जीव भी हो जाता है।

द्वयोः सबीजमन्यत्र तद्धितः ॥८०॥

पहली दो (समाधि और सुषुप्ति) अवस्थाओं में दुःखादि का अभाव बीजसहित रहता है अर्थात् क्लेश-कर्म आदि बन्धन के कारण बने रहते हैं, परन्तु तीसरी अवस्था मोक्ष में सबीजता (क्लेश, कर्म, वासना) का नाश हो जाता है।

न तदपलापस्तस्मात् ॥९॥

इसी कारण सामान्य का अपलाप=खण्डन नहीं किया जा सकता।

नान्यनिवृत्तिरूपत्वं भावप्रतीतेः ॥१०॥

सामान्य भाव की प्रतीति होने से वस्तु का सर्वथा नाश नहीं हो जाता।

न तत्वान्तरं सादृश्यं प्रत्यक्षोपलब्धेः ॥११॥

सामान्य और सादृश्य में कोई अन्तर नहीं है। अवयवों की अत्यधिक समानता के अतिरिक्त 'सादृश्य' कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है।

निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा वैशिष्ट्यात्तदुपलब्धेः ॥१२॥

वस्तु की स्वाभाविक शक्ति की अभिव्यक्ति भी सादृश्य नहीं है; विशिष्टता से सादृश्य की उपलब्धि होती है।

न संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोऽपि ॥१३॥

संज्ञा और संज्ञी का सम्बन्ध भी सादृश्य नहीं है।

न सम्बन्धनित्यतोभयानित्यत्वात् ॥१४॥

संज्ञा और संज्ञी दोनों अनित्य हैं, इसलिए इनका सम्बन्ध भी नित्य नहीं हो सकता।

नाजः सम्बन्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधात् ॥१५॥

जिनका सम्बन्ध नित्य हो ऐसे धर्मी का ग्रहण करनेवाले प्रमाण के अभाव से सम्बन्ध का नित्य होना सम्भव नहीं।

न समवायोऽस्ति प्रमाणाभावात् ॥१६॥

समवाय नाम का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

उभयत्राप्यन्यथासिद्धेर्न प्रत्यक्षमनुमानं वा ॥१७॥

विशिष्ट और वैशिष्ट्य दोनों में वैशिष्ट्य का स्वरूपसम्बन्ध से ही स्वतः बोध होता है; अतः प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण से भी सामान्य सम्बन्ध मानना आवश्यक या अपेक्षित नहीं।

नानुमेयत्वमेव क्रियाया नेदिष्ठस्य तत्तद्वतोरेवापरोक्षप्रतीतेः ॥१८॥

क्रिया केवल अनुमान से ही नहीं जानी जाती अपितु उसका प्रत्यक्ष भी होता है क्योंकि समीपस्थ व्यक्ति को क्रिया और क्रियवान् दोनों प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टत्वान्न तु द्वौ ॥८१॥

समाधि और सुषुप्ति के समान आत्मसाक्षात्कर्ता ऋषि मोक्ष का भी अनुभव करते हैं। वेदादि शास्त्रों में भी इसका प्रतिपादन है, अतः अवस्थाएँ दो नहीं, तीन हैं।

न पाञ्चभौतिकं शरीरं बहूनामुपादानायोगात् ॥१९॥

शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है क्योंकि बहुत-से भिन्न-भिन्न जातीय उपादानों से मिलकर किसी वस्तु का निर्माण नहीं होता।

न स्थूलमिति नियम आतिवाहिकस्यापि विद्यमानत्वात् ॥२०॥

केवल स्थूल शरीर ही है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि जीवात्मा को एक शरीर से दूसरे शरीर में लेजानेवाला सूक्ष्मशरीर भी विद्यमान है।

नाप्राप्तप्रकाशकत्वमिन्द्रियाणामप्राप्तेः सर्वप्राप्तेर्वा ॥२१॥

इन्द्रियाँ अप्राप्त=दूरस्थ रूप आदि अर्थों को प्रकाशित नहीं करतीं। यदि अर्थ=विषय या वस्तुओं के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध हुए बिना ही ज्ञान हो जाया करता तो सब देश, काल और विषयों का ज्ञान हो जाया करता परन्तु वैसा होता नहीं।

न तेजोऽपसर्पणात्तैजसं चक्षुर्वृत्तितस्तत्सिद्धेः ॥२२॥

तेज=आग्नेय पदार्थ का अपसर्पण होता है [तेज फैलता है] अतः आँख को तैजस नहीं मानना चाहिए क्योंकि तेज का ग्रहण इन्द्रियवृत्ति से होता है।

प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गाद् वृत्तिसिद्धिः ॥२३॥

प्राप्त अर्थ का बोध हो जाना ही वृत्ति की सिद्धि में प्रमाण है।

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थं सर्पतीति ॥२४॥

वह इन्द्रियवृत्ति न तो इन्द्रिय के भाग का नाम है और न गुण का, अपितु वह एक अतिरिक्त तत्त्व है। इसे इन्द्रिय का परिणामविशेष कहा जा सकता है जो विषय के सम्बन्धार्थ सर्पण करता है।

न द्रव्यनियमस्तद्योगात् ॥२५॥

द्रव्य में ही क्रिया हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। क्रिया के योग से वृत्ति में विद्युत्तरङ्ग की भाँति अपसर्पण होता है, जिससे इन्द्रिय दूरस्थ विषय को प्राप्त करती है।

न देशभेदेऽप्यन्योपादानताऽस्मदादिवन्नियमः ॥२६॥

देशान्तर में भी इन्द्रियों का अहंकार से भिन्न अन्य कोई उपादानकारण होना सम्भव नहीं। जैसे हम भूलोकवासियों की इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं, वैसे ही अन्य सब लोकों में जहाँ भी प्राणिसृष्टि है।

निमित्तव्यपदेशात्तद्व्यपदेशः ॥२७॥

इन्द्रियों का निमित्त जो अहंकार है, उससे ही पञ्चभूतों में भी इन्द्रियों का कारणत्व स्थापित किया जाता है। वस्तुतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं, निमित्त से उन्हें भौतिक कहा जाता है।

ऊष्मजाण्डजजरायुजोद्भिज्जसांकल्पिकसांसिद्धिकञ्चेति न नियमः ॥२८॥

१. ऊष्मज—ऊष्मा=गर्मी से उत्पन्न होनेवाले कीड़े, डाँस, मच्छर आदि,

वासनयानर्थख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् ।।८२।।[1]

जैसे वैराग्य से वासना क्षीण होकर अपना प्रभाव नहीं दिखाती, उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में वासनाओं के रहते हुए भी निद्रादोष के कारण किसी प्रकार का ज्ञान होना सम्भव नहीं। तब दुःख का बोध न होने पर दुःखनिवृत्तिरूप ब्रह्मरूपता हो जाती है।

न देहमात्रतः कर्माधिकारित्वं वैशिष्ट्यश्रुतेः ।।८३।।

केवल शरीरधारी होने से ही कर्म का अधिकार प्राप्त नहीं होता। श्रुति में केवल मनुष्य को ही धर्माधर्म का अधिकार प्रतिपादित किया गया है।

---

२. अण्डज=अण्डे से पैदा होनेवाले मुर्गी आदि, ३. जरायुज=झिल्ली से पैदा होनेवाले मनुष्य, पशु आदि, ४. उद्भिज=भूमि को फोड़कर पैदा होनेवाले वृक्षादि, ५. सांकल्पिक=सृष्टि के आदि में परमात्मा के सङ्कल्प से पैदा होनेवाले ऋषि आदि और ६. सांसिद्धिक=अत्यन्त सिद्धि प्राप्त कर लेने पर योगिजन इच्छानुसार शरीर धारण कर लेते हैं, वह सांसिद्धिक अथवा जैसे खान में धातु आदि बनती हैं। यह छह प्रकार की सृष्टि है। परन्तु छह प्रकार की ही सृष्टि होती है, ऐसा कोई नियम नहीं है, शायद कोई और भी प्रकार हो।

सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात्तद्व्यपदेशः पूर्ववत् ।।२९।।

सब सृष्टियों अथवा शरीरों का मुख्य उपादानकारण पृथिवी है और शेष सब भूत गौण कारण हैं, यह पूर्व ही प्रतिपादित कर दिया है।

न देहारम्भकस्य प्राणत्वमिन्द्रियशक्तितस्तत्सिद्धेः ।।३०।।

प्राण को शरीर का आरम्भक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि प्राण इन्द्रियों की शक्ति से कार्य करता है। जब तक इन्द्रियाँ हैं तब तक प्राण हैं; जब इन्द्रियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब प्राण भी नष्ट हो जाता है।

भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसङ्गात् ।।३१।।

भोक्ता जीवात्मा के अधिष्ठान से भोग के आश्रयरूप स्थूलदेह का निर्माण होता है। यदि जीवात्मा के बिना शरीर की रचना हो तो वह सड़ जाए और उससे दुर्गन्ध आने लगे।

भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठितिर्नैकान्तात् ।।३२।।

देह का अधिष्ठाता जीवात्मा है परन्तु वह अकेला उसमें निवास नहीं करता अपितु अपने भृत्य=प्राण और इन्द्रियों द्वारा ही उसमें निवास करने में समर्थ होता है।

१. यहाँ से आगे निम्न सूत्र पुनः प्रक्षिप्त हैं—

एकः संस्कारः क्रियानिर्वर्त्तको न तु प्रतिक्रियं संस्कारभेदा बहुकल्पनाप्रसक्तेः ।।१।।

एक ही संस्कार क्रिया को समाप्त करनेवाला होता है। प्रत्येक क्रिया के लिए अलग-अलग संस्कार मानना उचित नहीं, क्योंकि फिर बहुत-से संस्कारों की कल्पना करनी पड़ेगी।

त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था कर्मदेहोपभोगदेहोभयदेहाः ॥८४॥

उत्तम, मध्यम और अधम—इन तीनों के देह के सम्बन्ध में तीन प्रकार की व्यवस्था है—१. उत्तम=सांकल्पिक शरीरवाले वेदप्रकाशक अग्नि आदि ऋषियों का 'कर्मदेह' होता है, वे भोग के लिए नहीं आते, २. मध्यम=मनुष्य 'उभयदेह' वाले होते हैं। वे भोग और कर्म करनेयोग्य देहवाले हैं और ३. अधम=मनुष्य-भिन्न कीट-पतङ्ग, पशु-पक्षी, वृक्षादि 'उपभोगदेह' वाले होते हैं।

न किञ्चिदप्यनुशयिनः ॥८५॥

अनुशयी (पुनर्जन्मार्थ एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त होने के मध्य की अवस्था) का उपर्युक्त तीनों शरीरों में से कोई भी शरीर नहीं होता।

न बुद्ध्यादिनित्यत्वमाश्रयविशेषेऽपि वह्निवत् ॥८६॥

जीवात्मा नित्य है परन्तु उसके विशेष आश्रय बुद्धि आदि का नित्य होना सम्भव नहीं, अग्नि की भाँति। (जैसे चन्दन आदि की लकड़ी शीतल होती है, परन्तु अग्नि के संयोग से उसकी शीतलता अग्नि में नहीं हो सकती।)

आश्रयासिद्धेश्च ॥८७॥

बुद्धि जीवात्मा का आश्रय नहीं हो सकती, क्योंकि जीवात्मा नित्य और अपरिणामी तथा बुद्धि जड़ और परिणामी है।

योगसिद्धयोऽप्यौषधादिसिद्धिवन्नापलपनीयाः ॥८८॥

ओषधि आदि द्वारा प्राप्त सिद्धियों के समान समाधि द्वारा प्राप्त सिद्धियाँ बकवास नहीं कही जा सकतीं, वे सत्य और स्वीकार्य हैं।

न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपि च सांहत्येऽपि च ॥८९॥

प्रत्येक पृथक्-पृथक् भूत में चैतन्य उपलब्ध न होने से उनके संघात में भी चैतन्य होना सम्भव नहीं। 'सांहत्येऽपि च' पद का दो बार पाठ अध्याय की समाप्ति का सूचक है।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

न बाह्यबुद्धिनियमः ॥२॥

भोक्तृत्व में बाह्यबुद्धि का नियम नहीं है, क्योंकि बाह्यबुद्धि के विना भी भोक्तृत्व अन्तर्बुद्धि से होता है।

वृक्षगुल्मलतौषधिवनस्पतितृणवीरुधादीनामपि
भोक्तृभोगायतनत्वं पूर्ववत् ॥३॥

वृक्ष, गुल्म, लता, ओषधि, वनस्पति, घास, वीरुध आदि अन्तर्बुद्धिवाले उद्भिज जीवों का भोग के आश्रयरूप शरीर का होना पूर्वकहे ऊष्मज आदि जङ्गम शरीरों के समान समझना चाहिए।

स्मृतेश्च ॥४॥

श्रुति और स्मृति से भी यही सिद्ध होता है कि स्थावरशरीर कर्मानुसार भोगादि के लिए प्राप्त होता है।

अथ षष्ठोऽध्याय

अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधनाभावात् ॥१॥

जीवात्मा है, क्योंकि उसके न होने में कोई बाधक प्रमाण दिखाई नहीं देता।

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥२॥

देहादि से विलक्षण स्वभाववाला होने के कारण आत्मा शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियों से भिन्न है। (देह जड़ तथा मरणधर्मा है, और आत्मा चेतन एवं अजर-अमर।)

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥३॥

'मेरा मन, मेरी बुद्धि, मेरा शरीर'—इस षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से भी आत्मा देह आदि से भिन्न सिद्ध होता है।

न शिलापुत्रवद्धर्मिग्राहकमानबाधात् ॥४॥

'शिला के पुत्र के समान'—इस षष्ठी विभक्ति का प्रयोग ठीक नहीं, क्योंकि धर्मी=आत्मा के प्रत्यक्ष प्रमाण से शरीर के आत्मा होने का दोष आता है।

अत्यन्तदुःखनिवृत्त्या कृतकृत्यता ॥५॥

त्रिविध दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति=सर्वथा दूर हो जाने से आत्मा की कृत-कृत्यता, पूर्णसफलता होती है, उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

यथा दुःखात् क्लेशः पुरुषस्य न तथा सुखादभिलाषः ॥६॥

पुरुष को जैसे दुःखों से क्लेश या द्वेष होता है वैसी सुख के विषय में अभिलाषा नहीं रहती (इसीलिए दुःखनिवृत्ति पर बल दिया गया है)।

कुत्रापि कोऽपि सुखीति ॥७॥

कहीं ही कोई ही सुखी दिखाई देता है।

तदपि दुःखशबलमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥

वह सुख भी दुःख से मिला हुआ है, अतः विवेकी जन सुख को भी दुःखरूप ही मानते हैं।

सुखलाभाभावादपुरुषार्थत्वमिति चेन्न द्वैविध्यात् ॥९॥

यदि यह कहो कि सुख-प्राप्ति के अभाव से मुक्ति के लिए उपाय करना ही व्यर्थ है तो ठीक नहीं, क्योंकि मोक्ष में दो प्रकार का सुख है—एक दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति और दूसरा परमानन्द की प्राप्ति।

निर्गुणत्वमात्मनोऽसंगात्वदिश्रुतेः ॥१०॥

'असङ्गो ह्ययं पुरुषः'—आत्मा असङ्ग है, इस श्रुति से आत्मा का निर्गुण होना सिद्ध है।

परधर्मत्वेऽपि तत्सिद्धिरविवेकात् ॥११॥

अन्य धर्म (सत्त्व, रजस्, तमस् का विकार) होने पर भी अविवेक के कारण आत्मा को सुख-दुःख की अनुभूति होती है।

अनादिरविवेकोऽन्यथा दोषद्वयप्रसक्तेः ॥१२॥

अविवेक प्रवाहरूप से चित्त का अनादि धर्म है, ऐसा न मानने पर दो प्रकार के दोष प्राप्त होंगे (मुक्तात्माओं को भी अविवेक की प्राप्ति और अनवस्था-दोष)।

न नित्यः स्यादात्मवदन्यथाऽनुच्छित्तिः ॥१३॥

अविवेक अनादि होता हुआ भी आत्मा की भाँति नित्य नहीं है, क्योंकि यदि उसे आत्मा की भाँति अनादि मानें तो उसका उच्छेद न हो।

प्रतिनियतकारणनाश्यत्वमस्य ध्वान्तवत् ॥१४॥

जैसे अन्धकार अपने विरोधी नियत कारण से नष्ट होता है, उसी प्रकार अविवेक अपने विरोधी नियत कारण विवेक से नष्ट होता है।

अत्रापि प्रतिनियमोऽन्वयव्यतिरेकात् ॥१५॥

विवेक-अविवेक में भी नाश्यनाशक भाव है अन्वय-व्यतिरेक से। (विवेक होने पर अविवेक का नाश होता है और विवेक न होने पर अविवेक की प्रवृत्ति होती है।)

प्रकारान्तरासंभवादविवेक एव बन्धः ॥१६॥

और कोई कारण दिखाई न देने से अविवेक ही पुरुष के बन्धन का कारण है।

न मुक्तस्य पुनर्बन्धयोगोऽप्यानावृत्तिश्रुतेः ॥१७॥

मुक्तात्मा का मुक्तावस्था में बन्धन में आना सम्भव नहीं, क्योंकि श्रुति में मुक्ति से पुनः बन्ध=जन्म-मरण के चक्र की आवृत्ति होने के प्रमाण नहीं मिलते।

अपुरुषार्थत्वमन्यथा ॥१८॥

यदि मुक्तावस्था में भी जन्म-मरण का चक्र चलता रहे तो मोक्ष अपुरुषार्थ हो जाएगा।

अविशेषापत्तिरुभयोः ॥१९॥

तब बन्ध और मोक्ष दोनों में समानरूपता प्राप्त हो जाएगी, कोई विशेषता नहीं रहेगी।

मुक्तिरन्तरायध्वस्तेर्न परः ॥२०॥

नित्यमुक्त आत्मा के साक्षात्कार में जो अन्तराय=विघ्न-बाधा, अविवेक है, उसके नाश होने के अतिरिक्त मुक्ति और कुछ नहीं है।

तत्राप्यवरोधः ॥२१॥

दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति (प्रथम अध्याय) और विघ्नों का विध्वंस (पञ्चम अध्याय) होना मोक्ष है—इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है।

अधिकारित्रैविध्यान्न नियमः ॥२२॥

आत्मज्ञान के अधिकारी तीन प्रकार के होते हैं (तीव्र, मध्यम और मन्द), अतः श्रवणमात्र से सभी को आत्मज्ञान हो जाए—ऐसा कोई नियम नहीं है।

दाढ्यार्थमुत्तरेषाम् ॥२३॥

समाधिलाभ में दृढ़ता के लिए श्रवण के अतिरिक्त मनन, निदिध्यासन आदि का अभ्यास करना चाहिए।

स्थिरसुखमासनमिति न नियमः ॥२४॥

जिसमें पुरुष स्थिरता एवं सुखपूर्वक देर तक बैठ सके वही आसन है; सिद्ध पद्मासन आदि का कोई नियम नहीं है।

ध्यानं निर्विषयं मनः ॥२५॥

मन का विषय=वृत्तिरहित हो जाना ही ध्यान है।

उभयथाऽप्यविशेषश्चेन्नैवमुपरागनिरोधाद्विशेषः ॥२६॥

ध्यान आदि के अनुष्ठान करने या न करने—दोनों अवस्थाओं में आत्मा समान रहता है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं क्योंकि ध्यान आदि द्वारा क्लेश आदि के निरोध से आत्मा की विशेष अवस्था का अनुभव होता है।

निःसङ्गेऽप्युपरागोऽविवेकात् ॥२७॥

असङ्ग आत्मा में भी अविवेक के कारण क्लेश आदि विषयों का सम्बन्ध हो जाता है।

जवास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः ॥२८॥

जवाकुसुम और स्फटिक के समान बुद्धि का आत्मा में उपराग नहीं होता किन्तु पुरुष के चेतन होने से उसमें राग का अभिमान होता है।

ध्यानधारणाभ्यासवैराग्यादिभिस्तन्निरोधः ॥२९॥

ध्यान, धारणा, अभ्यास और वैराग्य से उन वासनाओं को रोका जा सकता है।

लयविक्षेपयोर्व्यावृत्त्येत्याचार्याः ॥३०॥

लय=निद्रावृत्ति और विक्षेप (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति) इन दोनों की निवृत्ति से उपराग का निरोध होता है, ऐसा अनेक आचार्य मानते हैं।

न स्थाननियमश्चित्तप्रसादात् ॥३१॥

ध्यान लगाने के लिए स्थानविशेष का नियम नहीं है क्योंकि समाधिलाभ चित्त-प्रसाद=अन्तःकरण के स्वच्छ एवं निर्दोष होने से होता है।

प्रकृतेराद्योपादानताऽन्येषां कार्यत्वश्रुतेः ॥३२॥

सब पदार्थों का मूल कारण प्रकृति है क्योंकि सब पदार्थ प्रकृति के कार्य हैं, यह बात शब्दप्रमाण से सिद्ध है।

नित्यत्वेऽपि नात्मनो योग्यत्वाभावात् ॥३३॥

पुरुष के नित्य होने पर भी वह जगत् का उपादानकारण नहीं, क्योंकि उसमें जगत् का उपादानकारण होने की योग्यता (सत्त्व आदि गुणयोग और परिणाम धर्म) नहीं हैं।

श्रुतिविरोधान्न कुतर्कापसदस्यात्मलाभः ॥३४॥

श्रुतिविरुद्ध होने पर जो आत्मा को उपादानकारण मानते हैं, वे अपने कुतर्क के कारण भ्रमजाल में पड़े हैं, ऐसे कुतर्कियों को आत्मदर्शन नहीं होता।

पारम्पर्येऽपि प्रधानानुवृत्तिरणुवत् ॥३५॥

कार्य और कारण की परम्परा का क्रम होने पर भी अणु के समान प्रधान=प्रकृति की अनुवृत्ति रहती है।

सर्वत्र कार्यदर्शनाद् विभुत्वम् ॥३६॥

सारी दिशाओं में, समस्त ब्रह्माण्ड में कार्य देखे जाने से उपादानकारण प्रकृति को

विभु कहा जाता है।

गतियोगेऽप्याद्यकारणताऽहानिरणुवत् ॥३७॥

क्रिया का सम्बन्ध होने पर भी प्रकृति को आदि कारण मानने में कोई हानि नहीं है, अणु के समान।

प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य न नियमः ॥३८॥

प्रसिद्ध पृथिव्यादि से प्रकृति=मूल उपादानकारण कुछ विशिष्ट होता है, अतः यह नियम नहीं है कि मूल उपादानकारण भी ठीक देखे-जैसा हो।

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ॥३९॥

सत्त्व, रजस् और तमस्—ये प्रकृति=मूल उपादानकारण के धर्म नहीं हैं, अपितु मूल उपादान के रूप हैं।

अनुपभोगेऽपि पुमर्थं सृष्टिः प्रधानस्योष्ट्रकुंकुमवहनवत् ॥४०॥

जैसे ऊँट अपने उपभोग में न आने पर भी बहुमूल्य केसर को दूसरे के लिए ढोता है, ऐसे ही प्रकृति की सृष्टि अपने लिए नहीं अपितु चेतनपुरुष के लिए होती है।

कर्मवैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम् ॥४१॥

पुरुषों के कर्मों की विविधता के कारण सृष्टि की विचित्रता, अनेकरूपता है।

साम्यवैषम्याभ्यां कार्यद्वयम् ॥४२॥

विविधतापूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति और विनाश—ये दो कार्य सत्त्वादि गुणों की विषमता और समता से होते हैं।

विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत् ॥४३॥

विवेक द्वारा मोक्ष को प्राप्त हुए मनुष्य के लिए प्रधान=प्रकृति की सृष्टि नहीं होती, लोक की भाँति कृतकृत्यता होने से (जैसे लोक में भोजन से तृप्त मनुष्य पुनः भोजन के लिए प्रवृत्त नहीं होता)।

नान्योपसर्पणेऽपि मुक्तोपभोगो निमित्ताभावात् ॥४४॥

जो बद्ध हैं उनके लिए कार्यसञ्चालन होते रहने पर भी मुक्तात्मा को उन विषय-वृत्तियों का उपभोग नहीं होता क्योंकि उपभोग का निमित्त अविवेक उस समय नहीं रहता।

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः ॥४५॥

सुख-दुःख, जन्म-मरण की व्यवस्था से निश्चय होता है कि आत्माएँ असंख्य हैं।

उपाधिश्चेत् तत्सिद्धौ पुनर्द्वैतम् ॥४६॥

यदि सुख-दुःख, जन्म-मरण, बन्ध और मोक्ष को उपाधि के कारण माना जाए तो उपाधि के सत्य सिद्ध होने पर फिर अनेकता हो जाती है।

द्वाभ्यामपि प्रमाणविरोधः ॥४७॥

अविद्या और पुरुष दो तत्त्व मानने पर भी अद्वैत प्रमाण का स्पष्ट विरोध होता है।

द्वाभ्यामप्यविरोधान्न पूर्वमुत्तरं च साधकाभावात् ॥४८॥

अविद्या को प्रकृति और आत्मा को चेतन पुरुष स्वीकार करने पर दोनों का अस्तित्व मानने पर भी हमारा (सूत्रकार का) कोई विरोध नहीं, परन्तु साधक प्रमाणों के अभाव में प्रतिपक्षी का पहला और पिछला (उपाधि द्वारा जन्म-मरण की व्यवस्था और

आत्मा का एकत्व) कथन सिद्ध नहीं होता।

प्रकाशतस्तत्सिद्धौ कर्मकर्तृविरोधः ॥४९॥

स्वप्रकाश होने से आत्मैकत्व की सिद्धि मानने पर कर्म और कर्त्ता का विरोध आता है। (प्रकाश्य और प्रकाशक एक नहीं हो सकते।)

जडव्यावृत्तो जडं प्रकाशयति चिद्रूपः ॥५०॥

जड़तत्त्व से भिन्न चेतन आत्मा जड़ अन्तःकरण आदि को प्रकाशित करता है।

न श्रुतिविरोधो रागिणां वैराग्याय तत्सिद्धेः ॥५१॥

आत्मा की अनेकता का श्रुतिवाक्यों से कोई विरोध नहीं है। जिन श्रुतिवाक्यों में अद्वैतवाद की झलक दिखाई देती है, वह तो केवल इसलिए है कि विषयासक्त पुरुषों में वैराग्य उत्पन्न किया जाए।

जगत्सत्यत्वमदुष्टकारणजन्यत्वाद् बाधकाभावात् ॥५२॥

जगत् सत्य है, क्योंकि इसका मूल कारण प्रकृति नित्य है और जगत् के असत्य होने में कोई प्रमाण नहीं है।

प्रकारान्तरासंभवात् सदुत्पत्तिः ॥५३॥

अन्य किसी प्रकार से सम्भव न होने से (असत् आदि से उत्पन्न न होने से) सत् से सत् की उत्पत्ति होती है, ऐसा मानना ही ठीक है।

अहंकारः कर्त्ता न पुरुषः ॥५४॥

अहंकार कर्त्ता है, पुरुष कर्त्ता नहीं।

चिदवसाना भुक्तिस्तत्कर्मार्जितत्वात् ॥५५॥

भोग पुरुष के लिए हैं, चेतनकृत कर्मों के द्वारा अर्जित होने से अन्तःपुरुष भोक्ता है। जब पुरुष भोक्ता है तो कर्त्ता भी है।

चन्द्रादिलोकेऽप्यावृत्तिर्निमित्तसद्भावात् ॥५६॥

चन्द्र आदि लोकों में पहुँचने पर भी कृतकृत्यता नहीं होती, वहाँ से भी लौटना पड़ता है, क्योंकि पुनर्जन्म के निमित्त अविवेक और वासना आदि वर्तमान रहते हैं।

लोकस्य नोपदेशात् सिद्धिः पूर्ववत् ॥५७॥

किसी भी मनुष्य की उपदेशश्रवण मात्र से मुक्ति नहीं होती पूर्वकथन की भाँति। श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि के अनुष्ठान से मुक्ति की सिद्धि होती है।

पारम्पर्येण तत्सिद्धौ विमुक्तिश्रुतिः ॥५८॥

परम्परा से विवेक की सिद्धि होने पर (अथवा श्रवणचतुष्टय के सिद्ध होने पर) मोक्ष का होना श्रुति-प्रतिपादित है।

गतिश्रुतेश्च व्यापकत्वेऽप्युपाधियोगाद् भोगदेशकाललाभो व्योमवत् ॥५९॥

गतिश्रुति से आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में पहुँचनेवाला होने पर भी उसे भोगदेश और काल की प्राप्ति शरीर आदि के सम्बन्ध से होती है, आकाश के समान।

अनधिष्ठितस्य पूतिभावप्रसंगान्न तत्सिद्धिः ॥६०॥

विना आत्मा के शरीर के सड़ जाने या विगड़ जाने की स्थिति से आत्मा के विना शरीर की रचना सम्भव नहीं।

अदृष्टद्वारा चेदसम्बद्धस्य तदसम्भवाज्जलादिवदंकुरे ॥६१॥

यदि अदृष्ट (शुभ-अशुभ कर्मों) द्वारा देह की रचना मानी जाए तो आत्मा से सम्बन्धरहित तत्त्वों का शरीर-रचना में कारण होना सम्भव नहीं, जैसे अंकुरोत्पत्ति में बीजरूप जीवत्व के बिना जल, खाद आदि योग का हेतु निरर्थक है।

निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहंकारधर्मा ह्येते ॥६२॥

आत्मा के निर्गुण=केवल चेतनस्वरूप होने से उसमें अदृष्ट का असम्भव होने से, ये अदृष्ट आदि अहंकार के धर्म हैं।

विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात् ॥६३॥

बुद्धि आदि सहित आत्मा का जीव होना कहा जाता है, अन्वय-व्यतिरेक से।

अहंकारकर्त्रधीनः कार्यसिद्धिर्नेश्वराधीना प्रमाणाभावात् ॥६४॥

जीव की कार्यसिद्धि अहंकाररूपकर्त्ता के अधीन होती है, ईश्वराधीन नहीं, क्योंकि जीव ईश्वर के अधीन कार्य करता है—इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता।

अदृष्टोद्भूतिवत् समानत्वम् ॥६५॥

अदृष्ट से उत्पन्न होने के समान, पुरुषार्थ से उत्पन्न कहना भी वैसा ही है।

महतोऽन्यत् ॥६६॥

शुद्ध बुद्धितत्त्व से प्रकृति-पुरुष विवेकज्ञान होता है।

कर्मनिमित्तः प्रकृतेः स्वस्वामिभावोऽप्यनादिर्बीजांकुरवत् ॥६७॥

प्रकृति और पुरुष के साथ स्व-स्वामिसम्बन्ध कर्मरूप कारण से होता हुआ भी बीज और अंकुर के समान प्रवाहरूप से अनादि है।

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ॥६८॥

अथवा अविवेकरूप कारण से आत्मा प्रकृति के सम्पर्क में आता है, ऐसा आचार्य पञ्चशिख मानते हैं।

लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ॥६९॥

लिङ्गशरीर (सूक्ष्मशरीर) के निमित्त से प्रकृति-पुरुष का सम्बन्ध होता है, ऐसा आचार्य सनन्दन मानते हैं।

यद्वा तद्वा तदुच्छित्तिः पुरुषार्थस्तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः ॥७०॥

जो कोई भी निमित्त हो, प्रकृति-पुरुष के स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध का उच्छेद होना ही पुरुषार्थ है, उसका समूल उच्छेद ही पुरुषार्थ है। 'तदुच्छित्तिः पुरुषार्थः' पदों की द्विरुक्ति अध्याय और ग्रन्थ-समाप्ति की सूचक है।

॥ इति षष्ठोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं चेदं सांख्यदर्शनम् ॥

योगदर्शनम्

योगदर्शन एक दृष्टि में

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि की रचना है। इस ग्रन्थ में चार पाद हैं। सूत्रों की संख्या १९४ है। आकार की दृष्टि से यह दर्शनों में सबसे छोटा है परन्तु महत्त्व की दृष्टि से सब दर्शनों में महान् है।

योग शब्द के अनेक अर्थ हैं। योग शब्द का अर्थ जोड़, मिलाना भी होता है। (युजिर् योगे)। योग शब्द 'युज समाधौ' से भी सिद्ध होता है। योग दर्शन में यह शब्द दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

योगशास्त्र के चार व्यूह—जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और औषध—ये चार व्यूह हैं, इसी प्रकार योगशास्त्र में संसार, संसार हेतु, मोक्ष और मोक्षोपाय—ये चार व्यूह माने जाते हैं। दुःखमय संसार हेय है। प्रकृति का संयोग दुःखमय संसार का हेतु है। प्रकृति के संयोग की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है और उसका उपाय है—सम्यग् दर्शन।

योग के साधन—क्लेशों से मुक्ति पाने और चित्त को समाहित करने के लिए योग के आठ अङ्गों का अभ्यास करना आवश्यक है—

१. **यम**—का अर्थ है संयम। यम पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

२. **नियम**—भी पाँच हैं—१. शौच—आन्तरिक और बाह्य शुद्धि २. सन्तोष, ३. तप, ४. स्वाध्याय और ५. ईश्वरप्रणिधान।

३. **आसन**—स्थिरता और सुखपूर्वक एक ही स्थिति में बहुत देर तक बैठने का नाम आसन है। ध्यान के लिए सिद्ध, पद्म, सुख, स्वस्तिक आदि अनेक आसन हैं।

४. **प्राणायाम**—श्वास और प्रश्वास की गति के विच्छेद का नाम प्राणायाम है।

५. **प्रत्याहार**—इन्द्रियों को रूप, रस आदि अपने-अपने विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने का नाम प्रत्याहार है।

६. **धारणा**—चित्त को नाभिचक्र, आज्ञाचक्र आदि किसी स्थान में स्थिर कर देना धारणा है।

७. **ध्यान**—किसी स्थान में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब तेलधारावत् एक प्रवाह में संलग्न होता है, तब उसे ध्यान कहते हैं। ध्यान में ध्यान, ध्येय और धाता का पृथक्-पृथक् भान होता है।

८. **समाधि**—जब ध्यान ही ध्येय के आकार में भासित हो और अपने स्वरूप को छोड़ दे तो वही समाधि है। समाधि में ध्यान और ध्याता का भान नहीं होता, केवल ध्येय रहता है।

योगदर्शन में ईश्वर—क्लेश, कर्म, कर्मों के फल और उनसे उत्पन्न वासनाओं से असंस्पृष्ट एक विशेष प्रकार के पुरुष को ईश्वर कहते हैं। उसका सर्वश्रेष्ठ नाम प्रणव=ओम् है। ओम् के अर्थसहित जप से अपने स्वरूप का साक्षात्कार और योग के विघ्नों का नाश होता है।

योगदर्शनम्

अथ प्रथमः समाधिपादः

अथ योगानुशासनम् ॥१॥

अब हम योगाभ्यासियों के मङ्गल के लिए अधिकारपूर्वक वेदादिशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित, ऋषि-महर्षियों द्वारा उपदिष्ट, परम्परागत योगशास्त्र का आरम्भ करते हैं।

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥

योग क्या है ? चित्त (मन की स्मरणात्मक शक्ति) की वृत्तियों को सब बुराई से हटाकर तथा शुभ गुणों में स्थिर करके परमेश्वर के सामीप्य में मोक्ष प्राप्त करने को 'योग' कहते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥३॥

(इस योग का फल क्या है ?) चित्तवृत्ति के निरुद्ध होने पर जीवात्मा की सर्वसाक्षी, सर्वान्तिर्यामी परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥४॥

निरुद्धावस्था के अतिरिक्त अन्य दशाओं (व्युत्थान काल) में भी योगी की वृत्ति सदा हर्ष-शोक, हानि-लाभ, मान-अपमान से रहित होकर उत्साह और आनन्दयुक्त रहती है। (संसारी मनुष्यों की वृत्ति सदा हर्ष-शोक में डूबी रहती है।)

वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥५॥

वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं। वे क्लिष्ट (अविद्या आदि क्लेशसहित, बन्धन में डालनेवाली) और अक्लिष्ट (क्लेशरहित, मोक्षकारक)—दो प्रकार की होती हैं।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥६॥

१. प्रमाण (यथार्थ ज्ञान का साधन), २. विपर्यय (मिथ्या ज्ञान), ३. विकल्प (वस्तुशून्य) ४. निद्रा (सोना) और ५. स्मृति (पूर्वदृष्ट या श्रुत पदार्थों का स्मरण)—ये पाँच वृत्तियाँ हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि ॥७॥

प्रमाणवृत्ति तीन प्रकार की है—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान और ३. आगम=शब्द-प्रमाण (मुख्यतया वेद ही शब्दप्रमाण है, वेदानुकूल आप्तोपदिष्ट सद्ग्रंथ भी शब्द-प्रमाण हो सकते हैं।)

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ॥८॥

किसी वस्तु के वास्तविक स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना, जैसे को तैसा न जानना, अन्य में अन्य की भावना कर लेना—जैसे सीप में चाँदी का भ्रम होना—यह मिथ्या ज्ञान ही विपर्ययवृत्ति है। (विपर्यय को ही अविद्या कहते हैं। यही सारे अनर्थों की जड़ है।)

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥९॥

शब्दमात्र से जिसका ज्ञान हो परन्तु ज्ञेय पदार्थ कुछ भी न हो वह 'विकल्पवृत्ति' कहलाती है (जैसे वन्ध्या-पुत्र, आकाशपुष्प)। इसी विकल्पवृत्ति से संशयात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है।

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

जाग्रत् तथा स्वप्न में होनेवाले अनुभवों की 'अभाव' के रूप में प्रतीति करानेवाली वृत्ति 'निद्रावृत्ति' कहलाती है।

अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः ॥११॥

अनुभव किये हुए विषय का न भूलना, यथाक्रम सब उपस्थित रहना, उस विषय का निरन्तर ध्यान बना रहना ही 'स्मृतिवृत्ति' है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥१२॥

इन पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥१३॥

अभ्यास और वैराग्य—इन दोनों में से चित्त की स्थिरता के लिए, चित्त को बाह्य विषयों से रोककर, उत्साह और दृढ़ता के साथ अष्टाङ्ग-योग के सतत अनुष्ठान करने का नाम अभ्यास है।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥१४॥

वह अभ्यास दीर्घकाल तक, निरन्तर और श्रद्धापूर्वक (तप, ब्रह्मचर्य, विद्या, श्रद्धा और वैराग्यपूर्वक) सेवन करने पर पक्का होता है।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ॥१५॥

देखे और सुने हुए (इन्द्रियों द्वारा साक्षात्कार किये हुए और शास्त्र एवं आचार्यों द्वारा सुने गये अतीन्द्रिय) विषयों की तृष्णा, वासना से रहित चित्त की स्थिति को वशीकार नामक अपर वैराग्य कहते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥१६॥

परमात्मा-दर्शन से सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में तृष्णा का अभाव हो जाना पर-वैराग्य कहाता है।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥१७॥

वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों के सम्बन्ध से जो चित्तवृत्ति-निरोध होता है, उसे सम्प्रज्ञात, सबीज अथवा सविकल्प समाधि कहते हैं।

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥१८॥

अभ्यास करते-करते बाह्य संस्कारों से सर्वथा शून्य होकर जब योगी को आत्मा

और परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ प्रतीत नहीं होता, उस अवस्था को असम्प्रज्ञात, निर्बीज अथवा निर्विकल्प समाधि कहते हैं।

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ॥१९॥

विदेह (देह के विषय-विकारों से सर्वथा मुक्त) और प्रकृतिलय (जो प्रकृति अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओं का लय कर चुके) योगियों को 'भवप्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ॥२०॥

विदेह और प्रकृतिलय योगियों से भिन्न मुमुक्षु योगियों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा से 'उपाय प्रत्यय' नामक असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥२१॥

तीव्र संवेगवालों (तीव्र उत्कण्ठावाले, तीव्र वैराग्य एवं तीव्र साधना करनेवालों) को शीघ्र सिद्धि=समाधि की प्राप्ति होती है।

मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥२२॥

मृदु, मध्य और अधिमात्र के भेद से उससे भी शीघ्र समाधि-लाभ और समाधि-फल प्राप्त होता है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥२३॥

अथवा ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा अतिशीघ्र समाधिलाभ होता है।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥२४॥

अविद्यादि पञ्चक्लेश, शुभाशुभ कर्म, शुभाशुभरूप कर्मजन्य सुख-दुःखरूप फल और वासनाओं के संसर्ग से रहित पुरुषविशेष ईश्वरपद वाच्य है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥२५॥

उस ईश्वर में ज्ञान आदि गुणों की पराकाष्ठा है; उसके सामर्थ्य की सीमा नहीं है।

स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥२६॥

वह परमेश्वर कालद्वारा नष्ट न होने के कारण पूर्व ऋषि-महर्षियों का भी गुरु है।

तस्य वाचकः प्रणवः ॥२७॥

उस ईश्वर का यथार्थरूप बतलानेवाला नाम प्रणव=ओम् है।

तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥२८॥

उस 'ओम्' का जप उसके अर्थ की भावनापूर्वक करना चाहिए।

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥२९॥

उस 'ओम्' के जप से आत्मसाक्षात्कार एवं विघ्नों का नाश होता है।

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वा-
नवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥३०॥**

व्याधि, स्त्यान=जी चुराना, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति=अरुचि,

भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व=अस्थायित्व और अनवस्थितत्व=चञ्चलता—ये नौ चित्तविक्षेप हैं, जिन्हें अन्तराय=विघ्न भी कहते हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥३१॥

दुःख, दौर्मनस्य=मन की विकलता, अङ्गमेजयत्व=अंगों का कांपना, श्वास और प्रश्वास—ये पांच चित्तविक्षेपों के साथी हैं।

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥३२॥

उन विक्षेपों को हटाने के लिए एकतत्त्व (ईश्वर-चिन्तन) का अभ्यास करना चाहिए।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ॥३३॥

सुखी पुरुषों के साथ मित्रता, दुःखियों पर करुणा=दया, पुण्यात्माओं के प्रति मुदिता=प्रसन्नता और पापियों के प्रति उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता है।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥३४॥

अथवा प्राण को बलपूर्वक बाहर निकालने और रोकनेसे भी चित्त निर्मल, प्रसन्न और स्थिर होता है।

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ॥३५॥

अथवा दिव्यरूपादि विषयवाली चित्त की वृत्ति उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करनेवाली होती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥३६॥

अथवा शोक से रहित और सात्त्विक प्रकाशयुक्त वृत्ति भी योगसाधक के चित्त को एकाग्र एवं निर्मल बनाती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

अथवा रागरहित चित्त भी स्थिर हो जाता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

अथवा स्वप्नज्ञान और निद्राज्ञान का आलम्बन=आश्रय लेने से भी चित्त स्थिर हो जाता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा ॥३९॥

अथवा अपनी इच्छानुकूल हृदय-कमल आदि, किसी प्राकृतिक दृश्य, किसी सुन्दर वस्तु का ध्यान करने से भी चित्त एकाग्र हो जाता है।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥४०॥

चित्तप्रसाद योगी का परमाणु से लेकर परम महान् आकाशपर्यन्त वशीकार होता है। (अणु और महान् पदार्थों में चित्त को स्थिर करने में कहीं रुकावट नहीं होती।)

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥४१॥

शुद्ध स्फटिकमणि की भाँति वृत्तिरहित निर्मल चित्त का ग्रहीता (आत्मा)

ग्रहण (अन्तःकरण और इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (पञ्चभूत एवं उनके विषयों) में स्थित होकर तदाकार हो जाना ही सम्प्रज्ञात समाधि है।

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥४२॥

सम्प्रज्ञात समाधियों में शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों विकल्पों से मिली हुई समाधि 'सवितर्का' समाधि कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥४३॥

स्मृति के अत्यन्त शुद्ध हो जाने पर अपने स्वरूप से शून्य-सी, अर्थमात्र निर्भासनेवाली 'निर्वितर्का' समाधि कहाती है।

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥४४॥

इस सवितर्का और निर्वितर्का समाधि के निरूपण से ही सूक्ष्म पदार्थ में की जानेवाली सविचारा और निर्विचारा समाधियों की व्याख्या समझ लेनी चाहिए।

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥४५॥

सूक्ष्म विषय में होनेवाली सविचारा और निर्विचारा समाधि के विषय की अवधि=सीमा परमात्मा-पर्यन्त है। (लिङ्ग=प्रकृति का ज्ञान तो वैज्ञानिक भी प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु अलिङ्ग=परमात्मा का साक्षात्कार योगी ही कर पाते हैं।)

ता एव सबीज समाधिः ॥४६॥

वे (सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विकारा) समाधियाँ ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥४७॥

निर्विचार-समाधि में प्रवीणता प्राप्त होने पर योगी को अध्यात्मप्रसाद=प्रज्ञालोक, अतिशय निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥४८॥

उस समय योगी की बुद्धि ऋतम्भरा (सत्य को धारण करनेवाली) हो जाती है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥४९॥

यह ऋतम्भरा प्रज्ञा श्रुत (वेद-शास्त्र) और अनुमानजन्य प्रज्ञा की अपेक्षा विलक्षण होती है, क्योंकि यह मनुष्य की बुद्धि की सीमाओं को लाँघकर उससे परे की वस्तुओं का हस्तामलकवत् साक्षात्कार एवं अनुभव कराती है।

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥५०॥

इस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न हुआ संस्कार अन्य संस्कारों को दूर करनेवाला होता है।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥५१॥

उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों का भी निरोध हो जाने पर, सबका निरोध हो जाने के कारण निर्बीज=असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि हो जाती है।

॥ इति प्रथमः समाधिपादः ॥

अथ द्वितीयः साधनपादः

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥१॥

तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान=आत्मसमर्पण—ये तीनों क्रियायोग कहे जाते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥२॥

यह क्रियायोग समाधि की सिद्धि करनेवाला और अविद्यादि पञ्चक्लेशों को क्षीण करनेवाला है।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ॥३॥

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पाँच क्लेश हैं।

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥४॥

१. प्रसुप्त=जिसमें क्लेश सोये-से रहते हैं, २. तनु=जिसमें क्लेश सूक्ष्म रहते हैं, ३. विच्छिन्नता=जिसमें क्लेश सजातीय वा विजातीय क्लेशों से दवे रहते हैं और ४. उदार=जिसमें क्लेश पूर्णरूप से काम में आ रहे हैं—इन चार प्रकार के अस्मितादि चार क्लेशों का उद्गम स्थान अविद्या है।

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥५॥

अनित्य शरीर आदि में नित्य बुद्धि और नित्य ईश्वर आदि में अनित्य बुद्धि, अपवित्र मल-मूत्रादि परिपूर्ण शरीर में पवित्र बुद्धि तथा सत्यविद्या, धर्म, सत्सङ्ग आदि में अपवित्र बुद्धि, काम-क्रोधादि दुःखरूप व्यवहारों में सुख मिलने की आशा करना एवं शम-दम, सन्तोष आदि सुखरूप व्यवहारों में दुःखबुद्धि करना, अपिच जड़ में चेतन भाव और चेतन में जड़भाव रखना—यह चार प्रकार की अविद्या है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥६॥

द्रष्टा=आत्मा और दर्शनशक्ति=बुद्धि अथवा चित्त—इन दोनों में अभेद-प्रतीति, दोनों को एक मानने का नाम 'अस्मिता' है।

सुखानुशयी रागः ॥७॥

सुख-भोग के पश्चात् चित्त में उस सुख के पुनः भोगने की जो अभिलाषा बनी रहती है, उसका नाम राग है।

दुःखानुशयी द्वेषः ॥८॥

दुःख भोगने के पश्चात् चित्त में जो घृणात्मक भाव=संस्कार रह जाता है, उसी का नाम द्वेष है।

स्वरसवाही विदुषोऽपि तन्वनुबन्धोऽभिनिवेशः ॥९॥

विवेकशील पुरुषों में भी मूर्खों के समान स्वभावसिद्ध मरणभय को 'अभिनिवेश' कहते हैं।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥१०॥

वे अविद्यादि क्लेश क्रियायोग के द्वारा सूक्ष्म हो जाने पर निर्बीज समाधि द्वारा चित्त को उसके कारण में विलीन कर उनके उत्पत्ति-स्थान में लौटा देने चाहिएँ।

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥११॥

उन क्लेशों की जो स्थूलवृत्तियाँ हैं, उनका नाश ध्यान के द्वारा करना चाहिए।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥१२॥

क्लेश के मूल सञ्चित कर्म को इस जन्म में और अगले जन्म में भोगना ही पड़ता है। (**प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः—प्रारब्ध कर्मों का क्षय भोगने से ही होता है।**)

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥१३॥

अविद्यादि पञ्चक्लेशरूप मूल के विद्यमान रहने तक उसका फल जाति=पशु-पक्षी, मनुष्य आदि, आयु=जीवनकाल और भोग=सुख-दुःख का चक्र चलता रहता है।

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥१४॥

शुभ और अशुभ कर्मों के कारण वे (जाति, आयु और भोग) हर्ष और शोक तथा सुख और दुःखरूप फल को देनेवाले हैं।

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥१५॥

परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख—यह तीन प्रकार का दुःख विषय-सुखभोग काल में भी विद्यमान रहने, और सत्त्वादि तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी=ज्ञानी पुरुष के लिए सब-के-सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।

हेयं दुःखमनागतम् ॥१६॥

भविष्य में आनेवाला दुःख (जिस कर्मफल का बीज अभी नहीं बोया है) हेय=त्यागने योग्य, हटाने योग्य है। (जिन कर्मफलों का बीज अभी नहीं बोया है, उसे मत **बोओ**।)

दृष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥१७॥

द्रष्टा=जीवात्मा का दृश्य=सृष्टि के साथ जो भोक्तापन का काल्पनिक संयोग है, वही उक्त हेय (त्यागने योग्य दुःख) का कारण है।

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥१८॥

प्रकाश=सत्त्व, क्रिया=रजस् और स्थिति=तमोगुण जिसका स्वभाव है, भूत=पञ्चस्थूलभूत और पाँच सूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियाँ जिसका स्वरूप है, पुरुष=जीवात्मा के लिए भोग और मोक्ष सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है—उसे दृश्य=सृष्टि कहते हैं।

विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

विशेष (पृथिवी आदि पाँच स्थूलभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक मन—इन सोलह तत्त्वों का नाम विशेष है), अविशेष (शब्दादि पाँच तन्मात्राएँ और अहंकार—ये छह अविशेष हैं), लिङ्गमात्र (उपर्युक्त बाईस तत्त्वों का कारण

महत्तत्त्व=बुद्धि) और अलिङ्ग (मूल प्रकृति या माया)—ये चौबीस तत्त्व गुणों की अवस्थाएँ=परिणाम हैं।

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥२०॥

द्रष्टा जीवात्मा ज्ञानस्वरूप, चेतन और स्वभाव से सर्वथा शुद्ध, निर्मल होने पर भी बुद्धि की वृत्तियों का अनुसरण करनेवाला है।

तदर्थ एव दृश्यस्याऽऽत्मा ॥२१॥

उस द्रष्टा जीवात्मा के लिए ही दृश्य=सृष्टि का स्वरूप है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥२२॥

जिस पुरुष का भोग और अपवर्गरूप कार्य पूर्ण हो गया है, यह दृश्य उसके लिए नष्ट होता हुआ भी दूसरों के लिए विद्यमान रहता है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥२३॥

प्रकृति और पुरुष, भोग्य और भोक्ता—इन दोनों के स्वरूप की उपलब्धि=प्राप्ति का जो कारण है, वह संयोग है।

तस्य हेतुरविद्या ॥२४॥

उक्त संयोग (चेतन पुरुष का प्रकृति के साथ सम्बन्ध) अविद्या के कारण है।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥२५॥

उस अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता है। यही हान (पुनर्जन्मादि भावी दुःखों का अत्यन्त अभाव) है और वही चैतन्य आत्मा का कैवल्य=मोक्ष है।

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥२६॥

पूर्वोक्त हान (अविद्यादिनिवृत्ति) का उपाय निश्चल=स्थिर और निर्मल, निर्दोष विवेकज्ञान है।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥२७॥

उस विवेकज्ञानप्राप्त योगी की प्रज्ञा=बुद्धि सात प्रकार की उत्कृष्ट अवस्था-वाली हो जाती है।

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥२८॥

योग के आठ अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षय होने पर विवेकख्याति-पर्यन्त ज्ञान का प्रकाश होता है। (आत्मा का स्वरूप मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा पृथक् दिखाई देता है—यही विवेकख्याति है।)

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥२९॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अङ्ग हैं।

अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय=चोरी न करना, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (बहुत अधिक संग्रह न करना अथवा विषय और अभिमान आदि दोषों से रहित होना)—ये पाँच यम हैं।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

ये यम जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित सार्वभौम होने पर महाव्रत हो जाते हैं।

शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥३२॥

शौच=आन्तरिक और बाह्य पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान=आत्मसमर्पण—ये पाँच नियम हैं।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ॥३३॥

वितर्क (हिंसा आदि विरोधी) भाव उत्पन्न होने पर उनके प्रतिपक्षी=विपरीत विचारों का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए।

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् ॥३४॥

हिंसा आदि वितर्क १. कृत=स्वयं निष्पादित, २. कारित=दूसरों द्वारा निष्पादित और ३. अनुमोदित—तीन प्रकार के होते हैं। इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं जो मृदु, मध्य और अधिमात्र भेदवाले होते हैं। ये दुःख और अज्ञानरूप अनन्त फल देनेवाले हैं—इस प्रकार का चिन्तन प्रतिपक्ष भावना कहलाता है।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः ॥३५॥

अहिंसा में प्रतिष्ठित होने पर, अहिंसासिद्ध योगी के सान्निध्य में वैर का त्याग हो जाता है—अहिंसासिद्ध योगी किसी भी प्राणी के प्रति वैर की भावना नहीं रखता और स्वाभाविक विरोधी हिंसक प्राणी भी योगी के सान्निध्य में अपना वैरभाव छोड़ देते हैं।

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ॥३६॥

जब योगी सत्य में दृढ़ हो जाता है, तब उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। वह जो कहता है, वैसा ही हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥३७॥

मनसा, वाचा, कर्मणा चोरी-त्याग से उस योगी के समक्ष सब प्रकार के रत्न उपस्थित हो जाते हैं, उसे किसी वस्तु का अभाव नहीं रहता।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥३८॥

ब्रह्मचर्य में प्रतिष्ठा=दृढ़ता होने पर वीर्य=बल, शक्ति, पराक्रम की प्राप्ति होती है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः ॥३९॥

अपरिग्रह के सिद्ध होने पर पूर्वजन्म कैसे हुए थे, इस बात का यथार्थ ज्ञान हो जाता है।

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥४०॥

अन्तर्बाह्य शौच में प्रतिष्ठित होने पर योगी को अपने शरीर के अङ्गों से घृणा हो जाती है और दूसरों के शरीर को स्पर्श करने की इच्छा नहीं रहती।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।।४१।।

इसके अतिरिक्त, शौच की सिद्धि होने पर अन्तःकरण की निर्मलता, मन की प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों की वश्यता (इन्द्रियों पर विजय) और आत्म-साक्षात्कार की योग्यता—ये पाँच बातें भी होती हैं।

सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।।४२।।

सन्तोष में दृढ़ता होने पर अनुत्तम=सर्वश्रेष्ठ सुख का लाभ होता है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसः ।।४३।।

तप के प्रभाव से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है तब शरीर और इन्द्रियों का संयम=निग्रह सध जाता है।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।।४४।।

स्वाध्याय से इच्छित ध्येय (भाषा, ज्ञान, आत्मा, परमात्मा) की प्राप्ति होती है; अथवा स्वाध्याय से इष्टदेव परमात्मा की प्राप्ति होती है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।।४५।।

ईश्वरप्रणिधान=आत्मसमर्पण की साधना से समाधि की सिद्धि होती है।

स्थिरसुखमासनम् ।।४६।।

निश्चल, सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।।४७।।

प्रयत्न की शिथिलता (सब प्रकार की चेष्टाओं का त्याग) और अनन्त परमेश्वर में ध्यान लगाने से आसन की सिद्धि होती है।

ततो द्वन्द्वानभिघातः ।।४८।।

आसन के सिद्ध होने पर भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी आदि द्वन्द्व बाधा नहीं पहुँचाते।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।।४९।।

आसन के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का नाम प्राणायाम है।

बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।।५०।।

बाह्यवृत्ति=रेचक, अभ्यन्तरवृत्ति=पूरक, और स्तम्भवृत्ति=कुम्भक—यह तीन प्रकार का प्राणायाम देश (हृदय या मस्तिष्क तक) काल (इतनी देर तक) तथा संख्या से दीर्घ और सूक्ष्म प्रकार से करना निश्चित किया गया है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः ।।५१।।

बाहर और भीतर के विषयों को त्याग देने से स्वतः होनेवाला चौथा प्राणायाम (केवल कुम्भक) है; अथवा जब प्राण भीतर से बाहर निकलने लगे तब उस से विरुद्ध उसको न निकलने देने के लिए बाहर से भीतर ले और जब बाहर से भीतर आने लगे तब भीतर से बाहर की ओर प्राण को धक्का देकर रोकता जाए।

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।।५२।।

प्राणायाम के अभ्यास से विवेकज्ञान पर पड़ा हुआ आवरण=परदा क्षीण हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः ॥५३॥

और धारणा में मन की योग्यता=स्थिरता हो जाती है।

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥५४॥

(प्राणायाम का अनुष्ठान करते-करते) इन्द्रियों के अपने विषय से रहित हो जाने पर चित्त के स्वरूप में तदाकार हो जाने का नाम 'प्रत्याहार' है।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् ॥५५॥

प्रत्याहार की सिद्धि हो जाने पर इन्द्रियों की परमवश्यता (इन्द्रियजय) हो जाती है।

॥ इति द्वितीयः साधनपादः ॥

अथ तृतीयो विभूतिपादः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

चित्त का किसी एक देश (शरीर में आज्ञाचक्र आदि, सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य देश अथवा आत्मा-परमात्मा के विषय) में बाँधना, ठहराना 'धारणा' है।

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥२॥

(विषय-)धारणा में चित्त कीवृत्ति की तैलधारावत् अखण्ड तल्लीनता का नाम 'ध्यान' है।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥३॥

जब ध्यान में केवल ध्येय का ही आभास=प्रतीति होती है और साधक के अपने स्वरूप का अभाव-सा (चित्त का स्वरूप शून्य-सा) हो जाता है, तब वही ध्यान समाधि कहलाता है।

त्रयमेकत्र संयमः ॥४॥

धारणा, ध्यान और समाधि—इन तीनों को किसी एक विषय में केन्द्रित करने का नाम 'संयम' है।

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ॥५॥

संयम की सिद्धि हो जाने पर अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति होती है।

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥६॥

उस संयम का क्रम से भूमियों (चित्त की अवस्थाओं) में विनियोग करना चाहिए।

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥७॥

पूर्वोक्त यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—इन पाँच की अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि—ये तीनों अन्तरङ्ग हैं।

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥८॥

उपर्युक्त धारणा, ध्यान और समाधि भी निर्बीज=असम्प्रज्ञात समाधि के बाह्य अङ्ग हैं।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥९॥

व्युत्थान-अवस्था के संस्कारों का दब जाना और निरोध-अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना यह निरोधकाल में चित्त के निरोध का फल है।

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥१०॥

निरोध संस्कार से चित्त की प्रशान्त प्रवाहवाली स्थिति होती है।

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥११॥

चित्त के सभी विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का क्षय होकर एक ही ध्येय-विषय, एक ही विषय का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता की अवस्था का उदय होना समाधि का परिणाम=फल है।

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥१२॥

पूर्वक्षण में शान्त और अगले क्षण में उदित—दोनों वृत्तियों का एकसमान होकर बहते रहना चित्त की एकाग्रता का परिणाम है।

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥१३॥

इस चित्त के एकाग्रता-परिणाम से पञ्चभूतों एवं इन्द्रियों के धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम तथा अवस्था-परिणाम की व्याख्या भी समझ लेनी चाहिए।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥१४॥

शान्त=भूत, उदित=वर्तमान और अव्यपदेश्य=भविष्यत् धर्मों में जो व्याप्त रहता है, आधाररूप से विद्यमान रहता है, उसे धर्मी कहते हैं।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१५॥

परिणामों की भिन्नता क्रमभेद के कारण है।

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥१६॥

धर्म, लक्षण और अवस्था परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्यत् का ज्ञान हो जाता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्व-भूतरुतज्ञानम् ॥१७॥

शब्द, अर्थ=रूप और ज्ञान—इन तीनों का परस्पर अभ्यास हो जाने से मिश्रण प्रतीत होता है; उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों की बोली का ज्ञान हो जाता है।

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥१८॥

संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात् कर लेने पर पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥१९॥

संयम द्वारा दूसरों की चित्तवृत्ति का साक्षात्कार करने पर दूसरों के चित्त का ज्ञान हो जाता है।

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुष्प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२०॥

शरीर के रूप में संयम करने से उस शरीर की ग्राह्यशक्ति रुक जाने और उस शरीर के रूप का नेत्र के प्रकाश के साथ संयोग न रहने पर योगी अन्तर्धान=आँख से ओझल हो जाता है।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥२१॥

सोपक्रम (जिन कर्मों का भोगफल आरम्भ हो चुका है) और निरुपक्रम (जिन कर्मों का भोगफल आरम्भ नहीं हुआ है)—इन दो प्रकार के कर्मों में संयम करने अथवा

अरिष्टों=आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन प्रकार के मृत्युसूचक चिह्नों में संयम करने से मृत्यु का ज्ञान हो जाता है।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥२२॥

मैत्री, करुणा और मुदिता—तीन प्रकार की भावनाओं में संयम करने से इनका बल, सामर्थ्य प्राप्त होता है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥२३॥

हाथी आदि नाना प्रकार के बलों में संयम करने से हाथी आदि के तुल्य बल की प्राप्ति होती है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥२४॥

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के आलोक को सूक्ष्म, व्यवहित=भूमि में गढ़े अथवा आवरण से ढके और विप्रकृष्ट=दूरस्थ पदार्थों पर डालने से उन विषयों का ज्ञान हो जाता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥२५॥

सूर्य में संयम करने से भुवनों=लोक-लोकान्तरों का ज्ञान हो जाता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥२६॥

चन्द्रमा में संयम करने से नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ॥२७॥

ध्रुव में संयम करने से उन नक्षत्रों की गति का ज्ञान हो जाता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥२८॥

नाभि-चक्र में संयम करने से शरीर की रचना का ज्ञान हो जाता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥२९॥

कण्ठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥३०॥

कूर्मनाड़ी में संयम करने से चित्त और शरीर की स्थिरता प्राप्त होती है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥३१॥

मूर्धा=ब्रह्मरन्ध्र की ज्योति में संयम करने से सिद्धपुरुषों=दिव्य ऋषियों, मुक्तात्माओं का दर्शन होता है।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३२॥

अथवा प्रातिभ [३।३५] अन्दर से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान से योगी को प्रत्येक वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥३३॥

हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान हो जाता है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ॥३४॥

बुद्धि और पुरुष—ये दोनों एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। इन दोनों को एक समझना भोग कहलाता है। यह भोग परार्थ होता है। इस परार्थप्रतीति=बुद्धि से भिन्न

स्वार्थप्रतीति = द्रष्टा पुरुष में संयम करने से पुरुष को अपने स्वरूप का ज्ञान होता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते ॥३५॥

उस पुरुषज्ञान से १. प्रातिभ, २. श्रावण = दिव्य शब्द सुनने की शक्ति, ३. वेदन = दिव्य स्पर्शानुभव, ४. आदर्श = दिव्यरूप दर्शन, ५. आस्वाद = दिव्यरसानुभव और ६. वार्ता = दिव्यगन्धानुभव—ये छह सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥३६॥

ये उपर्युक्त सिद्धियाँ समाधि में विघ्न हैं और व्युत्थान = समाधि की इच्छा न रखनेवाले सांसारिक जनों के लिए सिद्धियाँ हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥३७॥

चित्त के बन्धन के कारण के शिथिल करने और प्रचार = गति, मार्ग का ज्ञान होने पर चित का दूसरे के शरीर में प्रवेश किया जा सकता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥३८॥

उदान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने पर योगी के शरीर का जल, कीचड़ और कांटे आदि से संयोग नहीं होता और मृत्यु भी इच्छानुसार होती है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥३९॥

समान वायु पर विजय प्राप्त कर लेने से योगी का शरीर ज्वाला की भाँति दीप्तिमान, अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ॥४०॥

श्रोत्रेन्द्रिय और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य शब्द सुनाई देने लगते हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम् ॥४१॥

शरीर और आकाश के सम्बन्ध विषय में संयम करने से अथवा रुई के समान हल्की वस्तु में संयम करने से आकाश में उड़ने की सिद्धि प्राप्त होती है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः ॥४२॥

मन की जो वृत्ति बिना प्रयत्न के शरीर के बाहर रहने लगती है, उसे अकल्पिता कहते हैं, देहाभिमान से शून्य होने के कारण इसे महाविदेहा भी कहते हैं। इस वृत्ति के प्रादुर्भूत होने पर बुद्धि की ज्ञानशक्ति के आच्छादक रजोगुण और तमोगुणमूलक आवरण नष्ट हो जाते हैं।

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥४३॥

भूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्व—इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से योगी पाँचों भूतों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ॥४४॥

उस भूतजय से अणिमा आदि (अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशत्व) आठ सिद्धियों तथा शरीर की सम्पदा (देह का बलवान् एवं दर्शनीय होना) का प्रादुर्भाव होता है और भूतों के धर्मों से बाधा नहीं होती।

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत् ॥४५॥

रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान कठोरता—ये चार कायसम्पत्=शरीर की सम्पदा हैं।

ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः ॥४६॥

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्व—इन्द्रियों की इन पाँच अवस्थाओं में संयम करने से मनसहित सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त होती है।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४७॥

उस इन्द्रिय-जय से मन के सदृश तीव्रगामित्व, शरीर के बिना भी विषयों को अनुभव करने की शक्ति और प्रकृति पर अधिकार—ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४८॥

बुद्धि और पुरुष—इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान जहाँ बना रहता है, ऐसी सबीज=सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त योगी सब पदार्थों का स्वामी और सर्वज्ञ हो जाता है।

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम् ॥४९॥

उपर्युक्त सिद्धियों में भी वैराग्य होने से दोषबीज क्षय होने पर कैवल्य=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ॥५०॥

स्थानियों=समीप रहनेवालों के निमन्त्रण पर न तो उनके भोगों में सङ्ग=प्रेम करना चाहिए और न ही अभिमान करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से पुनः अनिष्ट की आशंका है।

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम् ॥५१॥

क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकज्ञान उत्पन्न होता है।

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥५२॥

जाति, लक्षण और देशभेद से जिन दो वस्तुओं की भिन्नता निश्चित नहीं होती, दोनों वस्तुएँ तुल्य ज्ञात होती हैं—इन दो तुल्य वस्तुओं में भेद को प्रत्यक्ष करा देनेवाले ज्ञान का नाम विवेकज्ञान है।

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥५३॥

जो संसार-सागर से तारनेवाला, सबको जाननेवाला, सब प्रकार से जाननेवाला और बिना क्रम [पूर्वापर] के जाननेवाला है, वह विवेकज्ञान कहाता है।

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति ॥५४॥

जब बुद्धि और पुरुष—दोनों की समान शुद्धि होती है, तब कैवल्य=मोक्ष हो जाता है।

॥ इति तृतीयो विभूतिपादः ॥

अथ चतुर्थः कैवल्यपादः

जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥१॥

जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप, और समाधि से उत्पन्न होनेवाली पाँच प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं।

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात् ॥२॥

एक जाति से दूसरी जाति में बदल जानारूप जात्यन्तर परिणाम प्रकृति की पूर्णता से होता है। (मनुष्य पशु या पशु मनुष्य नहीं बनता। उसके स्वभाव, सत्त्व आदि में परिवर्तन होता है।)

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥३॥

औषध-सेवन आदि निमित्त प्रकृतियों को चलानेवाले नहीं हैं। उस औषध-सेवन आदि से वरण=आवरण-भेद रुक जाते हैं, जैसे हल चलानेवाला किसान खेत की रुकावट का छेदन करता है।

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥४॥

चित्तों का उपादान कारण अस्मिता (अहंकार) है। इसी अहंकार से योगी अनेक चित्तों को उत्पन्न कर लेता है।

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥५॥

एक चित्त अनेक चित्तों को भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में प्रेरित करता है।

तत्र ध्यानजमनाशयम् ॥६॥

उन उत्पन्न हुए चित्तों में से ध्यान द्वारा उत्पन्न हुआ चित्त वासना से रहित होता है।

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥७॥

योगी के कर्म पुण्य-पापरहित होते हैं परन्तु अन्य मनुष्यों के कर्म (१) पुण्यमय, (२) पापमय और (३) पुण्य-पापमिश्रित—तीन प्रकार के होते हैं।

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम् ॥८॥

उपर्युक्त त्रिविध कर्मों से उनके फलभोगानुकूल वासनाओं की उत्पत्ति होती है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥९॥

जाति, देश और काल—इन तीनों का भेद होने पर भी कर्म के संस्कारों में भेद नहीं होता, क्योंकि स्मृति और संस्कार एकरूपवाले (समान विषयवाले) होते हैं।

तासामनादित्वं चाऽऽशिषो नित्यत्वात् ॥१०॥

ये वासनाएँ अनादि हैं, क्योंकि मनुष्य अपने सदा बने रहने की इच्छा नित्य रखता है।

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ।।११।।

(१) हेतु=अविद्यादि क्लेश और शुभाशुभ कर्म, (२) फल=जाति, आयु और भोग, (३) आश्रय=चित्त और (४) आलम्बन=इन्द्रियों के शब्द आदि विषय—इन चारों के कारण वासनाओं का संग्रह होता है और इनके अभाव से वासनाओं का अभाव हो जाता है।

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ।।१२।।

अविद्या, वासना आदि चित्त की वृत्तियों के धर्मों में काल का भेद रहता है, अतः अतीत=भूत और अनागत=भविष्यत् धर्मस्वरूप से सदा विद्यमान रहते हैं।

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।।१३।।

वे (वस्तु के धर्म, चित्त और वासनादि) समस्त धर्म व्यक्त=वर्तमान स्थिति में और सूक्ष्म=अतीत और अनागत स्थिति में सदैव गुणस्वरूप ही हैं।

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।।१४।।

परिणाम के एक हो जाने से वस्तुतत्त्व (वस्तु का एकत्व) है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।१५।।

वस्तु के एक होने पर भी चित्त के भेद से उन दोनों (चित्त और वस्तु) का मार्ग भिन्न-भिन्न है।

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।।१६।।

दृश्य वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वह वस्तु चित्त का विषय नहीं रहेगी तब उस वस्तु का क्या होगा ?

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम् ।।१७।।

चित्त वस्तु के उपराग (प्रतिबिम्ब) की अपेक्षावाला है, अतः उसके द्वारा वस्तु कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।।१८।।

उस चित्त का स्वामी पुरुष=जीवात्मा परिणामी नहीं है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदा ज्ञात रहती हैं।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।।१९।।

चित्त स्वप्रकाश=प्रकाशस्वरूप नहीं है, क्योंकि वह दृश्य है।

एकसमये चोभयानवधारणम् ।।२०।।

तथा, चित्त और उसके विषय—इन दोनों का ज्ञान एक काल में नहीं हो सकता।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ।।२१।।

एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानने पर उस चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानना पड़ेगा, इस प्रकार अनवस्था दोष उत्पन्न होगा और स्मृतियाँ परस्पर मिश्रित हो जाएँगी।

चित्तेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ।।२२।।

यद्यपि चेतन पुरुष—जीवात्मा क्रियारहित और असङ्ग है, तो भी बुद्धिरूप (चित्तरूप) हो जाने पर उसे अपने चित्त का ज्ञान हो जाता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।।२३।।

द्रष्टा और दृश्य—इन दोनों से प्रतिबिम्बित चित्त सर्व अर्थवाला (सब रूप-रंग-वाला) हो जाता है।

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ।।२४।।

वह चित्त असंख्य वासनाओं से युक्त होने पर भी अपने से भिन्न, दूसरों के लिए है, क्योंकि वह सत्त्व, रजस् और तमस् तीन गुणों का संघात है।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ।।२५।।

विशेषदर्शी (विवेकज्ञान द्वारा चित्त और आत्मा के भेद को प्रत्यक्ष कर लेनेवाले योगी) की आत्मभावविषयक (मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ) भावना सर्वथा निवृत्त हो जाती है।

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।।२६।।

उस समय योगी का चित्त विवेक की ओर प्रवृत्त और मोक्ष के लिए अभिमुख होता है।

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।।२७।।

उस समाधि-दशा के अभाव में अन्य पदार्थों का क्षीयमाण बीजरूप ज्ञान पूर्व-संस्कारों से होता है।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ।।२८।।

उन संस्कारों का नाश अविद्यादि क्लेशों की भाँति (क्लेशस्रोतों के प्रति हेयता की भावना और आत्मनिरीक्षण द्वारा) कहा गया है।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।।२९।।

जब योगी को विवेकख्याति में भी वैराग्य हो जाता है, तब उसके विवेकज्ञान के सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ।।३०।।

उस धर्ममेघ समाधि से अविद्यादि क्लेश-कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्याज्ज्ञेयमल्पम् ।।३१।।

उस समय (क्लेशकर्म की निवृत्ति होने पर) सब प्रकार के आवरण और मल हट जाने से और ज्ञान के अनन्त (सीमारहित) हो जाने से, ज्ञेय पदार्थ अल्प हो जाता है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम् ।।३२।।

उस ज्ञान की अनन्तता से कृतार्थ हुए योगियों के लिए प्रकृति के तीनों गुणों का विकासक्रम समाप्त हो जाता है, पूर्ण हो जाता है। त्रिगुणात्मक देह में रहते हुए भी तीनों गुणों के परिणाम योगी को प्रभावित नहीं कर सकते।

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः ॥३३॥

क्षण का प्रतियोगी (प्रतिक्षण होनेवाला) और जिसका स्वरूप अन्त में जाना जाता है, उसे 'क्रम' कहते हैं।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ॥३४॥

पुरुषार्थशून्य गुणों का (जिनका पुरुषार्थ, कर्त्तव्य, प्रयोजन समाप्त हो चुका है, ऐसे त्रिगुणात्मक चित्त का) अपने कारण=प्रकृति में लीन हो जाने का नाम मोक्ष है; अथवा ज्ञानशक्तिरूप जीवात्मा का सर्वद्रष्टा परमात्मा के स्वरूप में प्रतिष्ठित होने का नाम कैवल्य=मोक्ष है। 'इति' पद शास्त्र की समाप्ति का सूचक है।

॥ इति चतुर्थः कैवल्यपादः ॥

॥ समाप्तं चेदं योगदर्शनम् ॥

मीमांसादर्शनम्

मीमांसा दर्शन एक दृष्टि में

मीमांसा दर्शन के प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। इस ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं जिनमें साठ पाद हैं। सूत्रों की संख्या २७३१ है। इस प्रकार आकार में यह दर्शन सबसे बड़ा है। अन्य पाँचों दर्शन एक ओर और अकेला मीमांसा एक ओर होने पर भी मीमांसादर्शन का पलड़ा भारी है। इस दर्शन का जिज्ञास्य विषय धर्म है। धर्म का ज्ञान वेदाध्ययन से होता है, क्योंकि धर्म के विषय में केवल वेद ही प्रमाण है।

धर्म अथवा वेदार्थविषयक विचार को मीमांसा कहते हैं। इस दर्शन में वेदार्थ का विचार होने से इसे मीमांसा दर्शन कहते हैं। इस दर्शन में यज्ञों की दार्शनिक दृष्टि से व्याख्या की गई है।

मीमांसा दर्शन के मुख्य तीन भाग हैं। प्रथम भाग में ज्ञानोपलब्धि के मुख्य साधनों पर विचार है। दूसरे भाग में अध्यात्म-विवेचन है और तीसरे भाग में कर्तव्या-कर्तव्य की समीक्षा है।

ज्ञानोपलब्धि के साधन—मीमांसा के अनुसार ज्ञानोपलब्धि के साधन निम्न हैं—१. प्रत्यक्ष, २. अनुमान, ३. उपमान, ४. शब्द, ५. अर्थापत्ति और ६. अनुपलब्धि।

अध्यात्मवाद—मीमांसा इस जगत् को न तो नवीन वेदान्तियों की भाँति मिथ्या मानता है और न ही बौद्धों की भाँति क्षणिक। वह इस जगत् और इसकी वस्तुओं की सत्ता का यथार्थ रूप मानता है। इस जगत् के अतिरिक्त वह आत्मा की सत्ता को भी स्थिर और नित्य मानता है। शरीर के नष्ट होने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता अपितु अपने कर्मों के अनुसार शरीर धारण करता रहता है। जितने व्यक्ति हैं, उतनी ही आत्माएँ हैं। आत्माएँ ही बन्धन में आती हैं और उन्हीं का मोक्ष होता है।

कर्तव्याकर्तव्य-निर्णय—मीमांसा के अनुसार वेद अपौरुषेय, नित्य एवं सर्वोपरि हैं। वेद में किसी प्रकार की अपूर्णता नहीं है, अतः हमारा कर्तव्य वही है, जिसका प्रतिपादन वेद ने किया है। हमें कर्तव्य को कर्तव्य की दृष्टि से करना है, क्योंकि वेद ने उसकी आज्ञा दी है। हमें फल प्राप्त हो या न हो, वेद-प्रतिपादित कर्म से चाहे हमें कष्ट भले ही मिले, परन्तु हम उसे छोड़ नहीं सकते। हमारा कार्य वेदाज्ञा का पालन करना है। यह है मीमांसा का कर्तव्याकर्तव्यविषयक निर्णय।

मीमांसा का अन्तिम ध्येय स्वर्ग है। स्वर्गप्राप्ति के दो साधन हैं—१. निष्काम कर्म और २. आत्मिक ज्ञान। इन दोनों साधनों के पूर्ण हो जाने पर सब पूर्वकर्म क्षीण हो जाते हैं और मनुष्य मुक्त हो जाता है। 'मुक्ति' दुःखों से अत्यन्ताभाव का नाम है, किसी सत्तात्माक अवस्था का नाम नहीं।

कुछ लोगों का विचार है कि मीमांसा में यज्ञों में पशु-हिंसा का उल्लेख है, परन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है। मीमांसा में पशुओं के वध का नहीं, पशुओं के दान का उल्लेख है। मीमांसा वेद को सर्वोपरि मानता है। जब वेद में मांस-भक्षण और पशु-हिंसा का निषेध है तब महर्षि जैमिनि उसका समर्थन कैसे कर सकते थे ?

अथ मीमांसादर्शनम्

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

आओ, अब हम अभ्युदय और निःश्रेयस के प्रतिपादक धर्म के मर्म को समझें।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

वेद-प्रतिपादित अर्थ को धर्म कहते हैं।

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥

अब वेदोक्त धर्म के प्रमाण की परीक्षा की जाती है।

सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥४॥

चक्षु आदि इन्द्रियों का पदार्थों के साथ संयोग होने पर मनुष्य को जो ज्ञान होता है, उसका नाम प्रत्यक्ष है, वह धर्म में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह विद्यमान पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥

वेद के प्रत्येक पद का अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है, अतः वह धर्म के यथार्थ ज्ञान का साधन है, क्योंकि वह ईश्वर से उपदिष्ट है और प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से जो अर्थ उपलब्ध नहीं होता उसमें उसका व्यतिरेक—विरोध दिखाई नहीं देता। आचार्य बादरायण के मत में वह वाक्य अपने प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतःप्रमाण है।

कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥

पूर्वपक्ष—कोई-कोई आचार्य शब्द को कार्य मानते हैं, क्योंकि शब्द में प्रयत्न पाया जाता है।

अस्थानात् ॥७॥

पू०—स्थिर न होने से भी शब्द अनित्य है।

करोति शब्दात् ॥८॥

पू०—'करोति' ऐसे विषय-व्यवहार से भी शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है।

सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥९॥

पू०—इस देश तथा अन्य देशस्थ पुरुष में एक ही काल में उपलब्ध होने से भी शब्द अनित्य है।

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥

पू०—प्रकृति और विकृति (आगम और लोप) की उपलब्धि होने से भी शब्द अनित्य है।

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥११॥

पू०—वक्ताओं की अधिकता से शब्द का बढ़ना देख पड़ता है, अतः शब्द अनित्य है।

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

सिद्धान्तपक्ष—नित्य और अनित्यवादी दोनों के मत में शब्द का क्षणमात्र प्रत्यक्ष होना समान है।

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥

सि०—विद्यमान शब्द का दूसरे क्षण में दर्शन न होना केवल शब्द के व्यञ्जक=व्यक्त न होने के कारण है।

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

सि०—'करोति, पचति' आदि शब्दों का व्यवहार उच्चारण के अभिप्राय से होता है।

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥१५॥

सि०—एक ही शब्द का अनेक देशों में एक ही काल में उपलब्ध होना सूर्य के समान समझना चाहिए।

वर्णान्तरमविकारः ॥१६॥

सि०—जहाँ 'इ' के स्थान में 'य्' होता है, वह विकारवश नहीं अपितु यकार से वहाँ अन्य शब्द की प्रतीति है।

नादवृद्धिपरा ॥१७॥

सि०—बहुत-से वक्ताओं के कारण नाद की वृद्धि है, न कि शब्द की।

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्य परार्थत्वात् ॥१८॥

सि०—शब्द नित्य है, अनित्य नहीं, क्योंकि उसका उच्चारण श्रोता के ज्ञान के लिए है।

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१९॥

सब शब्दों में एक ही काल में अबाधित प्रत्यभिज्ञा होने से शब्द नित्य है।

संख्याभावात् ॥२०॥

संख्या का भाव (शब्द का अनेक बार उच्चारण) होने से शब्द नित्य है।

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥

शब्दनाश के कारण का ज्ञान न होने से शब्द नित्य है।

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥२२॥

शब्द में वायु के अवयव—अंश के सम्बन्ध का श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होने से और त्वगिन्द्रिय से शब्द के स्पर्श का प्रत्यक्ष न होने से शब्द वायु का कार्य नहीं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥

वेद में शब्द के नित्य होने का चिह्न पाये जाने से भी शब्द नित्य है।

उत्पत्तौ वाऽवचनास्स्युरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥

पूर्व०—शब्द और उसके अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने पर भी पद वाक्यार्थ के बाधक नहीं हो सकते, क्योंकि अर्थ का ज्ञान वाक्य से होता है, पदों से नहीं।

तद्भूतानां क्रियार्थेन, समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

सि०—अपने-अपने अर्थों में वर्तमान पदों का क्रियावाची पदों के साथ पाठ होने के कारण उनके समुदाय से ही वाक्यार्थ का बोध होता है, क्योंकि वाक्यार्थ ज्ञान की उत्पत्ति में पदार्थ-ज्ञान ही एकमात्र कारण है।

लोके सन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥

जैसे लोक में वृद्धव्यवहार आदि नियम से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, वैसे ही वेद में भी गुरु-परम्परा से पद-पदार्थ सम्बन्ध जानकर वाक्यार्थ की उत्पत्ति होती है।

वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥२७॥

पूर्व०—कुछ आचार्य वेदों को अनित्य मानते हैं, क्योंकि उनमें उनके रचनेवाले का नाम पाया जाता है।

अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥

पूर्व०—और जन्म-मरणवाले अनित्य पुरुषों के नाम वेद में पाये जाने से वे पौरुषेय हैं।

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२९॥

सि०—वेद शब्दरूप में नित्य हैं—यह हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं।

आख्याः प्रवचनात् ॥३०॥

वेद में ऋषियों के नाम अध्ययन और अध्यापन के कारण हैं।

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥

वेद में जिन नामों का निर्देश है, वे सामान्य शब्द हैं, किसी के नाम नहीं।

कृते वा विनियोगस्स्यात् कर्मणस्सम्बन्धात् ॥३२॥

अथवा वहाँ यज्ञादि कर्मों को करने के लिए प्रेरणा है, क्योंकि उस प्रकरण में यज्ञरूप कर्म का सम्बन्ध पाया जाता है, अतः वेद सर्वथा स्वतःप्रमाण हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते ।।१।।

पूर्व०—वेद कर्म का बोधक है, अतः जो वेदवाक्य कर्मबोधक नहीं हैं, वे अनर्थक =अर्थहीन हैं, अतः वेद अनित्य हैं।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च ।।२।।

पूर्व०—वेदवाक्य और प्रत्यक्ष में विरोध देखे जाने से वेदवाक्य अनित्य एवं अप्रमाण हैं।

तथा फलाभावात् ।।३।।

पूर्व०—सिद्ध-अर्थ के बोधक वेदवाक्यों से मनुष्य को प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप किसी फल की प्राप्ति नहीं होती, अतः वेद अप्रमाण हैं।

अन्यानर्थक्यात् ।।४।।

पूर्व०—अर्थरहित होने से भी सिद्धार्थबोधक वेदवाक्य अप्रमाण हैं।

अभागिप्रतिषेधाच्च ।।५।।

पूर्व०—अप्राप्त का निषेध करने से भी वेद अप्रामाणिक हैं।

अनित्यसंयोगात् ।।६।।

पूर्व०—अनित्य (जन्म-मरणवाले) पदार्थों का कथन करने से भी वेदवाक्य प्रमाण नहीं।

विधीनां त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ।।७।।

सि०—विधि-वाक्यों की स्तुति के कारण उनकी विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से स्तुतिविधायक वाक्य प्रामाणिक हैं।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम् ।।८।।

सृष्टि के आरम्भकाल से विधि और सिद्धवाक्यों की गुरु-शिष्य-परम्परा से प्राप्ति होने के कारण दोनों प्रकार के वाक्य समानरूप से प्रामाणिक हैं।

अप्राप्ता चानुपपत्तिः, प्रयोगे हि विरोधस्स्याच्छाब्दार्थस्त्व-
प्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ।।९।।

स्थूल दृष्टि से समझे जानेवाले अर्थ में वाक्यार्थ की उपलब्धि से विरोध प्रतीत हो तो यह वाक्यार्थ विषयहीन होने से अन्यार्थ का बोधक है, अतः वेदवाक्यों में पारस्परिक विरोधरूप अनुपपत्ति दोष न मिलने से भी उक्त वाक्य का अर्थ विरोधहीन है।

गुणवादस्तु ।।१०।।

परन्तु जो स्तुतिवाद बताया गया है, वह गुणवाद है।

रूपात्प्रायात् ।।११।।

वेद में जहाँ परमात्मा के पाद आदि का वर्णन है, वह रूपकालंकार से कहा गया है।

दूरभूयस्त्वात् ।।१२।।

स्थूल अर्थ करने से कार्य-कारणभाव की असम्भवता प्रतीत होगी।

अपराधात्कर्त्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥१३॥

स्थूलदर्शिता के अपराध से ('अजायत्' क्रिया के) कर्त्ता सूर्य का पुत्र कार्यरूप से और चक्षु का कारणरूप से दर्शन=ज्ञान होता है, परन्तु यथार्थ में ऐसा है नहीं।

आकालिकेप्सा ॥१४॥

एक ही काल में दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक परमानन्द-प्राप्ति की इच्छा प्राणिमात्र में पाई जाती है।

विद्याप्रशंसा ॥१५॥

'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति' (यजु० ३१।१८) इत्यादि वेदमन्त्रों में ब्रह्मविद्या की प्रशंसा है।

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥१६॥

ब्रह्मविद्या का अधिकार सबके लिए समान है।

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ॥१७॥

कर्मों से फलविशेष की सिद्धि होने पर मृत्यु से छुटकारा नहीं होता, क्योंकि उन कर्मों का विशेष फल सांसारिक कर्मजन्य फल के समान परिछिन्न=बदलनेवाला होता है।

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥१८॥

पाँचवें और छठे सूत्रों में उठाये गये पूर्वपक्षों का समाधान पूर्व की भाँति। (१.२.७. और १.१.३१) जानना चाहिए।

विधिर्वा स्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रं ह्यनर्थकम् ॥१९॥

पूर्व०—स्पष्ट अर्थवाले सिद्धार्थबोधक वाक्यों में विधि की कल्पना है, क्योंकि विधिवाक्य के समान उनका भी अपूर्व अर्थ होता है; यदि उनको केवल सिद्धार्थबोधक माना जाए तो वे निरर्थक हो जाते हैं।

लोकवदिति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—यह कथन सांसारिक कथन के तुल्य है, अतः विधिकल्पना व्यर्थ है, यदि ऐसा माना जाए तो—

न पूर्वत्वात् ॥२१॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि सांसारिक स्तुतिवाक्यों में प्रसिद्धार्थ ही कहा जाता है, किसी अलौकिक अर्थ का कथन नहीं होता।

उक्तं तु वाक्यशेषत्वम् ॥२२॥

सि०—ऐसे सिद्धार्थबोधक वाक्यों को पहले ही विधिवाक्यों का अङ्ग बताया जा चुका है।

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात् स्तुतिः प्रतीयेत, तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम् ॥२३॥

यदि उन्हें विधिवाक्य मानें तो उनमें कहीं भी अर्थ नहीं मिलेगा, अतः सिद्धार्थ-वाले वाक्यों से कहीं-कहीं स्पष्टरूप से स्तुति पाई जाती है, अतः सब वाक्यों के समान होने

से जिन वाक्यों में स्पष्टरूप से स्तुति नहीं पाई जाती, उन वाक्यों में भी स्तुतिकल्पना ही उचित है।

प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो न कल्प्येत विध्यानर्थक्यं हि तं प्रति ॥२४॥

जिस प्रकरण का वाक्य है, उसमें स्पष्टरूप से स्तुति प्रतीत हो तो विधि की कल्पना न करें, क्योंकि स्तुति के सामने विधिकल्पना व्यर्थ है।

विधौ च वाक्यभेदः स्यात् ॥२५॥

और, उक्त वाक्यों में विधि की कल्पना करने पर अर्थ के भेद से वाक्य का भेद हो जाएगा।

हेतुर्वा स्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ॥२६॥

पूर्व०—अथवा ('यज्ञेन' यह तृतीया विभक्ति) हेतुरूप अर्थ की बोधक है, क्योंकि ऐसा मानने पर ही यह वाक्य अर्थ तथा उपपत्तिवाला हो सकता है, अन्यथा नहीं।

स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य ॥२७॥

सि०—ऐसे वाक्यों में कर्मविधि से विहित कर्तव्यकर्म यज्ञादि कर्मों का महत्त्व बतलाते हैं, क्योंकि स्तुति या महत्त्वार्थ साधन विधि के अनुकूल ही होगा। ऐसे वाक्यों से यज्ञ की प्रेरणा अथवा विधि नहीं बताई।

अर्थे स्तुतिरन्याय्येति चेत् ॥२८॥

यदि यह कहो कि फल की प्राप्ति न होने से स्तुति की कल्पना करना न्याययुक्त नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं—

अर्थस्तु विधिशेषत्वाद्यथा लोके ॥२९॥

क्योंकि लौकिक वाक्यों के समान, उक्त वाक्यों का विधिवाक्य का अङ्ग होना ही स्तुति की कल्पना का फल है।

यदि च हेतुरवतिष्ठेत निर्देशात्सामान्यादिति चेदव्यवस्था विधीनां स्यात् ॥३०॥

यदि उक्त हेतु वाक्य में सामान्य निर्देश से पूर्वोक्त अर्थ स्थिर माना जाए तो विधि की अव्यवस्था होगी।

तदर्थशास्त्रात् ॥३१॥

सि०—वेद का अर्थसहित स्वाध्याय करना चाहिए, क्योंकि वेद मनुष्यमात्र के लिए पुरुषार्थ-चतुष्टय के साधनों का सम्यक् प्रकार कथन करनेवाला शास्त्र है।

वाक्यनियमात् ॥३२॥

सि०—वेद में प्रत्येक मन्त्ररूप वाक्य के आरम्भ में ऋषियों का नाम पाये जाने से वेदों का अर्थसहित पठन-पाठन होना चाहिए।

बुद्धशास्त्रात् ॥३३॥

सि०—वेद ज्ञान का देनेवाला एकमात्र शास्त्र है, अतः इसका अर्थसहित स्वाध्याय होना चाहिए।

अविद्यमानवचनात्॥३४॥

पूर्व०—वेदों का अर्थसहित स्वाध्याय आवश्यक नहीं, क्योंकि उनमें अविद्यमान पदार्थों का वर्णन है।

अचेतनेऽर्थबन्धनात् ॥३५॥

पूर्व०—जड़ पदार्थों में अपने अर्थ से बँधे होने के कारण वेद अर्थसहित पठन-पाठन के योग्य नहीं हैं।

अर्थविप्रतिषेधात् ॥३६॥

पूर्व०—परस्पर विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से भी वेद का अर्थसहित पठन-पाठन ठीक नहीं।

स्वाध्यायवद्वचनात् ॥३७॥

पूर्व०—वेद के पठन-पाठन विधायक वाक्यों में अर्थसहित स्वाध्याय का विधान न पाये जाने से भी अर्थसहित पठन-पाठन ठीक नहीं।

अविज्ञेयात् ॥३८॥

पूर्व०—वेदमन्त्रों का अर्थ भी जानने योग्य न होने से उनका अर्थसहित पठन-पाठन ठीक नहीं।

अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम् ॥३९॥

पूर्व०—जन्म-मरणवाले पदार्थों का सम्बन्ध पाये जाने से वेद का अर्थसहित पठन-पाठन निरर्थक है।

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥४०॥

सि०—लोक और वेद में वाक्य के अर्थ का ज्ञान समान ही माना गया है।

गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥४१॥

क्योंकि वेद अनेक गुणवाले अर्थों से युक्त हैं, अतः उनका पठन-पाठन अर्थसहित ही होना चाहिए।

परिसंख्या ॥४२॥

वेद के अर्थसहित पठन-पाठन से त्याज्य कर्मों का परित्याग और कर्तव्य कर्मों का परिज्ञान होता है।

अर्थवादो वा ॥४३॥

पूर्व०—शुभ कर्मों के करने से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुःख होता है, यह केवल अर्थवाद है।

अविरुद्धं परम् ॥४४॥

सि०—-शुभ कर्मों के अनुष्ठान से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुःख होता है, यह बात लोक और वेद, उभय-सम्मत है, अतः सर्वोत्तम होने से ग्रहण करने योग्य है।

संप्रैषे कर्मगर्हानुपलम्भः संस्कारत्वात् ॥४५॥

वेद के सहस्र सिर और सहस्र नेत्रवाले मन्त्र में कर्मबोधन के लिए लोकविलक्षण अर्थों का प्रतिपादन करना दूषण नहीं, क्योंकि वह मनुष्य की बुद्धि को सुसंस्कृत करने के लिए कहा गया है।

अभिधानेऽर्थवादः ॥४६॥

जो जड़ पदार्थों को सम्बोधन विभक्ति से कथन किया गया है, वह अर्थवाद है।

गुणादप्रतिषेधः स्यात् ॥४७॥

गुणवृत्ति से अर्थों में परस्पर विरोध नहीं है।

विद्यावचनमसंयोगात् ॥४८॥

विधि में अर्थसहित पठन-पाठन का निर्देश इसलिए नहीं है कि अध्ययन शब्द का अर्थ ही अर्थसहित पठन-पाठन है।

सतः परमविज्ञानम् ॥४९॥

जहाँ मन्त्रार्थ में अविज्ञान कहा गया है, वह भ्रमवश विद्यमान अर्थ का न समझना ही है।

उक्तश्चाऽनित्यसंयोगः ॥५०॥

जन्म-मरणवाले अर्थ के निरूपण का समाधान पीछे किया जा चुका है।

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् ॥५१॥

वेदमन्त्रों में परमात्मा के लक्षण बताये गये हैं, अतः वेदमन्त्रों का अर्थ होने के कारण वे अर्थसहित पठन-पाठन करने के योग्य हैं।

ऊहः ॥५२॥

तर्क से भी यही सिद्ध होता है कि वेदों का पठन-पाठन अर्थसहित होना चाहिए।

विधिशब्दाश्च ॥५३॥

विधिवाक्य भी वेद के अर्थसहित पठन-पाठन में प्रमाणभूत हैं।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात् ॥१॥

पूर्व०—धर्म में केवल वेद ही प्रमाण होने से वेद से भिन्न ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थ अप्रमाण हैं।

अपि वा कर्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात् ॥२॥

सि०—इतरा के पुत्र महिदास आदि के रचे हुए ब्राह्मणग्रन्थ वेदानुकूल होने से ही प्रामाणिक हो सकते हैं।

विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम् ॥३॥

वेद और ब्राह्मणग्रन्थों में पारस्परिक विरोध होने पर, ब्राह्मणग्रन्थ अप्रामाणिक हैं, वेदाविरुद्ध होने पर ही उनका प्रामाण्य है, ऐसा अनुमान कर लेना चाहिए।

हेतुदर्शनाच्च ॥४॥

ऋषिप्रणीत और वेदों की व्याख्या होने के कारण वे (ब्राह्मणग्रन्थ) परतः-प्रमाण हैं।

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति चेत् ॥५॥

शिष्ट पुरुषों ने ब्राह्मणग्रन्थों को बिना विरोध स्वीकार कर उन्हें सर्वथा वेदानुकूल माना है, ऐसा कहो तो—

न शास्त्रपरिमाणत्वात् ॥६॥

यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वरप्रोक्त होने से केवल वेद ही स्वतःप्रमाण हैं।

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् ॥७॥

यदि ब्राह्मणग्रन्थ स्वतःप्रमाण होते तो वेदरूप कारण के बिना वे स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त प्रतीत होने चाहिए थे, परन्तु ऐसा नहीं है।

तेष्वदर्शनाद्विरोधस्य समा विप्रतिपत्तिः स्यात् ॥८॥

पूर्व०—वेद का विरोध न होने से उन ब्राह्मणग्रन्थों में, वेद के तुल्य ही पदार्थ-विज्ञान है।

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

सि०—ब्राह्मणग्रन्थों में वेदप्रतिपादित विषय का ही विस्तार है, उनमें स्वतन्त्र विषयों का निरूपण नहीं है, अतः वे वेदमूलक हैं।

चोदितं तु प्रतीयेताऽविरोधात् प्रमाणेन ॥१०॥

विधिविहित वेद के विरुद्ध न होने से ब्राह्मणग्रन्थ भी प्रमाणरूप हैं।

प्रयोगशास्त्रमिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—वेदविहित धर्मों का यथाविधि अनुष्ठान बतानेवाले कल्पसूत्र भी वेद के समान स्वतःप्रमाण हैं, यदि ऐसा कहो तो—

नाऽसन्नियमात् ॥१२॥

समा०—यह बात ठीक नहीं। कल्पसूत्र वेद के समान प्रामाणिक नहीं हो सकते क्योंकि उनमें अवैदिक सिद्धान्तों का निरूपण भी पाया जाता है।

अवाक्यशेषाच्च ॥१३॥

तथा कल्पसूत्र इसलिए भी स्वतःप्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें कोई विधि-वाक्य और उनके स्तुतिवाक्य नहीं मिलते।

सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च ॥१४॥

सभी कल्पसूत्रों में अपनी-अपनी मति-अनुसार अर्थ-निरूपण किये जाने से वे वेद के निकटतम होते हुए भी वेद के समान स्वतःप्रमाण नहीं हो सकते।

अनुमानव्यवस्थानात् तत्संयुक्तं प्रमाणं स्यात् ॥१५॥

स्मृति और शिष्टाचार जिस देश, काल और अवस्था से सम्बन्धित होते हैं, उसी देश-काल आदि के लिए प्रमाण हो सकते हैं, सब देश-काल आदि के लिए नहीं।

अपि वा सर्वधर्मः स्यात्तन्न्यायत्वाद्विधानस्य ॥१६॥

अथवा स्मृति और शिष्टाचार के द्वारा प्रचलित धर्म सभी के लिए समानरूप से आचरणीय हैं, क्योंकि स्मार्त और शिष्टाचार सर्वथा युक्त हैं।

दर्शनाद्विनियोगः स्यात् ॥१७॥

वैदिक ज्ञान से स्मार्त और शिष्टाचार की पुनःस्थापना होनी चाहिए।

लिङ्गाभावाच्च नित्यस्य ।।१८।।

वैदिक धर्म नित्य होने से सनातन है, उसका कभी नाश नहीं हो सकता। सनातन वस्तु के नाश होने में कोई प्रमाण नहीं।

आख्या हि देशसंयोगात् ।।१९।।

भारत आदि नाम भी केवल देश-विशेष के सम्बन्ध से हैं।

न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् ।।२०।।

'भारत' आदि नाम केवल देश-सम्बन्ध से है तो यह वैदिक धर्मप्रचारार्थ अन्य देशों में जाने से नहीं रहना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं।

स्याद्योगाख्या हि माथुरवत् ।।२१।।

वैदिकधर्म के साथ भारत देश का सम्बन्ध ऐसा है, जैसे मथुरा-निवासी माथुर कहलाते हैं।

कर्मधर्मो वा प्रवणवत् ।।२२।।

ऋषियों के नाम के साथ जो देश का सम्बन्ध है, वह वेदविहित कर्म का अङ्ग है, जैसे प्राचीन प्रवण देश वैश्वदेव कर्म का अङ्ग है।

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण ।।२३।।

देशविशेष को कर्म का अङ्ग मान लेना काले-गोरे आदि रंगों को यज्ञकर्म का अङ्ग मान लेने के ही समान है।

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्था स्यात् ।।२४।।

पूर्व०—साधु=शुद्ध पद की सिद्धि करनेवाला व्याकरण वेदमूलक न होने से अप्रमाण है, अतः शब्दों के विषय में शुद्ध शब्दप्रयोग की व्यवस्था नहीं हो सकती।

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् ।।२५।।

सि०—सर्वदा व्याकरणानुसार शुद्ध पद का ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि अशुद्ध पद का प्रयोग करने से प्रयोक्ता को स्वप्रयत्नसाध्य पाप का भागी होना पड़ेगा।

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् ।।२६।।

एक अर्थ के लिए समान रूपवाले अनेक शब्दों का मानना ठीक नहीं।

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात् ।।२७।।

साधु-असाधु (शुद्ध-अशुद्ध) अनेक शब्दों में साधु=शुद्ध शब्द का ज्ञान व्याकरण के अभ्यास से होता है।

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् ।।२८।।

गो शब्द के स्थान में गौणी और गवी आदि अपभ्रंश शब्दों का निर्माण व्याकरण-अनुसार शुद्ध शब्द जानने की अशक्ति के कारण होता है और गो शब्द के समान होने के कारण उनसे गोरूप अर्थ का बोध होता है।

एकदेशत्वाच्च विभक्तिव्यत्यये स्यात् ।।२९।।

और, विभक्ति के व्यत्यय=बदल जाने से भी शब्द अर्थ के बोधक होते हैं, उसी प्रकार अपभ्रंश शब्दों के द्वारा भी गोरूप अर्थ का बोध हो जाता है।

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् ॥३०॥

पूर्व०—लोक और वेद में गौ आदि शब्दों का भेद न होने से उसका व्यक्तिरूप अर्थ समान है, क्योंकि शब्द में अर्थ की प्रेरणा विद्यमान होती है।

अद्रव्यशब्दत्वात् ॥३१॥

पूर्व०—यदि शब्द का अर्थ जाति माना जाए तो वह द्रव्याश्रित वस्तुओं का वाचक नहीं माना जा सकता।

अन्यदर्शनाच्च ॥३२॥

पूर्व०—तथा ग्रहण क्रिया के साथ अन्य वस्तु का अन्वय देखे जाने से, शब्द का अर्थ जाति नहीं हो सकता।

आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् ॥३३॥

सि०—शब्द का अर्थ जाति है, न कि व्यक्ति, क्योंकि शिष्ट गुरुजनों के व्यवहार में आने से जातिरूप अर्थ में ही शब्द की शक्ति का ग्रहण है।

न क्रिया स्यादिति चेदर्थान्तरे विधानं न, द्रव्यमिति चेत् ॥३४॥

जातिपक्ष में यह दोष है कि जाति के निराकार होने से उसमें क्रिया नहीं होगी और अन्य द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य के ग्रहण का विधान और संख्यादि रूप व्यवहार भी नहीं हो सकेगा, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं।

तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः ॥३५॥

व्रीही आदि पदों का प्रयोग लक्षणावृत्ति द्वारा उपस्थित व्रीही आदि रूप अर्थ के लिए है, क्योंकि जाति के अर्थ का विभाग नहीं हो सकता, अतः कोई दोष नहीं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं, तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात् ॥१॥

पूर्व०—वेद का विधेय अर्थ में प्रामाण्य कहा गया है, अतः ब्राह्मणोक्त उद्भिदादि (ज्योतिष्टोम यज्ञ में उद्भिद् नामक क्रिया में पशु-प्रदर्शनी का विधान है) पद विधेय अर्थ के लिए हैं।

अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् ॥२॥

सि०—अथवा श्रवण करने पर जो पद पहले किसी दूसरे अर्थ में प्रयुक्त न हुआ हो, वह नामधेय (याग का नाम) है, वह किसी गुणविशेष का विधायक=बतलानेवाला नहीं।

यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः ॥३॥

जिस पद में रूढ़ होने पर भी गुणोपदेश मिले, उसका 'यज्' धातुरूप प्रकृति के साथ याग का नाम होकर सम्बन्ध होना चाहिए।

तत्प्रख्यञ्चान्यशास्त्रम् ॥४॥

और जिस वाक्य में सुने हुए गुण का बतलानेवाला अन्य वाक्य विद्यमान है, उसमें नामविधि जाननी चाहिए।

तद्व्यपदेशं च ॥५॥

जिन वाक्यों में प्रसिद्ध पदार्थ के साथ उपमान-उपमेय भाव से निरूपण पाया जाए, उसे नामविधि कहते हैं।

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ॥६॥

आ०—नाम में गुण के सुने जाने के कारण वाजपेय शब्द से गुणविधान है, यदि ऐसा कहो तो—

तुल्यत्वात् क्रिययोर्न ॥७॥

समा०—यह ठीक नहीं, क्योंकि गुणविधि स्वीकार करने से वाजपेय यज्ञ और दर्शपूर्णमास—ये दोनों यज्ञक्रियाएँ परस्पर समान हो जाती हैं।

ऐकशब्द्ये परार्थवत् ॥८॥

एक वाक्य में गुणरूप अन्य अर्थ का विधान स्वीकार करने पर वाक्यभेद रूप दोष आता है।

तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे, न चेदन्येन शिष्टाः ॥९॥

'आग्नेय' आदि शब्द कर्मयुक्त गुणों का विधान करते हैं, केवल कर्म का नहीं, क्योंकि कर्म का विधान करनेवाले आग्नेय आदि शब्दों में कर्म तथा अग्नि आदि गुणों का अभेद पाया जाता है और यह गुण किसी अन्य वाक्य से उपलब्ध नहीं है।

बर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः ॥१०॥

कहीं-कहीं संस्कारहीन वस्तु में बर्हि और आज्य शब्द का प्रयोग पाये जाने से प्रतीत होता है कि बर्हि और आज्य संस्कृत बर्हि और आज्य के वाचक न होकर बर्हि और आज्यमात्र के वाचक अर्थात् जातिवाचक हैं।

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् ॥११॥

जिनके द्वारा प्रोक्षण हो उन जलों में ही प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग मानना चाहिए, क्योंकि अवयवार्थ के सम्बन्ध से प्रोक्षणी शब्द का अर्थ जल ही है।

तथानिर्मन्थ्ये ॥१२॥

जैसे प्रोक्षणी शब्द यौगिक है, उसी प्रकार निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक है।

वैश्वदेवे विकल्प इति चेत् ॥१३॥

आक्षेप—वैश्वदेव देवतारूप गुण का विकल्प है, यदि ऐसा कहें तो—

न वा प्रकरणात् प्रत्यक्षविधानाच्च, नहि प्रकरणं द्रव्यस्य ॥१४॥

समा०—पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ अग्नि आदि देवता का प्रकरण है और श्रुति के द्वारा वैश्वदेव देवता का साक्षात् विधान भी है। वहाँ द्रव्य गण आदि के विधान का प्रकरण भी नहीं है, अतः विकल्प सिद्ध नहीं हो सकता।

मिथश्चानर्थसम्बन्धः ॥१५॥

और, परस्पर अर्थसम्बन्ध भी नहीं हो सकता।

परार्थत्वाद् गुणानाम् ॥१६॥

गुणों के परार्थ = अप्रधान होने से कार्य की आवृत्ति नहीं हो सकती।

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये ॥१७॥

पूर्व०—अग्नि आदि गुण पूर्व होने के कारण वे विधि का विधान करने की सामर्थ्य नहीं रख सकते परन्तु अष्टाकपाल आदि प्रकृत वाक्यों में अष्टत्वादि गुणों के विधान की सामर्थ्य है, क्योंकि वे पहले नहीं थे।

गुणस्य तु विधानार्थे, तद्गुणाः प्रयोगे स्युरनर्थका न हि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति ॥१८॥

सि०—द्वादश = बारह कपालरूप गुण के विधान करनेवाले वचन के विद्यमान होने पर अष्टाकपालादिरूप गुणों का विधान नहीं हो सकता और याग की अन्तरविधि में असमर्थ होने से वे निष्फल हो जाएँगे, अतः बिना अर्थवाद के माने प्रकृति याग के प्रति उनका सम्बन्ध एवं प्रयोजन नहीं हो सकता।

तच्छेषो नोपपद्यते ॥१६॥

आपत्ति—अष्टाकपाल द्वादश कपाल का स्तावक = स्तुतिकर्ता है, यह सिद्ध नहीं हो सकता।

अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थे नोपपद्येरन् ॥२०॥

उत्तर—पूर्वोक्त द्वादश संख्या में अष्ट आदि संख्या का अन्तर्भाव होने से अष्टाकपाल आदि स्तवनरूप अर्थ के द्वारा ही उपपन्न = सम्बद्ध हो सकते हैं।

कारणं स्यादिति चेत् ॥२१॥

आक्षेप—अष्टाकपाल आदि वाक्य पवित्रता आदि फल के कारण अर्थात् पवित्रता के बोधक हैं, यदि ऐसा कहो तो—

आनर्थक्यादकारणं; कर्त्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते ॥२२॥

समा०—यह ठीक नहीं। पूर्वोक्त अष्टाकपाल आदि फल पवित्रता आदि फल के कारण नहीं। अनर्थक होने से उसका फल के साथ कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि यज्ञकर्ता यजमान को ही पवित्रता आदि फल प्राप्त होते हैं, उसका यहाँ विषय नहीं, अतः अष्टाकपाल आदि स्तुति विधान करते हैं, न कि गुणविधि का।

तत्सिद्धिः ॥२३॥

सि०—प्रस्तर = कुशमुष्टि आदि से यजमान के सदृश कार्य की सिद्धि होती है।

जातिः ॥२४॥

ब्राह्मण आदि वर्णों को जो अग्नि आदि संज्ञा से कहा गया है, उसका उत्पत्तिरूप गुणविशेष ही है।

सारूप्यात् ॥२५॥

तेजस्विता और ऊँचाई रूप सादृश्य के कारण यूप को आदित्य और यजमान कहा गया है।

प्रशंसा ॥२६॥

"गौ और अश्व को छोड़कर अजा आदि अपशु हैं"—यह कथन गौ और अश्व की स्तुति=प्रशंसा है।

भूमा ॥२७॥

सृष्टिलिङ्गवाले मन्त्रों का भूयस्त्व=आधिक्य होने से सृष्टिलिङ्गरहितों का भी ग्रहण हो जाता है।

लिङ्गसमवायात् ॥२८॥

लिङ्ग के कारण प्राणभृत् मन्त्र से प्राणभृत् और अप्राणभृत् दोनों का ग्रहण हो जाता है।

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् ॥२९॥

विहित अर्थों में सन्देह होने पर वाक्यशेष से निर्णय होता है।

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात् ॥३०॥

अन्य निर्णायक लिङ्गों=लक्षणों, चिह्नों के न होने पर पदार्थ की योग्यता से ही अर्थ के निर्णय की कल्पना होती है, क्योंकि कल्पना भी अर्थ-निर्णय का एक अङ्ग है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते ॥१॥

याग, होम, दान आदि भावनावाची हैं। यजति, जुहोति, ददाति आदि क्रियापद हैं, उनसे याग, होम तथा दानरूप क्रिया का बोध होता है और यही क्रियारूप अर्थ धर्म माना गया है।

सर्वेषां भावोऽर्थ इति चेत् ॥२॥

सोम, घृत आदि सब पदार्थों का प्रयोजन यज्ञादि क्रियारूप है, अतः नामपद भी धर्म के निरूपक हैं, यदि ऐसा कहो तो—

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि; तस्मात् तेभ्यः पराकांक्षा-भूतत्वात्स्वे प्रयोगे ॥३॥

उक्त कथन ठीक नहीं। अपने अर्थ में प्रयुक्त जिन पदों का उच्चारण के समय स्वरूप उपलब्ध हो उनको नाम कहते हैं, अतः बोलने के समय उपलब्ध होने से वे अपनी अर्थसिद्धि के निमित्त अन्य इच्छा नहीं रखते, क्योंकि उनके उच्चारणकाल में अर्थ विद्यमान है।

येषां तूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते, तान्याख्यातानि, तस्मात्तेभ्यः प्रतीयेताऽऽश्रितत्वात् प्रयोगस्य ॥४॥

और अपने-अपने अर्थ में प्रयुज्यमान जिन पदों का उच्चारण के समय अर्थ विद्यमान न हो, वे आख्यात कहलाते हैं, इसलिए उनसे धर्म का ज्ञान होता है, क्योंकि उनका प्रयोजन पुरुषप्रयत्न पर आश्रित है।

चोदना, पुनरारम्भः ॥५॥

क्योंकि वेद में उक्त कर्मों की प्रेरणा=विधि मिलती है, अतः उनसे भविष्यत् फल की सिद्धि होती है।

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि ॥६॥

वे क्रियापद दो प्रकार के हैं—एक गौण कर्म के प्रतिपादक और दूसरे प्रधान कर्म के निरूपक।

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानि प्रधानभूतानि द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥७॥

जो क्रियापद संस्कार के निमित्त द्रव्य की अपेक्षा नहीं रखते, वे प्रधान कर्म हैं, क्योंकि वहाँ द्रव्य गौण है।

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते, गुणस्तत्र प्रतीयेत, तस्य द्रव्यप्रधानत्वात् ॥८॥

जो कर्म संस्कार आदि के निमित्त द्रव्य की अपेक्षा रखते हैं, वे गौण कर्म हैं, क्योंकि वहाँ द्रव्य प्रधान है।

धर्ममात्रे तु कर्म स्यादनिवृत्तेः प्रयाजवत् ॥९॥

पूर्व०—जिस प्रकार 'प्रयाज' प्रधान कर्म है, उसी प्रकार स्रुवादि धर्ममात्र सम्मार्जन आदि भी प्रधान कर्म हैं, क्योंकि उनसे किसी दृष्टफल की निष्पत्ति नहीं होती।

तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः सधर्मः स्यात् ॥१०॥

सि०—सम्मार्जन आदि कर्म कूटने आदि गुणकर्म के सदृश हैं, क्योंकि दोनों का समान प्रकार से उपदेश पाया जाता है।

द्रव्योपदेश इति चेत् ॥११॥

'स्रुचः सम्मार्ष्टि' में द्वितीयान्त 'स्रुच' पद से द्रव्य का गौण रूप से उपदेश है, यदि ऐसा कहो तो—

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेषभूतत्वात् ॥१२॥

यह ठीक नहीं। 'स्रुचः सम्मार्ष्टि' में गौण रूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं, क्योंकि लोक में कहीं भी गौण कर्म में द्वितीया नहीं होती तथा स्रुवा आदि द्रव्य घी आदि रखने के कारण उनके शेष हैं।

स्तुतशस्त्रयोस्तु संस्कारो, याज्यावद्देवताभिधानत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—स्तोत्र और शस्त्र संस्कार कर्म हैं, याज्या ऋचा के सदृश, क्योंकि वे गुण-कथन द्वारा परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश करते हैं।

अर्थेन त्वपकृष्येत, देवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात् ॥१४॥

सि०—यदि स्तोत्र और शस्त्र को गुणकर्म मानें तो जिन मन्त्रों में इन्द्रादि देवता के नाम की स्तुति है, उन मन्त्रों का अर्थानुकूल अपकर्ष होना चाहिए, क्योंकि देवतारूप अर्थ के प्रति मन्त्र गुणभूत हैं।

वशावद्वाऽगुणार्थं स्यात् ॥१५॥

आक्षेप—जैसे वशा (दूध और ऊन गुणवाली अजा) के स्मरणार्थ उसका विशेष्यवाचक 'एष छागः' यह मन्त्र पढ़ा जाता है, वैसे ही विशिष्ट गुणवाले इन्द्र के लिए 'अभि त्वा शूर' मन्त्र महेन्द्र ग्रहयाज की सन्निधि में पढ़ा गया है।

न, श्रुतिसमवायित्वात् ॥१६॥

समा०—उक्त मन्त्र महेन्द्र के अभिधायक नहीं हो सकते, क्योंकि उन्न सूत्रों में इन्द्र-पद से सम्बन्ध है, महेन्द्र से नहीं।

व्यपदेशभेदाच्च ॥१७॥

और, नाम का भेद होने से इन्द्र तथा महेन्द्र परस्पर भिन्न हैं।

गुणश्चानर्थकः स्यात् ॥१८॥

तथा इन्द्र और महेन्द्र को एक मानने से 'महान्' विशेषण व्यर्थ हो जाता है।

तथा याज्यापुरोरुचोः ॥१९॥

यदि दोनों को एक माना जाए तो याज्या तथा पुरोनुवाक्या ऋचाओं में दोनों का भेदपूर्वक कथन निरर्थक हो जाता है।

वशायामर्थसमवायात् ॥२०॥

वशा अजा में छागरूप अर्थ का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं।

यत्रेति वाऽर्थवत्त्वात् स्यात् ॥२१॥

आक्षेप—जिस याग में इन्द्र देवता है, उसमें पूर्वपठित **'अभि त्वा शूर'** इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का अपकर्ष हो सकता है, क्योंकि अपकर्ष होने से वे अर्थवान् हो जाते हैं।

न त्वाम्नातेषु ॥२२॥

समा०—ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों के अतिरिक्त **'याम्याः शंसति'** आदि मन्त्रों में अर्थवत्ता नहीं घट सकती।

दृश्यते ॥२३॥

आक्षेप—याम्यादि मन्त्र भी अन्यत्र अर्थवाले पाये जाते हैं।

अपि वा श्रुतिसंयोगात् प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम् ॥२४॥

समा०—मुख्यार्थ के साथ सम्बन्ध होने से स्तोत्र और शस्त्र-प्रकरण में ही स्तुति-रूप क्रिया का विधान किया गया है।

शब्दपृथक्त्वाच्च ॥२५॥

और, स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द में भेद पाये जाने से भी वह प्रधान कर्म है।

अनर्थकं च तद्वचनम् ॥२६॥

तथा स्तोत्र और शस्त्र दोनों का एक फल मानने से दोनों का विधान निरर्थक हो जाता है।

अन्यश्चार्थः प्रतीयते ॥२७॥

प्रधान कर्म मानने से स्तोत्रजन्य कर्म से अतिरिक्त शस्त्र से उद्भूत फल उपलब्ध होता है।

अभिधानं च कर्मवत् ॥२८॥

तथा प्रधान कार्य के सदृश स्तोत्र और शस्त्र का विधान है।

फलनिर्वृत्तिश्च ॥२९॥

और स्तोत्र एवं शस्त्र दोनों के फल की सिद्धि सुनी गई है।

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥३०॥

पूर्व०—विधायक तथा अभिधायक वेदमन्त्रों का विधिरूप एक ही अर्थ है, क्योंकि वे दोनों एक ही वेदशब्द का वाच्य हैं।

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ॥३१॥

सि०—कर्म के समय प्रयोग किये जाने से मन्त्र अभिधायक होते हैं।

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥३२॥

अग्निहोत्रादि के विधायक और सिद्धार्थ के प्रतिपादक वेदवाक्यों की मन्त्र संज्ञा माननी चाहिए।

शेषे ब्राह्मणशब्दः ।।३३।।

मन्त्रों के अतिरिक्त मन्त्रों के व्याख्यानरूप ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों की ब्राह्मण संज्ञा है।

अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु विभागः ।।३४।।

ईश्वरोक्त न होकर ऋषिप्रोक्त होने के कारण ऐतरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में वेदत्व नहीं है, अतः उन्हें छोड़कर ईश्वरप्रोक्त मन्त्रों का विभाग कहते हैं—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ।।३५।।

जिन मन्त्रों में छन्दशास्त्रानुकूल पाद-व्यवस्था है, उन मन्त्रों की संज्ञा ऋचा है।

गीतिषु सामाख्या ।।३६।।

जो मन्त्र गान किये जाते हैं, उनका नाम साम है।

शेषे यजुःशब्दः ।।३७।।

जिन मन्त्रों में न तो छन्दशास्त्र के अनुसार पादव्यवस्था है, और न ही वे गेय हैं, उन मन्त्रों का नाम यजुः है।

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ।।३८।।

पूर्व०—जो मन्त्र छन्दोबद्ध और गीतियुक्त मन्त्रों के अतिरिक्त स्पष्ट अर्थवाले हैं, उनकी यजुः संज्ञा नहीं किन्तु अथर्व संज्ञा है, क्योंकि यजुर्वेद के धर्म से उनका भिन्न धर्म है।

व्यपदेशाच्च ।।३९।।

और यह यजुः है, यह निगद है—इस प्रकार व्यवहारभेद होने से भी निगद यजुः नहीं हो सकता।

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् ।।४०।।

सि०—निगद यजुः हैं क्योंकि उनमें यजुः का लक्षण पाया जाता है।

वचनाद्धर्मविशेषः ।।४१।।

यजुः का उपांशत्व और निगद का उच्चैस्त्वरूप जो धर्मभेद कथन किया है, वह पुरुषान्तर का बोध कराने के लिए है।

अर्थाच्च ।।४२।।

और निगद के यजुः होने पर भी जो धर्मविशेष कथन किया है, वह पुरुषान्तर का अर्थरूप से बोध कराने के उद्देश्य से है।

गुणार्थो व्यपदेशः ।।४३।।

यह यजुः है, यह निगद है—ऐसा व्यवहारभेद गौण है।

सर्वेषामिति चेत् ।।४४।।

जो उच्च स्वर से बोला जाए, वह निगद है, ऐसा माना जाए तो ऋग्वेद भी निगद हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न ऋग्व्यपदेशात् ।।४५।।

यह कथन ठीक नहीं। उच्चैस्त्व धर्म के साम्य होने पर भी ऋग् में निगद का अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें ऋग् से भिन्न धर्म का उपदेश मिलता है।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं, साकांक्षं चेत् विभागे स्यात् ॥४६॥

जिन क्रिया तथा कारकपदों के मेल से एक अर्थ की प्रतीति होती है, उनमें से किसी एक पद को निकाल देने पर अन्य पद उसकी आकांक्षा रखते हैं तो ऐसे पदसमूह को एक वाक्य कहते हैं।

समेषु वाक्यभेदः स्यात् ॥४७॥

जो पदसमुदाय परस्पर निराकांक्ष हैं, उनमें प्रतिसमूह वाक्यभेद माना गया है।

अनुषंगो वाक्यसमाप्तिः सर्वेषु तुल्ययोगित्वात् ॥४८॥

वाक्य की परिसमाप्ति के लिए जिन वाक्यों में पदान्तर का योग अपेक्षित हो, उसका अध्याहार कर लेना चाहिए क्योंकि उसका सबके साथ समान सम्बन्ध है।

व्यवायान्नानुषज्येत ॥४९॥

मध्य में व्यवधान होने से अनुषङ्ग नहीं होता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥

आख्यातभेद होने से कर्म का भेद है, क्योंकि आख्यातभेद से कर्मभेद का नियत सम्बन्ध है।

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥

एक आख्यात=क्रियापद का पुनः-पुनः श्रवण भी आख्यातभेद के समान कर्म का भेदक है, क्योंकि कर्म भेद न मानने से वह निरर्थक हो जाता है।

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥

पौर्णमासीवाले प्रकरण में पढ़े गये वाक्य याग के अनुवाद हैं, विधायक नहीं, क्योंकि उससे याग के रूप और देवता आदि का बोध नहीं होता।

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥

समानभाव से प्रकृत (प्रकरण में स्थित) होने पर भी 'आग्नेय' तथा 'प्रयाज' इन सब यागों के अनुवाद के लिए विद्वद्वाक्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आग्नेयादि में कालसम्बन्धरूप विशेष देखा जाता है, प्रयाज आदि में नहीं।

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥

आक्षेप—उक्त विद्वद्वाक्य विहित कर्म में द्रव्य, देवतारूप गुण का विधान है, उनके संयोग का श्रवण होने से।

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रात् चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्यते ॥६॥

समा०—कर्मविधि के वाक्य गुणविधि के विधायक नहीं हैं, क्योंकि द्रव्य, देवता-रूप गुणों का एक काल में ही शासन कहा है। वाक्यांतर से विहित कर्म में ही पृथक्-पृथक् उपदेश किया जाता है, क्योंकि वे विहित कर्म के लिए हैं।

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥

और, जिस प्रकार द्रव्य, देवतारूप गुणों का एकसाथ विधान गुणविधि का समर्थक नहीं, उसी प्रकार समुच्च्य व्यपदेश=कथन भी गुणविधि का समर्थक नहीं है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥

और, 'चतुर्दश पौर्णमास्याम्' इस प्रकार का संकेत पाये जाने से भी सिद्ध होता है कि 'यदाग्नेयः' आदि वाक्य गुणविधि नहीं किन्तु कर्मविधि है।

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥९॥

पूर्व०—जैसे पौर्णमासी पद का विद्वद्वाक्य अनुवादक है, उसी प्रकार 'उपांशु-याज' पद भी अनुवादक है।

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥

सि०—'उपांशुयाज' कर्मविधि है, अनुवादक नहीं, क्योंकि वहाँ प्रकृत याग का अभाव है।

गुणोपबन्धात् ॥११॥

उपांशुत्व गुण के सम्बन्ध से उक्तकर्म की संज्ञा 'उपांशुयाज' है।

प्राये वचनाच्च ॥१२॥

और, प्रधान कर्मों के मध्य पठित होने से, वे प्रधान हैं।

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—आघार और अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं, क्योंकि उनसे याग के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती।

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥

उपर्युक्त वाक्यों में संज्ञा का सम्बन्ध पाया जाता है, अतः वे विधायक नहीं हो सकते।

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥

तथा प्रकरण में आये हुए वाक्यों से भी द्रव्य, देवता की उपलब्धि नहीं होती।

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिः ॥१६॥

सि०—अग्निहोत्र तथा आघार वाक्य कर्मविधायक होने से अनुवादक नहीं कहे जा सकते, साथ ही उनके समीप पढ़े गये दधि आदि वाक्य भी गुणविधि हैं।

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥

द्रव्यसंयोग होने से 'सोमेन यजेत' और 'अग्नीषोमीयं पशुमालभते' दोनों वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं। यदि प्रकरण पठित 'हृदयादि' तथा 'ऐन्द्रवायवादि' वाक्यों को विधायक मानें तो सुने हुए द्रव्य का योग निरर्थक हो जाता है, अतः उसका श्रवण गुणरूप से भी नहीं हो सकता।

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥

तथा 'प्रवद्यति' आदि वाक्य अपूर्वकर्म के विधायक नहीं किन्तु पशु तथा सोमरूप द्रव्य का संस्कार बताते हैं।

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥ १९॥

पात्रभेद से सोमयाग की आवृत्ति समझनी चाहिए, क्योंकि पात्रभेद होने से उसमें स्थित सोमद्रव्य का भी भेद मिलता है। यदि कर्मवृत्ति न हो तो पात्रभेद निरर्थक हो जाता है और सोमरूप द्रव्य का अङ्ग होने से उसकी आवृत्ति स्वयं हो जाएगी।

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥

पशुबन्धनरूप संस्कार की यूपभेद होने से भी आवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यूप पशुबन्धन के निमित्त होने से गौण है।

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥

संख्याभेद के कारण कर्म का भेद है, क्योंकि उसमें पृथक्त्व का निवेश है।

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥

और संज्ञा भी कर्मभेद का करनेवाला माना गया है, क्योंकि उसका कर्म के विधायक वाक्य के साथ सम्बन्ध है।

गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे, वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥

तथा प्रकृत देवता के साथ सम्बन्ध न होने से गुण, कर्म का भेद करनेवाला है, क्योंकि पूर्व और उत्तर दोनों वाक्य समान हैं।

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥

अपूर्वकर्म का विधायक वाक्य गुणरहित कर्म का विधायक होता है। उस वाक्य द्वारा बतलाये कर्म में वाक्यान्तर से गुण का विधान होता है।

फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥

पूर्व० 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्'—यह दधिवाक्य अपूर्वकर्म का विधायक है, क्योंकि उसका फल सुना गया है और फल से कर्म का निश्चित सम्बन्ध है।

अतुल्यत्वात्तु वाक्योर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥

सि०—अग्निहोत्र तथा दध्नेन्द्रिय—इन दोनों वाक्यों में समानता नहीं है, अतः अग्निहोत्र कर्म में फलविशेष के लिए गुण का विधान है।

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥

समान वाक्यों में अपूर्वकर्म के साथ फल का सम्बन्ध है।

सौभरे, पुरुषश्रुतेर्निधनं, कामसंयोगः ॥२८॥

पूर्व०—सौभर सम्बन्धी निधन में पुरुष-प्रयत्न का उपदेश है, अतः वह निधन फलवाला है।

सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यान्निधानार्था पुनःश्रुतिः ॥२९॥

सि०—सम्पूर्ण साम वृष्टि आदि फल के हेतु हैं, भाग नहीं, अतः सौभर में फल का श्रवण मुख्य है और निधन वाक्य में जो फल का श्रवण है, वह व्यवस्था के लिए है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

गुणस्तु क्रतुसंयोगात् कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥

पूर्व०—श्रूयमाण रथन्तरादि सामरूप गुण अन्यकर्म का प्रेरक है, क्योंकि उसका

अन्य कर्म के साथ सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध उसे मुख्य कर्म से भिन्न करता है।

एकस्य तु लिङ्गभेदात् प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥

सि०—एक ही ज्योतिष्टोम याग के विशेषणभेद से ग्रहग्रहणरूप अर्थ के निमित्त वे वाक्य कहे गये हैं, अतः ग्रहग्रहणरूप गुणविशेष का विधानकर्त्ता होने से उनमें एकत्व है, भेद नहीं।

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥

राजसूय की सन्निधि में पठित अवेष्टि नामक याग अपूर्व कर्मविधायक है, क्योंकि राजसूय याग के साथ क्षत्रिय का ही सम्बन्ध है।

आधाने सर्वशेषत्वात् ॥४॥

अग्न्याधान और यज्ञोपवीत में विधि जाननी चाहिए, क्योंकि ये दोनों सबको पहले से प्राप्त नहीं हैं।

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥

पूर्व०—दाक्षायणादि वाक्यों में कर्मान्तर की विधि है, क्योंकि उनमें कर्मसंज्ञा का सम्बन्ध है।

अगुणा च कर्मचोदना ॥६॥

तथा अन्य किसी गुण का सम्बन्ध न पाये जाने से वह कर्ममात्र की विधि है।

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥

और, उक्त वाक्य स्वर्ग आदि फल में कर्म का सम्बन्ध बतलाने-मात्र से ही आकांक्षारहित है।

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥

सि०—उक्त वाक्य दर्शपौर्णमास में गुणविशेष का विधायक है, क्योंकि यह उस प्रकरण में पठित है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥

तथा चिह्न के देखे जाने से भी प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य गुण का विधायक है, कर्मान्तर का नहीं।

गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥१०॥

आवृत्तिरूप गुणकथन से याग की दाक्षायण संज्ञा कही गई है।

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥

उस वाक्य का आकांक्षारहित होना गुणफल के सम्बन्ध कथन करने के समान है।

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—अप्रकरण पठित 'वायव्यं श्वेतम्' आदि वाक्य स्पर्शरूप संस्कार आदि गुण के अनुवादक=विधानकर्ता हैं, अपूर्वकर्म के विधायक नहीं, क्योंकि उनमें कर्मवाचक कोई शब्द नहीं है।

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् ॥१३॥

उक्त वाक्य स्पर्श तथा निर्वापमात्र कर्म के विधायक हैं, क्योंकि कर्म को श्रुति-मूलक मानना ही ठीक है।

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥

सि०—उक्त वाक्य प्रधान कर्म के विधायक हैं, क्योंकि उनमें द्रव्य, फल तथा देवता तीनों का सम्बन्ध मिलता है, और इन तीनों का कर्म के साथ नियत सम्बन्ध है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

तथा लिङ्ग (लक्षण) देखे जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥

याग-विधि है अथवा संस्कार-विधि—ऐसा संशय होने पर प्रकरण के बल से निर्णय होता है।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥

तथा अर्थवाद से भी उस अर्थ की सिद्धि होती है।

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥

उपधानरूप कर्मवाची क्रिया के साथ नियोजित जो चरु है, वह उपधान के निमित्त है, याग के निमित्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से सुने हुए अर्थ का लाभ होता है।

पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥१९॥

'पर्य्यग्निकृतपात्नीवतमुत्सृजन्ति' वाक्य द्वारा सामान्य याग में अभिलषित द्रव्य-संस्कार का विधान है, न कि अपूर्व याग का, क्योंकि याग पद पहले आ चुका है।

अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥

द्रव्य तथा देवता के बिना केवल 'अदाभ्य' तथा 'अंशु' का ग्रहण सुने जाने से याग-विधान की कल्पना नहीं हो सकती, क्योंकि वह ज्योतिष्टोम कर्म का अङ्ग है, न कि प्रधान कर्म।

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात् क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥

पूर्व०—'य एवं विद्वानग्निं चिनुते' वाक्य में अग्नि शब्द याग का नाम प्रतीत होता है, क्योंकि उसको बतलानेवाले स्तोत्र तथा शस्त्ररूप चिह्न मिलते हैं।

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥

सि०—उक्त वाक्य में अग्नि शब्द से अग्नि द्रव्य का विधान है, क्योंकि वह प्रेरणा उसी के स्थापनार्थ है।

तत्संयोगात् क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

याग के साथ अग्नि का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से उक्त लिङ्गवाक्य में अग्नि पद ज्योतिष्टोम याग का वाचक है, अतः वह वाक्य उक्त याग में स्तोत्र तथा शस्त्र-रूप गुण का विधायक है, नाम का बोधक नहीं।

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥

'नित्य अग्निहोत्र' कर्म से 'मासाग्निहोत्र' आदि कर्म भिन्न हैं, क्योंकि वे दूसरे प्रकरण में विधान किये गये हैं।

फलं चाकर्मसन्निधौ ॥२५॥

और कर्म-सन्निधि से पृथक्-पृथक् पढ़ा हुआ फल प्रकरणान्तर से कर्म का भेद करनेवाला होता है।

सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥

अवेष्टि संज्ञक याग की सन्निधि में पठित 'एतया' वाक्य फल सम्बन्ध के कारण अवेष्टि याग का पुनः-पुनः करना बताता है, विभाग न होने से कर्मान्तर का निर्देश नहीं करता।

आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥

पूर्व०—'आग्नेय' आदि वाक्य में बार-बार आग्नेय याग के सुने जाने से पुनः-पुनः अनुष्ठान के लिए है, क्योंकि पुनः-पुनः पढ़ना कर्मभेद का साधक है।

अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयते ॥२८॥

सि०—पुनः-पुनः कथन होने से भी उक्त वाक्य में कर्मान्तर का विधान नहीं है, क्योंकि पूर्ववाक्यविहित कर्म में इस वाक्य से विहित कर्म का ऐक्य है।

अन्यार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२९॥

आग्नेय याग का पुनः-पुनः श्रवण ऐन्द्रयाग का स्तावक है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥

पूर्व०—कर्म का प्रकरण होने से जीवनपर्यन्त अनुष्ठान का अभ्यास अग्निहोत्र कर्म का धर्म है।

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥

सि० —मुख्यार्थ का लाभ होने से 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म है।

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत् स्यात् ॥३॥

और, लिङ्ग=प्रमाण उपलब्ध होने से 'यावज्जीव' पुरुष का धर्म प्रतीत होता है, कर्म का नहीं, क्योंकि कर्म का धर्म होने पर कर्मारम्भ करके मरणपर्यन्त समाप्त करने का नियम माना जाता परन्तु ऐसा नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर फलक्षय श्रवण व्यर्थ हो जाता है।

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात् ॥४॥

दर्श आदि कर्म की समाप्ति और कर्मान्तर की विधि वाक्यान्तर में मिलती है, यदि दर्श कर्म की समाप्ति के पश्चात् कालशेष है, तभी कर्मविशेष का विधान हो सकता है, अन्यथा नहीं।

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

और सामान्य अग्निहोत्रादि काम्यकर्म जरा-मरण अवधिवाला नहीं हो सकता, क्योंकि वह अनित्य है।

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥

तथा 'यावज्जीव' को कर्म का धर्म मानने में पूर्व कहे दोषों के समान अनुष्ठान न करनारूप दोष भी आता है।

कर्तुस्तु धर्मनियमात् कालशास्त्रं निमित्त स्यात् ॥७॥

कालशास्त्र के समान यावज्जीव वाक्य जीवनरूप निमित्त का बोधक है, क्योंकि कर्ता के धर्म का नियम माना जाता है, न कि कर्म का।

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थ-दर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥

पूर्व०—ऐतरेयादि ब्राह्मण और काठकादि विभिन्न शाखाओं में अग्निहोत्रादि कर्मों का परस्पर भेद है, क्योंकि उनमें नामभेद, स्वरूपभेद, धर्मभेद, पुनरुक्ति, निन्दा, अशक्ति, समाप्तिवचन, प्रायश्चित्त, अन्यार्थदर्शन आदि भेद पाये जाते हैं।

एकं वा संयोगरूपचोदनाभिधानत्वात् ॥९॥

सि०—प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा में अग्निहोत्रादि कर्म एक ही है, भेद नहीं, क्योंकि फल, स्वरूप, प्रेरणा और नाम का सर्वत्र समन्वय है।

न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥१०॥

नामभेद से अग्निहोत्र कार्यों का भेद नहीं हो सकता, क्योंकि उनकी विधि का विधान पृथक् नहीं है।

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

और यदि ग्रन्थ-सम्बन्ध से होनेवाले काठकादि नाम को कर्मभेद का प्रयोजक मानें तो अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि सब याग एक ही कर्म होने चाहिएं।

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥

तथा, नामभेद बनावटी है, अनित्य है।

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥

प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म के एक होने पर भी एकादश कपाल और द्वादश कपाल आदि रूपभेद भिन्न-भिन्न कथन के आधार हो सकते हैं।

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥

कारीरी आदि विद्या के अध्ययन में शास्त्रविहित भूमि पर भोजन करना आदि अङ्ग हैं, कर्म नहीं।

आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥१५॥

आक्षेप—आग्नेय याग की भाँति पुनरुक्ति अनुवाद है।

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

समा०—ब्राह्मण तथा शाखा में पुनर्वचन नहीं, क्योंकि वेद का सम्बन्ध सर्वत्र समान है।

वाक्यासमवायात्, अर्थासन्निधेश्च ॥१७॥

एक शाखा में अग्निहोत्ररूप अर्थ का सम्पूर्ण भाव न आने से यदि उसे शाखान्तर में कह दिया तो इतने मात्र से पुनरुक्ति नहीं मानी जा सकती।

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१८॥

और, एक ब्राह्मण या शाखा में कथित अग्निहोत्रादि कर्मों का उसी ब्राह्मण तथा

उसी शाखावाले पुरुष के प्रति विधान नहीं है, अपितु सब ब्राह्मण और सब शाखावाले पुरुषों के प्रति विधान है।

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥१६॥

तथा, कर्मसमाप्तिसूचक वचन होने से भी प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद नहीं है।

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२०॥

प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में एक अग्निहोत्र का उपदेश होने पर भी निन्दा, अशक्ति और समाप्ति-वचन—ये तीनों होते हैं।

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२१॥

उदित अथवा अनुदित होम की वेला पर प्रायश्चित्त विधान किया हुआ कर्मभेद पक्ष का साधक है।

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२२॥

उदित होम अथवा अनुदित होम की प्रतिज्ञा का नियम करके पुनः उसके विपरीत करने पर प्रायश्चित्त कहा गया है।

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२३॥

समाप्ति प्रतिज्ञानुकूल समझनी चाहिए, क्योंकि समाप्ति पहले ही निश्चित कर ली जाती है।

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना तस्माद् द्वादशाह-स्याहारव्यपदेशः स्यात् ॥२४॥

लिङ्ग=चिह्न प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में समान है, अतः वह कर्मभेद का हेतु नहीं। सर्वत्र ज्योतिष्टोम सर्वप्रथम किया जाता है, वहाँ कर्म प्रेरणा-विधि नहीं मानी जा सकती, अतः द्वादशाह के द्वारा प्रयोगभेद का कथन है, कर्मभेद का नहीं।

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत, तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२५॥

और, अग्निरूप द्रव्य के चयन में एकादशिनी याग का उपदेश न होने के कारण विधिवाक्यों का व्यतिक्रम होता है, तथापि 'वाचः स्तोम' याग में एकादश यूप की विधि होने से उक्त विधियों की व्यवस्था हो सकती है, अतः वह अग्निचयन विभाग पूर्वोक्त विधिवाक्यों का अनुवाद है, विधान नहीं।

विहितप्रतिषेधात् पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२६॥

अतिरात्र याग में 'षोडशी' पात्र के ग्रहण या निषेध करने की विधि के पक्ष में दो और तीन का अतिरेक हो सकता है।

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२७॥

सारस्वत सत्र में पुरोडाशी और सान्नायी का अधिकार होने के कारण शाखान्तर में जो विरोध आता है, उसका परिहार 'यदा' पद के अध्याहार से हो जाता है।

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२८॥

उपहव्य नामक याग में बृहत् तथा रथन्तर साम का विधान वृथा है, क्योंकि वह प्रकृति=स्वभाव से ही प्राप्त है।

गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ॥२९॥

प्रकृतियाग से प्राप्त होने पर भी बृहत् तथा रथन्तर साम का पुनर्विधान दक्षिणा-रूप गुणविशेष के नियम के लिए है।

प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥३०॥

तथा, एक शाखा में यागरूप कर्म का विधान और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान मिलने से भी प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में अग्निहोत्र कर्म का अभेद ही है।

अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३१॥

प्रत्येक शाखा में अङ्गों के अनुष्ठानभेद से ही व्यवस्था होनी चाहिए, क्योंकि अनुष्ठान का पाठ्यक्रम से सम्बन्ध है और वह प्रतिशाखा में भिन्न-भिन्न है।

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्ये, तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३२॥

अनुष्ठानक्रम से विरोध करनेवाले पाठ के साथ अङ्गानुष्ठान का सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्वकथित युक्तियों द्वारा प्रतिब्राह्मण और प्रतिशाखा में कर्म की एकता सिद्ध होने पर सम्पूर्ण अङ्ग विधियों का एक कर्मविधि के साथ सम्बन्ध है, अतः सब शाखाओं में बताये गये क्रम के अनुसार ही अङ्गों का अनुष्ठान होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातः शेषलक्षणम् ॥१॥

कर्मों के भेद-निरूपण के पश्चात् शेष का लक्षण कहते हैं, क्योंकि वह शेषशेषि-भाव के निरूपण में लाभप्रद है।

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥

दूसरे के लिए होनेवाला शेष कहलाता है।

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥

द्रव्य, गुण तथा संस्कार—इन तीनों में शेष शब्द की प्रवृत्ति होती है, यह आचार्य बादरि का मत है।

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥

यज्ञ, दान, होम आदि कर्म भी शेष हैं, क्योंकि वे फल के लिए हैं—यह आचार्य जैमिनि का मत है।

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥

और द्रव्य, गुण, संस्कार तथा कर्म के समान फल भी शेष है, क्योंकि वह पुरुष के लिए है।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥

द्रव्यादि की भांति पुरुष भी शेष है, क्योंकि वह कर्म के लिए है।

तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥७॥

अवहननादि धर्मों का वितुषी भावादि दृष्टफल के अनुसार व्रीहि आदि के साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध है।

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात् संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥

पूर्व०—शास्त्रविहित अवहनन=कूटना आदि सबके धर्म हो सकते हैं, क्योंकि उनका द्रव्य द्वारा प्रधान कार्य के साथ समान सम्बन्ध है और प्रकरण भी एक है।

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥

सि०—फल न दिखाई देने से सब धर्म सब द्रव्यों में नहीं किये जा सकते, इसलिए वे प्रतिद्रव्य व्यवस्थित हैं।

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥

अवहनन क्रिया के द्वारा तुषविमोकादि फल शब्द का भाव है। फल न होने पर अवहनन आदि का अभाव है।

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥

और स्फ्य आदि द्रव्य का उत्पत्ति वाक्य द्वारा जिस क्रिया के साथ सम्बन्ध है, वह उसी क्रिया के लिए विधान किया गया है।

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—एक वाक्यार्थ में द्रव्य और गुण के परस्पर योग के नियम हैं, क्योंकि दोनों का सिद्ध किया कार्य समान है।

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥

सि०—'ग्रह' आदि एक द्रव्य का सम्मार्जन एक बार ही होना उचित है, क्योंकि 'ग्रहम्' में एकवचन का श्रवण है और उसका सम्मार्जन से सम्बन्ध है।

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥

सब 'ग्रह' आदि द्रव्यों का सम्मार्जन विहित है, क्योंकि 'ग्रहं सम्मार्ष्टि' आदि में एकवचन का उपन्यास तो ग्रहत्व जाति के अभिप्राय से है और वह लक्षण=जाति सब ग्रहादि पदार्थों में तुल्य है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥१५॥

याग में यथाविधि दान के लिए विधान किये पशु में जिस संख्या का श्रवण होता है, उसी का ग्रहण होना चाहिए, क्योंकि उक्त पशु आलम्भन (दान) के लिए होने से गौण है।

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥

पूर्व०—गुणभूत सम्मार्जन आदि की अव्यवस्था है अर्थात् सम्मार्जन ग्रह आदि का ही धर्म है, चमसों का नहीं—ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह संस्कार कर्म है।

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात् तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥

सि०—'सम्मार्जन ग्रहों का ही धर्म है, चमसों का नहीं'—यह नियम हो सकता है, क्योंकि ग्रहों का 'ग्रहम्' इस द्वितीयान्त पद श्रुति से सम्मार्जन के साथ धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध है और शब्दप्रमाण होने से उसका त्याग नहीं हो सकता।

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥१८॥

'सप्तदशारत्निः' यह वाक्य वाजपेय यज्ञ के अङ्गभूत पशुयाग सम्बन्धी यूप में होने के कारण निरर्थक सिद्ध होता है, क्योंकि वाजपेय याग में यूप नहीं होता।

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥

पूर्व०—'अभिक्रामं जुहोति'—इसमें वाक्यभेद होना ठीक है, क्योंकि कर्ता के गुण अभिक्रमण का जुहोति क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥

सि०—'अभिक्रामं जुहोति'—यह एक वाक्य है, क्योंकि विभाग करने से दोनों पद साकांक्ष हो जाते हैं और अकेले 'अभिक्रामं' पद से वाक्य पूरा नहीं होता।

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥

उपवीत सामिधेनी का अङ्ग है अथवा दर्शपौर्णमास आदि सब कर्मों का—इस सन्देह की निवृत्ति के लिए यह जानना चाहिए कि उपवीत वाक्य सामिधेनी का अङ्ग नहीं माना जा सकता, क्योंकि मध्य में 'निवित्' संज्ञक मन्त्रों का व्यवधान है।

गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात् ॥२२॥

तथा सामिधेनी एवं निवित् मन्त्र यज्ञ, अग्नि एवं ईश्वर स्तुतिपरक हैं। दोनों के समान होने के कारण उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं हो सकता।

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥

और 'वार्त्रघ्नी' तथा 'वृधन्वती' का दर्शपौर्णमास यज्ञ से सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह निरर्थक है।

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥

उपदेश के बिना केवल व्यवधानरहित पाठ अङ्गाङ्गिभाव का विधायक नहीं हो सकता।

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥२५॥

और, उदाहृत वाक्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि अपने-अपने पद-समूह द्वारा अपना-अपना अर्थ बतलाने में ही उनकी आकांक्षा समाप्त हो जाती है।

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत, मिथस्तेषामसम्बन्धात् ॥२६॥

पूर्व०—आग्नेय सम्बन्धी चार भाग करना सर्वपुरोडाश का अङ्ग=धर्म जानना चाहिए, क्योंकि अग्नि तथा चार भाग करने का परस्पर सम्बन्ध नहीं है प्रत्युत पुरोडाश और चार भाग का सम्बन्ध है

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥

सि०—चार भाग करना आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है, क्योंकि अग्निदेवता का पुरोडाश के साथ विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध होने से चतुर्धाकरण का आग्नेय पुरोडाश के साथ सम्बन्ध है और पुरोडाश के साथ अग्निदेवता का उक्त सम्बन्ध पुरोडाशान्तर से भिन्न करने के लिए है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् ॥१॥

जिस अर्थ को प्रकट करने की सामर्थ्य मन्त्र में है, उसके प्रतिमन्त्रों में शेषता होती है परन्तु अर्थ के साथ मन्त्रस्थ पदों का 'शक्तिवृत्ति' रूप सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि शक्तिवृत्ति द्वारा उपस्थित अर्थ के साथ मन्त्रस्थ पदों का नित्य सम्बन्ध है।

संस्कारकत्वादचोदितेन स्यात् ॥२॥

अविहित कर्म में मन्त्रों का विनियोग नहीं होता, क्योंकि वे विहित कर्म के ही संस्कार करनेवाले हैं।

वचनात्त्वयथार्थमैन्द्री स्यात् ।।३।।

इन्द्ररूप ईश्वर के बतलानेवाले मन्त्र का लिङ्ग के द्वारा विनियोग नहीं होता अपितु वाक्यविशेष से होता है।

गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् ।।४।।

गुणसम्बन्ध द्वारा इन्द्र शब्द से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान हो सकता है, क्योंकि पद-पदार्थ का सम्बन्ध शास्त्रहेतुक नहीं, स्वाभाविक होता है।

तथाह्वानमपीति चेत् ।।५।।

आ०—जैसे **'निवेशनः सङ्गमो वसूनाम्'** मन्त्र गार्हपत्य अग्नि के लिए है, वैसे ही 'एहि' इत्यादि मन्त्र भी अवहनन के लिए होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कालविधिश्चोदितत्वात् ।।६।।

समा०—यह ठीक नहीं। उक्त वचन में **'अवघ्नन्'** पद काल का विधायक है, अवहनन क्रिया का नहीं, क्योंकि वह **'व्रीहीनवहन्ति'** वाक्य से पूर्व ही विहित है, अतः उक्त वचन के बल से 'एहि' मन्त्र का अविहित 'अवहनन' क्रिया में विनियोग मानना ठीक नहीं।

गुणाभावात् ।।७।।

गुण का सम्बन्ध न पाये जाने से 'एहि' मन्त्र अवहनन का प्रकाशक नहीं हो सकता।

लिङ्गाच्च ।।८।।

और, लिङ्ग पाये जाने से भी अवहनन **'हविष्कृत'** पद का अर्थ भी नहीं हो सकता।

विधिकोपश्चोपदेशे स्यात् ।।९।।

तथा, **'अवघ्नन्'** पद से उक्त कर्म का विधान मानें तो लक्षण अर्थ में विहित 'शतृ' प्रत्यय अनुपपन्न हो जाता है।

तथोत्थानविसर्जने ।।१०।।

जैसे 'अवघ्नन्' पद अवहनन काल का बोधक है, उसी प्रकार **'उत्तिष्ठन्नन्वाह'** में उत्तिष्ठन् और **'व्रतं कृणुतेति वाचं विसृजति'** में विसृजति पद भी उत्थानकाल और विसर्जनकाल के बोधक हैं।

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् ।।११।।

पूर्व०—सूक्तस्थ वाक्य में भी काल का विधान ही मानना चाहिए, क्योंकि परार्थ होने के कारण सूक्तवाक्य का प्रस्तर के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं हो सकता।

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात् ।।१२।।

सि०—उपदेश होने से ही वह शब्द याग-सम्बन्धी देवता का द्योतक है, क्योंकि बिना निमित्त के वह प्रहरण का अङ्ग नहीं हो सकता।

स देवतार्थस्तत्संयोगात् ।।१३।।

सूक्तवाक देवता के लिए होने पर भी प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग है, क्योंकि उसका देवता के द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होता है।

प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभयसंस्कारः स्यात् ॥१४॥

प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्तिरूप संस्कारकर्म है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि स्विष्टकर्म की भाँति वह दोनों प्रकार का कर्म है।

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् ॥१५॥

पूर्व०—दर्श और पौर्णमास यज्ञ में सूक्तवाक संज्ञक सब मन्त्रों का पाठ करना चाहिए, क्योंकि 'सूक्तवाक' नाम के ग्रहण से सब मन्त्रों का प्रहरण के अङ्ग होने का उपदेश मिलता है।

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात् ॥१६॥

सि०—'सूक्तवाक' नामक मन्त्रों का अपने-अपने अर्थानुसार प्रत्येक यज्ञ में प्रस्तर प्रकरण में विभागपूर्वक विनियोग होना चाहिए, क्योंकि वे यज्ञ के शेषभूत हैं, यज्ञ से सम्बद्ध हैं।

वचनादिति चेत् ॥१७॥

'सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति' इस वाक्य से सूक्तवाक नामक सब मन्त्रों का प्रत्येक यज्ञ-सम्बन्धी प्रस्तरप्रहरण में विनियोग होना ठीक है, यदि ऐसा कहो तो—

प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः ॥१८॥

यह ठीक नहीं। सब मन्त्रों के वाचक सूक्तवाक शब्द का ग्रहण दर्श तथा पौर्णमास दोनों के अभिप्राय से है, क्योंकि दोनों एक ही प्रकरण के हैं।

लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् ॥१९॥

काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड का काम्येष्टियों में ही विनियोग है, इष्टिमात्र में नहीं, क्योंकि क्रम तथा समाख्यासहित लिङ्ग से यही सिद्ध होता है।

अधिकारे च मन्त्रविधिस्तदाख्येषु शिष्टत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो अग्नीध्र आदि मण्डपों के उपस्थानार्थ आग्नेयी आदि मन्त्रों का उपदेश है, वह अप्रकृत मन्त्रों में जानना चाहिए, क्योंकि वह सामान्य रूप से कहा गया है।

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम् ॥२१॥

सि०—जिस स्तोत्र तथा शस्त्र आदि के साधन आग्नेय आदि मन्त्रों का प्रकरण में पाठ है, उन्हीं प्रकृत मन्त्रों का मण्डपोपस्थान के प्रति विनियोग है, अप्रकृत का नहीं, क्योंकि प्रकरण तथा युक्ति से यह बात सिद्ध है।

अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता ॥२२॥

और, यदि 'अग्नीध्र' आदि मण्डप के उपस्थान में अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग माना जाए तो उपदेश निष्फल हो जाता है, क्योंकि फलवाले ज्योतिष्टोम के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं और जिस उपस्थान के साथ सम्बन्ध है, वह फलवाला नहीं है।

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् ॥२३॥

सब मन्त्रों का 'वाचः स्तोम' याग में विनियोग उपदेश किया गया है, अतः विनियुक्त के विनियोग होने में कोई दोष नहीं।

लिङ्गसमाख्यानाभ्यां भक्षार्थताऽनुवाकस्य ॥२४॥

पूर्व०—'भक्षे हि' इत्यादि अनुवाक का भक्षण में ही विनियोग है, क्योंकि लिङ्ग तथा समाख्या से ऐसा ही सिद्ध होता है।

तस्य रूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य, चोदितत्वात् ॥२५॥

सि०—भक्षानुवाक का भक्षण से भिन्न ग्रहण आदि में भी विनियोग है, स्वरूप-ग्रहण आदि का विधान होने से। और ग्रहण आदि का भक्षण-विधान विधि से ही कथन हो जाता है।

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात् ॥२६॥

'मन्द्र' आदि सम्पूर्ण मन्त्र भक्षण का लिङ्ग है, तृप्ति का नहीं, क्योंकि तृप्ति का गौणरूप से कथन है। मन्त्र के तृप्ति और भक्षण दोनों के द्योतक भागों का भक्षणरूप अर्थ में ही मुख्य योग है।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम् ॥२७॥

पूर्व०—जिन शेष सोमरसयुक्त ग्रहों के भक्षण का विधान समान है, उनके मध्य 'ऐन्द्र' ईश्वर के निमित्त से जिनका प्रदान नहीं किया गया उनके भक्षण में उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं होता, क्योंकि उसमें इन्द्रपीतशेषत्व प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्गविशेष का कथन पाया जाता है।

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति ॥२८॥

सि०—जिस-जिस गुणरूप देवता की प्रधानता मानकर ईश्वर के उद्देश्य से ग्रहों द्वारा सोम का हवन किया जाता है, उस-उस देवता के अनुसार 'ऊहः' द्वारा अनैन्द्रग्रहों के भक्षण में भी उस मन्त्र का विनियोग होना चाहिए, क्योंकि ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव शास्त्रों में पाया जाता है।

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् ॥२९॥

ग्रहों में फिर से डाले गये सोमरस के भक्षणकाल में इन्द्र तथा मित्र, वरुण आदि सबकी 'ऊहः' करनी चाहिए, क्योंकि वह भक्षणीय सोम सबका शेष है।

अपनायाद्वा पूर्वस्यऽनुपलक्षणम् ॥३०॥

पूर्व०—जिसके लिए पहले हवन किया गया है, भक्षमन्त्र में उस (इन्द्र) की 'ऊहः' नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भक्षण करने योग्य शेष के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रहता।

ग्रहणाद्वाऽनपायः स्यात् ॥३१॥

सि०—इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद उचित नहीं, क्योंकि उसका ग्रहण पाया जाता है।

पात्नीवते तु पूर्ववत् ॥३२॥

पूर्व०—पात्नीवत् नामक ग्रह=पात्र में बचे हुए होमशेष भक्षण के समय भक्ष-मन्त्र में पूर्व की भांति पत्नीवान् के साथ इन्द्र, वायु आदि की ऊहा कर लेनी चाहिए।

ग्रहणाद्वाऽपनीतं स्यात् ॥३३॥

सि०—पात्नीवत् पात्र के शेष में इन्द्र, वायु आदि के सम्बन्ध का विच्छेद हो जाता है, क्योंकि उसमें पूर्वदेवता के सम्बन्ध से रहित आग्रयणस्थाली से निकाले हुए का ग्रहण है।

त्वष्टारं तूपलक्षयेत्पानात् ॥३४॥

पूर्व०—त्वष्टा नामक परमात्मा की पात्नीवत् शेष भक्षण में ऊहा होनी चाहिए, क्योंकि सोम का स्वीकार करना सुना जाता है।

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥३५॥

सि०—पात्नीवत् के साथ त्वष्टा की ऊहा नहीं हो सकती, क्योंकि सोम के स्वीकार में दोनों का सम्बन्ध एक-सा नहीं है।

त्रिंशच्च परार्थत्वात् ॥३६॥

पात्नीवत् शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ पत्नीवान् नाम के तेंतीस देवताओं की ऊहा नहीं हो सकती, क्योंकि वे गौण हैं।

वषट्कारश्च कर्तृवत् ॥३७॥

और, जैसे होता, अध्वर्यु आदि की भक्षमन्त्र में ऊहा नहीं होती वैसे ही अनुवषट्-कार के देवता अग्नि की भी ऊहा नहीं हो सकती।

छन्दः प्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् ॥३८॥

जगती छन्द के निषेधपूर्वक अनुष्टुप् छन्द की ऊहा का विधान 'ऐन्द्र' तथा 'अनैन्द्र' प्रदानों के प्रकृति तथा विकृति भाव में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग एक होने से सोम तथा सोम के धर्मों का सम्बन्ध सब प्रदानों में समान है।

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—'ऐन्द्राग्न' नामक ग्रह-शेष के भक्षण में भक्ष मन्त्र का विनियोग है, क्योंकि उनका विनियोजक लिङ्ग विद्यमान है।

एकस्मिन् वा देवतान्तराद्विभागवत् ॥४०॥

सि०—जैसे चार विभागकरण आग्नेय पुरोडाश में ही होता है, ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं, वैसे ही भक्षमन्त्र का विनियोग भी देवताक सोमशेष के भक्षण में ही हो सकता है, द्विदेवताक सोमशेष के भक्षण में नहीं, क्योंकि इन्द्र से इन्द्राग्नी देवता भिन्न है।

छन्दश्च देवतावत् ॥४१॥

पूर्व०—जैसे एक इन्द्र देवता के उद्देश्य से प्रदान किये सोम के भक्षणीय शेष में भी भक्षमन्त्र का विनियोग होता है, वैसे ही एक गायत्री छन्दवाले सोम के भक्ष शेष में भी उक्त मन्त्र का विनियोग होना चाहिए।

सर्वेषु वाऽभावादेकछन्दसः ॥४२॥

सि०—अनेक छन्दवाले सब ऐन्द्रशेषों के भक्षण में उक्त भक्षण मन्त्र का विनियोग होता है, एक छन्दवाले ऐन्द्रशेष के भक्षण में नहीं, क्योंकि कोई ऐन्द्रसोम एक छन्दवाला नहीं है।

सर्वेषां वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि ॥४३॥

सब 'ऐन्द्र' और 'अनैन्द्र' शेषों के भक्षण में समान भाव से उक्त एक भक्षमन्त्र का विनियोग होता है, क्योंकि लक्षणवृत्ति द्वारा 'दा' धातु के अर्थ में 'पा' धातु का प्रयोग करके बहुव्रीहि समास करने से 'इन्द्रपीत' शब्द का सवन अर्थ होता है, यह महर्षि ऐतिशायन का मत है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

श्रुतेर्जाताधिकारः स्यात् ॥१॥

पूर्व०—धर्मविशेषवाले मन्त्रों का उच्चैस्त्व आदि धर्म है, क्योंकि उनके विधायक **'उच्चैर्ऋचाक्रियते'** इत्यादि वाक्यों में मन्त्रवाचक ऋचा आदि शब्दों का उपदेश पाया जाता है।

वेदो वा प्रायदर्शनात् ॥२॥

सि०—पूर्वोक्त वाक्यों में पठित ऋचा आदि शब्द ऋग्वेदादि के वाचक हैं, क्योंकि वेदों का उपक्रम करके उक्त पदों का प्रयोग किया गया है।

लिङ्गाच्च ॥३॥

तथा, लिङ्ग पाये जाने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

धर्मोपदेशाच्च न हि द्रव्येण सम्बन्धः ॥४॥

और, साम का उच्चैस्त्व धर्म कथन करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है, क्योंकि साम के साथ उच्चैस्त्व धर्म का सम्बन्ध ऋगादि पदों का 'वेद' अर्थ माने बिना नहीं हो सकता।

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि ॥५॥

तथा, तीनों वेदों के वेत्ताओं में त्रयीविद्या नामक प्रवृत्ति होने से भी यही सिद्ध होता है।

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् ॥६॥

आक्षेप—किसी ऋचा का यजुर्वेद में तथा किसी यजुः का ऋग्वेद में पाठ होने पर श्रुत्यनुकूल ही उच्चैस्त्व आदि धर्म की कल्पना करनी चाहिए, इस कारण से भी उन शब्दों को वेदवाची मानना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न सर्वस्मिन्निवेशात् ॥७॥

समाधान—यह कथन ठीक नहीं। ऋचा के पाठ का व्यतिक्रम होने से उसके धर्म का व्यतिक्रम होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि उस धर्म का सम्पूर्ण ऋग्वेद तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद में निवेश है, अर्थात् वह धर्म वेद का है, मन्त्र का नहीं।

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्येत ॥८॥

वेद के सम्बन्ध से उच्चैस्त्व आदि धर्मों का नियम है, और उसका प्रकरण से बाध=निषेध नहीं होता।

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ॥९॥

गुण और मुख्य में वेद के धर्म उच्चैस्त्वादि के सम्बन्ध का सन्देह होने पर मुख्य में ही उक्त वेद के धर्म का सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि गुण तथा धर्म सब मुख्य के लिए हैं, गुण के लिए नहीं।

भूयस्त्वेनोभयश्रुति ॥१०॥

दो वेदों में श्रूयमाण कर्म का प्रधान रूप से विधान अङ्गों की अधिकता पर निर्भर है।

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वात् ॥११॥

श्रुति, लिङ्ग तथा वाक्य—इन तीनों के द्वारा जिसका विनियोग न हो उसका प्रकरण से विनियोग समझना चाहिए, क्योंकि प्रधान के अङ्ग के विनियोग की आकांक्षा होती है।

क्रमश्च देशसामान्यात् ॥१२॥

और, अनुमन्त्रण मन्त्र तथा उपांशु याग के अङ्गाङ्गि भाव का बोधक स्थल है, क्योंकि दोनों का एक ही स्थान है।

आख्या चैवं तदर्थत्वात् ॥१३॥

तथा, क्रम के अनुसार समाख्या भी विनियोजक समझनी चाहिए, क्योंकि व्युत्पत्ति द्वारा उनमें कर्त्ता तथा क्रिया का सम्बन्ध पाया जाता है।

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ॥१४॥

श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या—इन छह के क्वचित् एकत्र हो जाने पर पूर्व प्रबल और उत्तर निर्बल होता है, क्योंकि पूर्व की अपेक्षा उत्तर द्वारा विलम्ब से विनियोग होता है।

अहीनो वा प्रकरणाद् गौणः ॥१५॥

पूर्व०—'अहीन' ज्योतिष्टोम याग की गौण संज्ञा है, क्योंकि प्रकरण में उसका पाठ है।

असंयोगात्तु मुख्यस्य तस्मादपकृष्यते ॥१६॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग से भिन्न कई दिन में पूर्ण होनेवाले 'अहीन' संज्ञक यागान्तर में द्वादश 'उपसद' का अपकर्षरूप सम्बन्ध होना ठीक है, क्योंकि मुख्य वृत्ति द्वारा 'अहीन' शब्द का ज्योतिष्टोम याग के साथ वाच्यवाचक-भावरूप सम्बन्ध नहीं होता।

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वा चोदनात्तस्य ॥१७॥

दो अथवा अधिक यजमानवाचक द्विवचन और बहुवचनान्त पदवाले मन्त्रों को ज्योतिष्टोम से पृथक् कर 'कुलाय' आदि यज्ञ में विनियुक्त करना ठीक है, क्योंकि ज्योतिष्टोम में दो अथवा बहुत यजमानों की विधि नहीं बताई गई है।

पक्षेणार्थकृतस्येति चेत् ॥१८॥

आक्षेप—यजमान की असमर्थता से ज्योतिष्टोम में भी प्रयोजन के कारण दो अथवा बहुत यजमानों का होना सम्भव है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतेरेकसंयोगात् ॥१९॥

समाधान—यह ठीक नहीं, क्योंकि ज्योतिष्टोम यज्ञ में एक ही यजमान का विधान है।

जाघनी चैकदेशत्वात् ॥२०॥

जाघनी का पशुयाग में उत्कर्षरूप सम्बन्ध है, क्योंकि उक्त पशु उस याग का अङ्ग है।

चोदना वाऽपूर्वत्वादेकदेश इति चेत् ॥२१॥

उक्त वाक्य में पत्नीसंयाज के अङ्गरूप से जाघनी का विधान है, क्योंकि ऐसा करने से अपूर्व अर्थ का लाभ होता है और पशु की हिंसा करने से उसके अवयव 'जाघनी' की प्राप्ति होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः ॥२२॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृत याग में जाघनी का सम्बन्ध मानने से शास्त्र से विरोध होगा अर्थात् सर्वशास्त्र-निषिद्ध हिंसा करनी पड़ेगी।

सन्तर्दनं प्रकृतौ, क्रयणवदनर्थलोपात् स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—सन्तर्दन का अग्निष्टोम में निवेश है, क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यार्थ का लोप नहीं होता और सोम-क्रय के साधन हिरण्य तथा गौ आदि की भाँति उसका प्रकृति में विधान बन सकता है।

उत्कर्षो वा ग्रहणाद्विशेषस्य ॥२४॥

सि०—अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष होता है, क्योंकि उस वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घ सोमरूप विशेषण माना गया है।

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

आक्षेप—यजमान के सम्बन्ध से ही दीर्घ सोम शब्द ज्योतिष्टोम याग का विशेषण है, क्योंकि दीर्घ शब्द यजमान निमित्तक है।

क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात् ॥२६॥

समाधान—याग के सम्बन्ध से दीर्घ विशेषण मानना ठीक है। ऐसा न मानने से 'धृत्यै' शब्द से 'सन्तर्दन' का सोमधारणरूप जो कथित फल है वह नहीं बनता।

संस्थाश्च कर्तृवद्धारणार्थाविशेषात् ॥२७॥

पूर्व०—जैसे ज्योतिष्टोम के कर्त्ता का सब संस्थाओं में निवेश है, वैसे ही सन्तर्दन का भी सब संस्थाओं में निवेश होना चाहिए, क्योंकि सोम का धारण सबमें समान है।

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२८॥

सि०—उक्थ्य आदि में ही सन्तर्दन का सम्बन्ध मानना ठीक है, क्योंकि उसमें सन्तर्दन का फल विद्यमान है।

अविशेषात् स्तुतिर्व्यर्थेति चेत् ॥२९॥

आक्षेप—उक्थ्यादि की दीर्घ सोमरूप से प्रशंसा व्यर्थ है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की सब संस्थाओं में सोम एक-सा है, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादनित्यत्वात् ॥३०॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं। उक्थ्यादि में सोम अधिक होता है, क्योंकि दश मुट्ठी परिमाण का विधान करने वाला शास्त्र अनित्य है।

संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात् स्यात् ॥३१॥

पूर्व०—संख्यावाची प्रथम पदवाला वाक्य ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी 'प्रवर्ग्य' संज्ञक कर्म का निषेध करनेवाला है, क्योंकि उक्त प्रकरण में उसका पाठ है।

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिगस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३२॥

सि०—कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के निमित्त से उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम का 'प्रथम यज्ञ' नाम कहा गया है, क्योंकि लोक में प्रथम, द्वितीय इस प्रकार का व्यवहार कर्त्ता की प्रथम प्रकृति आदि के निमित्त से देखा जाता है।

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेताऽचोदनात्प्रकृतौ ॥३३॥

सब पदार्थों के बढ़ाने तथा पुष्ट करनेवाले परमात्मा के उद्देश्य से प्रदेय पदार्थों को पीसकर प्रदान करने का विधान पूषा देवता के विकृति याग में जानना चाहिए, क्योंकि दर्शपौर्णमास याग में पूषा देवता की विधि नहीं पाई जाती।

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥३४॥

पूर्व०—वह पेषण परमात्मा के उद्देश्य से सब प्रदेय पदार्थों में सम्बद्ध होना चाहिए, क्योंकि उसका विधान समान रूप से पाया जाता है।

चरौवाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात् ॥३५॥

सि०—उस पेषण का सम्बन्ध केवल चरु में है, सर्वत्र नहीं, क्योंकि पुरोडाश में वह पूर्व-अर्थ से ही सम्बद्ध है और पेषणरूप अर्थ असम्भव होने से पशु में वह स्वयं नहीं हो सकता।

चरावपीति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—चरु में भी पेषण=पीसना असम्भव है, यदि ऐसा कहो तो—

न पक्तिनामत्वात् ॥३७॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पके हुए भात-विशेष का नाम चरु है।

एकस्मिन्नेकसंयोगात् ॥३८॥

एक देवतापरक याग-सम्बन्धी चरु में पेषण का निवेश है, द्विदेवतापरक याग-सम्बन्धी चरु में नहीं। पेषण का विधान करनेवाले वाक्य से चरु के साथ-साथ एक देवता का भी सम्बन्ध मिलता है।

धर्मविप्रतिषेधाच्च ॥३९॥

और, दोनों के धर्मों का विरोध होने से भी द्विदेवतापरक चरु में पेषण का निवेश नहीं हो सकता।

अपि वा सद्वितीये स्याद्देवतानिमित्तत्वात् ।।४०।।

पूर्व०—द्विदेवतापरक चरु में भी पेषण का निवेश होना चाहिए, क्योंकि उसके निवेश का निमित्त देवता उसमें विद्यमान है।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।४१।।

पूर्व०—तथा, लक्षण के देखे जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभावाद्धि चरावपेषणं भवति ।।४२।।

पूर्व०—यदि उक्त वाक्य को नेमपिष्ट का विधायक मानें तो उससे पशु, पुरोडाश और चरु—इन सब में पेषण के माने जाने से उस सर्वपेषण के प्रति वह वाक्य अर्थवाला हो सकता है; और असम्भव तथा फल के अभाव के कारण पशु-पुरोडाश में यदि उस पेषण को न मानें तो सोमापौष्ण चरु में भी वह पेषण नहीं बन सकेगा।

एकस्मिन्वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयोर्न स्यादचोदितत्वात् ।।४३।।

सि०—जैसे चार भाग करना एक देवतापरक आग्नेय पुरोडाश में ही घटता है, द्विदेवतापरक ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं, वैसे ही एक देवतापरक पौष्ण चरु में ही पेषण का निवेश है, द्विदेवतापरक 'सोमापौष्णौ' और ऐन्द्रापौष्णौ' चरु में नहीं, क्योंकि पिष्ट भाग याग का धर्म अभिप्रेत है, उसका सोमापौष्ण आदि में विधान नहीं।

हेतुमात्रमदन्तत्वम् ।।४४।।

उक्त वाक्य के शेष में जो अदन्तत्व कथन है, वह देवतामात्र के शरीररहित होने में कारण जानना चाहिए।

वचनं परम् ।।४५।।

वह विधिवाक्य है, लक्षण नहीं।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

निवीतमिति मनुष्यधर्मः शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ।।१।।

पूर्व०—'निवीत' यह मनुष्य-सम्बन्धी कर्म का अङ्ग बताया गया है, क्योंकि उक्त शब्द से मनुष्य-सम्बन्धी कर्म की प्रधानता पाई जाती है।

अपदेशो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ।।२।।

पूर्व० पर आक्षेप—उक्त वाक्य अनुवादक है, विधायक नहीं, क्योंकि निवीत पूर्व से लोकप्रसिद्ध है।

विधिस्त्वपूर्वत्वात्स्यात् ।।३।।

समाधान—उक्त वाक्य विधि है, क्योंकि निवीतरूप अर्थ अपूर्व है।

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् ।।४।।

पूर्व०—निवीत प्रकृत कर्म का अङ्ग है, क्योंकि उसका उस प्रकरण में पाठ है।

वाक्यशेषत्वात् ॥५॥

उक्त वाक्यशेष में पठित समाख्या के बल से अध्वर्युकर्तृक प्रकृत कर्म के अङ्ग निवीत का विधान करता है, सर्वत्र नहीं।

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् ॥६॥

पूर्व०—वह वाक्य दर्शपौर्णमास कर्म के प्रकरण में, जो मानुष कर्म है, उसके अङ्गरूप निवीत का विधायक है, ऐसा करने पर षष्ठ्यन्त पद की संगति ठीक बैठ जाती है।

तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य तदर्थत्वात् ॥७॥

पूर्व०—वह वाक्य मनुष्यप्रधान सब कर्मों में निवीतरूप अङ्ग का विधायक है, क्योंकि उपवीत वाक्य के समान उससे उस कर्ममात्र का बोध होने से षष्ठ्यन्त पद 'मनुष्याणाम्' उक्त अर्थ में सङ्गत हो जाता है।

अर्थवादो वा प्रकरणात् ॥८॥

सि०—वह वाक्य उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद है, क्योंकि प्रकरण से ऐसा ही जान पड़ता है।

विधिना चैकवाक्यत्वात् ॥९॥

और, उपवीत विधिवाक्य के साथ उक्त वाक्य की एकवाक्यता प्राप्त होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उपवीतं लिङ्गदर्शनात्सर्वधर्मः स्यात् ॥१०॥

तथा, निवीत के समान दिग्विभाग भी अर्थवाद है, क्योंकि वह दिग्सम्बन्ध अर्थ का हेतु है, यह प्रसिद्ध है।

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं च तद्वत् ॥११॥

और, निवीत की भाँति परुषिदित, पूर्ण, घृत तथा विदग्ध—ये चारों भी अर्थवाद हैं।

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास में कथित अनृत-निषेध नित्य प्राप्त का अनुवाद है, क्योंकि निषेध का वाक्यान्तर से विधान है।

विधिर्वा संयोगान्तरात् ॥१३॥

सि०—निषेध वाक्य विधिरूप है, अनुवादक नहीं, क्योंकि उद्देश्य-भेद से दोनों वाक्यों का भेद है।

अहीनवत्पुरुषस्तदर्थत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—जैसे उपसद् संज्ञक यज्ञ 'अहीन' का धर्म है, वैसे ही जंभाई-निमित्तक मन्त्र का उच्चारण भी मनुष्यमात्र का धर्म है, क्योंकि उस पुरुष के उद्देश्य से विधान किया गया है।

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् ॥१५॥

सि०—जैसे यज्ञ-सम्बन्धी व्रीहिरूप द्रव्य का प्रोक्षण संस्कार है, वैसे ही यज्ञ-

सम्बन्धी पुरुष का मन्त्रोच्चारण करना संस्कार है, क्योंकि प्रकरण से पुरुषमात्र की व्यावृत्ति पाई जाती है।

व्यपदेशादपकृष्येत ॥१६॥

विशेष कथन पाये जाने से 'उपसद्' होम का अपकर्ष होता है।

शंयौ च सर्वपरिदानात् ॥१७॥

और, महाराज शंयु के उपदेश में जो ब्राह्मण के अवगोरण (दण्ड आदि से डराना) का निषेध किया गया है, वह ब्राह्मणमात्र के लिए समझना चाहिए, क्योंकि उससे ब्राह्मणमात्र का ग्रहण पाया जाता है।

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः ॥१८॥

रजस्वला स्त्री से सर्वप्रकार के सम्भाषण का निषेध है, क्योंकि यज्ञारम्भ करने से पूर्व, उसे यज्ञभूमि से बाहर करके यज्ञ करने का विधान है।

अन्नप्रतिषेधाच्च ॥१९॥

तथा, रजस्वला स्त्री के साथ संभोग का निषेध पाये जाने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात् ॥२०॥

सि०—किसी याग-विशेष के प्रकरण में अपठित=अनिर्दिष्ट सुवर्णधारण आदि मनुष्यमात्र का धर्म है, क्योंकि वह प्रकरण से भिन्न है, विलक्षण है।

अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात् ॥२१॥

पूर्व० की आपत्ति—सुवर्ण आदि का धारण करना याग का अङ्ग है, क्योंकि वह एक क्रिया है।

वेदसंयोगात् ॥२२॥

उक्त वाक्य का यजुर्वेद के साथ सम्बन्ध है, अतः उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्रव्यसंयोगाच्च ॥२३॥

तथा, उक्त वाक्य में आया 'हिरण्य' पद याग-सम्बन्धी हिरण्य का स्मारक होने से भी पूर्वोक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

स्याद्वाऽस्यसंयोगवत्फलेन सम्बन्धस्तस्मात्कर्मैतिशायनः ॥२४॥

सि० का समाधान—जैसे वाक्यशेष से प्राजापत्य व्रतों का फल के साथ सम्बन्ध होता है, वैसे ही सुवर्ण आदि धारण रूप कर्म का भी वाक्यशेष से फल के साथ सम्बन्ध होता है, अतः वह प्रधान कर्म है, यह ऐतिशायन ऋषि का मत है।

शेषाः प्रकरणेऽविशेषात्सर्वकर्मणाम् ॥२५॥

पूर्व०—अप्रकरण पठित 'जय' आदि होम 'लौकिक-वैदिक' सम्पूर्ण कर्म के अङ्ग हैं, क्योंकि उसका पाठ समान रूप से किया गया है।

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीयसंयोगात् ॥२६॥

सि०—जयादि याग वैदिक कर्मों में ही कर्तव्य हैं, क्योंकि वैदिक कर्म तथा होम दोनों का आहवनीय अग्नि के साथ समान सम्बन्ध है।

शेषश्च समाख्यानात् ॥२७॥

और, उक्त होम वैदिक कर्म का अङ्ग है, क्योंकि 'आध्वर्य' काण्ड में उसका पाठ है।

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्यात् शास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात् ॥२८॥

पूर्व०—अश्वप्रतिग्रह निमित्तक इष्टिविधान लौकिक अश्वप्रतिग्रह में भी होता है, क्योंकि उक्त प्रतिग्रह में दोष बताया गया है और वैदिक अश्वप्रतिग्रह में शास्त्रसिद्ध होने के कारण दोष नहीं है।

अर्थवादो वाऽनुपपातात्तस्माद्यज्ञे प्रतीयेत ॥२९॥

सि०—अश्वप्रतिग्रह से उत्पन्न जलोदर रोग की निवृत्ति के लिए उक्त इष्टि का विधान केवल अर्थवाद है। वस्तुतः अश्वप्रतिग्रह में कोई पाप नहीं, अतः जिस यज्ञ में अश्व दक्षिणा की विधि है, उसमें अङ्गरूप से उक्त इष्टि की कर्तव्यता जाननी चाहिए।

अचोदितं च कर्मभेदात् ॥३०॥

पूर्व०—उक्त इष्टि प्रतिग्रह देनेवाले को नहीं अपितु प्रतिग्रह लेनेवाले को करनी चाहिए, क्योंकि वह प्रतिग्रह के निमित्त से विधान की गई है, दान के निमित्त से नहीं तथा प्रतिग्रह व दान दोनों क्रियाओं में परस्पर भेद है।

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् ॥३१॥

सि०—उक्त इष्टि यजमान को करनी चाहिए, क्योंकि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध होता है।

पानव्यापच्च तद्वत् ॥३२॥

पूर्व०—अश्वदान निमित्तक इष्टि की भाँति सोमपान-वमन निमित्तक इष्टि भी करनी चाहिए।

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् ॥३३॥

सि०—वैदिक सोमपान में वमन होने पर इष्टि करने का विधान है, क्योंकि उसके वमन का आरम्भ-वाक्य में दोष बतलाया गया है परन्तु लौकिक सोमपान में वमन होना दोष नहीं है, क्योंकि वह सोमपान वमन कराने के लिए ही होता है।

तत्सर्वत्राविशेषात् ॥३४॥

पूर्व०—वह सोम-वमन ऋत्विक् तथा यजमान—दोनों को उक्त इष्टि में कर्तव्य है, क्योंकि वह समान रूप से पढ़ा गया है।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥३५॥

सि०—यजमान को ही उक्त इष्टि करनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मफल का भोक्ता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३६॥

और प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् ॥३७॥

पूर्व०—सम्पूर्ण हवि का अग्नि में प्रक्षेप होना चाहिए, क्योंकि वह हवि उसके निमित्त है।

निरवदानात्तु शेषः स्यात् ॥३८॥

सि०—सम्पूर्ण पुरोडाश का हवन नहीं होना चाहिए अपितु स्विष्टकृदादि अन्य कार्यों के लिए शेष भी रखना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण पुरोडाशरूप हवि से अंगुष्ठपर्व-परिमाण दो टुकड़े काटकर यज्ञ करने का विधान है।

उपायो वा तदर्थत्वात् ॥३९॥

आक्षेप—'द्विर्हविषः' शब्द से हवन करने की रीति कथन की गई है, द्विरवदान का हवन करना नहीं, क्योंकि कृत्स्न=सम्पूर्ण पुरोडाश हवन के लिए है।

कृतत्वात्तु कर्मणः सकृत्स्याद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥४०॥

समाधान—एक बार हवन कर देने से हवन-विधि वाक्य चरितार्थ हो जाता है, अतः शेष पुरोडाश के गुणभूत हो जाने के कारण वह हवन-क्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं हो सकता।

शेषदर्शनाच्च ॥४१॥

शेष पुरोडाश से अन्य कार्यों के करने का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अप्रयोजकत्वादेकस्मात्क्रियेरञ्छेषस्य गुणभूतत्वात् ॥४२॥

पूर्व०—एक हवि द्वारा 'स्विष्टकृत्' आदि सब शेष कर्म करने चाहिएँ, तीनों हवियों से नहीं, क्योंकि उक्त शेष कर्मों के प्रति गुणभूत होने के कारण वह उसकी पुनः-पुनः कर्तव्यता का प्रयोजक नहीं।

संस्कृतत्वाच्च ॥४३॥

और, एक बार उस कर्म के हो जाने से भी प्रधान हवि संस्कृत हो जाती है।

सर्वेभ्यो वा कारणाविशेषात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥४४॥

सि०—शेष सब हवियों से उक्त कर्म होने चाहिएँ, क्योंकि उनके होने में संस्कार-रूप कारण समान हैं और वह सस्कार हविमात्र के लिए होने से प्रतिहवि हो सकता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४५॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

एकस्माच्चेद्याथाकाम्यमविशेषात् ॥४६॥

पूर्व०—यदि एक हविः पक्ष है तो स्वेच्छा से किसी एक हवि से उक्त कर्म का अवदान करे, क्योंकि वे तीनों हवियाँ समान हैं।

मुख्याद्वापूर्वकालत्वात् ॥४७॥

सि०—जिस हवि का परमात्मा के उद्देश्य से प्रथम त्याग किया जाता है, उस मुख्य हवि से उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ अवदान होना चाहिए, क्योंकि वह सबसे प्रथम अवदान=त्यागने योग्य है।

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रिये ॥४८॥

पूर्व०—पुरोडाश के चार विभाग करके ऋत्विजों को देने का विधान परिक्रयार्थ है, भक्षण के लिए नहीं, क्योंकि दान के विधायक वाक्य में भक्षण का उपदेश नहीं है।

तत्संस्तवाच्च ॥४९॥

और, पुरोडाश दान की, दक्षिणा के नाम से स्तुति करने के द्वारा उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् ॥५०॥

सि०—पुरोडाश का दान भक्षण के लिए है, परिक्रय के लिए नहीं, क्योंकि उक्त पुरोडाश द्रव्य में यजमान और ऋत्विज दोनों का समान अधिकार है।

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः ॥५१॥

पुरोडाश दान की जो दक्षिणारूप से स्तुति की गई है, वह दानपात्र की समानता के अभिप्राय से है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

आज्याच्च सर्वसंयोगात् ॥१॥

पूर्व०—उपांशु याग के अनन्तर ध्रुवा यागस्थ शेष आज्य=घृत से स्विष्टकृत्कर्म करना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्म के लिए सब हवियों के अवदान का विधान पाया जाता है।

कारणाच्च ॥२॥

और, 'स्विष्टकृत्' आदि कर्म सब शेष हवियों के संस्कार का कारण होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

एकस्मिन्समवत्तशब्दात् ॥३॥

आदित्य चरुरूप एक हवि में 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग पाये जाने से भी उक्त अर्थ ही समीचीन सिद्ध होता है।

आज्ये च दर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य ॥४॥

और धौर्व (ध्रुवा पात्र में स्थित) आज्य=घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि उसका समर्थक अर्थवाद वाक्य मिलता है।

अशेषत्वात्तु नैवं स्यात्सर्वादानादशेषता ॥५॥

सि०—स्विष्टकृत् आदि कर्मों में धौर्व आज्य से अवदान नहीं हो सकता, क्योंकि वह उपांशु याग का शेष नहीं है और उपांशु याग में ध्रुवापात्र से जितना घृत ग्रहण करने योग्य था, उस सबका हवन हो चुकने पर उपांशु याग के घी का शेष न रहना सिद्ध है।

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् ॥६॥

उपांशु याग के पश्चात् जो धौर्वघृत है, उपांशु याग का शेष नहीं हो सकता, क्योंकि वह सब कर्मों में समान है।

अक्तत्वाच्च जुह्वां तस्य च होमसंयोगात् ॥७॥

जुहु में जितना घृत है, वह सब हवन के लिए अवदान किया गया है और उसका प्रधान हवन के साथ सम्बन्ध है।

चमसवदिति चेत् ॥८॥

जिस प्रकार ऐन्द्रवायव चमस में ग्रहण किये गये सोम का अग्नि के उद्देश्य से हवन होता है, उसी प्रकार विष्णु के उद्देश्य से जुहु द्वारा गृहीत घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनाविरोधाद्धविः प्रकल्पनाच्च ॥९॥

यह बात ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से उसका 'चतुरवत्तं जुहोति' इस विधिवाक्य के साथ विरोध हो जाता है तथा 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' वाक्य से केवल हवि की ही कल्पना मिलती है, हवन के संयोग की नहीं।

उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम् ॥१०॥

शेष के रहने पर 'सर्वेभ्यो हविर्भ्यः' वाक्य की प्रवृत्ति जाननी चाहिए, क्योंकि उसके अधिकार में उक्त वाक्य का पाठ है।

जातिविशेषात्परम् ॥११॥

'प्रायणीय' नामक इष्टि में आदित्यचरु के समीप जो 'समवद्यति' शब्द का प्रयोग पाया जाता है, वह भात और घृत-सम्बन्धी जातिविशेष के अभिप्राय से है।

अन्त्यमरेकार्थे ॥१२॥

ध्रौवघृत से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता का साधक प्रत्याभिघारण बतलाया गया है, वह ध्रुवा पात्र के रिक्त=खाली न हो जाने के अभिप्राय से है।

साकम्प्रस्थाय्ये स्विष्टकृदिडञ्च तद्वत् ॥१३॥

और उपांशु यज्ञ की भाँति 'साकं प्रस्थानीय यज्ञ' में स्विष्टकृत् और इडा अवदान कर्म नहीं होता।

सौत्रामण्यां च ग्रहेषु ॥१४॥

तथा, सौत्रामणी नामक यज्ञ में ग्रहों के द्वारा भी यज्ञ का विधान होने से पूर्वोक्त कर्मों के करने का निषेध है।

तद्वच्च शेषवचनम् ॥१५॥

और, ग्रहों के द्वारा होम का विधान करनेवाले वाक्य का जो शेष वाक्य है, वह 'साकं प्रस्थानीय' के समान उक्त यज्ञ में स्विष्टकृत् आदि कर्मों की अकर्तव्यता का द्योतक है।

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् ॥१६॥

पूर्व०—पुरोडाशरूप द्रव्य के एक होने पर भी प्रधान कर्म का भेद होने से प्रत्येक प्रधान कर्म के प्रति स्विष्टकृदादि कर्म करने चाहिएँ।

अविभागाच्च शेषस्य सर्वान्प्रत्यवशिष्टत्वात् ॥१७॥

सि०—हविः याग के अनन्तर बची हुई शेष हविः और उससे पूर्व हवि में परस्पर कोई भेद नहीं, क्योंकि सब पुरोडाश कर्मों में पुरोडाशरूप हविः समान है।

ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षः स्यात् ।।१८।।

ऐन्द्रवायव नामक ग्रह=पात्र में प्रत्येक आहुतिरूप कर्म के प्रति भक्षण होना ठीक है, क्योंकि वाक्य-विशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

सोमेऽवचनाद् भक्षो न विद्यते ।।१९।।

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग में शेष सोम का भक्षण नहीं पाया जाता, क्योंकि उसका विधायक कोई वचन नहीं है।

स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् ।।२०।।

सि०—उक्त शेष सोमों का भक्षण होना चाहिए, तत्सम्बन्धी अन्य वस्तु (भ्रमण) का विधान होने से।

वचनानि त्वपूर्वत्वात्तस्माद्यथोपदेशं स्युः ।।२१।।

'सर्वतः परिहारम्' आदि वाक्य भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण के विधायक हैं, अपूर्व अर्थ के विधायक होने से, अतः उक्त वाक्यों के अनुसार सम्पूर्ण शेष सोमों का भक्षण होना चाहिए।

चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्य तन्निमित्तत्वात् ।।२२।।

चमस नामक सोम पात्रों में समाख्या के आधार पर शेष सोम को भक्षण कहा गया है, क्योंकि वह समाख्या-सम्बन्ध भक्षण के कारण है।

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् ।।२३।।

पूर्व०—'उद्गातृ चमस' नामक पात्रस्थ शेष सोम का एक उद्गाता को ही भक्षण करना चाहिए, क्योंकि उक्त चमस के साथ उद्गातृ शब्द का ही सम्बन्ध है।

सर्वे वा सर्वसंयोगात् ।।२४।।

उक्त पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम का भक्षण करना चाहिए, क्योंकि सबके वाचक बहुवचन का उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

स्तोत्रकारिणां वा तत्संयोगाद्बहुश्रुतेः ।।२५।।

उक्त पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता—इन तीनों को भक्षण करना चाहिए, क्योंकि उन तीनों के सम्बन्ध से ही वहाँ बहुवचन का प्रयोग है।

सर्वे तु वेदसंयोगात्कारणादेकदेशे स्यात् ।।२६।।

सि०—यज्ञ में सामगान करनेवाले उक्त तीनों तथा सुब्रह्मण्य—इन चारों ऋत्विजों को उक्त पात्र में सोम भक्षण करना चाहिए, क्योंकि उक्त चारों का सामवेद गान के साथ सम्बन्ध है और उद्गाता नामक ऋत्विक् में जो उद्गातृ शब्द का प्रयोग होता है, वह उद्गीथ नामक सामविशेष गान के कारण है।

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ।।२७।।

पूर्व०—'ग्रावस्तुत्' संज्ञक ऋत्विक् का 'हारियोजन' नामक पात्र में शेष सोम का भक्षण नहीं होता, क्योंकि उक्त पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं पाया जाता।

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् ॥२८॥

सि०—हारियोजन नामक पात्र में ग्रावस्तुत् को भी शेष सोम का भक्षण करने का अधिकार है, क्योंकि उक्त पात्रस्थ सोम के भक्षण में उसका भी सम्बन्ध पाया जाता है।

चमसिनां वा सन्निधानात् ॥२९॥

आक्षेप—'**यथा चमसम्**' इत्यादि वाक्य में सर्व पद से चमसियों का ग्रहण है, क्योंकि वहाँ उसकी सन्निधि है।

सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः ॥३०॥

समाधान—सर्व शब्द से चमसी, आचमनी, सब ऋत्विजों का ग्रहण है, क्योंकि हारियोजन पात्र में सर्वभक्षण का विधान है। पूर्ववाक्य में चमसियों का ग्रहण उस पात्र की प्रशंसा के लिए है।

वषट्काराच्च भक्षयेत् ॥३१॥

और, वषट्कार करने के कारण वषट्कारकर्ता शेष सोम का प्रथम भक्षण करे।

होमाऽभिषवाभ्यां च ॥३२॥

तथा, होम और अभिषव—ये दोनों भी सोमभक्षण के निमित्त हैं।

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे ॥३३॥

पूर्व०—चमसों के भक्षण में वषट्कार आदि निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि उनके भक्षण में साक्षात् चमसियों को निमित्त कहा गया है। तथा '**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः**'—यह वाक्य चमस से पृथक् ग्रहों—पात्रों के भक्षण में है।

स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् ॥३४॥

सि०—वषट्कार आदि भी चमसों के भक्षण में निमित्त हैं, क्योंकि उनका कारण-रूप में निर्देश किया गया है और चमसभक्षण में चमसियों का निमित्तरूप से कथन न मिलने से 'यथा चमसम्' वाक्य सब चमसियों के भक्षण का विधान करता है, तथा अन्य का निवर्तक भी नहीं है।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥३५॥

और, चमसाध्वर्यु द्वारा वषट्कर्ता के लिए चमसों का दान पाये जाने से वषट्कर्ता आदि का भी वषट्कार आदि निमित्तक चमस में सोमभक्षण सिद्ध है।

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् ॥३६॥

पूर्व०—एक ही पात्र में होता आदि ऋत्विजों के भक्षण की एकसाथ विधि होने से अध्वर्यु नामक ऋत्विक् प्रथम भक्षण करे, क्योंकि ऐसा ही क्रम है।

होता वा मन्त्रवर्णात् ॥३७॥

सि०—होता को सर्वप्रथम भक्षण करना चाहिए, क्योंकि वेदों में ऐसा ही पाया जाता है।

वचनाच्च ॥३८॥

और, वाक्यशेष से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

कारणानुपूर्व्याच्च ।।३९।।

तथा, कारण के क्रम से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वचनादनुज्ञातभक्षणम् ।।४०।।

अनुज्ञा=आह्वानपूर्वक ही सोम का भक्षण करना चाहिए, क्योंकि वाक्य द्वारा ऐसा ही सिद्ध होता है।

तदुपहूत उपह्वयस्वेत्यनेनानुज्ञापयेल्लिङ्गात् ।।४१।।

सोमभक्षण का 'उपहूत उपह्वयस्व' इस मन्त्र से अनुज्ञापन करे, क्योंकि उक्त मन्त्र में अनुज्ञापन की शक्ति है।

तत्रार्थात्प्रतिवचनम् ।।४२।।

वेदमन्त्र द्वारा अनुज्ञापन=आह्वान की सिद्धि होने पर उसका उत्तर भी वेद-मन्त्र द्वारा ही दिया जाना सिद्ध होता है।

तदेकपात्राणां समवायात् ।।४३।।

सोमभक्षण के लिए अनुज्ञापन एक पात्र में भक्षण करनेवालों का ही होना चाहिए, उसमें इकट्ठे होकर ही भक्षण करना उचित है।

याज्यापनयेनापनीतो भक्षः प्रवरवत् ।।४४।।

पूर्व०—वरण के समान याज्या का अपनयन होने से भक्षण का अपनयन नहीं होता।

यष्टुर्वा कारणागमात् ।।४५।।

सि०—यागकर्ता यजमान को भी याज्या के आगम से भक्षण के निमित्त वषट्कार का भी आगम प्राप्त है।

प्रवृत्तत्वात्प्रवरस्यानपायः ।।४६।।

होता के वरण होने का अपनय नहीं होता, क्योंकि वह प्रवृत्त हो चुका है।

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ।।४७।।

पूर्व०—क्षत्रिय और वैश्य के निमित्त से बनाया हुआ फलचमस भक्षण के लिए है, क्योंकि वाक्यशेष से ऐसा ही सिद्ध होता है।

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४८।।

सि०—फलचमस याग के निमित्त है, क्योंकि उसका भक्षण याग के लिए होने से ही बन सकता है।

होमात् ।।४९।।

होम का अनुवाद=कथन पाया जाने से वह सिद्धार्थ नहीं अपितु विध्यार्थ=यागार्थ है।

चमसैश्च तुल्यकालत्वात् ।।५०।।

तथा, चमसों द्वारा फलचमस के उठाने का एक ही समय में विधान होने से भी पूर्वोक्त कथन की सिद्धि होती है।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।५१।।

और, लक्षण के पाये जाने से भी पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् ।।५२।।

पूर्व०—यजमान-चमस के प्रति भक्षणार्थ जानेवालों में दश क्षत्रिय होने चाहिएँ, क्योंकि ऐसा होने से यजमान के साथ एकजातित्व की प्राप्ति है।

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् ।।५३।।

सि०—यजमान-चमस के लिए अनुसर्पणकर्त्ता ब्राह्मण हो, न कि क्षत्रिय, क्योंकि सब चमसों के प्रति अनुसर्पण करनेवालों का केवल ब्राह्मण शब्द से उपन्यास किया गया है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।।

षष्ठः पादः

सर्वार्थमप्रकरणात् ।।१।।

पूर्व०—प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों में खैर की लकड़ी के स्रुवा आदि यज्ञीय पात्र बनाने का विधान है, क्योंकि यह किसी पाठ में नहीं पढ़ा गया।

प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् ।।२।।

सि०—दर्शपौर्णमास आदि प्रकृति यागों में उनका सम्बन्ध मानना चाहिए, सौर्यादि विकृति यागों में नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से द्विरुक्ति प्राप्त नहीं होती।

तद्वर्जं तु वचनप्राप्ते ।।३।।

आक्षेप—अप्रकरण पठित को छोड़कर जो विधिपूर्वक प्रकृति याग में प्राप्त है, उसमें प्रेरक वाक्य की प्रवृत्ति होती है, अतः खदिर आदि वाक्य प्रकृति-विकृति दोनों के लिए है।

दर्शनादिति चेत् ।।४।।

विकृति में प्रकृति के धर्मों का सम्बन्ध होने से प्रेरक वाक्य में सर्वत्र प्रवृत्ति प्रमाणित होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकार्थ्यात् ।।५।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति और विकृति दोनों यागों में एक ही प्रकार की विधि मिलती है।

उत्पत्तिरिति चेत् ।।६।।

विधिवाक्य द्वारा सम्पूर्ण धर्मों का प्रकृति याग से साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध है, विकृति याग से नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यत्वात् ।।७।।

यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वह खदिर आदि धर्म प्रकृति और विकृति दोनों यागों में समान रूप से विहित है।

चोदनार्थकार्त्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधात्प्रकृत्यर्थः ।।८।।

सि०—'यस्य खादिरः' इत्यादि वाक्यों से खदिरतादि का विधान प्रकृति याग के

लिए है, विकृति याग के लिए नहीं, क्योंकि उसमें प्रेरक वाक्य से सब धर्म प्राप्त हो सकते हैं, और दोनों के लिए विधान मानने में 'गौणमुख्य' न्याय से विरोध आता है।

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौ विरोधि स्यात् ।।९।।

सामिधेनियों की पञ्चदश संख्या की विरोधी सप्तदश संख्या विकृति याग में विधान की गई है, प्रकृति याग में नहीं, क्योंकि उसमें प्रकरण पठित वाक्यविशेष से पञ्चदश संख्या प्राप्त है।

नैमित्तकं तु, प्रकृतौ तद्विकारः, संयोगविशेषात् ।।१०।।

वैश्य के निमित्त से विहित सप्तदश सामिधेनियों के प्रकृति याग में प्राप्त होने से, वे सप्तदश=सत्रह सामिधेनियाँ वाक्यविशेष से विहित होने के कारण पूर्वविहित पञ्चदश=पन्द्रह सामिधेनियों की बाधक हैं।

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् ।।११।।

पूर्व०—अग्न्याधान पवमान आदि इष्टियों के अङ्ग हैं, क्योंकि उनके प्रकरण में उसका विधान किया गया है।

न वा तासां तदर्थत्वात् ।।१२।।

सि०—पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे इष्टियाँ आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार के लिए विहित की गई हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।१३।।

और, लक्षण पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः ।।१४।।

पूर्व०—जिस प्रकार अप्रकरण पठित वाक्य आदि विहित खदिरत्वादि धर्म प्रकृति-याग के लिए विधान किये गये हैं, उसी प्रकार अग्न्याधान भी प्रकृति याग के निमित्त है।

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् ।।१५।।

सि०—अग्न्याधान प्रकृति-विकृति सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के निमित्त हैं, क्योंकि उनका आधान-समय नियत है।

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत् स्यात् ।।१६।।

पूर्व०—जैसे प्रयाज नामक होम दर्शपौर्णमास से प्राप्त होनेवाले आहवनीय आदि संस्कृत-अग्नि में किये जाते हैं, उसी प्रकार पवमान इष्टियाँ भी संस्कृत-अग्नि में ही होनी चाहिएँ।

न वा तासां तदर्थत्वात् ।।१७।।

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पवमान इष्टियाँ अग्नि के संस्कारार्थ विहित की गई हैं।

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् ।।१८।।

पूर्व०—पशु के उद्देश्य से विहित उपाकरण आदि धर्म=विधियाँ सब अग्नीषोमीय पशु के तुल्य हैं, क्योंकि प्रकरण से उनका सब पशुओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध पाया जाता है।

स्थानाच्च पूर्वस्य ॥१६॥

उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के होने चाहिएँ, क्योंकि उसी की सन्निधि में उनका पाठ है।

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राक्श्रुतिर्गुणार्था ॥२०॥

सि०—वे धर्म सवनीय पशु के हैं, क्योंकि एक शाखा में उनका उसके साथ स्पष्ट सम्बन्ध पाया जाता है और उक्त धर्मों का सौत्य दिवस से पूर्व औपवस्थ्य दिवस में श्रवण गौण है।

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरिति चेत् ॥२१॥

आक्षेप—आश्विन वाक्य में उत्तर कृत्य सवनीय-पशु के अनुष्ठान काल का विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

नैकदेशत्वात् ॥२२॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एकदेशीय विधान से समुदाय को विहित बतलाया गया है।

अर्थेनेति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—आश्विन वाक्य में अर्थ के द्वारा सबका ग्रहण है, साक्षात् नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥२४॥

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से साक्षात् श्रुति का विरोध होता है।

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥२५॥

उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये गये हैं, क्योंकि सन्निधिरूप प्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है और संस्कार-मात्र के अग्नीषोमीय पशु के लिए होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

तथा, लिङ्गरूप प्रमाण से भी उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

अचोदना गुणार्थेन ॥२७॥

उक्त दोनों वाक्यों को अर्थवादत्व होने से काल का लाभ नहीं कहा जा सकता।

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तं शृतं स्यात् ॥२८॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास याग के प्रकरण में सुने गये शाखाहरण आदि सायं तथा प्रातः दोनों समय के दूध दुहने के धर्म नहीं हैं, क्योंकि उनके काल का भेद है।

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् ॥२९॥

सि०—दूध दुहने के काल का विधान करनेवाला शास्त्र सायं-प्रातः दोनों समय का विधायक है, न कि सायंकाल दोहन का, क्योंकि प्रकरण से दोनों का सम्बन्ध है।

तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ॥३०॥

दूध दुहने के धर्म के समान ही ग्रह के धर्म का अनुष्ठान प्रातःसवन के पश्चात् माध्यन्दिन तथा सायंसवन में होता है।

रशना च लिङ्गदर्शनात् ॥३१॥

और रशना-वेष्टनादि भी अग्नीषोमीयादि तीनों पशुओं के धर्म हैं, क्योंकि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध होता है।

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैः सन्निधानात् ॥३२॥

पूर्व०—प्रकरण से परे कथन किये गये 'अंशु' और 'अदाभ्य' दोनों पात्रों का ऐन्द्रवायवादि ग्रहधर्मों के साथ सम्वन्ध नहीं है, क्योंकि ग्रहधर्मों का उसके समीप में विधान नहीं मिलता।

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् ॥३३॥

सि०—सम्मार्जन आदि धर्मों का दोनों ग्रहों के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि वे ग्रह-मात्र के लिए विहित हैं और ग्रहधर्मों का विधान ग्रहमात्र के उद्देश्य से करना योग्य है।

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत् ॥३४॥

उक्त विहित वाक्यों द्वारा भी उक्त धर्मों की ग्रहमात्र के साथ सम्बन्ध की व्यवस्था हो सकती है।

अग्न्यङ्गमप्रकरणे तद्वत् ॥३५॥

जैसे अप्रकरण पठित 'अंशु' और 'अदाभ्य' के भी सम्मार्जन आदि धर्म होते हैं, वैसे ही अग्निचयन प्रकरण में पढ़े गये अखण्डत्व आदि धर्म अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टिकाओं के भी समझने चाहिएँ।

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात् ॥३६॥

फल-चमस में सोम के समान अभिषव आदि धर्मों का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि वे सोम के समान नहीं हैं।

प्रतिनिधिश्च तद्वत् ॥३७॥

पूर्व०—जिस प्रकार नैमित्तिक 'फल-चमस' अभिषव आदि धर्मवाला नहीं होता, उसी प्रकार नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी प्रोक्षण आदि धर्मवाला नहीं हो सकता।

न तद्वत् प्रयोजनैकत्वात् ॥३८॥

सि०—व्रीहि आदि की भाँति नीवार आदि के भी अवघात आदि धर्म होते हैं, क्योंकि दोनों का यागसिद्धिरूप प्रयोजन एक है।

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥३९॥

और, अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नियमार्था गुणश्रुतिः ॥४०॥

प्रतिनिधि का विधान करनेवाली श्रुतियाँ उक्त नियम के निमित्त हैं।

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरणाविशेषात् ॥४१॥

पूर्व०—अग्निष्टोमादि सात यागों की दीक्षणीय आदि इष्टियाँ अङ्ग हैं, क्योंकि सबका प्रकरण समान ही है।

व्यपदेशश्च तुल्यवत् ॥४२॥

और समान रूप से सब संस्थाओं का उक्त याग के प्रकरण में कथन किया गया है।

विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात् ॥४३॥

सि०—उक्थ्यादि तीनों संस्थाएँ अग्निष्टोम संस्था का विकार हैं, क्योंकि इनका पशु आदि फल की कामना के सम्बन्ध से विधान मिलता है, अतः नित्य अग्निष्टोम संस्था के समान होने पर भी उनमें दीक्षणीय आदि का अङ्गरूप से विधान नहीं किया जा सकता।

अपि वा द्विरुक्तत्वात्प्रकृतेर्भविष्यन्तीति ॥४४॥

अथवा द्विरुक्त होने से उक्त इष्टियाँ प्रकृति=ज्योतिष्टोम की ही अङ्ग होंगी।

वचनात्तु समुच्चयः ॥४५॥

'यद्यग्निष्टोमः' इत्यादि वाक्य से अग्निष्टोम तथा उक्थ्य आदि का परस्पर प्रकृति-विकृति भावरूप समुच्चय पाया जाता है, उनका समान विधान नहीं मिलता।

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् ॥४६॥

और प्रथम होनेवाले होमों का उक्थ्य आदि में निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः ॥४७॥

स्तोत्रादि रूप गुणविशेष के भेद से एक ही ज्योतिष्टोम का सात संख्याओं द्वारा वर्णन किया गया है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य ॥१॥

पूर्व०—वेद आदि प्रधान याग के धर्म हैं, अङ्गों के नहीं, क्योंकि प्रकरणविशेष से उन वेद्यादि का अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात् ॥२॥

सि०—वेदिखनन आदि प्रधान=दर्शपूर्णमास और अङ्ग=प्रयाज आदि—इन दोनों के धर्म=अङ्ग हैं, क्योंकि यहाँ धर्मधर्मिभाव का नियामक वाक्य है, प्रकरण नहीं।

आरादपीति चेत् ॥३॥

आक्षेप—प्रधान याग के साथ पढ़े जाने से वेदि आदि धर्म 'पिण्डपितृयज्ञ' के भी होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् ॥४॥

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे वाक्य प्रधान एवं अङ्ग—इन दोनों के लिए ही 'वेदि' आदि का विधान करते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य ।।६।।

यजमान सम्बन्धी 'वपन' आदि संस्कार-कर्म प्रधान यज्ञ के अङ्ग हैं, क्योंकि उसका फल के साथ सम्वन्ध है।

चिकीर्षया च संयोगात् ।।७।।

पूर्व०—'सौमिकी' नामक वेदि प्रधान कर्म का अङ्ग है, क्योंकि चिकीर्षा=इच्छा द्वारा उसका उसी के साथ सम्बन्ध है।

तथाऽभिधानेन ।।८।।

जैसे 'सौमिकी' वेदि प्रधान कर्म का अङ्ग है, वैसे ही अभिमर्शन भी प्रधान आहुति का अङ्ग है, क्योंकि उसका कथन पाया जाता है।

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् ।।९।।

सि०—अङ्गयुक्तप्रधान में फल का श्रवण पाया जाता है, अतः 'इयति शक्ष्यामहे' आदि अङ्ग एवं प्रधान सबकी इच्छा है, न कि प्रधान की ही।

गुणाऽभिधानात्सर्वार्थमभिधानम् ।।१०।।

'चतुर्होत्रा' आदि वाक्य में जो अभिमर्शन का विधान किया गया है, वह अङ्ग तथा प्रधान दोनों के लिए है, क्योंकि उनमें पूर्णमासी और अमावास्या पद से काल का कथन है, आहुति का नहीं।

दीक्षादक्षिणं तु वचनात्प्रधानस्य ।।११।।

दीक्षा तथा दक्षिणा प्रधान कर्म का अङ्ग है, क्योंकि वाक्य से इसी प्रकार की प्रतीति होती है।

निवृत्तिदर्शनाच्च ।।१२।।

'निरूढ़-पशुबन्ध'[1] नामक यज्ञ में दीक्षा की निवृत्ति हो जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

तथा यूपस्य वेदिः ।।१३।।

पूर्व०—जिस प्रकार वाक्यविशेष से दीक्षा और दक्षिणा प्रधान कर्म के अङ्ग हैं, वैसे ही वेदि भी यूप का अङ्ग है।

देशमात्रं वाऽशिष्टेनैकवाक्यत्वात् ।।१४।।

सि०—उस वाक्य में अर्द्धमन्तर्वेदिः शब्द देशमात्र का उपलक्षण है, क्योंकि उसकी 'अर्द्धं बर्हिर्वेदिः' के साथ एकवाक्यता है।

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्द्धानयोर्वचनात्सामिधेनीनाम् ।।१५।।

पूर्व०—हविर्धान नामक शकट जिसमें सोम कूटा जाता है, वह सामिधेनियों का अङ्ग है, क्योंकि 'सामिधेनीस्तदन्वाहुः' यह वाक्य इस बात को कहता है।

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य ।।१६।।

सि०—पूर्वोक्त शकट अपने से सम्बन्धित देशविशेष का उपलक्षण है, क्योंकि वह ज्योतिष्टोम याग का प्रत्यक्ष अङ्ग है।

---

१. दान दिये जानेवाले पशु के उद्देश्य से जो घृताहुतियों का प्रक्षेपरूप यज्ञ-विशेष किया जाता है, उसे 'निरूढ़-पशुबन्ध' कहते हैं।

समाख्यानं च तद्वत् ॥१७॥

और, जैसे शकट पद देशविशेष का उपलक्षण है, वैसे ही हविर्धान को ज्योतिष्टोम का अङ्ग कथन करना भी उक्त अर्थ का साधक है।

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात्तस्मात् स्वयं प्रयोगे स्यात् ॥१८॥

पूर्व०—शास्त्रविहित अग्निहोत्रादि कर्मों का फल अनुष्ठानकर्ता को मिलता है, क्योंकि शास्त्र उसको उसी के लिए विधान करता है, अतः उनका अनुष्ठान स्वयं ही करना चाहिए।

उत्सर्गे तु प्रधानत्वाच्छेषकारी प्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् ॥१९॥

दक्षिणा में यजमान का मुख्यत्व अपेक्षित है, सर्वत्र नहीं, अतः दक्षिणा के अतिरिक्त सम्पूर्ण अङ्गों का अनुष्ठान करनेवाला यजमान से भिन्न ऋत्विज अथवा स्वयं ही होता है।

अन्यो वा स्यात् परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधात्प्रत्यगात्मनि ॥२०॥

सि०—यजमान के अतिरिक्त ऋत्विज भी शेष अङ्गकर्मों का अनुष्ठान कर सकते हैं, क्योंकि उन्हीं कर्मों के अनुष्ठान के लिए ऋत्विजों का परिक्रय कहा गया है। वह परिक्रय अपने-आपमें विरोधी होने से नहीं हो सकता।

तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् ॥२१॥

पूर्व०—ऋत्विजों की संख्या का कोई नियम नहीं है, क्योंकि उनकी संख्या का विधान करनेवाला कोई वाक्य नहीं मिलता, अतः अङ्गकर्मों के अनुष्ठान में उनकी संख्या कर्म के अनुसार होनी चाहिए।

अपि वा श्रुतिभेदात् प्रतिनामधेयं स्युः ॥२२॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग में सत्रह ऋत्विज होते हैं, क्योंकि प्रत्येक कर्तव्यकर्म के अनुसार उनके भिन्न-भिन्न नाम हैं।

एकस्य कर्मभेदादिति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—क्रिया-भेद से एक ही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि उक्त नाम हैं, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तौ हि ॥२४॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वरण विधायक वाक्यों में अध्वर्यु आदि सत्रह ऋत्विजों के वरण का विधान किया गया है।

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् ॥२५॥

और, चमसाध्वर्यु आदि उक्त सत्रह ऋत्विजों से भिन्न हैं, क्योंकि उक्त ऋत्विजों के साथ इनके वरण का पृथक् विधान मिलता है।

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः ॥२६॥

चमसाध्वर्यु अनेक होते हैं, क्योंकि वरण-वाक्य में उनका बहुवचन से निर्देश किया गया है।

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् ॥२७॥

चमसाध्वर्यु दस होने चाहिएँ, क्योंकि हेतु और प्रमाण से उनका दश होना ही सिद्ध होता है।

शमिता च शब्दभेदात् ॥२८॥

पूर्व०—'शमिता' नामक ऋत्विक्, अध्वर्यु आदि सत्रह ऋत्विजों से पृथक् हैं, क्योंकि उनसे इनके नाम भिन्न हैं।

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् ॥२९॥

सि०—प्रकरण पठित अध्वर्यु आदि के सहकारी प्रतिप्रस्थाता आदि पुरुषों से 'शमिता' भिन्न नहीं हैं, क्योंकि उनका भिन्न वरण-वाक्य नहीं मिलता।

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् ॥३०॥

और उपगाता भी अध्वर्यु आदि से भिन्न नहीं, क्योंकि उनके अभिन्न होने का प्रमाण मिलता है।

विक्रयी त्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ॥३१॥

सोम बेचनेवाला अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न होता है, क्योंकि (उस अध्वर्यु) के कर्म सोमविक्रय आदि का विधान नहीं मिलता।

कर्मकार्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ॥३२॥

पूर्व०—यज्ञ में जितने कार्यकर्ता हैं, वे सब ऋत्विज कहे जाते हैं, क्योंकि वे सभी समान रूप से विहित कर्मों को करनेवाले हैं।

न वा परिसंख्यानात् ॥३३॥

सि०—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऋत्विजों की सत्रह ही संख्या का श्रवण पाया जाता है।

पक्षेणेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—'**सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदशर्त्विजः**' वाक्य में सत्रह ऋत्विजों का ग्रहण एक देश के प्रयोजन के लिए हुआ है, यदि ऐसा कहो तो—

न सर्वेषामधिकारः ॥३५॥

समाधान—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सबका ऋत्विज होना कहीं भी कथन नहीं किया गया।

नियमस्तु दक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् ॥३६॥

उक्त सत्रह ऋत्विज अध्वर्यु आदि ही हैं, अन्य नहीं, यह बात दक्षिणा वाक्य से सिद्ध होती है, क्योंकि दक्षिणा वाक्य में उनके नाम का संकेत मिलता है।

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात् ॥३७॥

और, सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान कहकर तत्पश्चात् अध्वर्यु आदि की दीक्षा के विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् ॥३८॥

उक्त सत्रह ऋत्विजों में सत्रहवाँ ऋत्विज यजमान है। विहित कर्म का कर्त्ता होने से वह ऋत्विजों के सदृश है।

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वादग्नयश्च स्वकालत्वात् ॥३९॥

पूर्व०—अध्वर्यु आदि ऋत्विक् यज्ञ के अन्तर्गत सभी कर्मों को कर सकते हैं, क्योंकि समान रूप से वे प्रत्येक कार्य के लिए नियत किये जाते हैं। इसी प्रकार यथासमय विहित होने से अग्नियों के विषय में भी इसी प्रकार समझना चाहिए अर्थात् वे किसी भी अग्नि में कार्य कर सकते हैं।

तत्संयोगात् कर्मणो व्यवस्था स्यात् संयोगस्यार्थवत्त्वात् ॥४०॥

सि०—कौन ऋत्विक् क्या कर्म करे, प्रत्येक ऋत्विक् के लिए इस प्रकार की व्यवस्था नियत है, क्योंकि उसके साथ 'आध्वर्यवम्' आदि समाख्या का सम्बन्ध मिलता है और उक्त सम्बन्ध सार्थक होता है, निरर्थक नहीं।

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः ॥४१॥

कहीं वाक्यविशेष द्वारा उस कर्म के करने का नियम मिलता है।

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥४२॥

और, पूर्वोक्त कथन के अनुसार उसी प्रकार का लक्षण=प्रमाण भी उपलब्ध होता है।

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् ॥४३॥

पूर्व०—समस्त तथा व्यस्त सब प्रैष और अनुवचन मैत्रावरुण को करने चाहिएँ, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही विधान पाया जाता है।

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् ॥४४॥

सि०—प्रैष संयुक्त अनुवचन में मैत्रावरुणा का अधिकार है, सबमें नहीं, क्योंकि यहाँ प्रैष के साथ ही अनुवचन का भी विधान है।

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् ॥४५॥

और, अनुवचनरूप प्रातः पठित अनुवाक में होता का सम्बन्ध उपलब्ध होने से पूर्वोक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् ॥४६॥

पूर्व०—चमस होमों को चमसाध्वर्यु ही करें, क्योंकि चमसाध्वर्यु समाख्या से ऐसा ही पाया जाता है।

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् ॥४७॥

चमस होम का कर्ता अध्वर्यु है, क्योंकि यह न्याय-प्राप्त है।

चमसे चान्यदर्शनात् ॥४८॥

और चमस होम में अन्य का सम्बन्ध मिलने से भी इस अर्थ की प्रामाणिकता है।

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ॥४९॥

अध्वर्यु के होम करने में अशक्त होने पर चमसाध्वर्यु हवन कर सकते हैं।

वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः ॥५०॥

पूर्व अधिकरण की भाँति जैसे वैदिक समाख्या के अनुसार चमस होम का कर्ता अध्वर्यु ही सिद्ध होता है, वैसे ही नाना वेदोक्त कर्म भी जैसी वैदिक विधि हो उसी प्रकार अनुष्ठेय हैं।

तद्गुणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात्सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे ॥५१॥

सि०—अपनी सामर्थ्य के अनुसार व्याकरणादि अङ्गों के सहित वेद का ग्रहण होने से ही स्वधर्म का निश्चय हो सकता है, अन्यथा नहीं। व्याकरणादि अङ्गों को छोड़कर अल्पबुद्धिवालों को केवल वेद से स्वधर्म स्पष्ट नहीं हो सकता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृयीयाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

स्वामिकर्मपरिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ॥१॥

ऋत्विजों का वरण यजमान को करना चाहिए, क्योंकि यज्ञ उसी के निमित्त है।

वचनादितरेषां स्यात् ॥२॥

यजमान की आज्ञा से अध्वर्यु आदि ऋत्विजों द्वारा भी वह वरण किया जा सकता है।

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद्व्यतिष्ठेरन् ॥३॥

पूर्व०—अनुष्ठान की योग्यता के निमित्त विधिविहित वपन संस्कारों की आध्वर्यव आदि कर्म के समान वेद के अनुकूल ही व्यवस्था होनी चाहिए।

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात्कर्मवत् ॥४॥

सि०—जैसे प्रधानकर्म यजमान का होने से उसे 'यजमान' कहा जाता है, वैसे ही 'केशवपन' आदि संस्कार-कर्म भी यजमान के ही हैं, क्योंकि वह फल का भोक्ता होने से प्रधान है।

व्यपदेशाच्च ॥५॥

और वपन-सम्बन्धी अभ्यञ्जन आदि का साक्षात् कथन पाये जाने से भी पूर्वोक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

गुणत्वेन तस्य निर्देशः ॥६॥

यजमान का धर्म होने से ही वपन आदि का उक्त विधान संगत हो सकता है।

चोदनां प्रति भावाच्च ॥७॥

और, जिसके लिए कर्म का विधान मिलता है, उसी के प्रति उक्त संस्कार कर्मों का सद्भाव होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अतुल्यत्वादसमानविधानाः स्युः ॥८॥

उक्त संस्कार—क्षौरकर्म आदि अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के लिए समान रूप से कर्तव्य नहीं हो सकते, क्योंकि वे दोनों समान नहीं हैं।

तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत् ॥९॥

और वपन आदि की भाँति तप भी यजमान का कर्म है, क्योंकि लोकप्रसिद्ध परिश्रमरूपी तप की भाँति वह भी फल की सिद्धि का हेतु है।

वाक्यशेषश्च तद्वत् ॥१०॥

और, लोक की भाँति वाक्यशेष भी उक्त अर्थ का समर्थक है।

वचनादितरेषां स्यात् ॥११॥

वाक्यविशेष के बल से कहीं-कहीं उक्त तप को ऋत्विजों का कर्म भी बतलाया गया है।

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

तथा, वेद-सम्बन्धी 'आध्वर्यव' आदि समाख्या द्वारा उक्त तपादि कर्मों की व्यवस्था नहीं हो सकती, वह गौण कर्म है, सबका नहीं।

तथा कामोऽर्थसंयोगात् ॥१३॥

जैसे तप यजमान का कर्म है, उसी प्रकार फलेच्छा भी यजमान का कर्तव्य है, क्योंकि वह उसका भोक्ता है।

व्यपदेशादितरेषां स्यात् ॥१४॥

वाक्यविशेष के बल से ऋत्विक् भी उक्त कामना के कर्त्ता हो सकते हैं।

मन्त्राश्चाऽकर्मकरणास्तद्वत् ॥१५॥

तथा, जिन मन्त्रों का आहुति-प्रक्षेप आदि क्रिया में विनियोग नहीं है, उन सब मन्त्रों का पाठ फल की प्राप्ति के निमित्त यजमान ही करे।

विप्रयोगे च दर्शनात् ॥१६॥

और, प्रवास=दूर देश में रहने पर भी उक्त प्रार्थना का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्याऽर्थवत्त्वात् ॥१७॥

'वाजस्य मा' इत्यादि जिन मन्त्रों के पाठ का विधान दो बार किया गया है, उनका पाठ अध्वर्यु और यजमान दोनों करें, ऐसा मानने पर दो बार पाठ होना सार्थक हो जाता है।

ज्ञाते च वाचनं न ह्यविद्वान् विहितोऽस्ति ॥१८॥

मन्त्रार्थ ज्ञाता यजमान से ही यज्ञ में पठनीय मन्त्रों का पाठ कराये, क्योंकि मन्त्रार्थानभिज्ञ यजमान होने का विधान कहीं भी उपलब्ध नहीं होता।

याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः ॥१९॥

पूर्व०—द्वन्द्व नामक द्वादश=बारह कर्म यजमान को ही करने चाहिएँ, क्योंकि 'यजमान काण्ड' में उनका कथन पाया जाता है।

अध्वर्युर्वा तदर्थो हि न्यायपूर्वं समाख्यानम् ॥२०॥

सि०—उक्त द्वादश द्वन्द्वकर्म अध्वर्यु को करने चाहिएँ, क्योंकि उनका अध्वर्यु के लिए ही उपक्रम किया गया है और उनका 'यजमान काण्ड' में कथन युक्तियुक्त भी है।

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितरमन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात् ॥२१॥

विरोध होने पर अध्वर्यु से अनुष्ठान किये कर्म को 'कुण्डपायिनामयनम्' इत्यादि विधिवाक्यों से होता को करने को कहा है, अर्थात् अध्वर्यु से अनुष्ठान किया हुआ कर्म होता को करना चाहिए, क्योंकि उसका उसी के साथ सम्बन्ध है और दूसरा कर्म होता-

सम्बन्धी ऋत्विजों के मध्य होता से भिन्न मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् को कर्तव्य है, क्योंकि उसमें होता का सामीप्यरूप विशेष सम्बन्ध है।

प्रैषेषु च पराधिकारात् ॥२२॥

तथा, प्रैष का कर्ता प्रैषकर्म के कर्ता से भिन्न है, क्योंकि उसका अन्य के लिए ही विधान है।

अध्वर्युस्तु दर्शनात् ॥२३॥

पूर्व०—उक्त प्रैष का करनेवाला अध्वर्यु है, क्योंकि उसका प्रैषकर्ता से भेद देखा जाता है।

गौणो वा कर्मसामान्यात् ॥२४॥

सि०—उक्त वाक्य में जो अध्वर्यु पद है, वह गुणवृत्ति से 'अग्नीध्र' का वाचक है, क्योंकि उसमें कर्म करना पाया जाता है।

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् ॥२५॥

पूर्व०—'करण' संज्ञक मन्त्रों में अध्वर्यु ऋत्विक् के लिए फल की प्रार्थना करता है, यह उचित है, क्योंकि ऐसा होने से वह सार्थक हो जाता है।

स्वामिनो वा तदर्थत्वात् ॥२६॥

सि०—उक्त मन्त्रों में यज्ञ-फल-प्राप्ति की प्रार्थना यजमान के लिए की गई है, क्योंकि वही यज्ञफल का भोक्ता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

तथा, प्रमाणों की उपलब्धि से भी पूर्वोक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

कर्मार्थं तु फलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थवत्त्वात् ॥२८॥

कहीं-कहीं 'करण' मन्त्रों से, जो ऋत्विजों ने अपने लिए आरोग्यरूप फल की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की है, वह यजमान के कर्म की समृद्धि के लिए है, क्योंकि वह वृद्धि यजमान के लिए फलवाली होती है।

व्यपदेशाच्च ॥२९॥

और, कहीं-कहीं वाक्यविशेष से अध्वर्यु एवं यजमान दोनों में फल की प्रार्थना का होना समानरूप से पाया जाता है।

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाऽविशेषात् सर्वकर्मणाम् ॥३०॥

यज्ञोपयोगी 'बर्हि' आदि द्रव्यों के आस्तरणादि संस्काररूप धर्म प्रकृति-विकृति सब कर्मों के लिए हैं, क्योंकि प्रकरण से उनका सबके साथ सामान्य सम्बन्ध पाया जाता है।

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्याऽनधिकारः ॥३१॥

अग्नीषोमीय पशुसंज्ञक विकृतियाग में बर्हि आदि के लवन आदि धर्मों का सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनका यूपावटस्तरण आदि उक्त विकृति में ही विधान है, दर्शपूर्णमास-रूप प्रकृति में नहीं।

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे ॥३२॥

और, विधृति तथा पवित्र दोनों में 'असंस्कृत बर्हि' का विनियोग है, संस्कृत का

नहीं, क्योंकि उसका दोनों में विनियोग होने से वाक्यविशेष के साथ विरोध हो जाता है।

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमानसंयोगात् ॥३३॥

प्राकृत पुरोडाश के एकदेश का ही ऐन्द्रवायव नामक पात्र में अपनयन होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से विद्यमान का संयोग हो जाता है।

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् ॥३४॥

पूर्व०—दर्शपूर्णमासयाग की भांति काम्येष्टिरूप विकृतियाग में विधान किया हुआ उपांशुत्वरूप गुण भी अङ्ग एवं प्रधान सब इष्टियों के लिए है।

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदितत्वात् ॥३५॥

सि०—उपांशु धर्म का विधान केवल प्रधान के लिए है, क्योंकि वह अङ्ग का धर्म विधान नहीं किया गया।

सन्निधानविशेषादसम्भवे तदङ्गानाम् ॥३६॥

श्येनयाग में आज्य द्रव्य के असम्भव होने से विधान किया गया नवनीताज्य उक्त याग की अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का धर्म है, क्योंकि उनका धर्म होने पर भी उसका याग के साथ विशेष सम्बन्ध हो सकता है।

आधानेऽपि तथेति चेत् ॥३७॥

जैसे नवनीताज्य श्येनयाग के अङ्गों का धर्म है, उसी प्रकार अग्न्याधान का भी धर्म है, यदि ऐसा कहो तो—

नाऽप्रकरणत्वादङ्गस्यातन्निमित्तत्वात् ॥३८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह अग्न्याधान का प्रकरण नहीं और नवनीताज्य उसके उद्देश्य से विधान नहीं किया गया।

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात् ॥३९॥

पूर्व०—वह आज्य 'सुत्यादिन' में होनेवाली इष्टियों का अङ्ग है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

सर्वेषां वाऽविशेषात् ॥४०॥

सि०—वह आज्य श्येनयाग के सब अङ्ग का धर्म है, क्योंकि उसका सामान्यरूप से विधान है।

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम् ॥४१॥

प्रकरण में नवनीत वाक्य सम्पूर्ण की अङ्गता का द्योतक है, क्योंकि इसमें प्रमाण मिलता है।

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् ॥४२॥

सवनीय पुरोडाशों का व्रीहि आदि न मिलने पर मांसल प्रकृति-द्रव्य (नीवार आदि) है, क्योंकि द्रव्यविधायक वाक्यों में ऐसा ही विधान है।

भक्तिरसन्निधावन्याय्येति चेत् ॥४३॥

अन्य पद के समीप न होने से 'मांस' पद का जो मांसल अर्थ माना है वह ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात् प्रकृतिलिङ्गाद्वैराजवत् ॥४४॥

उक्त कथन ठीक नहीं। जिस प्रकार 'वैराज' प्रकृतिभूत मन्त्र को बतलानेवाले साम शब्द सन्निधि से 'वैराजपृष्ठ' नामक स्तोत्र के वाचक हो जाते हैं, उसी प्रकार सवनीयादि शब्द की समीपता से 'मांस' शब्द भी मांसल वाचक हो सकता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने तृतीयाध्यायस्य अष्टमः पादः ॥

॥ इति तृतीयोऽध्यायः ॥

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथातः क्रत्वर्थपुरुषार्थयोर्जिज्ञासा ॥१॥

शेष-शेषीभाव के अनन्तर क्रत्वर्थ तथा पुरुषार्थ की जिज्ञासा करनी चाहिए, क्योंकि वह कर्मों के प्रयोज्य-प्रयोजकभाव के लिए उपयोगी है।

यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वात् ॥२॥

जिस कर्म के अनुष्ठान से पुरुष को सुख प्राप्त होता है और जिसके करने की इच्छा स्वतः ही है, उस कर्म को पुरुषार्थ कहते हैं, वह सुख का साधन कर्म से पृथक् नहीं है।

तदुत्सर्गे कर्माणि पुरुषार्थाय शास्त्रस्यानतिशंक्यत्वान्न च द्रव्यं चिकीर्ष्यते,
तेनार्थेनाभिसम्बन्धात् क्रियायां पुरुषश्रुतिः ॥३॥

प्रीतिरूप फल की उपलब्धि न होने पर भी 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म पुरुषार्थ हैं, क्योंकि शास्त्रोक्त बात शङ्कनीय नहीं होती तथा यज्ञ का अङ्गभूत कोई भी द्रव्य उक्त कर्मों द्वारा संस्करणीय नहीं पाया जाता जिससे उनको क्रत्वर्थ माना जाए और पुरुषार्थ के साथ सम्बन्ध होने से उक्त कर्मों में पुरुष-श्रवण भी चरितार्थ होता है।

अविशेषात्तु शास्त्रस्य यथाश्रुति फलानि स्युः ॥४॥

आक्षेप—वाक्यशेष के अनुसार फलवाले समिधादि कर्म भी पुरुषार्थ होने चाहिएँ, क्योंकि उनका विधायक शास्त्र भी 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म विधायक शास्त्र के समान है।

अपि वा कारणाऽग्रहणे तदर्थमर्थस्याऽनभिसम्बन्धात् ॥५॥

समा०—श्रुति आदि विनियोजक प्रमाणों में से किसी भी प्रमाण के उपलब्ध न होने से 'प्रजापतिव्रत' संज्ञक कर्म पुरुषार्थ माने गये हैं, प्रमाणाभाव से उनका किसी प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

तथा च लोकभूतेषु ॥६॥

और, जैसा ऊपर निरूपण किया गया है, वैसी ही मान्यता सब लोगों में पाई जाती है।

द्रव्याणि त्वविशेषेणाऽऽनर्थक्यात् प्रदीयेरन् ॥७॥

पूर्व०—स्फ्य आदि यज्ञायुध पूर्णरूपेण अग्नि में हवन करने चाहिएँ, अन्यथा विधान व्यर्थ हो जाएगा।

स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धो द्रव्याणां पृथगर्थत्वात्तस्माद्यथाश्रुति स्युः ॥८॥

सि०—उक्तायुधों का अपने-अपने कार्यों के साथ सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि उनका भिन्न-भिन्न कार्य विधान किया गया है, अतः श्रुति के अनुसार ही उनका विनियोग होना ठीक है।

चोद्यन्ते चार्थकर्मसु ॥९॥

और, हवन-विधि के लिए पुरोडाश आदि विधान किये गये हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गमर्थस्य गुणभूतत्वात् ॥११॥

पूर्व०—यज्ञ में दान किये जानेवाले पशुओं में एक या अधिक संख्या का विचार आवश्यक नहीं, क्योंकि वह उक्त पशुओं का विशेषण होने से गौण है।

एकश्रुतित्वाच्च ॥१२॥

और, एकत्व संख्या का श्रवण पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रतीयत इति चेत् ॥१३॥

कहीं-कहीं एकवचनान्त पद से एकत्व संख्या की प्रतीति भी होती है, यदि ऐसा कहो तो—

नाऽशब्दं तत्प्रमाणत्वात्पूर्ववत् ॥१४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'प्रथम दौड़ता है' कहने से जैसे द्वितीय-तृतीय का आर्थिक बोध होता है, वैसे ही प्रमाणीभूत वाक्य के श्रवण से जो एकत्व संख्या का बोध होता है, वह भी आर्थिक होता है, शाब्दिक नहीं।

शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि दृश्यते तस्य ज्ञानं हि यथाऽन्येषाम् ॥१५॥

सि०—पशुगत एकत्व संख्या शाब्द प्रतीत होती है, क्योंकि पशुः प्रातिपदिकोत्तरवर्ती 'अम्' प्रत्यय में वह वाच्यरूप से विद्यमान है और उसका ज्ञान पशु आदि पदार्थों के समान होना उचित है।

तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् ॥१६॥

और, जैसा पूर्व निरूपण किया गया है, वैसे ही अर्थ के साधक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथा च लिङ्गम् ॥१७॥

जैसे संख्या विवक्षित है, वैसे ही लिङ्गप्रमाण भी विवक्षित है।

आश्रयिष्वविशेषेण भावोऽर्थः प्रतीयेत ॥१८॥

सि०—'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में भावी सुख की जनक अदृष्टार्थता जाननी चाहिए, क्योंकि वह भी याग के समान शास्त्रीय कर्म है।

चोदनायां त्वनारम्भो विभक्तत्वान्न ह्यनेन विधीयते ॥१९॥

पूर्व०—शेष हवि से विधान किये गये 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में आंशिक अदृष्टार्थता=फलप्राप्ति नहीं हो सकती, क्योंकि वे पृथक् कर्म नहीं हैं, और अन्य किसी वाक्य से उनकी अदृष्टार्थता का विधान नहीं पाया जाता।

स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां भावोऽर्थे च गुणभूतत्वाऽऽश्रयाद्धि गुणीभावः ॥२०॥

सि०—उपर्युक्त हवि के संस्कारार्थ होने पर भी 'स्विष्टकृत्' आदि कर्मों में अदृष्टार्थता और संस्कारार्थता दोनों प्रकार हो सकते हैं, क्योंकि संस्कारार्थता तथा अदृष्टार्थता उद्देश्य के अधीन हैं।

अर्थे समवैषम्यमतो द्रव्यकर्मणाम् ॥२१॥

इसके आगे फल की प्राप्ति के अर्थ द्रव्य तथा कर्म—दोनों की समता तथा विषमता का निरूपण किया जाता है।

एकनिष्पत्तेः सर्वं समं स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—आमिक्षा और वाजिन्—ये दोनों समान रूप से दधि-प्रक्षेप के प्रयोजक हैं, क्योंकि एक बार दधि-प्रक्षप=दही डालने से ही उनकी निष्पत्ति हो जाती है।

संसर्गरसनिष्पत्तेरामिक्षा वा प्रधानं स्यात् ॥२३॥

सि०—वाजिन तथा आमिक्षा—दोनों में आमिक्षा ही दधि-प्रक्षेप का प्रयोजक है, क्योंकि दधि के सम्बन्ध से उसकी निष्पत्ति पहले होती है।

मुख्यशब्दाभिसंस्तवाच्च ॥२४॥

मुख्यार्थ के ग्राहक सर्वनाम शब्द के द्वारा आमिक्षा को विश्वदेवों को समर्पित करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

पदकर्माप्रयोजकं नयनस्य परार्थत्वात् ॥२५॥

पदकर्म गौ ले जाने का प्रयोजक नहीं, क्योंकि वह गौण है।

अर्थाभिधानकर्म च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

तथा, तुषोपवाप=कपालों में तुषों को रखनारूप कर्म कपालों के सम्पादन का प्रयोजक नहीं हो सकता, क्योंकि पुरोडाश के साथ संयुक्त कपालों को तुषोपवाप का निमित्त कथन किया है और पुरोडाश श्रवण के लिए ही कपालों का विधान किया गया है।

पशावनालम्भाल्लोहितशकृतोरकर्मत्वम् ॥२७॥

इसी प्रकार दान के लिए लाये गये पशु को खिलाने के लिए लाल रङ्ग की घास को छोटे-छोटे टुकड़ों में काटकर रखना और मल का दूरीकरण—ये दोनों कर्म मुख्य नहीं, आनुषङ्गिक हैं।

एकदेशद्रव्यश्चोत्पत्तौ विद्यमानसंयोगात् ॥२८॥

तथा, 'स्विष्टकृत्' याग पुरोडाश का प्रयोजक नहीं, क्योंकि पुरोडाश के विधायक वाक्य में उसका आग्नेय याग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

निर्देशात्तस्यान्यदर्थादिति चेत् ॥२९॥

आक्षेप—प्रकृत पुरोडाश का आग्नेय याग के लिए विधान होने के कारण अर्थापत्ति प्रमाण से स्विष्टकृत् कर्म के लिए किसी अन्य पुरोडाश की कल्पना होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न शेषसन्निधानात् ॥३०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि स्विष्टकृत् कर्म का शेष हवि के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

कर्म कार्यात् ॥३१॥

पुरोडाश मुख्य कर्म की समृद्धि के लिए प्रस्तुत किया जाता है, अतः उक्त कर्म पुरोडाश सम्पादन का प्रयोजक नहीं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३२॥

तथा, शास्त्र-प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की ही सिद्धि होती है।

अभिघारणे विप्रकर्षादनुयाजवत् पात्रभेदः स्यात् ॥३३॥

पूर्व०—जैसे अनुयाज के साधन पृषदाज्यधारणार्थ अन्य पात्र का सम्पादन किया जाता है, वैसे ही प्राजापत्य हवियों के लिए 'जुहु' से भिन्न कोई दूसरा पात्र होना चाहिए, क्योंकि वह ऋतुहवियों से बहुत दूर है।

न वा पात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात् ॥३४॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शेषधारण के लिए किसी पात्र का विधान नहीं और प्रयाज का शेषांश होने से घृत के लिए अन्य पात्र का विधान न होना युक्त है।

हेतुत्वाच्च सहप्रयोगस्य ॥३५॥

तथा, ऋतुपशु और प्राजापत्य पशुओं को एकसाथ पुण्य का देनेवाला कथन करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

अभावदर्शनाच्च ॥३६॥

और, प्राजापत्य पशु-सम्बन्धी हवियों के अभिघारण का विधान न पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सति सव्यवचनम् ॥३७॥

अभिघारण के अभाव होने पर ही 'प्राजापत्य पशु' सम्बन्धी हवियों की रूक्षता से प्रतिपादक वचन उपपन्न हो सकता है।

न तस्येति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—सव्यवचन अभिघारण के अभाव का सूचक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्तस्य मुख्यत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उक्त वाक्य को अभिघारणाभाव का बोधक मानना ही ठीक है, क्योंकि ऐसा मानने से वह मुख्यार्थ का वाचक हो सकता है।

समानयनं तु मुख्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥४०॥

'उपभृत' संज्ञक स्रुवा से 'जुहु' संज्ञक स्रुवा में घृत लाना औपभृत् आज्य के ग्रहण का प्रयोजक है, क्योंकि प्रमाणों से ऐसा ही सिद्ध होता है।

वचने हि हेत्वसामर्थ्यम् ॥४१॥

यदि 'अतिहाय' वाक्य में श्रूयमाण समानयन को औपभृत के सम्पादन का प्रयोजक न मानें तो जौहवघृत से अनुयाजभावरूप हेतु का कथन निरर्थक हो जाता है।

तत्रोत्पत्तिरविभक्ता स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—'जुहु' और 'उपभृत' स्रुवों में जो आज्य का ग्रहण कथन किया है, उसका बिना विभाग विनियोग होता है।

तत्र जौहवमनुयाजप्रतिषेधार्थम् ।।४३।।

सि०—'जौहव' और 'औपभृत' दोनों आज्यों के मध्य जौहव आज्य प्रयाजों के लिए ही है, अनुयाजों के लिए नहीं।

औपभृतं तथेति चेत् ।।४४।।

आक्षेप—जैसे 'जौहव' आज्य केवल प्रयाजों के लिए है, वैसे ही औपभृत आज्य भी केवल अनुयाजों के लिए ही होना चाहिए, प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्याज्जुहूप्रतिषेधान्नित्यानुवादः ।।४५।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। औपभृत आज्य प्रयाज तथा अनुयाज दोनों के लिए होना चाहिए, क्योंकि 'यज्जुह्वाम्' वाक्य में अनुयाजों का निषेध होने से 'यदुपभृति' वाक्य में प्रयाजों के साथ अर्थसिद्धि अनुयाजार्थता का अनुवाद हो सकता है।

तदष्टसंख्यं श्रवणात् ।।४६।।

पूर्व०—'उपभृत' नामक स्रुवा में जो आज्य का ग्रहण विधान किया है, वह आठ संख्यावाला जानना चाहिए, क्योंकि ग्रहण-विधायक वाक्य से ऐसा सिद्ध होता है।

अनुग्राहाच्च जौहवस्य ।।४७।।

तथा, जुहु में चार बार आज्य का ग्रहण विधान करके पश्चात् 'उपभृत' में आठ बार विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं श्रवणं च समानयने ।।४८।।

सि०—दो बार चार के ग्रहण का विधान है, एक बार आठ के ग्रहण का नहीं, क्योंकि ग्रहण-हेतु से ऐसा ही पाया जाता है और आठ बार का विधान समानयन के अभिप्राय से किया है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

स्वरुस्त्वनेकनिष्पत्तिः स्वकर्मशब्दत्वात् ।।१।।

पूर्व०—'स्वरु' यूप-निर्माण-क्रिया से भिन्न क्रिया द्वारा निष्पन्न होता है, क्योंकि उसकी निष्पत्ति का स्वतन्त्र विधान किया गया है।

जात्यन्तराच्च शङ्कते ।।२।।

तथा, अन्य वृक्ष से 'स्वरु' के निर्माण की जो शंका की गई है, उससे भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

तदेकदेशो वा स्वरुत्वस्य तन्निमित्तत्वात् ।।३।।

सि०—'स्वरु' यूप का ही एक अंश होता है, अतः उसका स्वतन्त्र स्थान मानना निरर्थक है।

शकलश्रुतेश्च ॥४॥

तथा, यूप का शकल श्रवण होने से भी 'स्वरु' छेदन-क्रिया का प्रयोजक नहीं हो सकता।

प्रतियूपं च दर्शनात् ॥५॥

और, प्रतियूप 'स्वरु' का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आदाने करोति शब्दः ॥६॥

'यस्य स्वरुं, करोति' वाक्य में जो 'करोति' शब्द है, उसका अर्थ निष्पत्ति नहीं अपितु आदान है।

शाखायां तत्प्रधानत्वात् ॥७॥

शाखा में आहरण क्रिया का सम्बन्ध जानना चाहिए, क्योंकि वह उक्त क्रिया के प्रति प्रधान है।

शाखायां तत्प्रधानत्वादुपवेषेण विभागः स्याद्वैषम्यात् ॥८॥

शाखा में उपवेष के साथ प्रयोजकता तथा अप्रयोजकता अंश में भेद होना चाहिए, क्योंकि छेदन-क्रिया के प्रति शाखा प्रधान और उपवेष गौण है।

श्रुत्यपायाच्च ॥९॥

तथा, श्रुत अर्थ के अभाव की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

हरणे जुहोतिर्योगसामान्याद् द्रव्याणां चार्थशेषत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—'सह शाखया प्रस्तरं प्रहरति' वाक्य में जो शाखा का प्रहरण विधान है, वह होमरूप अर्थकर्म है, क्योंकि उसका अर्थकर्मरूप प्रस्तर-प्रहरण के साथ सम्बन्ध है और द्रव्य को अर्थकर्म का शेष होना नियत है।

प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य तत्प्रधानत्वात् ॥११॥

सि०—शाखाप्रहरण प्रतिपत्ति कर्म है, प्रस्तर-प्रहरण के समान अर्थकर्म नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में शाखा का प्रस्तर की अपेक्षा गुणरूप से उपादान किया है।

अर्थेऽपीति चेत् ॥१२॥

अप्रधान अर्थ में भी द्वितीया विभक्ति होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्यानधिकारादर्थस्य च कृतत्वात् ॥१३॥

ठीक नहीं, क्योंकि सक्तु आदि का विनियोग न होने और शाखा द्वारा वत्सापकरण रूप अर्थ के किये जाने से सक्तु और शाखा परस्पर विलक्षण हैं।

उत्पत्त्यसंयोगात्प्रणीतानामाज्यवद्विभागः स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—जैसे 'ध्रुवा' के घृत का सब कर्मों में प्रयोग होता है, वैसे ही प्रणीता पात्र के जल का 'संयवन' और 'निनयन' दोनों कर्मों के लिए विभाग भी समानता या होना चाहिए, क्योंकि प्रणयन-विधायक वाक्य में उसका किसी कार्यविशेष के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

संयवनार्थानां या प्रतिपत्तिरितरासां तत्प्रधानत्वात् ॥१५॥

सि०—'संयवन' कर्म में उक्त जल से शेष बचे जल का वेदि में निनयन प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उसके प्रति शेष जल का प्रधानरूप में निर्देश किया गया है।

प्रासनवन्मैत्रावरुणस्य दण्डप्रदानं कृतार्थत्वात् ॥१६॥

पूर्व०—जैसे कण्डूयन के साधनभूत विषाणाकार काष्ठविशेष का चत्वाल नामक गर्त में प्रक्षेप प्रतिपत्तिकर्म है, वैसे ही यजमान का मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् के प्रति दण्ड का देना भी प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि वह दीक्षाकर्म में प्रथम विनियुक्त होने से चरितार्थ है।

अर्थकर्म वा कर्तृसंयोगात्स्रग्वत् ॥१७॥

सि०—जैसे उद्गाता को माला देना अर्थकर्म है, वैसे ही मैत्रावरुणा ऋत्विक् के प्रति यजमानकर्तृक दण्ड-प्रदान भी अर्थकर्म है, क्योंकि उसका मैत्रावरुण के साथ गौण सम्बन्ध पाया जाता है।

कर्मयुक्ते च दर्शनात् ॥१८॥

प्रैषादि अन्य कर्मों में भी मैत्रावरुण का वर्णन दण्डसहित ही किये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उत्पत्तौ येन संयुक्तं तदर्थं तत् श्रुतिहेतुत्वात्तस्यार्थान्तरगमने शेषत्वात् प्रतिपत्तिः स्यात् ॥१९॥

उत्पत्ति-वाक्य में जो जिसके साथ संयुक्त है, वह उसी के लिए है, क्योंकि श्रुति में ऐसा ही पाया जाता है तथा उसका अन्य अर्थ में विनियोग हो तो वह प्रतिपत्तिरूप होना उचित है, क्योंकि वह अङ्ग नहीं किन्तु प्रधान है।

सौमिके च कृतार्थत्वात् ॥२०॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत 'अवभृथ' देश में जो सोमलिप्त पात्रों का नयन कथन किया है, वह प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि उक्त पात्र अन्यत्र स्व-स्व कर्म में चरितार्थ हैं।

अर्थकर्म वाऽभिधानसंयोगात् ॥२१॥

आक्षेप—'अवभृथ-नयन' अर्थकर्म है, क्योंकि उपपात्रों का अवभृथ याग के साथ अङ्गरूप से सम्बन्ध उपलब्ध होता है।

प्रतिपत्तिर्वा तन्न्यायत्वाद्देशार्थाऽवभृथश्रुतिः ॥२२॥

समा०—'अवभृथ-नयन' प्रतिपत्ति-कर्म है, क्योंकि युक्ति से ऐसा ही सिद्ध होता है, और उदाहृत वाक्य में अवभृथ शब्द देश का वाचक है, याग का नहीं।

कर्तृदेशकालानामचोदनं प्रयोगे नित्यसमवायात् ॥२३॥

पूर्व०—शास्त्र में कर्ता, देश तथा काल की विधि अपेक्षित नहीं, क्योंकि वह कर्मानुष्ठान में नित्य समवेत होने से स्वयं प्राप्त है।

नियमार्था वः पुनः श्रुतिः ॥२४॥

सि०—कर्ता आदि की स्वयं प्राप्ति होने पर भी जो पुनः विधान किया है, वह नियम के लिए है।

तथा द्रव्येषु गुणश्रुतिरुत्पत्तिसंयोगात् ॥२५॥

जैसे कर्ता आदि का विधान नियमार्थ है, वैसे ही प्रतिद्रव्य-गुण का विधान भी नियमार्थ है, क्योंकि उसका उत्पत्ति-वाक्य से द्रव्य के साथ सम्बन्ध है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ।।२६।।

तथा, अवघात आदि संस्कारों में भी नियम ही जानना चाहिए, क्योंकि उनके विधायक वाक्य में नियम की प्रधानता पाई जाती है।

यजति चोदनाद्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात् ।।२७।।

याग शब्द का अर्थ है—द्रव्य, देवता और क्रिया—इन तीनों का समुदाय, क्योंकि उसका उक्त समुदाय में ही संकेत किया गया है।

तदुक्ते श्रवणाज्जुहोतिरासेचनाधिकः स्यात् ।।२८।।

याग और होम दोनों समानार्थक शब्द हैं, क्योंकि याग शब्द के अर्थ में ही होम-वाची 'जुहोति' क्रिया का प्रयोग पाया जाता है, अन्तर इतना है कि याग में परमात्मा के उद्देश्य से त्याग होता है।

विधेः कर्मापवर्गित्वादर्थान्तरे विधिप्रदेशः स्यात् ।।२९।।

पूर्व०—जिस याग में जिस द्रव्य की विधि है, उससे भिन्न याग में विहित द्रव्य के धर्मों का अतिदेश होता है, क्योंकि विधि के कर्म की समाप्तिपर्यन्त का ही नियम है।

अपि वोत्पत्तिसंयोगार्थसम्बन्धोऽविशिष्टानां प्रयोगैकत्वहेतुः स्यात् ।।३०।।

सि०—उत्पत्ति-वाक्य में विहित होने के कारण बर्हि का आतिथ्यादि तीनों के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, क्योंकि समानरूप से विधान किये द्रव्य प्रतियाग एकरूप से ही अनुष्ठान के हेतु होते हैं।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् ।।१।।

द्रव्य, संस्कार तथा कर्मों में जो फल सुना जाता है, वह अर्थवाद है, क्योंकि वे तीनों क्रतु के लिए हैं।

उत्पत्तेश्चातत्प्रधानत्वात् ।।२।।

तथा, उत्पत्तिवाक्य से फल के प्रति पुरुष की प्रधानता न पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

फलं तु तत्प्रधानायाम् ।।३।।

समस्त यज्ञक्रिया द्रव्यसाध्य हैं और क्रिया के अनुकूल फल मिलता है, अतः द्रव्य, संस्कार और क्रिया—तीनों की प्रधानता मानी जाती है।

नैमित्तिके विकारत्वात्क्रतुप्रधानमन्यत्स्यात् ।।४।।

मृण्मय=मिट्टी के पात्रों का विधान काम्य कर्मों में विहित है, नित्य कर्मों में उनके प्रयोग का विधान नहीं है।

एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम् ।।५।।

एक द्रव्य के नित्य और नैमित्तिक उभयार्थ होने में विनियोजक वाक्य नियामक है।

शेष इति चेत् ॥६॥

दधिरूप द्रव्य एक कर्म का ही शेष है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात् ॥७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रयोजन के भेद से वाक्य का भेद होना उचित है।

द्रव्याणां तु क्रियार्थानां संस्कारः क्रतुधर्मत्वात् ॥८॥

ज्योतिष्टोम आदि में जो पयोव्रत आदिरूप संस्कार विधान किये हैं, वे क्रतु के धर्म हैं, पुरुष के नहीं।

पृथक्त्वाद्व्यवतिष्ठेत् ॥९॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पदों में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग पाये जाने से सिद्ध है कि उक्त व्रतों के साथ ब्राह्मण आदि पुरुषों का सम्बन्ध व्यवस्थापक है।

चोदनायां फलाश्रुतेः कर्ममात्रं विधीयेत न ह्यशब्दं प्रतीयते ॥१०॥

पूर्व०—'**विश्वजिता यजेत**' आदि वाक्यों से कर्ममात्र का विधान है, क्योंकि उक्त विधिवाक्यों में किसी पद से फल का श्रवण नहीं होता और अपदार्थ का स्वीकार ठीक नहीं।

अपि वाऽऽम्नानसामर्थ्याच्चोदनार्थेन गम्येतार्थानामर्थवत्त्वेन वचनानि प्रतीयन्तेऽर्थतोऽप्यसमर्थानामानन्तर्य्येऽप्यसम्बन्धस्तस्मात् श्रुत्येकदेशः सः ॥११॥

सि०—वाक्य-सामर्थ्य से ही विधिवाक्य द्वारा फल की कल्पना होती है, क्योंकि सम्पूर्ण वैदिक वचन अर्थवाले होते हैं, परन्तु फलवाचक पदरहित वाक्यों में समीपस्थ होने पर भी फलवाची पद का सम्बन्ध नहीं हो सकता, अतः वाक्य-सामर्थ्य से कल्पित फल ही श्रुतवाक्य का अवयव समझना चाहिए।

वाक्यार्थश्च गुणार्थवत् ॥१२॥

तथा, यदि फलसहित वाक्य की कल्पना न की जाए तो उक्त वाक्य गुण का विधायक हो जाता है।

तत्सर्वार्थमनादेशात् ॥१३॥

पूर्व०—उक्त याग सब फलों का देनेवाला है, क्योंकि उसका कोई एक फल कथन नहीं किया गया।

एकं वा चौदनैकत्वात् ॥१४॥

सि०—उक्त याग का एक ही फल होना चाहिए, क्योंकि वह एकवचनान्त विधिपद से विधान किया गया है।

स स्वर्गः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१५॥

वह एक फल स्वर्ग होना चाहिए, क्योंकि वह सब यागों के प्रति समान है।

प्रत्ययाच्च ॥१६॥

तथा लोकानुभव से भी विश्वजित् याग का फल स्वर्ग ही पाया जाता है।

क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत्कार्ष्णाजिनिः ॥१७॥

पूर्व०—जैसे जुहु आदि अङ्गों में फलबोधक वाक्य अर्थवाद हैं, वैसे ही उक्त सत्रों में भी फलबोधक वाक्य अर्थवाद हैं, यह कार्ष्णाजिनि मुनि का मत है।

फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात् ॥१८॥

सि०—यह मत ठीक नहीं, क्योंकि जब फल का स्पष्ट उल्लेख है, तब उसे मानना ही चाहिए। विश्वजित् याग की भाँति अपनी कल्पना से काम लेने की आवश्यकता नहीं।

अङ्गेषु स्तुतिः परार्थत्वात् ॥१९॥

जुहु आदि अङ्गों में फल का श्रवण स्तुतिरूप से हो सकता है, क्योंकि अङ्ग अङ्गी के लिए होने से स्वतः फलवाले नहीं हो सकते।

काम्ये कर्मणि नित्यः स्वर्गो यथा यज्ञाङ्गे क्रत्वर्थः ॥२०॥

पूर्व०—जैसे यागोपकारी गो-दोहन आदि का फल पशु आदि तथा याग का फल स्वर्ग है, वैसे ही काम्यकर्म में भी स्वर्ग मुख्यफल तथा श्रुत गौणफल है।

वीते च कारणे नियमात् ॥२१॥

तथा, फल की इच्छा के निवृत्त हो जाने पर भी याग की समाप्ति का नियम होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

कामो वा तत्संयोगेन चोद्यते ॥२२॥

सि०—काम्यकर्म के विधायक वाक्य में जो फलश्रुति है, वही उक्त कर्म का फल है, क्योंकि उसके सम्बन्ध से उक्त कर्म विधान किया गया है।

अङ्गे गुणत्वात् ॥२३॥

गो-दोहन आदि यज्ञाङ्गों में जो पशु आदि फल कथन किया है, वह गौण होने से ठीक है।

वीते च नियमस्तदर्थम् ॥२४॥

तथा, इच्छा के पूर्ण हो जाने पर भी जो आरब्ध कर्म की समाप्ति का नियम है, वह प्रतिज्ञा-पालनार्थ है।

सार्वकाम्यमङ्गकामैः प्रकरणात् ॥२५॥

पूर्व०—अङ्गफलों के सहित दर्शपूर्णमासादि यागों के सब फल कथन किये हैं, स्वतः नहीं, क्योंकि प्रकरण से ऐसा ही ध्वनित होता है।

फलोपदेशो वा प्रधानशब्दसंयोगात् ॥२६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र में दर्शपूर्णमास को सब फलों का देनेवाला कहा है, तब उससे विपरीत नहीं हो सकता।

तत्र सर्वेऽविशेषात् ॥२७॥

पूर्व०—जब दर्शपूर्णमास सब फलों के देनेवाला है, तब उसके एक बार अनुष्ठान से सम्पूर्ण फलों की सिद्धि होनी चाहिए, क्योंकि उसका उक्त फलों के साथ निमित्त-नैमित्तिकभाव सम्बन्ध है।

योगसिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्यसंयोगात् ॥२८॥

सि०—अनुष्ठान-भेद से फल की सिद्धि होती है, एक बार के अनुष्ठान से नहीं, क्योंकि फल का उक्त वाक्य से सहभाव नहीं सुना जाता।

समवाये चोदनासंयोगस्यार्थवत्त्वात् ।।२९।।

सौत्रामणी आदि यज्ञों में अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध में विधि जाननी चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने से ही उक्त सम्बन्ध सार्थक होता है।

कालश्रुतौ काल इति चेत् ।।३०।।

कालवाची 'क्त्वा' प्रत्यय का श्रवण होने पर काल का विधान मानना ही उचित है, यदि ऐसा कहो तो—

नासमवायात्प्रयोजनेन ।।३१।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फल के साथ सौत्रामणी आदि का सम्बन्ध नहीं।

उभयार्थमिति चेत् ।।३२।।

वैमृधादि कर्म दर्श और पूर्णमास—दोनों कर्मों के अङ्ग हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न शब्दैकत्वात् ।।३३।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त याग का विधान एक विधिप्रत्यय से किया गया है।

प्रकरणादिति चेत् ।।३४।।

प्रकरण से उक्त कर्म दोनों का अङ्ग होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तिसंयोगात् ।।३५।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधायक वाक्य से उक्त कर्म का पूर्णमास कर्म के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

अनुत्पत्तौ तु कालः स्यात्प्रयोजनेन सम्बन्धात् ।।३६।।

ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में अङ्गाङ्गिभाव विधि का अभाव होने से काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रयोजन के साथ प्रयाजों का सम्बन्ध हो सकता है।

उत्पत्तिकालविशये कालः स्याद्वाक्यस्य तत्प्रधानत्वात् ।।३७।।

अङ्गता तथा काल—दोनों के विधान का संशय होने पर काल का विधान होना चाहिए, क्योंकि वाक्य से कालविधान की ही प्रधानता पाई जाती है।

फलसंयोगस्त्वचोदिते, न स्यादशेषभूतत्वात् ।।३८।।

अविहित में फल का सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह फल के प्रति शेष नहीं है।

अङ्गानां तूपघातसंयोगे निमित्तार्थः ।।३९।।

वैश्वानर इष्टि का पुत्र-जन्म के साथ सम्बन्ध जातकर्म-निमित्तक है।

प्रधानेनाभिसंयोगादङ्गानां मुख्यकालत्वम् ।।४०।।

पूर्व०—अङ्गकर्मों के अनुष्ठान का प्रधान काल होना चाहिए, क्योंकि उनका प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध है।

अपवृत्ते तु चोदना तत्सामान्यात्स्वकाले स्यात् ।।४१।।

सि०—अङ्गकर्मों का अनुष्ठान स्व-स्वकाल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधानकर्म

की समाप्ति के अनन्तर उनका विधान किया गया है और वह सब अङ्गकर्मों के लिए समान है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

प्रकरणशब्दसामान्याच्चोदनानामनङ्गत्वम् ॥१॥

पूर्व०—'देवन' आदि राजसूय का अङ्ग नहीं, क्योंकि प्रकरण तथा शब्दों से दोनों की समानता पाई जाती है।

अपि वाऽङ्गमनिज्याः स्युस्ततो विशिष्टत्वात् ॥२॥

सि०—अयागरूप 'देवन' आदि क्रियाएँ राजसूय याग के अङ्ग हैं, क्योंकि वे याग-रूप क्रियाओं से भिन्न हैं।

मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये ॥३॥

पूर्व०—जो जिसकी सन्निधि में पठित है, वह उसी का अङ्ग है।

सर्वासां वा समत्वाच्चोदनातः स्यान्न हि तस्य प्रकरणं देशार्थमुच्यते मध्ये ॥४॥

सि०—'देवन' आदि क्रियाएँ राजसूय यज्ञ का अङ्ग हैं, क्योंकि विधिवाक्यों से वे सब प्रधानरूप से समान हैं और अभिषेचनीय का अवान्तर प्रकरण भी नहीं है तथा उनका मध्य में पाठ स्थान के अभिप्राय से है, अङ्ग के अभिप्राय से नहीं।

प्रकरणविभागे च विप्रतिषिद्धं ह्युभयम् ॥५॥

पूर्व०—प्रकरण का भेद न होने पर भी सौम्यादि को उपसदों का अङ्ग मानना ही ठीक है, क्योंकि परस्पर-विरुद्ध होने के कारण अङ्गता तथा तत्कालता—दोनों नहीं मान सकते।

अपि वा कालमात्रं स्याददर्शनाद्विशेषस्य ॥६॥

सि०—उक्त वाक्य में कालमात्र का विधान होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों होमों में अङ्गाङ्गिभाव की कोई विशेष प्रयोजकता नहीं पाई जाती।

फलवद्वोक्तहेतुत्वादितरस्य प्रधानं स्यात् ॥७॥

फलयुक्त 'सांग्रहणी' इष्टि 'आमन' होमों के प्रति प्रधान है, क्योंकि फलवाले की सन्निधि में पठित अफल का अङ्ग होना सर्वसम्मत है।

दधिग्रहो नैमित्तिकः श्रुतिसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—'दधिग्रह' नैमित्तिक है, क्योंकि अन्तरायरूप निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

नित्यश्च ज्येष्ठशब्दत्वात् ॥९॥

पूर्व०—उक्त 'ग्रह' नित्य तथा नैमित्तिक दोनों हैं, क्योंकि उसका ज्येष्ठ होना पाया जाता है।

सार्वरूप्याच्च ॥१०॥

तथा, सर्वरूपता के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नित्यो वा स्यादर्थवादस्तयोः कर्मण्यसम्बन्धाद्भङ्गित्वाच्चान्तरायस्य ॥११॥

सि०—उक्त 'ग्रह' नित्य है, क्योंकि उक्त अन्तराय-वाक्य अर्थवाद है और उससे अध्वर्यु तथा यजमान दोनों का कर्म में सम्बन्ध नहीं पाया जाता तथा अन्तराय का श्रवण उक्त ग्रह के विधान में प्रकरण-मात्र हो सकता है।

वैश्वानरश्च नित्यः स्यान्नित्यैः समानसंख्यत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—वैश्वानर इष्टि नित्यकर्म है, क्योंकि नित्यों के साथ उसका समानरूप से कथन पाया जाता है।

पक्षे वोत्पन्नसंयोगात् ॥१३॥

सि०—नैमित्तिक पक्ष में ही उक्त कर्म मानना उचित है, क्योंकि विधायक वाक्य से निमित्त का सम्बन्ध पाया जाता है।

षट्चितिः पूर्ववत्स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—छठी 'चिति' पहली पाँच चितियों की भाँति नित्य है।

ताभिश्च तुल्यसंख्यानात् ॥१५॥

तथा प्रथम पाँच चितियों के समान कथन पाये जाने से भी छठी चिति नित्य सिद्ध होती है।

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१६॥

और, अर्थवाद के उपपन्न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

एकचितिर्वा स्यादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन ॥१७॥

सि०—छहों चितियों के मध्य केवल छठी चिति ही नैमित्तिक होनी चाहिए, क्योंकि प्रथम पाँच चितियों के समाप्त होने पर अप्रतिष्ठा-निमित्त से उसका विधान किया गया है।

विप्रतिषेधात्ताभिः समानसंख्यत्वम् ॥१८॥

एक चिति में षष्ठत्व विरोध के कारण पहली पाँच चितियों के साथ छठी चिति का समान रूप से कथन किया गया है।

पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात् ॥१९॥

पितृयज्ञ दर्शयज्ञ का अङ्ग नहीं है, क्योंकि उसके विधायक वाक्य में 'अमावास्या' पद काल का वाचक है, कर्म का नहीं।

तुल्यवच्च प्रसंख्यानात् ॥२०॥

'दर्शपूर्णमास' आदि कर्म के समान कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

विप्रतिषिद्धे च दर्शनात् ॥२१॥

तथा, अमावास्या याग का निषेध होने पर भी पिण्डपितृयज्ञ[1] से परमात्मा की प्रसन्नता का विधान पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

---

१. पिण्डपितृश्राद्ध से यहाँ मृतक-श्राद्ध का वर्णन नहीं है। शबर स्वामी ने भी मृतक-श्राद्ध-सम्बन्धी अर्थ नहीं किया है।

पशवङ्गं रशना स्यात्तदागमे विधानात् ॥२२॥

पूर्व०—रशना पशु का अङ्ग है, क्योंकि विधायक वाक्य में पशु-सम्बन्ध से उसका विधान किया गया है।

यूपाङ्गं वा तत्संस्कारात् ॥२३॥

सि०—रशना यूप का अङ्ग है, क्योंकि वह उसके संस्कारार्थ है।

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२४॥

तथा, अर्थवाद वाक्य भी तभी सार्थक हो सकता है, जबकि रशना को यूप का अङ्ग माना जाए।

स्वरुश्चाप्येकदेशत्वात् ॥२५॥

पूर्व०—'स्वरु' यूप का अङ्ग है, क्योंकि वह उसका एक टुकड़ा है।

निष्क्रयश्च तदङ्गवत् ॥२६॥

तथा यूप का निष्क्रय कथन करने से भी स्वरु यूप का अङ्ग सिद्ध होता है।

पश्वङ्गं वार्थकर्मत्वात् ॥२७॥

सि०—स्वरु पशु का अङ्ग है, क्योंकि वह पशु आञ्जनरूप अर्थ का साधन है।

भक्त्या निष्क्रयवादः स्यात् ॥२८॥

निष्क्रयवाद स्तुति के अभिप्राय से है।

दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानान्यविशेषात् ॥२९॥

पूर्व०—दर्श और पूर्णमास याग में जितने याग हैं—वे सब प्रधान हैं, क्योंकि उनका समान रूप से विधान किया गया है।

अपि वाङ्गानि कानिचिद्येष्वङ्गत्वेन संस्तुतिः सामान्यादभिसंस्तवः ॥३०॥

सि०—आग्नेय आदि सब यागों के मध्य कई अङ्ग याग हैं, जिनकी अङ्गरूप से स्तुति की गई है और वह स्तुति अङ्ग होने से ही हो सकती है, अन्यथा नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

तथा, विकृत यागों में प्रयाजों का दर्शन भी आघारादि के अङ्गत्व में प्रमाण है।

अविशिष्टं तु कारणं प्रधानेषु गुणस्य विद्यमानत्वात् ॥३२॥

आक्षेप—अङ्गता का साधक संस्तुतिरूप कारण आघारादि के समान आग्नेय आदि में भी समान है, क्योंकि स्तुतिवाक्य इसमें भी विद्यमान है।

नानुक्तेऽन्यार्थदर्शनं परार्थत्वात् ॥३३॥

आक्षेप—प्रति विकृतियाग प्रयाजों का दर्शन साक्षात् अकथित अङ्गता में प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए है।

पृथक्त्वे त्वभिधानयोर्निवेशः श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं यत्फलवत्त्वं तत्सन्निधाव-संयुक्तं तदङ्गं स्याद् भागित्वात् कारणस्याश्रुतेश्चान्यसम्बन्धः ॥३४॥

समा०—केवल आग्नेय आदि छह यागों के दो-दो त्रिकों में ही दर्श तथा पूर्णमास संज्ञा का निवेश है, अन्यत्र नहीं, क्योंकि श्रुति तथा व्यपदेश से उक्त अर्थ की सिद्धि पाई जाती है तथा उक्त दोनों त्रिक ही प्रधान याग हैं, इसलिए कि वे फल वाले हैं, और जो याग उनकी सन्निधि में पढ़े गये हैं, और फल के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं, वे अङ्गयाग

हैं तथा आघारादि का फलभागी होना न सुने जाने से प्रधान याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध सिद्ध है।

गुणाश्च नामसंयुक्ता विधीयन्ते नाङ्गेषूपपद्यन्ते ।।३५।।

तथा, दर्शपूर्णमास संज्ञासहित जो गुण विधान किये गये हैं, वे आघार आदि अङ्गों के नहीं बन सकते।

तुल्या च कारणश्रुतिरन्यैरङ्गाभिसम्बन्धैः ।।३६।।

आक्षेप—पुरुषाङ्गों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले आघारादि के समान ही आग्नेय आदि प्रधान यागों की अङ्गता-श्रुति पाई जाती है।

उत्पत्तावभिसम्बन्धस्तस्मादङ्गोपदेशः स्यात् ।।३७।।

समा०—जीवमात्र की उत्पत्ति के अभिप्राय से आग्नेय आदि को यज्ञ का सिर आदि कथन किया है, अङ्गता के अभिप्राय से नहीं, अतः मुख्यतया आघारादि यागों में ही अङ्गता का उपदेश जानना उचित है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३८।।

और, प्रति दर्श तथा पूर्णमास आहुतियों का दर्शन भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

ज्योतिष्टोमे तुल्यान्यविशिष्टं हि कारणम् ।।३९।।

पूर्व०—ज्योतिष्टोम के अन्तर्गत जितने याग हैं, वे सब समान रूप से प्रधान हैं, क्योंकि उनकी समप्रधानता का समान रूप से वर्णन किया गया है।

गुणानां तूत्पत्तिवाक्येन सम्बन्धात् कारणश्रुतिस्तस्मात् सोमः प्रधानं स्यात् ।।४०।।

सि०—उत्पत्तिवाक्य द्वारा ज्योतिरूप स्तोमों का सोमयाग के साथ सम्बन्ध होने से उक्त याग के प्रधान होने में विशेष कारण का श्रवण पाया जाता है, अतः सोमयाग ही प्रधान है, दीक्षणीय आदि नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।४१।।

तथा, सोमयाग से भिन्न दीक्षणीय आदि में अङ्गता का श्रवण भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।। इति चतुर्थोऽध्यायः ।।

पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं तत्प्रमाणत्वात् ॥१॥

श्रुति-प्रतिपादित यज्ञों में श्रौतक्रम मानना ही उचित है, क्योंकि वह सब प्रेरणाओं की अपेक्षा प्रधान है।

अर्थाच्च ॥२॥

तथा, कहीं अर्थ से भी क्रम का ज्ञान होता है।

अनियमोऽन्यत्र ॥३॥

जहाँ श्रौत अथवा आर्थिक क्रम नहीं, वहाँ आर्थिक क्रम का नियम नहीं है।

क्रमेण वा नियम्येत, क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात् ॥४॥

एक क्रतु=यज्ञ में पाठक्रमानुसार प्रयाजों के अनुष्ठान का नियम होना चाहिए, क्योंकि वह अनुष्ठान का अङ्ग है।

अशाब्द इति चेत् स्याद्वाक्यशब्दत्वात् ॥५॥

आक्षेप—पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य नहीं हो सकता, क्योंकि वाक्य को पदार्थ मात्र की बोधकता है, यदि ऐसा कहो तो—

अर्थकृते चानुमानं स्यात्क्रत्वेकत्वे, परार्थत्वात्स्वेन त्वर्थेन सम्बन्धस्तस्मात्स्व-शब्दमुच्यते ॥६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अर्थवश कल्पना करने में क्रम अशाब्द होना चाहिए परन्तु क्रतु के एक होने पर भी अङ्गों की प्रधानता होने से अपने प्रधानभूत क्रतुरूप अर्थ के साथ यथाक्रम ही सम्बन्ध होना उचित है, अतः पाठक्रम शब्द-प्रतिपाद्य ही कहा जा सकता है, अशाब्द नहीं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥७॥

तथा, पाठक्रम के बाधक अर्थ का दर्शन भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

प्रवृत्त्या तुल्यकालानां गुणानां तदुपक्रमात् ॥८॥

इसी प्रकार एक काल में प्राप्त 'उपाकरण' आदि पशु-संस्कारों का प्रथम वृत्ति के अनुसार द्वितीयादि क्रम जानना चाहिए, क्योंकि प्रथम उसी से आरम्भ किया है।

सर्वमिति चेत् ॥९॥

आक्षेप—उपाकरण आदि सब संस्कार युगपत्=एक साथ सब पशुओं में होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

नाकृतत्वात् ॥१०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा विधान उपलब्ध नहीं होता।

क्रत्वन्तरवदिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—जैसे 'सौर्य' आदि यागों में उपयुक्त पदार्थों के संस्कार युगपत् होते हैं, वैसे ही पशुओं के संस्कार भी युगपत् होने चाहिएँ, यदि ऐसा कहो तो—

नासमवायात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दानक्रिया में पशुओं का समवाय विवक्षित नहीं।

स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात् ॥१३॥

तथा, उत्पत्तिवाक्य में प्रतिपादित स्थान के अनुसार भी क्रम का ज्ञान होता है।

मुख्यक्रमेण वाङ्गानां तदर्थत्वात् ॥१४॥

प्रधान याग के क्रम से अङ्गयागों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे प्रधान यागों के लिए ही होते हैं।

प्रकृतौ तु स्वशब्दत्वाद्यथाक्रमं प्रतीयेत ॥१५॥

पूर्णमास याग में अङ्गों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार जानना चाहिए, क्योंकि वह साक्षात् अङ्ग प्रतिपादक शब्दों से पाया जाता है।

मन्त्रतस्तु विरोधे स्यात्प्रयोगरूपसामर्थ्यात् तस्मादुत्पत्तिदेशः सः ॥१६॥

मन्त्र के साथ ब्राह्मण का विरोध होने पर मन्त्र के अनुसार अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि अनुष्ठान-मात्र के प्रकार का बोध करानेवाले ब्राह्मण से कर्म का विधायक होने के कारण मन्त्र प्रबल है।

तद्वचनाद्विकृतौ यथाप्रधानं स्यात् ॥१७॥

पूर्व०—विकृति याग में अङ्ग-अनुष्ठान प्रधान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि प्रधानक्रम का बोधक वचन पाया जाता है।

विप्रतिपत्तौ वा प्रकृत्यन्वयाद्यथाप्रकृति ॥१८॥

सि०—दो विरुद्ध क्रियाओं के एकसाथ प्राप्त होने पर प्रकृति-क्रमानुसार ही अनुष्ठान होना उचित है, क्योंकि उक्त क्रम प्रकृति याग में प्रथम अन्वित है।

विकृतिः प्रकृतिधर्मत्वात्तत्काला स्याद्यथाशिष्टम् ॥१९॥

पूर्व०—आग्नेयादि तीनों विकृति याग 'साकमेध' नामक प्रकृति याग की सिद्धि के लिए जितना काल विधान किया गया है, उतने कालवाले होने चाहिएँ, क्योंकि विकृति के लिए प्राकृत धर्मवाला होना नियत है।

अपि वा क्रमकालसंयुक्ता सद्यः क्रियेत तत्र विधेरनुमानात्प्रकृतिधर्मलोपः स्यात् ॥२०॥

सि०—उक्त तीनों याग जिस क्रम तथा जिस काल में विधान किये गये हैं, उसी क्रम तथा कालसहित सद्यः कर्तव्य हैं, क्योंकि उदाहृत वाक्यों में जो प्रातः आदि कालों का विधान है, वह उक्त चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त प्रकृत काल से प्रबल है, अतः उक्त प्रकृति याग के धर्मभूत काल का उक्त प्रकृति यागों में लोप होना उचित है।

कालोत्कर्ष इति चेत् ॥२१॥

आक्षेप—उक्त काल का उत्कर्ष होने से भी प्रातः आदि शब्द उत्पन्न हो सकते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्सम्बन्धात् ॥२२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रातः आदि का एक ही दिन के साथ सम्बन्ध है।

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्यथोक्तमुत्कर्षे स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—अनुयाज तथा प्रयाज दोनों के उत्कर्ष तथा अपकर्ष के विषय में जैसा कथन किया गया है, वैसा ही होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से अङ्गों को स्व-स्व काल का लाभ हो जाता है।

तदादि वाऽभिसम्बन्धात्तदन्तमपकर्षे स्यात् ॥२४॥

सि०—अपकर्ष और उत्कर्ष में अनुयाजादि तथा प्रयाजान्त का ग्रहण है, क्योंकि चोदक वाक्य से तदादि तदन्त का ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रवृत्त्या कृतकालानाम् ॥२५॥

प्रवृत्तिरूप प्रमाण से जिन प्रोक्षण आदि का अनुष्ठान-काल ज्ञात होता है, उनका प्रथम अनुष्ठान होना चाहिए।

शब्दविप्रतिषेधाच्च ॥२६॥

तथा, शब्दार्थ का विरोध प्राप्त होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

असंयोगात्तु वैकृतं तदेव प्रतिकृष्येत ॥२७॥

विकृति-मात्र में विधान किये गये यूप के छेदन-मात्र का ही अपकर्ष होना चाहिए, क्योंकि उसका अन्य अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं है।

प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेदसंयोगात् ॥२८॥

पुरोडाशों पर प्रसङ्ग से उपकार करनेवाला अनुयाज कर्म दक्षिणाग्नि के होमों का उत्कर्ष नहीं कर सकता, क्योंकि उसका उनके साथ सम्बन्ध नहीं है।

तथाऽपूर्वम् ॥२९॥

जैसे प्रयाज उक्त दोनों होमों के उत्कर्षक नहीं, वैसे ही प्राकृत वेदि अभिवासनान्त अङ्गसमूह का अपकर्षक नहीं है।

सान्तपनीया तूत्कर्षेदग्निहोत्रं सवनवद्वैगुण्यात् ॥३०॥

पूर्व०—जैसे प्रातःसवन स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुआ माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष करता है, वैसे ही सन्तापनीया नामक इष्टि भी अग्निहोत्र का उत्कर्ष करती है, क्योंकि वैसा न होने से कर्म का वैगुण्य हो जाता है।

अव्यवायाच्च ॥३१॥

तथा, दोनों कर्मों का व्यवधान न होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

असम्बन्धात्तु नोत्कर्षेत् ॥३२॥

सि०—स्वयं उत्कर्ष को प्राप्त हुई उक्त इष्टि अग्निहोत्र की उत्कर्षक नहीं, क्योंकि उसका उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

प्रापणाच्च निमित्तस्य ॥३३॥

तथा, निमित्त के प्राप्त होने के कारण सायंकाल में अग्निहोत्र का विधान किया गया है।

सम्बन्धात् सवनोत्कर्षः ॥३४॥

परस्पर सम्बन्ध होने के कारण प्रातःसवन के उत्कर्ष से माध्यन्दिन सवन का उत्कर्ष होता है।

षोडशी चोक्थ्यसंयोगात् ॥३५॥

तथा, 'उक्थ्य' ग्रह के उत्कर्ष से षोडशी ग्रह का भी उत्कर्ष होता है, क्योंकि उसका 'उक्थ्य' ग्रह के साथ सम्बन्ध है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

सन्निपाते प्रधानानामेकैकस्य गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

पूर्व०—अनेक देय पशुओं के एक याग में एकत्र होने पर एक-एक पशु में संस्कारों का समग्र रूप से अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वेषां वैकजातीयं कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥२॥

सि०—सम्पूर्ण पशुओं का एक संस्कार करके दूसरा संस्कार करना चाहिए क्योंकि देय पशुओं के साहित्य से ऐसे ही प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

कारणादभ्यावृत्तिः ॥३॥

कहीं प्रबल प्रतिबन्धकरूप कारण के विद्यमान होने पर एक-एक प्रधान धर्मों में समग्ररूप में संस्काररूप धर्मों का अनुष्ठान होता है।

मुष्टिकपालावदानाञ्जनाभ्यञ्जनवपनपावनेषु चैकेन ॥४॥

पूर्व०—मुष्टि, कपाल, अवदान, अञ्जन, अभ्यञ्जन, वपन तथा पावन—इन सब में एक-एक का निर्वाप आदिरूप अनुष्ठान होना चाहिए।

सर्वाणि त्वेककार्यत्वादेषां तद्गुणत्वात् ॥५॥

सि०—मुष्टि आदि सब संस्कार पुरोडाश आदिरूप एक ही कार्य की सिद्धि के लिए किये जाते हैं। इन पदार्थों की समूहरूप में ही उक्त प्रधान कर्म के प्रति अङ्गता है, अतः उन्हें एकसाथ ही करना चाहिए।

संयुक्ते तु प्रक्रमात्तदङ्गं स्यादितरस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

अवदान संयुक्त होम-प्रकरण में जो केवल अवदान से उपक्रम किया गया है, वह होमपर्यन्त का समझना चाहिए, क्योंकि अवदान से भिन्न मध्य में विधान किये 'उपस्तरण' आदि सम्पूर्ण होमार्थ होने से अवदान के ही अङ्ग हैं।

वचनात्तु परिव्याणान्तमञ्जनादिः स्यात् ॥७॥

'अञ्जन' आदि 'परिव्याण' पर्यन्त सम्पूर्ण संस्कारों का समग्र रूप में अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

कारणाद्वाऽनवसर्गः स्याद्यथा पात्रवृद्धिः ॥८॥

आक्षेप—जैसे अनुयाज नामक होमों के लिए पृषदाज्य-धारणार्थ पात्रान्तर की कल्पना होती है, वैसे ही प्रकृति में भी अध्वर्युरूप सहकारी के न मिलने के कारण **'न अवसृजेत्'** की कल्पना होनी चाहिए।

न वा शब्दकृतत्वान्न्यायमात्रमितरदर्थात्पात्रविवृद्धिः ॥६॥

समा०—वाक्यविशेष द्वारा प्राप्त होने के कारण उक्त संस्कारों का प्रत्येक यूप में समग्र रूप से अनुष्ठान होना ठीक है, क्योंकि एक-एक का अनुष्ठान कल्पना-मात्र है, और जो पात्रान्तर की कल्पना है, वह अर्थबल से प्राप्त है।

पशुगणे तस्य तस्यापवर्जयेत् पश्वेकत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—प्रत्येक देय पशु के उद्देश्य से होतव्य पुरोडाश के मध्य एक-एक पुरोडाश में यावत् अवदानों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि प्रकृति के सदृश प्रत्येक पशु में 'पशुत्व' धर्म एक है।

देवतैवैककर्म्यात् ॥११॥

सि०—प्रत्येक पुरोडाश से प्रथम यथाक्रम दैवत तदनन्तर स्विष्टकृत् तत्पश्चात् ऐड अवदान होकर होम होना चाहिए, क्योंकि उक्त तीनों अवदान पृथक्-पृथक् एक कर्म हैं।

मन्त्रस्य चार्थवत्त्वात् ॥१२॥

और अवदानकाल में पठनीय मन्त्र के उच्चारण में लाघवरूप अर्थ की प्राप्ति होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

नानाबीजे एकमुलूखलं विभवात् ॥१३॥

व्रीहि आदि अनेक अन्नसाध्य इष्टियों में तण्डुल आदि की निष्पत्ति के लिए एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि वह सब अन्नों के लिए पर्याप्त है।

विवृद्धिर्वा नियमानुपूर्व्यस्य तदर्थत्वात् ॥१४॥

आक्षेप—ऊखल अनेक होने चाहिएँ, क्योंकि पाठक्रम के नियत होने से उक्त अर्थ की उपलब्धि होती है।

एकं वा तण्डुलभावाद्धन्तेस्तदर्थत्वात् ॥१५॥

समा०—एक ही ऊखल होना चाहिए, क्योंकि तण्डुल निष्पत्तिपर्यन्त 'अव' पूर्वक 'हन्' धातु का अवघात अर्थ माना गया है।

विकारे त्वनुयाजानां पात्रभेदोऽर्थभेदात्स्यात् ॥१६॥

अग्निषोमीय पशु याग में अनुयाज तथा प्रयाज के पात्र का भेद होना चाहिए, क्योंकि उक्त दोनों में होतव्य आज्यरूप अर्थ का भेद है।

प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वादपूर्वमन्ते स्यान्न ह्यचोदितस्य शेषाम्नानम् ॥१७॥

प्रकृत 'नारिहोमों' के पूर्वविहित होने से उपहोम उनके अन्त में होना चाहिए, क्योंकि अङ्गी से प्रथम अविहित को पूर्वविहित के समान अङ्गता नहीं हो सकती।

मुख्यानन्तर्यमात्रेयस्तेन तुल्यश्रुतित्वादशब्दत्वात्प्राकृतानां व्यवायः स्यात् ॥१८॥

आक्षेप—"प्रधान होमों से पीछे तथा 'नारिष्ट' होमों से पूर्व उपहोमों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि प्रधान होमों के समान उनका विधान भी प्रत्यक्षश्रुत है और नारिष्ट होमों

का उपहोमों के पश्चात् अवश्य अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वे आनुमानिक हैं, प्रत्यक्षश्रुत नहीं"—यह आत्रेय मुनि का मत है।

अन्ते तु बादरायणस्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥१६॥

समा०—"नारिष्ट होमों के पश्चात् उपहोमों का अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि नारिष्ट होमों का मुख्य प्रकृति याग में प्रथम विधान किया गया है"—यह बादरायण मुनि का मत है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२०॥

तथा, प्रथम उपस्थित के प्रथमानुष्ठान में अन्यत्र दृष्ट अर्थ भी प्रमाण है।

कृतदेशात्तु पूर्वेषां स देशः स्यात् तेन प्रत्यक्षसंयोगान्न्यायमात्रमितरत् ॥२१॥

माहेन्द्र स्तोत्र के समीप जिसके देश की कल्पना की गई है, ऐसे अभिषेक से प्रथम होनेवाली विदेवन आदि क्रियाओं का भी वही स्थान होना चाहिए, क्योंकि अभिषेक के साथ उनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष है और अभिषेक के पश्चात् कल्पना करना निर्मूल होने के कारण कल्पना मात्र है।

प्राकृताच्च पुरस्ताद्यत् ॥२२॥

तथा, जिसका प्राकृत इष्टि से पूर्व पाठ किया गया है, उसका अनुष्ठान भी पूर्व होना चाहिए।

सन्निपातश्चेद्यथोक्तमन्ते स्यात् ॥२३॥

यदि प्रकृति तथा वैकृत दोनों संस्कारों की एक साथ प्राप्ति हो तो प्रत्यक्षश्रुत वैकृतधर्म का प्राकृतधर्म के पश्चात् अनुष्ठान होना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विवृद्धिः कर्मभेदात्पृषदाज्यवत्तस्य तस्योपदिश्येत ॥१॥

पूर्व०—जैसे प्रत्येक 'अनुयाज' के साथ 'पृषदाज्य' के सम्बन्ध का विधान है, वैसे ही प्रत्येक प्रयाज के साथ एकादश संख्या के सम्बन्ध का विधान किया गया है, अतः प्रयाज-भेद से एकादश संख्या की वृद्धि होनी चाहिए।

अपि वा सर्वसंख्यत्वाद्विकारः प्रतीयेत ॥२॥

सि०—एकादश संख्या-पूर्ति के लिए सब प्रयाजों की द्विरावृत्ति होकर पश्चात् अन्तिम प्रयाज की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि उक्त संख्या सब प्रयाजों के लिए विधान की गई है।

स्वस्थानात्तु विवृध्येरन्कृतानुपूर्व्यत्वात् ॥३॥

स्व-स्व स्थान में प्रत्येक उपसद् की द्विरावृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रकृति याग में उनके अनुष्ठान का क्रम नियत किया गया है।

समिध्यमानवतीं समिद्धवतीं चान्तरेण धाय्याः स्युर्द्यावापृथिव्योरन्तराले समर्हणात् ॥४॥

पूर्व०—आगन्तुक मन्त्रों का 'समिध्यमान' और 'समिध्य' पदवाली दोनों सामिधेनियों के मध्य में निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यशेष में द्यावापृथिवी शब्द से उक्त दोनों सामिधेनियों का अनुवाद करके मध्य में 'धाय्या' नाम से आगन्तुक मन्त्रों का कथन किया है।

तच्छब्दो वा ॥५॥

सि०—उक्त वाक्यशेष में जो 'धाय्या' पद आया है, वह सम्पूर्ण आगन्तुक मन्त्रों का नाम नहीं, किन्तु 'पृथुपाजा अमर्त्यः' इत्यादि दो मन्त्रों का नाम है।

उष्णिक्ककुभोरन्ते दर्शनात् ॥६॥

'धाय्या' नामक उष्णिक् तथा ककुभ छन्दवाले दोनों मन्त्रों के अन्त में 'अधाय्या' मन्त्र का निवेश पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

स्तोमविवृद्धौ बहिष्पवमाने पुरस्तात्पर्यासादागन्तवः स्युस्तथा हि दृष्टं द्वादशाहे ॥७॥

पूर्व०—बहिष्पवमान नामक स्तोत्र में आगन्तुक मन्त्रों की वृद्धि के लिए आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व निवेश होना चाहिए, क्योंकि द्वादशाह नामक याग में आगन्तुक मन्त्रों का पर्य्यास से पूर्व ही निवेश देखा जाता है।

पर्यास इति चाऽन्ताख्या ॥८॥

तथा, 'पर्य्यास' यह बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्तिम त्रिक की संज्ञा है।

अन्ते वा तदुक्तम् ॥९॥

सि०—आगन्तुक मन्त्रों के चार आदि त्रिकों का बहिष्पवमान स्तोत्र के अन्त में निवेश होता है, यह पीछे निर्णय किया जा चुका है।

वचनात्तु द्वादशाहे ॥१०॥

द्वादशाह याग में जो आगन्तुक त्रिकों का स्तोत्रीय तथा अनुरूप नामक प्रथम, द्वितीय त्रिकों के मध्य निवेश होता है, वह वाक्यविशेष के बल से होता है, कल्पना-मात्र से नहीं।

अतद्विकारश्च ॥११॥

तथा, 'द्वादशाह' याग की विकृति न होने से भी 'अतिरात्र' याग में उक्त याग की भाँति निवेश नहीं हो सकता।

तद्विकारेऽप्यपूर्वत्वात् ॥१२॥

'द्वादशाह' याग की विकृति अहीन, सत्रादि यागों में भी वृषण्वत् शब्दवाले मन्त्रों से भिन्न मन्त्रों के मध्य में निवेश नहीं हो सकती, क्योंकि वह वाक्यविशेष से विहित नहीं है।

अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात् ॥१३॥

पूर्व०—माध्यन्दिन पवमान तथा आर्भव पवमान सोमों के आधार प्रथम तथा द्वितीय त्रिक को छोड़कर अन्तिम त्रिक में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए।

अपि वा गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु वचनात् ॥१४॥

सि०—गायत्री, बृहती तथा अनुष्टुप् छन्दवाले मन्त्रों में आगन्तुक सामों का निवेश होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

ग्रहेष्टकमौपानुवाक्यं सवनचितिशेषः स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—अनारभ्य पठित ग्रह तथा इष्टिकाएँ सवन तथा चयन का शेष हैं।

क्रत्वग्निशेषो वा चोदितत्वादचोदनान्नपूर्वस्य ॥१६॥

सि०—उक्त ग्रह याग का तथा इष्टिकाएँ अग्नि की शेष=अङ्ग हैं, क्योंकि याग तथा अग्नि की अङ्गरूपता से उनका विधान पाया जाता है तथा सवन एवं चिति की अङ्गता का विधान नहीं पाया जाता।

अन्ते स्युरव्यवायात् ॥१७॥

पूर्व०—चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का उपधान अन्तिम चिति में होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से प्रकरण पठित इष्टिकाओं का परस्पर व्यवधान नहीं होता।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, लक्षणों के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

मध्यमायां तु वचनाद् ब्राह्मणवत्यः ॥१९॥

सि०—अप्रकरण पठित ब्राह्मण वाक्य से जिनका विधान किया गया है, ऐसी चित्रिणी आदि इष्टिकाओं का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि वाक्य-विशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

प्राग्लोकम्पृणायास्तस्याः सम्पूरणार्थत्वात् ॥२०॥

'लोकं पृणा' नामक इष्टिकाओं से प्रथम चित्रिणी आदि का मध्यम चिति में उपधान होना चाहिए, क्योंकि 'लोकं पृणा' केवल छिद्र पूर्ण करने के लिए है।

संस्कृते कर्म संस्काराणां तदर्थत्वात् ॥२१॥

पवमानेष्टिरूप संस्कारों से युक्त अग्नि में अग्निहोत्रादि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि उक्त संस्कार उक्त कर्मों की कर्तव्यतार्थ ही विधान किये गये हैं।

अनन्तरं व्रतं तद्भूतत्वात् ॥२२॥

आहिताग्निकर्तृक व्रत आधानान्तर कर्तव्य हैं, क्योंकि उनका आधान-मात्र से सम्बन्ध है।

पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् ॥२३॥

अग्निहोत्रादि कर्म पवमानेष्टियों के पूर्व कर्तव्य हैं, क्योंकि लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

अर्थवादो वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् ॥२४॥

उक्त वाक्य अर्थवाद है, क्योंकि उसका स्तुति के लिए विधान किया गया है।

न्यायविप्रतिषेधाच्च ॥२५॥

तथा, उक्त '**ब्रह्मवादिनो मीमांसन्ते**' वाक्य में नित्य अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता का निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सिञ्चिते त्वग्निचिद्युक्तं प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

पूर्व०—'अग्निचित्' पदवाले वाक्य से विधान किये व्रत अग्नि का चयन हो जाने पर कर्तव्य हैं, क्योंकि उनका निमित्त चयन प्राप्त है।

ऋत्वन्ते वा प्रयोगवचनाभावात् ॥२७॥

सि०—याग के अनन्तर उक्त व्रत कर्तव्य है, क्योंकि चयन के अनन्तर अनुष्ठान का बोधक कोई वाक्य नहीं पाया जाता।

अग्नेः कर्मत्वनिर्देशात् ॥२८॥

तथा, अग्नि का कर्मकारक द्वारा कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

परेणाऽवेदनाद्दीक्षितः स्यात् सर्वैर्दीक्षाभिसम्बन्धात् ॥२९॥

पूर्व०—अध्वर्यु नामक ऋत्विक् की घोषणा के पश्चात् दीक्षित व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि दीक्षा-विधायक वाक्यों से इष्टि, दण्ड आदि सम्पूर्ण पदार्थों के साथ दीक्षा का सम्बन्ध पाया जाता है।

इष्ट्यन्ते वा तदर्था ह्यविशेषार्थसम्बन्धात् ॥३०॥

सि०—अध्वर्यु की दीक्षा इष्टि के अन्त में होनी चाहिए, क्योंकि इष्टि दीक्षा के लिए है। दीक्षा-विधायक वाक्य केवल द्रव्यरूप अर्थ के साथ सम्बन्ध बताते हैं, क्रिया-विशेष के साथ नहीं।

समाख्यान च तद्वत् ॥३१॥

'दीक्षणीया' नाम से भी यही आशय प्रतीत होता है।

अङ्गवत्क्रतूनामानुपूर्व्यम् ॥३२॥

पूर्व०—जैसे प्रयाज आदि अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान पाठक्रमानुसार होता है, वैसे ही काम्य यागों का अनुष्ठान भी पाठक्रमानुसार ही होना चाहिए।

न वाऽसम्बन्धात् ॥३३॥

सि०—उक्त यागों का परस्पर कोई सम्बन्ध न होने से पाठक्रमानुसार अनुष्ठान नहीं हो सकता।

काम्यत्वाच्च ॥३४॥

तथा, काम्य याग होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

आनर्थक्यान्नेति चेत् ॥३५॥

आक्षेप—काम्य यागों का अपनी इच्छानुसार अनुष्ठान ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा करने से पाठक्रम व्यर्थ हो जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा परेषु सर्वस्वारात् ॥३६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे नित्य यागों में 'सर्वस्वार' होम ज्ञानार्थ होने से सफल है, वैसे ही उक्त पाठक्रम भी ज्ञानार्थ होने से सफल है।

य एतेनेत्यग्निष्टोमः प्रकरणात् ॥३७॥

'य एतेन' इस वाक्य में 'एतेन' शब्द से अग्निष्टोम का ग्रहण है, क्योंकि उसका प्रकरण है।

लिङ्गाच्च ॥३८॥

तथा, लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अथान्येनेति संस्थानां सन्निधानात् ॥३९॥

पूर्व०—'य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन' इस वाक्य में 'अन्य' शब्द से ज्योतिष्टोम याग की अत्यग्निष्टोम आदि शेष छह संस्थाओं का ग्रहण है, क्योंकि वे ही अग्निष्टोम की समीपवर्तिनी हैं।

तत्प्रकृतेर्वाऽऽपत्तिविहारौ हि न तुल्येषूपपद्येते ॥४०॥

सि०—'अन्येन' शब्द से अत्यग्निष्टोमादि छह संस्था सहित 'एकाह' आदि सम्पूर्ण यागों का ग्रहण है, क्योंकि केवल छह संस्थाओं का ग्रहण होने से आपत्ति तथा विहार दोनों उपपन्न नहीं हो सकते।

प्रशंसा च विहरणाभावात् ॥४१॥

आक्षेप—उक्त वाक्यों में जो आपत्ति तथा विहार कथन किया गया है, वह अग्निष्टोम की प्रशंसा के लिए है, 'एकाह' आदि के ग्रहण के लिए नहीं, क्योंकि विकृति होने के कारण 'एकाह' आदि में आपत्ति तथा विहार नहीं बन सकते।

विधिप्रत्ययाद्वा न ह्येकस्मात् प्रशंसा स्यात् ॥४२॥

समा०—चोदक वाक्य द्वारा प्राकृत धर्मों का विकृति यागों में अतिदेशरूप प्रत्यय होने से आपत्ति तथा विहार का कथन ठीक है, क्योंकि धर्म-प्राप्ति के बिना प्रशंसा भी उपपन्न नहीं हो सकती।

एकस्तोमो वा क्रतुसंयोगात् ॥४३॥

पूर्व०—'अन्येन' शब्द से एकस्तोमवाले याग का ग्रहण है, क्योंकि अर्थवाद वाक्य से एक ही प्राकृत स्तोम का विकृति यागों के साथ व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशन करना पाया जाता है।

सर्वेषां वा चोदना विशेषात् प्रशंसा स्तोमानाम् ॥४४॥

सि०—'अन्येन' शब्द से एक स्तोमक, अनेक स्तोमक सब यागों का ग्रहण है, क्योंकि वे सब 'अन्य' शब्द के वाच्य हैं और जो एक-एक स्तोत्र का विकृति याग को व्याप्तिरूप-सम्बन्ध द्वारा प्रकाशित करना लिखा है, वह स्तोमों की स्तुति है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

क्रमकोपोऽर्थशब्दाभ्यां श्रुतिविशेषादर्थपरत्वाच्च ॥१॥

अर्थक्रम और श्रौतक्रम से पाठक्रम का बाध हो जाता है, क्योंकि श्रुतिविशेष तथा अर्थ से प्राप्त होने के कारण वे दोनों प्रबल हैं।

अवदानाभिघारणाऽऽसादनेष्वानुपूर्व्यं प्रवृत्त्या स्यात् ॥२॥

पूर्व०—अवदान, अभिघारण तथा आसादन—इन तीनों में क्रम का अवधारण प्रवृत्तिक्रमानुसार होना चाहिए।

यथाप्रदानं वा तदर्थत्वात् ॥३॥

सि०—अवदान आदि तीनों धर्मों का अनुष्ठान प्रदान क्रमानुसार होना चाहिए, क्योंकि वे प्रदान के लिए ही विधान किये गये हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वचनादिष्टिपूर्वत्वम् ॥५॥

पूर्व०—दर्शपूर्णमास याग के अनन्तर ज्योतिष्टोम करना कर्तव्य है, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही ध्वनित होता है।

सोमश्चैकेषामग्न्याधेयस्यर्तुनक्षत्राऽतिक्रमवचनात् तदर्थे नानर्थकं हि स्यात् ॥६॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास के पश्चात् न होकर अग्न्याधान के बाद होना चाहिए, क्योंकि कई शाखाओं में उसकी कर्तव्यता के लिए अग्न्याधान-सम्बन्धी ऋतु तथा नक्षत्र के अतिक्रम का विधायक वाक्य-विशेष पाया जाता है। यदि ज्योष्टोम याग को अग्न्याधान के अनन्तर न मानकर दर्शपूर्णमास के पश्चात् माना जाए तो उक्त अति-क्रमण का अभिधायक वाक्य निरर्थक हो जाता है।

तदर्थवचनाच्च नाविशेषात्तदर्थत्वम् ॥७॥

तथा, अग्न्याधान को ज्योतिष्टोम के लिए कथन करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है। यदि अग्न्याधान और ज्तोतिष्टोम का नियम से आनन्तर्य न मानें तो अग्न्याधान के कर्ममात्र के प्रति समान होने से ज्योतिष्टोमार्थता का अभिधायक वचन उपपन्न नहीं हो सकता।

अयक्ष्यमाणस्य च पवमानहविषां कालविधानादानन्तर्याद्विशङ्का स्यात् ॥८॥

और, अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करनेवाले पुरुष के प्रति पवमान हवियों की कर्तव्यतार्थ काल का कथन करने से भी अग्न्याधान के अनन्तर उक्त याग की निःशङ्क कर्तव्यता सिद्ध होती है।

इष्टिरयक्ष्यमाणस्य तादर्थ्ये सोमपूर्वत्वम् ॥९॥

अग्न्याधान के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग न करनेवाले के लिए दर्शपूर्णमास याग अवश्य कर्तव्य है, और ज्योतिष्टोम याग के निमित्त से अग्न्याधान करने पर ज्योतिष्टोम याग अवश्य कर्तव्य है।

उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य सोमः स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—ब्राह्मण का ज्योतिष्टोम याग दर्शपूर्णमास याग से पूर्व होना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग के अनन्तर उक्त याग की कर्तव्यता का विधान पाया जाता है।

पौर्णमासी वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

सि०—ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् केवल पौर्णमास याग कर्तव्य है, क्योंकि उक्त अर्थवाद वाक्य में केवल 'पौर्णमास' शब्द का सम्बन्ध पाया जाता है।

सर्वस्य चैककर्मत्वात् ॥१२॥

आक्षेप—उक्त वाक्य में पौर्णमास शब्द से दर्श तथा पौर्णमास दोनों का ग्रहण है, क्योंकि वे दोनों मिलकर एक कार्य हैं।

स्याद्वा विधिस्तदर्थेन ॥१३॥

समा०—उक्त अर्थवाद वाक्य 'पौर्णमास' शब्द से दर्शपौर्णमास याग का विधायक नहीं, अपितु ज्योतिष्टोम याग के अङ्ग किसी अपूर्व कर्म का विधायक है।

प्रकरणात्तु कालः स्यात् ॥१४॥

उक्त अर्थवाद वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् दर्शपौर्णमास याग के अनुष्ठानार्थ आनन्तर्यरूप काल का विधान मानना ठीक नहीं है, क्योंकि वह दर्शपौर्णमास के प्रकरण में पठित है।

स्वकाले स्यादविप्रतिषेधात् ॥१५॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग अपने काल में होना चाहिए, क्योंकि प्रधान होने के कारण उसके काल का बाध नहीं हो सकता।

अपनयो वाऽऽधानस्य सर्वकालत्वात् ॥१६॥

सि०—उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग के काल का बाध कथन किया है, अग्न्याधान के काल का नहीं, क्योंकि अग्न्याधान के काल का बाध तो सर्वथा प्राप्त है।

पौर्णमास्यूर्ध्वं सोमाद्ब्राह्मणस्य वचनात् ॥१७॥

ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् पौर्णमास याग का नियम से अनुष्ठान होना चाहिए, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

एकं वा शब्दसामर्थ्यात्प्राक् कृत्स्नविधानम् ॥१८॥

'पौर्णमास' संज्ञक केवल एक 'अग्नीषोमीय' याग से पूर्व ब्राह्मणकर्तृक ज्योतिष्टोम याग कर्तव्य है, पौर्णमास-संज्ञक याग-मात्र से नहीं, क्योंकि शब्द-सामर्थ्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः ज्योतिष्टोम से पूर्व 'अग्नीषोमीय' को छोड़कर और सब दर्शपौर्णमास-संज्ञक याग कर्तव्य हैं।

पुरोडाशस्त्वनिर्देशे तद्युक्ते देवताभावात् ॥१९॥

'अग्नीषोमीय' पदयुक्त वाक्य में यागभेद का कथन न होने से पुरोडाश याग का ग्रहण ही उचित है, क्योंकि उसमें देवता का सम्बन्ध विद्यमान है।

आज्यमपीति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—उक्त याग में अग्नीषोमीय याग से आज्य याग का ग्रहण है, यदि ऐसा कहो तो—

न मिश्रदेवतात्वादैन्द्राग्नवत् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे ऐन्द्राग्न याग मिश्रदेवताक है, वैसे ही आज्य याग भी मिश्रदेवताक है।

विकृतेः प्रकृतिकालत्वात्सद्यस्कालोत्तरा विकृतिस्तयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥२२॥

प्रकृति याग के अनन्तर होनेवाले ऐन्द्राग्न आदि विकृति याग एकाहः साध्य होने चाहिएँ, क्योंकि विकृति यागों के प्रकृति-काल का नियम है और प्राकृत द्वयाहः तथा एकाहः दोनों कालों के मध्य प्रत्यक्षोपदिष्ट होने से एकाहः काल प्रबल है।

द्वैयहकाल्ये तु यथान्यायम् ॥२३॥

आक्षेप—उक्त विकृति यागों का द्वयहः साध्य होने से '**प्रकृतिवदविकृतिः कर्त्तव्यः**' इस न्याय का अतिक्रमण नहीं होता।

वचनाद्वैककाल्यं स्यात् ॥२४॥

समा०—उक्त विकृति याग एकाहः साध्य हैं, क्योंकि वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

सान्नाय्याग्नीषोमीयविकारादूर्ध्वं सोमात्प्रकृतिवत् ॥२५॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय दोनों याग ज्योतिष्टोम के पश्चात् होते हैं, वैसे ही उक्त दोनों यागों के विकृति याग भी पीछे होने चाहिएँ।

तथा सोमविकारा दर्शपूर्णमासाभ्याम् ॥२६॥

जैसे सांनाय्य तथा अग्नीषोमीय याग के विकृति यागों का अनुष्ठान ज्योतिष्टोम याग के पश्चात् होता है, वैसे ही ज्योतिष्टोम याग के विकृति यागों का अनुष्ठान दर्श-पौर्णमास याग के पीछे होना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥१॥

पूर्व०—द्रव्यों का कर्मविषयक संयोग में गौण सम्बन्ध है।

असाधकं तु तादर्थ्यात् ॥२॥

सि०—स्वर्ग के लिए होने से याग कर्म की सिद्धि का साधक नहीं।

प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगात् कर्मतो ह्यभिसम्बन्धः तस्मात्कर्मोपदेशः स्यात् ॥३॥

तथा, स्वर्ग-संज्ञक अर्थ के लिए यज्ञरूप कर्म का कारणत्वेन सम्बन्ध पाये जाने से कर्म द्वारा ही स्वर्ग और यागरूप कर्म का जन्य-जनकरूप सम्बन्ध है, अतः कर्म का कथन गौण है।

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात् ॥४॥

पूर्व०—यज्ञकर्म श्रेष्ठ फल के लिए होने से उसका अधिकार स्त्री-पुरुष सबके लिए है।

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद्विधिः कार्त्स्न्येन गम्यते ॥५॥

सि०—वैदिक कर्मों के अधिकार-सम्बन्धी श्रुतियों में स्त्रियों के यज्ञ करने के अधिकार का निषेध नहीं है।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः ॥६॥

पूर्व०—"श्रुतिवाक्य में पुल्लिङ्ग का कथन पाये जाने से स्त्रियों को यज्ञ करने का अधिकार नहीं है"—यह एतिशायन ऋषि का मत है।

तदुक्तित्वाच्च दोषश्रुतिरविज्ञाते ॥७॥

अज्ञात भ्रूण (गर्भ, यज्ञ) के हनन-सम्बन्धी श्रुति से भी यज्ञ का अधिकारी पुरुष ही है।

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याऽविशिष्टत्वात् ॥८॥

सि०—आचार्य बादरायण का मत है कि श्रुतिवाक्य में पुल्लिङ्ग-निर्देश जाति का बोधक है, क्योंकि उसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती, अतः जाति-अर्थ के तुल्य होने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।

चोदितत्वाद्यथाश्रुति ॥९॥

वेद-प्रतिपाद्य होने से श्रुत्यनुसार स्त्री और पुरुष दोनों को यज्ञ का अधिकार है।

द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसां स्याद् द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्यामद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात् ॥१०॥

पूर्व०—यज्ञ द्रव्यसाध्य है और द्रव्य पुरुषों के अधिकार में रहता है तथा स्त्रियाँ क्रय और विक्रय की जाती हैं, अतः द्रव्यरहित होती हैं, ऐसी अवस्था में वे यज्ञ की अधिकारिणी नहीं हो सकतीं।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥११॥

तथा, उक्त क्रय और विक्रय की सिद्धि में उदाहरण पाया जाता है।

तादर्थ्यात्कर्मतादर्थ्यम् ॥१२॥

और, यदि स्त्रियाँ स्वयं परिश्रम करके धनोपार्जन करके यज्ञ करें तो भी सम्भव नहीं, क्योंकि उनपर पति का अधिकार होता है, अतः उनका कमाया धन भी उसी का हो जाता है।

फलोत्साहाऽविशेषात् ॥१३॥

सि०—धर्मरूपी फल और वैदिक कर्मों के करने का उत्साह मनुष्य की भाँति स्त्रियों में भी पाया जाता है, अतः यज्ञादि कर्मों में स्त्रियों का भी अधिकार है।

अर्थेन च समवेतत्वात् ॥१४॥

विवाह में पति-पत्नी दोनों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस फल-चतुष्टय के संचय का उपदेश दिया जाता है, अतः फलः का सम्बन्ध पाये जाने से स्त्रियों को भी यज्ञ का अधिकार है।

क्रयस्य धर्ममात्रत्वम् ॥१५॥

स्त्री के विक्रय की वात भी ठीक नहीं, वह धर्मक्रिया है, जो विधि-अनुसार की जाती है।

स्ववत्तामपि दर्शयति ॥१६॥

शास्त्र में दम्पती का एक ही धर्म वताया गया है, अतः स्त्रियाँ पति की सम्पत्ति में से यज्ञादि कार्य कर सकती हैं।

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् ॥१७॥

स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही धर्म के बोधक वाक्य पाये जाने से एक-समान कर्म करने का विधान है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१८॥

तथा, वैदिक वाक्यों में एकसाथ कर्म करने का लिङ्ग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

क्रीतत्वात्तु भक्त्या स्वामित्वमुच्यते ॥१९॥

आक्षेप—जब स्त्री का मूल्य लेकर उसे वेच दिया जाता है, तब वह धन की स्वामिनी नहीं हो सकती।

फलार्थित्वात्तु स्वामित्वेनाऽभिसम्बन्धः ॥२०॥

समा०—स्त्री धर्मरूपी फल को चाहती है, अतः उसका स्वामीपन के साथ सम्बन्ध है।

फलवत्तां च दर्शयति ।।२१।।

शास्त्र में भी स्त्री-पुरुष को मिलकर यज्ञ करने तथा उसके द्वारा फल-चतुष्टय को प्राप्त करने का कथन है।

द्व्याधानं च द्वियज्ञवत् ।।२२।।

पूर्व०—जहाँ विधान में दो पुरुषों के अग्न्याधान करने का उल्लेख है, वहाँ उसका तात्पर्य राजा और उसके पुरोहित के मिलकर यज्ञ करने का है।

गुणस्य तु विधानत्वात्पत्न्या द्वितीयाशब्दः स्यात् ।।२३।।

सि०—गुण का विधान करने से द्विवचन से अग्न्याधान के उल्लेख में दूसरे का आशय पत्नी ही है।

तथा यावदुक्तमाशीर्ब्रह्मचर्यमतुल्यत्वात् ।।२४।।

आशीर्वाद और ब्रह्मचर्य=वेदाध्ययन में पुरुष के समान योग्यता न रखने पर भी स्त्री के अग्न्याधान का विधान शास्त्रविहित है।

चातुर्वर्ण्यमविशेषात् ।।२५।।

पूर्व०—चारों वर्णों को वैदिक कर्मों में अधिकार है, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों में कोई विशेषता नहीं है।

निर्देशाद्वा त्रयाणां स्यादग्न्याधेये ह्यसम्बन्धः क्रतुषु ब्राह्मणश्रुतिरित्यात्रेयः ।।२६।।

सि०—"ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य—इन तीनों वर्णों को यज्ञ और अग्न्याधान का अधिकार है, शूद्र का उक्त कर्मों में कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि ब्राह्मण आदि वर्णों का अधिकार बोधन करनेवाली श्रुति ऐसा ही कहती है"—यह आत्रेय ऋषि का मत है।

निमित्तार्थे च बादरिस्तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात् ।।२७।।

आक्षेप—नैमित्तिक सामर्थ्य से अधिकार उत्पन्न होता है, अतः वैदिक कर्मों में सबका अधिकार है, ऐसा बादरि ऋषि का मत है।

अपि वाऽन्यार्थदर्शनाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ।।२८।।

'यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः' आदि शास्त्रवचनों के पाये जाने से भी यज्ञादि कर्मों में चारों वर्णों का अधिकार प्रतीत होता है।

निर्देशात्तु पक्षे स्यात् ।।२९।।

सि०—पूर्वोक्त निर्देश पाये जाने से ब्राह्मण आदि पक्ष में ही वैदिक कर्मों का सद्भाव पाया जाता है।

वैगुण्यान्नेति चेत् ।।३०।।

आक्षेप—उपनयन-विधि में शूद्र के लिए व्रत न पाये जाने से उसे ब्रह्मविद्या का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

न काम्यत्वात् ।।३१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि शूद्रों में भी कामना पाई जाने से उनका यज्ञादि में अधिकार सिद्ध होता है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥३२॥

सि०—संस्कार-विषय में विशेषता का कारण ब्राह्मण आदि वर्णों की प्रधानता है।

अपि वा वेदनिर्देशादपशूद्राणां प्रतीयेत ॥३३॥

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' वेद के इस कथन द्वारा शूद्र से रहित तीन वर्णों का ही यज्ञादि में अधिकार उपलब्ध होता है।

गुणार्थित्वान्नेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—अध्ययनरूपी गुण का अर्थी होने से शूद्र के लिए यज्ञादि का निषेध नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

संस्कारस्य तदर्थत्वाद्विद्यायां पुरुषश्रुतिः ॥३५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उपनयनादि संस्कार विद्या के लिए होने से विद्या-विषयक पुरुष के अधिकार का कथन है, अतः शूद्र भी वैदिककर्म करने का अधिकारी है।

विद्यानिर्देशान्नेति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—विद्या का कथन केवल तीन वर्णों में पाये जाने से शूद्र को वैदिक कर्मों का अधिकार नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अवैद्यत्वादभावः कर्मणि स्यात् ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। शूद्र में विद्या की सामर्थ्य न होने से उपनयन-कर्म का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि वह विद्वान् बन जाए तो उसका भी अधिकार है।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥३८॥

इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

त्रयाणां द्रव्यसम्पन्नः कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥३९॥

पूर्व०—तीनों वर्णों में धनाढ्य को ही अग्न्याधान का अधिकार है, क्योंकि यज्ञादि कर्मों की सिद्धि द्रव्यरूप साधन से ही होती है।

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यादर्थाद्धि द्रव्यसंयोगः ॥४०॥

सि०—निर्धनता की अवस्था अनित्य है। निर्धन भी अवसर पाकर धनवान् बन सकता है, अतः अधिकार सबको है।

अङ्गहीनश्च तद्धर्मा ॥४१॥

अङ्गहीन पुरुष को भी यज्ञादि वैदिक कर्म करने का अधिकार है।

उत्पत्तौ नित्यसंयोगात् ॥४२॥

धर्म का सम्बन्ध जीवात्मा से है, जो अङ्गहीन में भी पाया जाता है, अतः अङ्गहीन को भी अधिकार है।

अत्र्यार्षेयस्य हानं स्यात् ॥४३॥

जिसके तीन ऋषि (माता, पिता और आचार्य) न हों ऐसा ऋत्विक् यज्ञ कराने का अधिकारी नहीं है।

वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ।।४४।।

आक्षेप—रथकार के लिए अग्न्याधान करने का अधिकार ब्राह्मण-ग्रन्थों में पाया जाता है, क्योंकि वह तीन वर्णों का अङ्ग है।

न्यायो वा कर्मसंयोगाच्छूद्रस्य प्रतिषिद्धत्वात् ।।४५।।

समा०—उक्त कथन ठीक है, क्योंकि रथकार का कर्म के साथ संयोग पाया जाता है। शास्त्रों में रथकार को शूद्र नहीं कहा गया, और उसे अधिकारी माना गया है।

अकर्मत्वात्तु नैवं स्यात् ।।४६।।

शूद्र अकर्मा है, अतः उसे अग्न्याधान का अधिकार नहीं है।

आनर्थक्यं च संयोगात् ।।४७।।

उसे अग्न्याधान का अधिकार देने से अनर्थ हो सकता है।

गुणार्थमिति चेत् ।।४८।।

आक्षेप—विद्यारूपी गुण के कारण शूद्र को भी अग्न्याधान आदि संस्कारों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

उक्तमनिमित्तत्वम् ।।४९।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जन्म से जाति मानने में कोई निमित्त नहीं—यह सिद्धान्त पहले ही प्रतिपादित कर दिया गया है।

सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात् प्रतीयेरन् ।।५०।।

सुन्दर धनुषोंवाले क्षत्रिय लोग वेद और ब्राह्मणों से न्यून प्रतीत होते हैं।

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात् ।।५१।।

तक्षक=नौका चलानेवालों का यज्ञ में अधिकार है। तक्षक का अर्थ मल्लाह है, यह बात शब्द-सामर्थ्य से सिद्ध होती है।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।५२।।

तथा, प्रमाणों के पाये जाने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

पुरुषार्थैकसिद्धित्वात्तस्य तस्याधिकारः स्यात् ।।१।।

मनुष्य-जन्म का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप फलचतुष्टय की सिद्धि है, अतः प्रत्येक वर्णवाले को अपने अधिकार के अनुसार प्रयत्न करना चाहिए।

अपि वोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात् सर्वदर्शनं तथाभावोऽविभागे स्यात् ।।२।।

जन्मकाल के संयोग से अन्तःकरण की बनावट जैसी हो जाती है, उसी के अनुसार वर्णभेद भी हो जाता है।

प्रयोगे पुरुषश्रुतेर्यथाकामी प्रयोगे स्यात् ।।३।।

पूर्व०—वेद में पुरुष को कर्त्ता माना गया है, अतः प्रत्येक व्यक्ति कर्म करने में स्वतन्त्र है।

प्रत्यर्थं श्रुतिभाव इति चेत् ।।४।।

वेद में मनुष्य को प्रत्येक कार्य में स्वतन्त्र कहा गया है, परन्तु लोक में वह अनेक कार्यों में परतन्त्र दिखाई देता है, यदि ऐसा कहो तो—

तादर्थ्ये न गुणार्थताऽनुक्तेऽर्थान्तरत्वात्कर्तुः प्रधानभूतत्वात् ।।५।।

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्तारूप से मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है, इसीलिए उसकी स्वतन्त्रता अपूर्व जान पड़ती है।

अपि वा कामसंयोगे सम्बन्धात् प्रयोगायोपदिश्येत प्रत्यर्थं हि विधिश्रुतिर्विषाणवत् ।।६।।

सि०—जैसे अङ्गों के खुजाने में सींगविशेष या अन्य साधन गौण हैं, उसी प्रकार जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु फल भोगने में परतन्त्र है।

अन्यस्यापीति चेत् ।।७।।

आक्षेप—एक पुरुष के किये हुए कर्मों का फल दूसरे व्यक्ति को प्राप्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः ।।८।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। अन्य पुरुष के किये कर्मों का फल अन्य को प्राप्त नहीं होता।

फलकामो निमित्तमिति चेत् ।।९।।

आक्षेप—किसी अन्य के लिए फल की कामना कर लेना ही अन्य के लिए फल का निमित्त हो सकता है, यदि ऐसा माना जाए तो—

न नित्यत्वात् ।।१०।।

समा०—कर्म के सम्बन्ध में परमात्मा का नियम अटल है, अत: उक्त कथन ठीक नहीं।

कर्म तथेति चेत् ।।११।।

आक्षेप—दूसरे के किये कर्मों का फल दूसरों को प्राप्त होता है, ऐसे कर्म पाये जाते हैं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न समवायात् ।।१२।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जीव का अपने कर्मों के साथ ही सम्बन्ध पाया जाता है।

प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रिया निमित्तत्वात् ।।१३।।

प्रारब्ध कर्म अपने भोगरूप फल को उत्पन्न करके नियम कर देते हैं कि अन्य का भोग न हो, और जो वर्तमान काल के कर्म हैं, उनके आरम्भ में जीव का कर्तव्यरूप कर्म निमित्त है।

फलार्थित्वाद्वाऽनियमो यथानुपक्रान्ते ।।१४।।

आक्षेप—प्रारब्ध कर्मों का भोक्ता भोगरूप कर्मों का अर्थी होने से, जैसे आरम्भ-रहित पुरुष का कोई कर्तव्य नहीं होता, उसी प्रकार उस भोक्ता का उस भोग से भिन्न कोई कर्तव्य नहीं होता, अत: क्रियमाण कर्मों की स्वतन्त्रता का नियम नहीं।

नियमो वा तन्निमित्तत्वात्कर्तुस्तत्कारणं स्यात् ॥१५॥

समा०—इस बात की व्यवस्था है कि जीव कर्तव्य-कर्मों को अपनी स्वतन्त्रता से करता है, क्योंकि वे क्रियमाण कर्म प्रारब्ध कर्मों के भोग में निमित्त-मात्र हैं, और कर्त्ता के भोग के वे कर्म कारण हैं।

लोके कर्मणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम् ॥१६॥

पूर्व०—लोक में जो कर्म किये जाते हैं, वे विधि-निषेधरूप होने से वेद के तुल्य हैं, उन्हीं कर्मों से परमात्मा-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान हो जाएगा, अतः वेदों के मानने का कोई प्रयोजन नहीं।

अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम् ॥१७॥

तथा, नियम-भङ्गरूप अपराध के होने पर लौकिक जनों द्वारा जैसे शासन करने-वाला शास्त्र बनाया जाता है, उसी प्रकार पुरुष की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए लौकिक शास्त्र ही पर्याप्त है, वेद की कोई आवश्यकता नहीं।

अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रं स्यान्न प्रकल्पकं तस्मादर्थेन गम्येताप्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत् ॥१८॥

सि०—ईश्वर के ज्ञान की प्राप्ति वेद के विना ही हो जानी चाहिए, परन्तु होती नहीं, अतः वेदरूपी शास्त्र का मानना उचित है। इन्द्रियों से अगोचर विषयों का ज्ञान वेदरूपी शास्त्र से ही हो सकता है, केवल तर्क से नहीं।

देवताश्रये च ॥१९॥

शास्त्र का ज्ञान देवता (ईश्वर) का आश्रय लेने से ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

प्रतिषेधेष्वकर्मत्वात्क्रिया स्यात् प्रतिषिद्धानां विभक्तत्वादकर्मणाम् ॥२०॥

निषेध के विषयभूत पदार्थों में कर्तव्याभावरूप क्रिया पाई जाती है, क्योंकि प्रतिषिद्ध अकर्तव्य कर्म निन्दित होते हैं।

शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन पुरुषार्थो विधीयते, तयोरसमवायित्वातादर्थ्यं विध्यतिक्रमः ॥२१॥

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इस फलचतुष्टय का वर्णन करने से ही शास्त्र की सफलता है। जो शास्त्र इस प्रकार का उपदेश न करे वह निरर्थक हो जाता है।

तस्मिंस्तु शिष्यमाणानि जननेन प्रवर्तेरन् ॥२२॥

पूर्व०—मनुष्य को जन्म से ही शास्त्र में विहित कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए।

अपि वा वेदतुल्यत्वादुपायेन प्रवर्तेरन् ॥२३॥

सि०—उपनयन-संस्कार के पश्चात् उनका पालन कर्तव्य है, क्योंकि स्मृति में कथित कर्तव्य [अभिवादन आदि] वेद के समान ही हैं।

अभ्यासोऽकर्मशेषत्वात् पुरुषार्थो विधीयते ॥२४॥

पूर्व०—अग्निहोत्रादि कर्मों का निरन्तर अभ्यास करे, क्योंकि वह किसी कर्म-विशेष का अङ्ग न होने से पुरुष के लिए विधान किये गये हैं।

एतस्मिन्नसम्भवन्नर्थात् ।।२५।।

सि०—यज्ञ-कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है, परन्तु रात-दिन अग्निहोत्र करते रहना असम्भव है।

न कालेभ्य उपदिश्यन्ते ।।२६।।

उक्त कर्मों का अनुष्ठान निरन्तर नहीं हो सकता, अतः उन्हें किसी नियत काल में ही करना चाहिए।

दर्शनात् काललिङ्गानां कालविधानम् ।।२७।।

कालबोधक प्रमाणों के पाये जाने से भी नियत समय का विधान पाया जाता है।

तेषामौत्पत्तिकत्वादागमेन प्रवर्तेत ।।२८।।

दर्शपौर्णमास आदि कर्मों की अमावास्यादि पर्वों में उत्पत्ति पाये पाने से तद्बोधक शास्त्र द्वारा मनुष्य उन्हीं अवसरों पर उनमें प्रवृत्त हो।

तथा हि लिङ्गदर्शनम् ।।२९।।

इसी प्रकार प्रातः एवं सायंकाल यज्ञ करने का नियम पाया जाता है।

तथान्तःक्रतु युक्तानि ।।३०।।

जिस प्रकार दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों का काल नियत है, उसी प्रकार अन्य विकृति यागों का काल भी नियत है।

आचाराद्गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात् ।।३१।।

जैसे दर्शपौर्णमास आदि याग करना नैमित्तिक नियम हैं, उसी प्रकार आचार-स्वरूप ब्रह्मचर्य आदि भी नैमित्तिक हैं।

ब्राह्मणस्य तु सोमविद्याप्रजमृणवाक्येन संयोगात् ।।३२।।

यज्ञ, ब्रह्मचर्य और सन्तानोत्पत्ति—ब्राह्मण के ये तीनों कर्म तीन ऋणों के चुकाने के उद्देश्य से माने गये हैं, अतः ये नित्यव्रत हैं, नैमित्तिक नहीं।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

तृतीयः पादः

सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ।। १।।

पूर्व०—सर्वशक्तियों के स्रोत परमात्मा की ओर प्रवृत्त होना प्राणियों का धर्म है, क्योंकि ऐसा ही उपदेश पाया जाता है।

अपि वाऽप्येकदेशे स्यात्प्रधाने ह्यर्थनिवृत्तिर्गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ।। २ ।।

सि०—यज्ञादि का अनुष्ठान भी परमात्मा की ओर प्रवृत्ति के लिए ही किया जाता है, परन्तु ये साधन जड़ और एकदेशीय हैं। उपासना मुख्य है। परमात्मा में प्रवृत्ति होने से मनुष्य सबसे बड़े लाभ का भागीदार बनता है।

तदकर्मणि च दोषस्तस्मात्ततो विशेषः स्यात् प्रधानेनाऽभिसम्बन्धात् ॥३॥

परमात्मा की ओर से उदासीन रहना दोष है, उस दोष से बचने के लिए परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना चाहिए।

कर्माऽभेदं तु जैमिनिः प्रयोगवचनैकत्वात् सर्वेषामुपदेशः स्यात् ॥४॥

आक्षेप—आचार्य जैमिनि का मत है कि प्रयोग में एकवचन पाये जाने से सब शाखाओं में कर्म का अभेद है, और सब अङ्गों का कथन है।

अर्थस्य व्यपवर्गित्वादेकस्यापि पयोगे स्याद्यथा क्रत्वन्तरेषु ॥५॥

समा०—एक प्रकार के अनुष्ठान करने में समानता पाये जाने से सब शाखाओं की विधियाँ एक-सी पाई जाती हैं, जैसी अन्य यज्ञों में पाई जाती हैं।

विध्यपराधे च दर्शनात्समाप्तेः ॥६॥

और, एक-जैसा पाये जाने से उक्त कर्मों की पूर्ति में विधान और दोष एक-जैसे पाये जाने से कर्मों में अभेद है।

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥७॥

तथा, प्रायश्चित्त के विधान में भी एकता पाये जाने से कर्मों में अभेद है।

काम्येषु चैवमर्थित्वात् ॥८॥

पूर्व०—काम्य कर्मों में भी सब शाखाओं में अर्थी (इच्छुक) एक-जैसा पाया जाने से इसी प्रकार अभेद है।

असंयोगात्तु नैवं स्याद्विधेः शब्दप्रमाणत्वात् ॥९॥

सि०—विधिरूप शब्दप्रमाण के पाये जाने से ऐसा नहीं हो सकता, और अङ्गहीन होने से भी ठीक नहीं।

अकर्मणि चाप्रत्यवायात् ॥१०॥

तथा, काम्य कर्मों के न करने पर प्रत्यवायरूप दोष नहीं होता, अतः काम्य और नित्य कर्मों में भेद है।

क्रियाणामाश्रितत्वाद् द्रव्यान्तरे विभागः स्यात् ॥११॥

पूर्व०—हवनरूप क्रिया के सर्वत्र समान पाये जाने से भिन्न-भिन्न द्रव्यों में भेद होता है, क्रिया में नहीं।

अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च गोत्ववदैककर्म्यं स्यान्नामधेयं च सत्त्ववत् ॥१२॥

सि०—द्रव्य के भेद होने पर भी कर्म का भेद न पाये जाने से तथा शब्द और रूप का विभाग न होने से गौ में गोत्व धर्म के समान कर्मों में एकत्व पाया जाता है और अन्य गौ व्यक्तियों के समान नाममात्र का भेद है।

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छिष्टाभावेऽनागमोऽन्यस्याऽशिष्टत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—श्रुति में जिस द्रव्य के हवन का उल्लेख है, उस द्रव्य के स्थान पर अन्य द्रव्य का प्रतिनिधिरूप से प्रयोग करने का कोई शास्त्रीय विधान नहीं है।

क्वचिद्विधानाच्च ॥१४॥

तथा, किसी एक स्थल में विधान पाये जाने से किसी द्रव्य के स्थान में अन्य द्रव्य प्रतिनिधि नहीं हो सकता। इसे अपवाद माना जा सकता है, विधि नहीं।

आगमो वा चोदनार्थाविशेषात् ॥१५॥

सि०—'चावल के स्थान पर सावाँ ले'—प्रतिनिधि द्रव्य में इस प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण पाये जाने से द्रव्य का प्रतिनिधि होना सिद्ध है।

नियमार्थः क्वचिद्विधिः ॥१६॥

किसी स्थल में विधान नियम-विधि के अभिप्राय से होता है, अतः द्रव्य का प्रतिनिधि होता है।

तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि ॥१७॥

यज्ञ में सोम द्रव्य अथवा उसका प्रतिनिधि होना आवश्यक है, इन दोनों में से किसी के न होने पर यज्ञ की पूर्ति नहीं हो सकती।

न देवताग्निशब्दक्रियमन्यार्थसंयोगात् ॥१८॥

ईश्वर, अग्नि, मन्त्र और प्रयाज आदि कर्म—इन चारों का प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि प्रतिनिधि से उद्देश्य का त्याग हो जाता है।

देवतायां च तदर्थत्वात् ॥१९॥

तथा, देवता के विषय में प्रतिनिधि नहीं होता, क्योंकि देवता यज्ञ का मुख्य विषय है।

प्रतिषिद्धं चाविशेषेण हि तत् श्रुतिः ॥२०॥

और, यज्ञ में मांस आदि पदार्थों का पूर्णरूपेण निषेध है, क्योंकि वेद में ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तथा स्वामिनः फलसमवायात् फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२१॥

स्वामी का फल के साथ सम्बन्ध पाये जाने से और फल का कर्म के साथ सम्बन्ध होने से स्वामी के स्थान में प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

बहूनां तु प्रवृत्तावन्यमागमयेदवैगुण्यात् ॥२२॥

बहुत-से यजमानों के यज्ञ में प्रवृत्त होने पर उनमें से किसी एक के मर जाने पर किसी अन्य को यज्ञ के अङ्गों की पूर्ति के लिए ले आये।

स स्वामी स्यात्संयोगात् ॥२३॥

पूर्व०—मृत स्वामी के साथ संयोग होने से वह प्रतिनिधि स्वामी होता है।

कर्मकरो वा क्रीतत्वात् ॥२४॥

सि०—भृत्य होने के कारण उक्त प्रतिनिधि कर्म का करनेवाला स्वामी नहीं हो सकता।

तस्मिश्च फलदर्शनात् ॥२५॥

तथा, मुख्य स्वामी में फल का अधिकार पाये जाने से भी भृत्य प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स तद्धर्मा स्यात्तत्कर्मसंयोगात् ॥२६॥

उस भृत्य का कर्म के साथ संयोग पाये जाने से वह यजमान का स्थानापन्न पुरुष यजमान के धर्मवाला होता है।

सामान्यं तच्चिकीर्षा हि ।।२७।।

व्रीहि—चावल के अभाव में उससे मिलता-जुलता नीवार ही लेना चाहिए, क्योंकि उसके सदृश की ही इच्छा है।

निर्देशात्तु विकल्पे यत्प्रवृत्तम् ।।२८।।

विकल्प विषय में जो प्रथम यूप था वही लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा ही निर्देश पाया जाता है।

अशब्दमिति चेत् ।।२९।।

आक्षेप—इस विषय में कोई प्रमाण नहीं, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नाऽनङ्गत्वात् ।।३०।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह अङ्ग नहीं है।

वचनाच्चाऽन्याय्यमभावे तत्सामान्येन प्रतिनिधिरभावादितरस्य ।।३१।।

सोम स्थानीय 'पूतिका' द्रव्य के न मिलने पर उसके स्थान पर अन्य द्रव्य को प्रतिनिधि नहीं बनाया जा सकता।

न प्रतिनिधौ समत्वात् ।।३२।।

दोनों में समानता होने से प्रतिनिधि का प्रतिनिधि नहीं हो सकता।

स्यात् श्रुतिलक्षणे नित्यत्वात् ।।३३।।

पूर्व०—प्रतिनिधि का भी प्रतिनिधि हो सकता है, क्योंकि प्रतिनिधि-विधायक वाक्यों में ऐसा नियम पाया जाता है।

न तदीप्सा हि ।।३४।।

सि०—उपर्युक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृत सोम द्रव्य की ही इच्छा पाई जाती है, पूतिका आदि की नहीं।

मुख्याधिगमे मुख्यमागमो हि तदभावात् ।।३५।।

मुख्य द्रव्य के न मिलने पर निश्चय ही प्रतिनिधि द्रव्य लेना चाहिए और मुख्य के मिलने पर मुख्य का ही विधान है।

प्रवृत्तेऽपीति चेत् ।।३६।।

पूर्व०—यज्ञ-सम्बन्धी पुरोडाशों के सिद्ध होने पर भी यदि मुख्य द्रव्य का लाभ हो जाए तो मुख्य द्रव्य ही लेना चाहिए।

नानर्थकत्वात् ।।३७।।

सि०—निरर्थक होने से मुख्य द्रव्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए।

द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं तदर्थत्वात् ।।३८।।

मुख्य-द्रव्य और संस्कृत-द्रव्य के विरोध होने पर मुख्य-द्रव्य का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि मुख्य-द्रव्य यज्ञ का अङ्ग है।

अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो द्रव्याभावे तदुत्पत्तेर्द्रव्याणामर्थशेषत्वात् ।।३९।।

अर्थ और द्रव्य का विरोध होने पर प्रयोजन की सिद्धि लक्ष्य में रखनी चाहिए। मुख्य द्रव्य के न होने पर भी प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि द्रव्य प्रयोजन का अङ्ग है।

विधिरप्येकदेशे स्यात् ॥४०॥

पूर्व०—मुख्य द्रव्य होने पर भी विहित द्रव्य ही लेना चाहिए, प्रतिनिधि नहीं।

अपि वाऽर्थस्य शक्यत्वादेकदेशेन निवर्तेतार्थानामविभक्तत्वाद् गुणमात्रमितरत्तदर्थत्वात् ॥४१॥

सि०—मुख्य द्रव्य के एकदेशमात्र से भी अर्थ का अनुष्ठान होना योग्य है, क्योंकि हवन-सम्बन्धी शेष अर्थ अन्य द्रव्य से सिद्ध हो सकेंगे, क्योंकि उन शेष अर्थों का यज्ञ से विभाग नहीं है, अन्य प्रयोजन गौण हैं, यज्ञ का अर्थ होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

शेषाद् द्व्यवदाननाशे स्यात्तदर्थत्वात् ॥१॥

पूर्व०—हवन के लिए रखा हुआ पुरोडाश समाप्त हो जाए तो यज्ञशेष के लिए रखे हुए पुरोडाश से हवन करना चाहिए, क्योंकि वह इसीलिए होता है।

निर्देशाद्वाऽन्यदागमयेत् ॥२॥

सि०—शास्त्र में निर्देश पाये जाने से अन्य भाग पुरोडाश आदि से ले लेना चाहिए।

अपि वा शेषभाजां स्याद्विशिष्टकारणात् ॥३॥

शेष भागों का हवन करना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण पुरोडाश यज्ञ के लिए है।

निर्देशाच्छेषभक्षोऽन्यैः प्रधानवत् ॥४॥

पूर्व०—ऋत्विजों को यज्ञशेष का भक्षण करना चाहिए, क्योंकि प्रधान के समान यज्ञशेष-भक्षण का विधान पाया जाता है।

सर्वैर्वा समवायात्स्यात् ॥५॥

सि०—यज्ञशेष सब लोगों को मिलकर खाना चाहिए, क्योंकि यज्ञ में भाग लेनेवाले सभी उसके अधिकारी हैं।

निर्देशस्य गुणार्थत्वम् ॥६॥

यजमान के साथ ऋत्विजों के भक्षणवाला विधान गौण है, वस्तुतः यज्ञशेष के भक्षण का अधिकार सभी को है।

प्रधाने श्रुतिलक्षणम् ॥७॥

'प्रधान यजमान पुरोडाश भक्षण करे'—यह विधान उपलक्षण-मात्र है।

अश्ववदिति चेत् ॥८॥

आक्षेप—अश्वमेध यज्ञ के समान अश्व का भक्षण प्राप्त होगा, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनाविरोधात् ॥९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। मांस-भक्षण का प्रश्न उठाना ही व्यर्थ है। शास्त्रों में ऐसे पापकर्म का सर्वथा निषेध है। मांस-भक्षण शास्त्रविरुद्ध है।

अर्थसमवायात्प्रायश्चित्तमेकदेशेऽपि ॥१०॥

सि०—कपाल आदि के एक भाग के टूट जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि एक भाग से समस्त वस्तु का सम्बन्ध होता है।

न त्वशेषे वैगुण्यात्तदर्थं हि ॥११॥

आक्षेप—एकदेश के विकारी होने से प्रायश्चित करना ठीक नहीं, सम्पूर्ण में विकार उत्पन्न होने से प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि सम्पूर्ण द्रव्य यज्ञ के लिए ही है।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वादतद्धर्मो नित्यसंयोगान्न हि तस्य गुणार्थत्वेनानित्यत्वात् ॥१२॥

समा०—एक भाग के नष्ट हो जाने से सम्पूर्ण पदार्थ यज्ञ के अयोग्य नहीं हो सकता, क्योंकि एकदेश-विकार का नित्य के साथ सम्बन्ध है। उस अवयवी द्रव्य का गौण-रूप द्वारा अनित्य होने से वह विकार प्रायश्चित्त-योग्य नहीं।

गुणानां च परार्थत्वाद्वचनाद्व्यपाश्रयः स्यात् ॥१३॥

विकार आदि गुण-दोष मुख्य नहीं, पदार्थ मुख्य है। अतः जब तक द्रव्य कार्य के योग्य हो तब तक उसके लिए प्रायश्चित्त का प्रश्न नहीं उठता।

भेदार्थमिति चेत् ॥१४॥

आक्षेप—वह विकार उस द्रव्य के नाशार्थ है, यदि ऐसा कहो तो—

नाशेषभूतत्वात् ॥१५॥

समा०—ठीक नहीं। विकार अङ्गरूप होने से वह द्रव्य प्रायश्चित्त के योग्य नहीं।

अनर्थकश्च सर्वनाशे स्यात् ॥१६॥

सम्पूर्ण नष्ट हो जाने पर वह द्रव्य यज्ञ के अयोग्य होता है।

क्षामे तु सर्वदाहे स्यादेकदेशस्याऽवर्जनीयत्वात् ॥१७॥

पुरोडाश के सर्वदेश=सम्पूर्ण के जल जाने पर प्रायश्चित्त करना चाहिए, क्योंकि एकदेश का दाह तो अवश्यम्भावी है। कहीं-न-कहीं जलने का चिह्न हो ही जाता है।

दर्शनाद्वैकदेशे स्यात् ॥१८॥

आक्षेप—ऐसे उदाहरण पाये जाते हैं कि एक देश के दाह होने पर भी प्रायश्चित्त करना चाहिए।

अन्येन वैतच्छास्त्राद्धि कारणप्राप्तिः ॥१९॥

समा०—'अन्य आज्याहुतियों से हवन करे' इस शास्त्रवचन से सम्पूर्ण के दाह होने पर ही अन्य हवि का ग्रहण पाया जाता है, अतः सर्वदाह में प्रायश्चित्त होता है।

तद्धविः शब्दान्नेति चेत् ॥२०॥

आक्षेप—उस हवि का वाचक शब्द पाये जाने से अन्य हवियों द्वारा हवन करना ठीक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादिज्यागामी हविः शब्दस्तल्लिङ्गसंयोगात् ॥२१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। 'तद्धविः' शब्द यज्ञ-सम्बन्धी कर्म का बोधक है; जले हुए पुरोडाश से उसका आशय नहीं है।

यथाश्रुतीति चेत् ॥२२॥

पूर्व०—प्रातःकाल के हवन में चूक हो जाए तो उसका प्रायश्चित्त श्रुत्यनुसार (पाँच प्याले चावल का दान देकर) कर लेना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न तल्लक्षणत्वादुपपातो हि कारणम् ॥२३॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। हवन में चूक होने से प्रत्ययवाय दोष होता है। चावल दान देने से उसका प्रायश्चित्त नहीं होता।

होमाभिषवभक्षणं च तद्वत् ॥२४॥

पूर्व०—अन्य यज्ञशेष के समान होम और अभिषव का यज्ञ में भक्षण करना चाहिए।

उभाभ्यां वा न हि तयोर्धर्मशास्त्रम् ॥२५॥

सि०—दोनों (आहुति देने और सोम कूटनेवाले) प्रकार के ऋत्विजों से उक्त दोनों द्रव्य भक्षणीय हैं, क्योंकि उनके भक्षण का शास्त्र में कहीं भी निषेध नहीं है।

पुनराधेयमोदनवत् ॥२६॥

पूर्व०—जैसे चावल-भरे पाँच प्याले नियत समय पर न रखे जाएँ तो उन्हें पुनः रखने का विधान है, वैसे ही जो सूर्योदय से पूर्व अग्न्याधान नहीं करता, उसे पुनः अग्न्याधान करना चाहिए।

द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः स्यात् ॥२७॥

सि०—प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करने से द्रव्य की उत्पत्ति=प्राप्ति होती है, अतः प्रातः-सायं दोनों समय यज्ञ करना चाहिए।

पञ्चशरावस्तु द्रव्यश्रुतेः प्रतिनिधिः स्यात् ॥२८॥

पूर्व०—सान्नाय द्रव्य के स्थान में सुने जाने से पञ्चशराव कर्म प्रतिनिधि कहा गया हैं।

चोदना वा द्रव्यदेवताविधिरवाच्ये हि ॥२९॥

सि०—पञ्चशराव कर्म इन्द्रयागोचर परमात्मा के उद्देश्य से दान की विधि है।

स प्रत्यामनेत्स्थानात् ॥३०॥

पूर्व०—वह पञ्चशराव-याग दर्शयाग के स्थान में कथन किये जाने का प्रतिनिधि है।

अङ्गविधिर्वा निमित्तसंयोगात् ॥३१॥

सि०—अमावास्यारूप निमित्त का सम्बन्ध पाये जाने से उक्त याग अङ्गरूप से विधान किया गया है।

विश्वजिदप्रवृत्ते भावः कर्मणि स्यात् ॥३२॥

विश्वजित् याग से कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

निष्क्रयवादाच्च ॥३३॥

विश्वजित् याग का कर्ता किसी से खरीदा नहीं जा सकता, वह स्वतन्त्र होता है अतः इस याग का फल सर्वोपरि होता है।

वत्ससंयोगे व्रतचोदना स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास याग में बछड़ों के दूध पीने के समय व्रत करने की विधि है।

कालो वोत्पन्नसंयोगाद्यथोक्तस्य ॥३५॥

सि०—जब बछड़े दूध के लिए छोड़े जाएँ, उस समय से यजमान को व्रतारम्भ करना चाहिए।

अर्थापरिमाणाच्च ॥३६॥

यहाँ वत्स या बछड़ा शब्द व्यक्ति के लिए नहीं, अपितु काल के लिए आया है।

वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात् तदङ्गं स्यात् ॥३७॥

आक्षेप—'वत्सेनामावास्याम्' वत्स से अमावास्या में व्रत करे—इस कथन से वत्स उस व्रत का अङ्ग प्रतीत होता है।

कालस्तु स्यादचोदनात् ॥३८॥

समा०—वत्स से व्रत के काल का ग्रहण पाया जाता है, क्योंकि उक्त वाक्य में व्रत संयोग की विधि नहीं, किन्तु काल की विधि है।

अनर्थकश्च कर्मसंयोगे ॥३९॥

व्रतरूप कर्म के सम्बन्ध में वत्स की चर्चा निरर्थक है।

अवचनाच्च स्वशब्दस्य ॥४०॥

तथा, वत्स का वाचक जो शब्द है, यह व्रत का वाचक नहीं हो सकता।

कालश्चेत्सन्नयत्पक्षे तल्लिङ्गसंयोगात् ॥४१॥

पूर्व०—यदि वत्स शब्द से काल लिया जाए तो सन्नयत पक्ष में कालबोधक लिङ्ग का सम्बन्ध पाये जाने से सन्नयत काल लेना चाहिए।

कालार्थत्वाद्वोभयोः प्रतीयेत ॥४२॥

सि०—दोनों कालों में काल का अर्थ पाये जाने से प्रतीत होता है कि दोनों कालों का ग्रहण है।

प्रस्तरे शाखाश्रयणवत् ॥४३॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्पादन के समय में शाखा-ग्रहण-काल के समान काल लेना चाहिए।

कालविधिर्वोभयोर्विद्यमानत्वात् ॥४४॥

सि०—व्रत के काल का विधान प्रस्तर और शाखा दोनों के विद्यमान समय से लेना चाहिए।

अतत्संस्कारार्थत्वाच्च ॥४५॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत करने का कोई उपयोग न होने से सन्ध्याकाल में ही व्रत करना चाहिए।

तस्माच्च विप्रयोगे स्यात् ॥४६॥

प्रातःकाल यजमान के व्रत का कोई उपयोग नहीं, क्योंकि प्रातःकाल तो दर्शयाग करना ही है, अतः सन्ध्याकाल से ही व्रत करना उपयुक्त है।

उपवेषश्च पक्षे स्यात् ॥४७॥

तथा, उक्त व्रत की स्थिति सन्ध्याकाल पक्ष में ही होती है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

अभ्युदये कालापराधादिज्याचोदना स्याद्यथा पञ्चशरावे ॥१॥

पूर्व०—अभ्युदय-संज्ञक इष्टि में अमावास्या में दर्श की भ्रान्ति से यज्ञ करने पर पुनः यज्ञ करने की प्रेरणा पाई जाती है, पञ्चशराव नामक यज्ञ की भाँति।

अपनयो वा विद्यमानत्वात् ॥२॥

सि०—ऐसी अवस्था में दूषित द्रव्य का त्याग करके नई सामग्री लानी चाहिए, परन्तु यज्ञ करानेवाले ऋत्विज नये (दूसरे) लाने की आवश्यकता नहीं है।

तद्रूपत्वाच्च शब्दानाम् ॥३॥

तथा, शब्दों का वही रूप होने से ऋत्विजों का त्याग उचित नहीं। सामग्री में ही विकृति आती है, ऋत्विजों में नहीं, अतः उनका त्यागना उचित नहीं।

आतञ्चनाभ्यासस्य च दर्शनात् ॥४॥

और, आतञ्चनरूप अभ्यास भी वैसा ही देखा जाता है, अतः ऋत्विजों के त्याग की आवश्यकता नहीं।

अपूर्वत्वाद्विधानं स्यात् ॥५॥

अपूर्व (जो बात प्रथम न हो) होने से विधि होती है, अन्य के लिए नहीं। सामग्री दूषित होने से अन्य सामग्री का विधान है, ऋत्विजों का नहीं।

पयोदोषात्पञ्चशरावेऽदुष्टं हीतरत् ॥६॥

पञ्चशराव यज्ञ में जब पात्रों में दोष आ जाने से उनमें रखा दूध दूषित हो जाता है, तब उसे त्यागकर नया दूध लेने का विधान है।

सान्नाय्येऽपि तथेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—सान्नाय्य (दधिरूप सामग्री) भी अन्य सामग्री के समान दूषित होती है, यदि ऐसा कहो तो—

न तस्यादुष्टत्वादवशिष्टं हि कारणम् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं है, क्योंकि दही शीघ्र खराब नहीं होता, दूसरे वह हवि के लिए नहीं, उसका प्रयोग अन्य ही है।

लक्षणार्था शृतश्रुतिः ॥९॥

सान्नाय्य चरु हवि के लिए नहीं, अपितु अन्य पदार्थों के संस्कार के काम आता है।

उपांशुयाऽवचनाद्यथा प्रकृति वा ॥१०॥

पूर्व०—उपांशु याग में सामग्री के दूषित होने की बात नहीं कही गई है, अतः उसका प्रयोग सदा यूं ही हो सकता है।

अपनयो वा प्रवृत्या यथेतरेषाम् ॥११॥

सि०—उपांशु याग में भी दूषित सामग्री का त्याग करना चाहिए। यह बात प्रकृति से पाई जाती है, जैसाकि अन्य यज्ञों में पाया जाता है।

निरुप्ते स्यात्तत्संयोगात् ॥१२॥

पूर्व०—सामग्री के दूषित हो जाने से उसका त्याग करना चाहिए, क्योंकि अधिक समय बीतने पर सामग्री में विकार होना सम्भव है।

प्रवृत्ते प्रापणान्निमित्तस्य ॥१३॥

सि०—जब द्रव्य काल के प्रभाव से विकृत हो जाता है, तब उसका बदलना आवश्यक होता है।

लक्षणमात्रमितरत् ॥१४॥

सामग्रीविषयक जो निरुक्त कथन किया गया है, तदनुसार भी दूषित सामग्री का त्याग सिद्ध होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

तथा, ऐसा ही अन्य स्थानों में भी पाया जाता है।

अनिरुप्तेऽभ्युदिते प्राकृतीभ्यो निर्वपेदित्याश्मरथ्यस्तण्डुलभूतेष्वपनयात् ॥१६॥

पूर्व०—आचार्य अश्मरथ का मत है कि अभ्युदय-इष्टि से जिस सामग्री को शुद्ध नहीं किया गया, उसे शुद्ध करना चाहिए, जैसे चावलों को शुद्ध किया जाता है।

व्यूर्ध्वभाग्भ्यस्त्वालेखनस्तत्कारित्वाद्देवतापनयस्य ॥१७॥

सि०—आचार्य आलेखन का मत है कि ऊपर-ऊपर भाग की सामग्री निकालनी चाहिए, क्योंकि देवता का अपनय उसी से होता है।

विनिरुप्ते न मुष्टिनामपनयस्तद्गुणत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—सम्पूर्णरूप से दूषित सामग्री में से मुट्ठी-भर सामग्री निकालना ठीक नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामग्री ही दूषित गुणोंवाली है।

अपाकृतेन हि संयोगस्तत्स्थानीयत्वात् ॥१९॥

सम्पूर्ण सामग्री का त्याग इसलिए कहा गया है कि दूषित सामग्री के साथ सम्बन्ध रखने से शुद्ध सामग्री भी अशुद्ध हो जाती है।

अभावाच्चेतरस्य स्यात् ॥२०॥

सि०—यदि शुद्ध सामग्री का सर्वथा अभाव हो तो दूषित सामग्री को ही शुद्ध कर लेना चाहिए।

सान्नाय्यसंयोगात्सन्नयतः स्यात् ॥२१॥

पूर्व०—सान्नाय्य में दूध और दही के मिलाने में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

औषधसंयोगाद्वोभयोः ॥२२॥

सि०—किसी ओषधिविशेष के मिलाने से सामग्री में विकार उत्पन्न हो गया हो तो उसे भी शुद्ध कर लेना चाहिए।

वैगुण्यान्नेति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—ओषधिविशेष को निकाल देने से वह सामग्री गुणरहित हो जाएगी, यदि ऐसा कहा जाए तो—

नातत्संस्कारत्वात् ॥२४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ओषधिविशेष से सामग्री का संस्कार नहीं होता।

साम्युत्थाने विश्वजित् क्रीते विभागसंयोगात् ॥२५॥

पूर्व०—सत्र के लिए दीक्षित पुरुष यदि यज्ञ समाप्त होने से पूर्व ही उठ जाए तो उसे विश्वजित् याग करना चाहिए, क्योंकि उसने जो सोम-मूल्य लिया है, उसका उपयोग किसी यज्ञ में करना आवश्यक है।

प्रवृत्ते वा प्रापणान्निमित्तस्य ॥२६॥

सि०—सत्र के प्रवृत्त होने पर ही विश्वजित् याग की सम्भावना पाई जाती है।

आदेशार्थेतरा श्रुतिः ॥२७॥

सोम का विभाग करनेवाला कथन आदेश के लिए है।

दीक्षापरिमाणे यथाकाम्यविशेषात् ॥२८॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम के लिए दीक्षित पुरुष उस कार्य में इच्छानुसार चाहे जितना समय लगा ले, क्योंकि शास्त्र में इसके लिए काल का कोई नियम नहीं है।

द्वादशाहस्तु लिङ्गात् स्यात् ॥२९॥

सि०—दीक्षित पुरुष को बारह दिन का नियम पालन करना चाहिए, क्योंकि दीक्षाबोधक लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है।

पौर्णमास्यामनियमोऽविशेषात् ॥३०॥

पूर्व०—'गवामयन' नामक सत्र किसी भी पूर्णिमा को करना चाहिए, क्योंकि इसके लिए किसी विशेष पूर्णिमा का नियम नहीं है।

आनन्तर्यात्तु चैत्री स्यात् ॥३१॥

पूर्णिमा पद से चैत्र की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि वाक्यशेष में चैत्र की पूर्णिमा का स्पष्ट रूप से कथन पाया जाता है।

माघी वैकाष्टकाश्रुतेः ॥३२॥

सि०—उक्त सन्दर्भ में पौर्णमासी पद से माघ की पूर्णिमा का ग्रहण है, क्योंकि माघ से आगे आनेवाली एकाष्टका=अष्टमी का श्रवण पाया जाता है।

अन्या अपीति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्य कृष्णाष्टमियाँ भी एकाष्टका पद की वाच्य हैं, यदि ऐसा कहो तो—

न भक्तित्वादेषा हि लोके ॥३४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि लक्षणा से लोक में इस अष्टमी का ही एकाष्टका पद से व्यवहार होता है।

दीक्षापराधे चानुग्रहात् ॥३५॥

दीक्षा के अपराध के सम्बन्ध में भी माघ की अष्टमी को ही एकाष्टका कहा जाता है।

उत्थाने चानुप्ररोहात् ॥३६॥

तथा, एकाष्टका के आने पर ही वृक्षों में नये अंकुर निकलते हैं।

अस्यां च सर्वलिङ्गानि ॥३७॥

इन लक्षणों के पाये जाने से माघाष्टमी ही 'गवामयन' के लिए प्रशस्त है।

दीक्षाकालस्य शिष्टत्वादतिक्रमे नियतानामनुत्कर्षः प्राप्तकालत्वात् ॥३८॥

पूर्व०—यज्ञ के लिए दीक्षित होने पर पुरुष को अपने नियत कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि उक्त कर्मों का काल प्राप्त है।

उत्कर्षो वा दीक्षितत्वादविशिष्टं हि कारणम् ॥३९॥

सि०—दीक्षा एक मुख्य कार्य के लिए ग्रहण की जाती है, जो उत्कृष्ट है, अतः उस काल में नियत कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है।

तत्र प्रतिहोमो न विद्यते यथा पूर्वेषाम् ॥४०॥

दीक्षित अवस्था में प्रतिहोम नहीं पाया जाता, जैसा कि पूर्व लोगों के लिए पाया जाता है।

कालप्राधान्याच्च ॥४१॥

तथा, काल की प्रधानता पाये जाने से भी दीक्षित के लिए प्रतिहोम की विधि नहीं है।

प्रतिषिद्धाच्चोर्ध्वमवभृथादिष्टेः ॥४२॥

और, अवभृथ इष्टि के लिए भी प्रतिहोम का निषेध है।

प्रतिहोमश्चेत्सायमग्निहोत्रप्रभृतीनि हूयेरन् ॥४३॥

यदि होम के लोप होने पर प्रतिहोम किया जाए तो सायंकाल से लेकर अग्निहोत्र आदि कर्म करे।

प्रातस्तु षोडशिनि ॥४४॥

षोडशी इष्टि में प्रातःकाल प्रतिहोम करे।

प्रायश्चित्तमधिकारे सर्वत्र दोषसामान्यात् ॥४५॥

पूर्व०—साधनों के खण्डित हो जाने पर सब इष्टियों में प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि भेदन-निमित्तक दोष सर्वत्र समान है।

प्रकरणे वा शब्दहेतुत्वात् ॥४६॥

सि०—प्रायश्चित्त के प्रकरण में ही प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि प्रायश्चित्त का विधायक शब्द ही प्रायश्चित्त में हेतु है।

अतद्विकाराच्च ॥४७॥

तथा, सब इष्टियों में भेदन-निमित्तक विकार न पाये जाने से प्रायश्चित्त का सर्वत्र विधान नहीं।

व्यापन्नस्याप्सु गतौ यदभोज्यमार्याणां तत्प्रतीयेत ।।४८।।

जो पदार्थ आर्य-पुरुष के लिए अभक्ष्य, अयोग्य और दूषित हैं, उन्हें जल में फेंक देना चाहिए।

विभागश्रुतेः प्रायश्चित्तं यौगपद्ये न विद्यते ।।४९।।

पूर्व०—उद्गाता और प्रतिहर्ता दोनों का एक काल में अपच्छेद होने पर प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि वह एक-एक का अपच्छेद होने पर विधान किया गया है।

स्याद्वा प्राप्तनिमित्तत्वात्कालमात्रमेकम् ।।५०।।

सि०—यदि विधान में एक काल का उल्लेख किया होता तो प्रायश्चित्त न होता, परन्तु निमित्त विद्यमान होने पर प्रायश्चित्त आवश्यक है।

तत्र विप्रतिषेधाद्विकल्पः स्यात् ।।५१।।

दोनों का एक काल में अपछेद होने पर दोनों प्रायश्चित्तों में से कोई एक प्रायश्चित्त होना चाहिए, क्योंकि परस्पर विरोध होने के कारण दोनों नहीं हो सकते।

प्रयोगान्तरे वोभयानुग्रहः स्यात् ।।५२।।

आक्षेप०—यदि एक याग में दोनों प्रकार का प्रायश्चित्त न हो सके तो भिन्न-भिन्न दो यागों में दोनों का अनुष्ठान हो सकता है।

न चैकसंयोगात् ।।५३।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त प्रायश्चित्तों का एक याग के साथ सम्बन्ध है।

पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् ।।५४।।

जैसे प्रकृति में विधान किया पदार्थ विकृति में विधान किये पदार्थ से निर्बल है, वैसे ही क्रम से अपछेद होने पर प्राप्त हुए दोनों प्रायश्चित्तों के मध्य अदक्षिणारूप प्रथम प्रायश्चित्त सर्वस्व दक्षिणारूप प्रायश्चित्त की अपेक्षा निर्बल है।

यद्युद्गाता जघन्यः स्यात्पुनर्यज्ञे सर्ववेदसंदद्याद्यथेतरस्मिन् ।।५५।।

यदि उद्गाता का प्रतिहर्त्ता के अपछेद से पूर्व अपछेद हो तो जैसे भिन्न-भिन्न समय में अपछेद होने पर पुनर्याग में सर्वस्व दक्षिणा दी जाती है, वैसे ही पुनर्यज्ञ में सर्वस्व दक्षिणा देनी चाहिए।

अहर्गणे यस्मिन्नपच्छेदस्तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वात् ।।५६।।

द्वादशाह आदि अहर्गण यागों के मध्य जिस याग में उद्गाता का अपछेद हो उसी की आवृत्ति करे, क्योंकि एक-एक दिन में होनेवाला वह यज्ञरूप कर्म भिन्न-भिन्न है।

।। इतिपूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य पञ्चमः पादः ।।

षष्ठः पादः

सन्निपातेऽवैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन् ।। १।।

सत्र याग में जो सत्रह ऋत्विज लिए जाते हैं, वे समान गोत्र के होने चाहिएँ जिससे यज्ञकार्य में विगुणता उत्पन्न न हो।

वचनाद्वा शिरोवत्स्यात् ॥२॥

आक्षेप—जिस प्रकार शास्त्र में मृतक को छूने का निषेध है, फिर भी उसके सिर को उठाने के लिए कहा गया है, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न गोत्रों के ऋत्विजों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न वाऽनारम्यवादत्वात् ॥३॥

समा०—भिन्न गोत्रों का अधिकार ठीक नहीं, क्योंकि उनके अनारम्भ का कथन पाया जाता है।

स्याद्वा यज्ञार्थत्वादौदुम्बरीवत् ॥४॥

आक्षेप—औदुम्बरी (काष्ठविशेष) के समान यज्ञार्थ होने से विभिन्न गोत्रवाले ऋत्विजों से यज्ञ कराया जा सकता है।

न तत्प्रधानत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कल्प=गोत्र पुरुषार्थ के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं।

औदुम्बर्याः परार्थत्वात्कपालवत् ॥६॥

कपाल के समान औदुम्बरी भी यज्ञ के लिए होती है, अतः विभिन्न कल्पों का यज्ञ में अधिकार है।

अन्येनापीति चेत् ॥७॥

आक्षेप—तब अन्य यजमान से भी यज्ञ होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नैकत्वात्तस्य चानधिकाराच्छब्दस्य चाविभक्तत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक होने से उस यजमान का अनधिकार है और शब्द के एक होने से अन्य यज्ञ के यजमान का अन्य यज्ञ में अधिकार नहीं।

सन्निपातात्तु निमित्तविघातं स्यात् बृहद्रथन्तरवद्विभक्तशिष्टत्वाद्वसिष्ठनिर्वर्त्ये ॥९॥

आक्षेप—यदि समान कल्पवालों का यज्ञ में अधिकार माना जाए तो फल का निमित्त ठीक नहीं रहता, क्योंकि फल एक के उद्देश्य से होना चाहिए और यजमान भिन्न-भिन्न हैं, अतः समान कल्पवालों का अधिकार मानना ठीक नहीं।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादविघातः प्रतीयेत स्वामित्वेनाभिसम्बन्धः ॥१०॥

समा०—समान कल्पवाले यजमानों का यज्ञ से सम्बन्ध स्वामीरूप से होता है, अतः फल की प्राप्ति में बाधा नहीं होती, क्योंकि फल के लिए सब यजमानों का कर्तृत्व एक-जैसा है।

साम्नोः कर्मवृद्ध्येकदेशेन संयोगो गुणत्वेनाभिसम्बन्धस्तस्मात्तत्र विघातः स्यात् ॥११॥

उक्त प्रकरण में बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का कर्मवृद्धि द्वारा उक्त स्तोत्र से सम्बन्ध है, अतः उक्त साम का विघात होता है और गुणरूपता से सम्वन्ध होने के कारण भी विघात होता है परन्तु उक्त दोनों बातें फल में नहीं पाई जातीं, अतः फल में विघात का दोष नहीं आता।

वचनात्तु द्विसंयोगस्तस्मादेकस्य पाणित्वम् ॥१२॥

पूर्व०—जैसे 'अञ्जलि से हवन करे' इस वाक्य में बाएँ हाथ का भी सम्बन्ध प्रतीत

होता है, वैसे ही 'राजपुरोहितौ' वाक्य में भी राजा के दो पुरोहितों की प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि विधायक वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है, अतः एक राजा के दो पुरोहितों का ही उक्त यज्ञ में अधिकार है, राजा तथा पुरोहित दोनों का नहीं।

अर्थाभावात्तु नैवं स्यात् ॥१३॥

सि०—उक्त वाक्य में दो पुरोहितों का ग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि उसका उक्त अर्थ नहीं है।

अर्थानां च विभक्तत्वान्न तत् श्रुतेन सम्बन्धः ॥१४॥

तथा, यागफल का विभाग पाये जाने से भी उक्त वाक्य में श्रवण किये याग के साथ दो पुरोहितों का सम्बन्ध नहीं हो सकता।

पाणेः प्रत्यङ्गभावादसम्बन्धः प्रतीयेत ॥१५॥

वामहस्त का अञ्जलि के प्रति अङ्गभाव होने पर भी हवन के साथ उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता।

सत्राणि सर्ववर्णानामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व०—सत्र नामक यागों में ब्राह्मण आदि सब वर्णों का अधिकार है, क्योंकि उक्त सत्रों के विधायक वाक्यों में कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

ब्राह्मणानां वेतरयोरार्त्विज्याभावात् ॥१८॥

सि०—ब्राह्मणों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि क्षत्रिय तथा वैश्य के ऋत्विज होने का निषेध पाया जाता है।

वचनादिति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—'ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्'—इस वचन से इतर वर्णों का अधिकार सिद्ध है, यदि ऐसा कहो तो—

न स्वामित्वं हि विधीयते ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में सत्र का स्वामी होना कथन किया गया है।

गार्हपते वा स्यान्नामाविप्रतिषेधात् ॥२१॥

आक्षेप—गृहपति-कर्म में क्षत्रिय और वैश्य का अधिकार होना चाहिए, क्योंकि ऐसा होने से कोई विरोध नहीं।

न वा कल्पविरोधात् ॥२२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसमें कल्प=गोत्र का विरोध हो जाता है।

स्वामित्वादितरेषामहीने लिङ्गदर्शनम् ॥२३॥

पूर्वपक्ष का साधक जो लिङ्ग कथन किया गया है, वह अहीन नामक याग में जानना चाहिए, क्योंकि उस याग में ब्राह्मणातिरिक्त वर्ण भी यजमान होते हैं।

वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्वनियमात् ॥२४॥

पूर्व०—वसिष्ठ गोत्रवालों का ही सत्र में अधिकार है, क्योंकि उन्हीं का ब्रह्मा होना नियत है।

सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् ॥२५॥

अथवा, सत्र में सब ब्राह्मणों का अधिकार है, क्योंकि वाक्यान्तर में वसिष्ठ गोत्र-वाले के ब्रह्मा होने का निषेध पाया जाता है।

वैश्वामित्रस्य हौत्रनियमाद्भृगुशुनकवसिष्ठानामनधिकारः ॥२६॥

सि०—भृगु, शुनक, वसिष्ठ गोत्रवालों का यज्ञ में अधिकार नहीं अपितु विश्वामित्र गोत्रवालों का ही अधिकार है, क्योंकि उन्हीं के होता होने का नियम पाया जाता है।

विहारस्य प्रभुत्वादनग्नीनामपि स्यात् ॥२७॥

पूर्व०—अनाहित अग्नियों का भी सत्र में अधिकार है, क्योंकि एक ही आहवनीयाग्नि सब यज्ञों के लिए समर्थ है।

सारस्वते च दर्शनात् ॥२८॥

तथा सारस्वत नामक सत्र में अनाहिताग्नियों का कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

प्रायश्चित्तविधानाच्च ॥२९॥

और, प्रायश्चित्त का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

साग्नीनां वेष्टिपूर्वत्वात् ॥३०॥

सि०—सत्र में आहिताग्नियों का ही अधिकार है, क्योंकि सत्र का अनुष्ठान दर्शपौर्णमास याग के पश्चात् कथन किया गया है।

स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वात् ॥३१॥

तथा, अपने-अपने अर्थ के लिए अग्नियों का आधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

सन्निवापं च दर्शयति ॥३२॥

और, सब यजमानों की अग्नियों का मिलाप श्रुति वाक्य से पाया जाता है।

जुह्वादीनामप्रयुक्तत्वात्सन्देहे यथाकामी प्रतीयते ॥३३॥

पूर्व०—जुहु आदि पात्रों का सन्देह होने पर अपनी इच्छा के अनुसार उपादान करे, क्योंकि उनका विशेष रूप से विधान नहीं पाया जाता।

अपि वाऽन्यानि पात्राणि साधारणानि कुर्वीरन्विप्रतिषेधाच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३४॥

सि०—दूसरे सर्वसाधारण जुहु आदि पात्र सम्पादन करने चाहिएँ, क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही विधान है, और किसी यजमान के पात्र ग्रहण करने में विरोध हो जाता है।

प्रायश्चित्तमापदि स्यात् ॥३५॥

यजमान के मर जाने पर जो प्रायश्चित्त कथन किया गया है, वह भी उक्त अर्थ की सिद्धि में प्रमाण है।

पुरुषकल्पेन वा विकृतौ कर्तृनियमः स्याद्यज्ञस्य तद्गुणत्वादभावादित-रान्प्रत्येकस्मिन्नधिकारः स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—अध्वर-कल्पादि विकृति यागों में पुरुषविशेष द्वारा सत्रह सामिधेनियों का उल्लेख पाये जाने से वैश्यरूप यजमान का नियम होना चाहिए, क्योंकि पूर्वोक्त यागों के प्रति उक्त सामिधेनियाँ गौण हैं, और ब्राह्मण-क्षत्रियों के प्रति सत्रह सामिधेनियों का विधान नहीं, अतः एक वैश्यरूप यजमान में ही उक्त यागों का अधिकार होना चाहिए।

लिङ्गाच्चेज्याविशेषवत् ॥३७॥

जैसे वैश्यस्तोम नामक यागविशेष में केवल वैश्य का अधिकार है, वैसे ही प्रमाणों के उपलब्ध होने से उक्त विकृति यागों में वैश्य का अधिकार सिद्ध होता है।

न वा संयोगपृथक्त्वाद् गुणस्येज्याप्रधानत्वादसंयुक्ता हि चोदना ॥३८॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि याग के विधायक और सामिधेनियों के विधायक वाक्यों का भेद है तथा गुण के प्रति याग के प्रधान होने से गुणानुसार यजमान की कल्पना करना ठीक नहीं, अतः उक्त विकृति याग वैश्य यजमानवाले नहीं हो सकते।

इज्यायां तद्गुणत्वाद्विशेषेण नियम्येत ॥३९॥

वैश्यस्तोम नामक याग में वैश्यरूप कर्ताविशेष का नियम होना ठीक है, क्योंकि उसमें वैश्य का गुणरूप से कथन पाया जाता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

स्वदाने सर्वमविशेषात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् याग में सर्वस्व दान करना चाहिए, क्योंकि सामान्य रूप से सर्वस्व दान करने का विधान पाया जाता है।

यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात् ॥२॥

सि०—यजमान जिन वस्तुओं का स्वामी हो, उन्हीं का दान करे, अन्य का नहीं, क्योंकि अन्य वस्तु (स्त्री आदि) के दान में वह असमर्थ है।

न भूमिः स्यात्सर्वान्प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥३॥

भूमि का दान नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उस पर पुत्र-स्त्री आदि अन्य सम्बन्धियों का एक-जैसा अधिकार है।

अकार्यत्वाच्च ततः पुनर्विशेषः स्यात् ॥४॥

युद्ध के लिए अत्यन्त उपयोगी होने के कारण यजमान अश्व आदि का दान कदापि न करे, क्योंकि वह सर्वथा उपादेय पदार्थ है।

नित्यत्वाच्चानित्यैर्नास्ति सम्बन्धः ॥५॥

(जब आत्मदान तक कर देते हैं, फिर अश्वदान आदि का निषेध क्यों ?) आत्मा नित्य होने से अनित्य पदार्थों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात् ॥६॥

विश्वजित् याग में शूद्र को भी दान कर देने का अधिकार है, क्योंकि धर्मशास्त्र में उसका सेवारूप धर्म वर्णन किया गया है।

दक्षिणाकाले यत्स्वं तत्प्रतीयेत तद्दानसंयोगात् ॥७॥

जो दातव्य पदार्थ हों वे सब दक्षिणाकाल में ही देने चाहिएँ, क्योंकि उक्त याग के सम्बन्ध में ऐसा ही विधान है।

अशेषत्वात्तदन्तः स्यात्कर्मणो द्रव्यसिद्धित्वात् ॥८॥

पूर्व०—विश्वजित् याग-सम्बन्धी कोई कर्म शेष न रहने से दक्षिणाकाल में ही उसकी समाप्ति हो जाती है, याग का प्रयोजन सिद्ध होने के कारण।

अपि वा शेषकर्म स्यात्क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥९॥

दक्षिणा के पश्चात् भी पूर्णाहुति आदि कर्म शेष रहते हैं।

तथा चाऽन्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

और, ऐसे ही उदाहरण भी पाये जाते हैं।

अशेषं तु समञ्जसमादाने शेषकर्म स्यात् ॥११॥

आक्षेप— यज्ञकर्म के पूर्ण होने पर समस्त बचे हुए शाकल्य=सामग्री को सम्पूर्ण रूप से यज्ञाग्नि में समर्पित कर देना चाहिए। इसी से यज्ञकर्म की पूर्ति होती है।

नादानस्यानित्यत्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। जो भक्षण योग्य पदार्थ हैं, उन्हें यज्ञशेष के रूप में भक्षणार्थ रखकर अन्य सामग्री का हवन कर देना चाहिए।

दीक्षासु विनिर्देशादक्रत्वर्थेन संयोगस्तस्मादविरोधः स्यात् ॥१३॥

सि०—(यज्ञशेष में सम्पूर्ण सामग्री का हवन कर देना लिखा है, और यज्ञशेष का भक्षण करना भी, यह परस्पर विरोध क्यों ?) यज्ञशेष भक्षणार्थ ही होता है, पूर्णाहुति उससे भिन्न सामग्री की दी जाती है, अतः उक्त दोनों बातों में विरोध नहीं है

अहर्गणे च तद्धर्मः स्यात्सर्वेषामविशेषात् ॥१४॥

'अहर्गण अष्टरात्र याग' विश्वजित् याग के समान होता है, अतः उसमें भी सर्वस्व की दक्षिणा दी जानी चाहिए।

द्वादशशतं वा प्रकृतिवत् ॥१५॥

पूर्व०—जैसे प्रकृति (ज्योतिष्टोम) याग में बारह सौ रुपये की दक्षिणा का कथन है, उतनी ही अहर्गण याग की दक्षिणा है।

अतद्गुणत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। अहर्गण याग में ज्योतिष्टोम के धर्म नहीं पाये जाते, अतः इस प्रकार का विधान नहीं हो सकता। अहर्गण याग में विश्वजित् याग के लक्षण पाये जाते हैं, अतः उसी का अनुसरण करना चाहिए।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१७॥

तथा, प्रमाणों से भी ऐसा ही पाया जाता है।

विकारः सन्नुभयतोऽविशेषात् ॥१८॥

पूर्व०—विकाररूप अहर्गण याग दोनों अवस्थाओं में हो सकता है, अर्थात् चाहे बारह सौ रुपया हो या कम हो, क्योंकि कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

अधिकं वा प्रतिप्रसवात् ॥१९॥

सि०—सबको विश्वजित् याग करने का अधिकार नहीं, क्योंकि उसमें बारह सौ रुपये का विधान पाया जाता है।

अनुग्रहाच्च पादवत् ॥२०॥

तथा, अधिकार का ग्रहण करने से पाद के समान बारह सौ भी बीच में आ जाते हैं।

अपरिमिते शिष्टस्य संख्याप्रतिषेधस्तत् श्रुतित्वात् ॥२१॥

पूर्व०—अपरिमित दान का विधान पाये जाने से बारह सौ की नियत संख्या का निषेध पाया जाता है, क्योंकि उक्त दान में श्रुति पाई जाती है।

कल्पान्तरं वा तुल्यवत्प्रसंख्यानात् ॥२२॥

सि०—अपरिमित शब्द बारह सौ आदि संख्या का निषेधक नहीं किन्तु उक्त संख्या के बराबर संख्या कथन करने का हेतु है।

अनियमोऽविशेषात् ॥२३॥

पूर्व०—तुल्य कह देने से कोई विशेष अर्थ नहीं निकलता, अतः बारह सौ और अपरिमित का समान अर्थ करना ठीक नहीं।

अधिकं वा स्याद्बह्वर्थत्वादितरैः सन्निधानात् ॥२४॥

सि०—अपरिमित दो सौ आदि संख्या से अधिक का वाचक है, बहुत अर्थ का वाचक होने से, क्योंकि वह द्विशत वा सहस्र आदि संख्याओं की सन्निधि में पढ़ा गया है। भाव यह है कि विश्वजित् याग बहुत साधन सम्पन्न व्यक्ति ही कर सकते हैं।

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥२५॥

इस अपरिमित शब्द में अर्थवाद का भाव भी पाया जाता है, जैसे निन्दा-स्तुति को कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कह दिया जाता है, उसी प्रकार का यह अपरिमित शब्द है।

परकृतिपुराकल्पं च मनुष्यधर्मः स्यादर्थाय ह्यनुकीर्तनम् ॥२६॥

पूर्व०—पूर्व सृष्टि में भी मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि की भाँति ही थे (जैसे सदाचारी सौ वर्ष जीता है) इस अर्थ के बोधनार्थ ही शास्त्रों में अनुकीर्तन कथन किया गया है।

तद्युक्ते च प्रतिषेधात् ॥२७॥

पूर्वकल्प के मनुष्यों के धर्मों का विधान मानना ठीक नहीं, क्योंकि उनका निषेध पाया जाता है।

निर्देशाद्वा तद्धर्मः स्यात्पञ्चावत्तवत् ॥२८॥

जब पूर्वकल्प के मनुष्यों के शरीर पञ्चभौतिक ही थे तब उनको मनुष्यधर्मा मानना ही ठीक है, उन्हें अलौकिक मानना ठीक नहीं।

विधौ तु वेदसंयोगादुपदेशः स्यात् ॥२९॥

वेदों के वर्णन से भी ऐसा ही सिद्ध होता है कि पूर्वसृष्टि में मनुष्यों के धर्म वर्तमान सृष्टि के समान ही थे।

अर्थवादो वा विधिशेषत्वात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३०॥

सि०—वेदों के प्रमाण उपलब्ध होने से यह सिद्ध होता है कि सहस्रों वर्ष की आयु का कथन अर्थवाद है, अतः वेदार्थ का ही अनुवादक अर्थवाद है, अन्यार्थ का विधायक नहीं।

सहस्रसंवत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्येषु ॥३१॥

पूर्व०—'पूर्वकल्प में लोगों की आयु सहस्रों वर्ष की थी' ऐसे कथन पाए जाने से यह सिद्ध होता है कि पूर्वकल्प के लोगों में मनुष्य के धर्म न थे, क्योंकि वर्तमान सृष्टि में मनुष्य की इतनी आयु नहीं होती।

अपि वा तदधिकारान्मनुष्यधर्मः स्यात् ॥३२॥

अध्ययनाध्यापन में मनुष्यों का अधिकार पाये जाने से भी वे लोग मनुष्यधर्मा ही ज्ञात होते हैं, देव नहीं।

नासामर्थ्यात् ॥३३॥

सामर्थ्य का अभाव होने से कल्पित देवताओं का अध्ययन में सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

सम्बन्धदर्शनात् ॥३४॥

सि०—अग्नि, वायु आदि जड़ देवताओं में अध्ययनाध्यापन का सम्बन्ध नहीं पाया जाता।

स कुल्यः स्यादिति कार्ष्णाजिनिरेकस्मिन्नसम्भवात् ॥३५॥

आचार्य कार्ष्णाजिनि का मत है कि जो दिव्य सहस्र वर्ष पर्यन्त अध्ययन लिखा है, वह एक कुल का है, क्योंकि एक पुरुष में उक्त अर्थ की असम्भवता पाई जाती है।

अपि वा कृत्स्नसंयोगादेकस्यैव प्रयोगः स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—शास्त्र में जो कृत्स्न शब्द आया है, उससे एक व्यक्ति का ही आशय निकलता है।

विप्रतिषेधात्तु गुण्यन्यतरः स्यादिति लावुकायनः ॥३७॥

समा०—पूर्वोत्तर विरोध पाये जाने से लावुकायन ऋषि यह मानते हैं कि दिव्य सहस्र वर्ष का अध्ययन गौण है।

संवत्सरो वा विचालित्वात् ॥३८॥

संवत्सार शब्द एक अर्थ का वाचक नहीं है (यह अन्य समाधान है), संवत्सर शब्द कहीं वर्ष का वाचक है, कहीं ऋतुओं का और कहीं दिन का।

सा प्रकृतिः स्यादाधिकारात् ॥३९॥

सहस्र संवत्सरोंवाले मनुष्य का ही यहाँ ग्रहण होता है, क्योंकि अध्ययनाध्यापन में जड़ देवों का अधिकार नहीं हो सकता।

अहानि वाऽभिसंख्यात्वात् ॥४०॥

सि०—संवत्सर दिन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, क्योंकि एक दिन में छहों ऋतुओं के वर्तने का वर्णन पाया जाता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्य सप्तमः पादः ॥

अष्टमः पादः

इष्टिपूर्वत्वादक्रतुशेषो होमः संस्कृतेष्वग्निषु स्यादपूर्वोऽप्याधानस्य सर्वशेषत्वात् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ का अनङ्गभूत प्रजा की कामनार्थ चतुर्होत्र नामक याग अन्य होमों का अङ्ग होने के कारण अपूर्व होने पर भी पवमान इष्टिसाध्य होने से संस्कृत अग्नियों में ही किया जाना चाहिए।

इष्टित्वेन तु संस्तवश्चतुर्होतॄनसंस्कृतेषु दर्शयति ॥२॥

समा०—इष्टिरूप जो स्तुति की जाती है, उससे प्रतीत होता है कि चतुर्होत्र को असंस्कृत अग्नि में ही करना चाहिए।

उपदेशस्त्वपूर्वत्वात् ॥३॥

(जब उक्त होम असंस्कृत अग्नियों में ही होता है, पुनः उसके विधान की क्या आवश्यकता है?) पूर्वोक्त होमों का उपदेश अपूर्व विधि के अभिप्राय से है।

स सर्वेषामविशेषात् ॥४॥

पूर्व०—पूर्वोक्त विधि यज्ञ के अङ्गभूत और अनङ्गभूत दोनों प्रकार के होमों का विधान करती है, इसमें कोई विशेषता नहीं पाई जाती।

अपि वा क्रत्वभावादनाहिताग्नेरशेषभूतनिर्देशः ॥५॥

सि०—जो कर्म यज्ञ के अङ्गभूत नहीं हैं, वे अनाहिताग्नियों में किये जाएँ।

जपो वाऽनग्निसंयोगात् ॥६॥

आक्षेप—अनाहिताग्नियों की इष्टि अर्थवाद है, उसका अग्नि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इष्टित्वेन संस्तुते होमः स्यादनारभ्याग्निसंयोगादितरेषामवाच्यत्वात् ॥७॥

समा०—इष्टिरूप से वर्णन किये जाने के कारण उक्त चतुर्होत्र कर्म होम है, कोरा अर्थवाद नहीं, तथा अन्य कर्मों का वाचक न होने से अनाहिताग्नि के साथ उसका सम्बन्ध पाया जाता है।

उभयोः पितृयज्ञवत् ॥८॥

आक्षेप—जैसे पितृयज्ञ को आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं, वैसे ही चतुर्होम को भी दोनों प्रकार के पुरुष कर सकते हैं।

निर्देशो वाऽनाहिताग्नेरनारभ्याग्निसंयोगात् ॥९॥

समा०—चतुर्होम याग का अनाहिताग्नि में ही निर्देश पाया जाता है, क्योंकि इसी अग्नि के साथ उक्त होमों का सम्बन्ध है।

पितृयज्ञे संयुक्तस्य पुनर्वचनम् ॥१०॥

पितृयज्ञ में आहिताग्नि और अनाहिताग्नि दोनों के बोधक भिन्न-भिन्न वचन पाये जाते हैं, अतः उसका दृष्टान्त चतुर्होत्र में देना ठीक नहीं।

उपनयन्नाधीत होमसंयोगात् ॥११॥

पूर्व०—उपनयनकाल में आहिताग्नि में यज्ञ करे, क्योंकि उसका होम के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

स्थपतिवल्लौकिके वा विद्याकर्मानुपूर्वत्वात् ॥१२॥

सि०—उपनयन कर्म 'स्थपति' इष्टि के समान लौकिकाग्नि में ही करना चाहिए, क्योंकि उसका उद्देश्य ब्रह्मविद्या में प्रवृत्त होना है।

आधानं च भार्यासंयुक्तम् ॥१३॥

और, अग्न्याधान का अधिकार विद्याध्ययन के पश्चात् विवाहित पुरुष को ही है, अतः उपनयन-सम्बन्धी होम लौकिक अग्नि में करना चाहिए।

अकर्म चोर्ध्वमाधानात्तत्समवायो हि कर्मभिः ॥१४॥

जो अग्न्याधान के पश्चात् भार्या ग्रहण करता है, वह अकर्म है, क्योंकि कर्मों के साथ उस भार्या का सम्बन्ध उपनयनकाल के पश्चात् होता है।

श्राद्धवदिति चेत् ॥१५॥

श्राद्धकर्म के समान उपनयन-सम्बन्धी हवन आहित और अनाहित दोनों अग्नियों में किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥१६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दो भार्याओं से विवाह का निषेध पाया जाता है।

सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो न प्रयोजयेत् ॥१७॥

धर्मादि सब प्रकार के प्रयोजनों के लिए होने से स्त्री सहधर्मिणी कहलाती है, केवल पुत्ररूपी प्रयोजन से नहीं।

सोमपानात्तु प्रापणं द्वितीयस्य तस्मादुपयच्छेत् ॥१८॥

सोमपान करनेवाला (वैदिकधर्मी) दूसरी भार्या की अभिलाषा नहीं रखता।

पितृयज्ञे तु दर्शनात्प्रागाधानात्प्रतीयेत ॥१९॥

पितृयज्ञ आहिताग्नि (ब्राह्मणादि) और अनाहिताग्नि (शूद्रादि) दोनों के लिए कर्तव्य है, अतः उसे दोनों प्रकार से करने का विधान है, परन्तु उपनयन में ऐसा विधान नहीं।

स्थपतीष्टिः प्रजावदग्न्याधेयं प्रयोजयेत्तादर्थ्याच्चापवृज्येत् ॥२०॥

पूर्व०—स्थपति इष्टि प्रयाज के समान अग्न्याधान के आश्रय से होती है और यज्ञ के अभिप्रायवाली होने से उसका आहिताग्नि के साथ सम्बन्ध है।

अपि वा लौकिकेऽग्नौ स्यादाधानस्यासर्वशेषत्वात् ॥२१॥

सि०—स्थपति अग्नि का अनुष्ठान लौकिकाग्नि में होना चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान कर्म सबके लिए नहीं है।

अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ।।२२।।

जिस ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्यव्रत खण्डित हो जाए उसे गधे का स्पर्श करके 'अवकीर्णि इष्टि' लौकिक अग्नि में करनी चाहिए, क्योंकि अग्न्याधान का काल प्राप्त नहीं है।

उदगयनपूर्वपक्षाहः पुण्याहेषु दैवानि स्मृतिरूपान्यार्थदर्शनात् ।।२३।।

चूड़ाकर्मादि कर्म पवित्र दिनों में किया जाना चाहिए, क्योंकि देव-सम्बन्धी कर्म शुभ दिनों में ही किये जाते हैं। स्मृतियों में भी ऐसा ही विधान पाया जाता है।

अहनि च कर्मसाकल्यम् ।।२४।।

तथा, उक्त सब कार्य दिन में ही करने चाहिएँ।

इतरेषु तु पित्र्याणि ।।२५।।

पित्र्यकर्म सब दिनों में करने चाहिएँ।

याञ्चाक्रयणमविद्यमाने लोकवत् ।।२६।।

पूर्व०—भिक्षा और सोम का क्रयण सब कालों में होना चाहिए, जैसा कि लोक में पाया जाता है।

नियतं वार्थवत्वात्स्यात् ।।२७।।

सि०—भिक्षा आदि नियत काल में करनी चाहिए, नियत काल में करने से ही वे अर्थवाले अर्थात् क्रतुरूप अपूर्व के जनक होते हैं।

तथा भक्षप्रैषाच्छादनसंज्ञप्तहोमद्वेषम् ।।२८।।

तथा, उक्त प्रकार भक्ष=यवागू आदिव्रत, प्रैष=प्रैषितव्य, आच्छादन=दर्भमय आच्छादन, संज्ञप्तहोम और द्वेष='योऽस्मान् द्वेष्टि' इत्यादि वाक्योक्त कर्म नियत काल में ही होते हैं।

अनर्थकं त्वनित्यं स्यात् ।।२९।।

भिक्षा आदि कर्मों को नियमपूर्वक न किया जाए तो ये कर्म स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिप्रद हो सकते हैं।

पशुचोदनायामनियमोऽविशेषात् ।।३०।।

पूर्व०—'पशून् पाहि' इत्यादि मन्त्र द्वारा पशु-रक्षा का कोई विशेष नियम नहीं है, किसी पशुविशेष की रक्षा का नियम नहीं है, सब प्रकार के पशुओं की रक्षा का उपदेश है।

छागो वा मन्त्रवर्णात् ।।३१।।

सि०—यदि कोई कहे कि वेद में बकरे को मारकर हवन करने का विधान है, तो—

न चोदनाविरोधात् ।।३२।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र से विरोध हो जाता है।

आर्षेयवदिति चेत् ।।३३।।

'आर्षेयं वृणीते' वाक्य के समान 'पशून् पाहि' का आशय गौ आदि विशेष पशुओं की रक्षा से है, उसका सब पशुओं से सम्बन्ध नहीं, यदि ऐसा माना जाए तो—

न तत्र ह्यचोदितत्वात् ।।३४।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेद में निश्चय ही पशुविशेष की रक्षा का विधान नहीं पाया जाता, अपितु पशुमात्र की रक्षा का विधान है।

नियमो वैकार्थ्यं ह्यर्थभेदाद्भेदः पृथक्त्वेनाभिधानात् ।।३५।।

उक्त मन्त्र में सामान्य पशुओं की रक्षा का विधान है परन्तु छाग=बकरा एक विशेष पशु है, भेदरूप से कथन किये जाने के कारण, इसकी गिनती उनमें हो सकती है।

अनियमो वार्थान्तरत्वादन्यत्वं व्यतिरेकशब्दभेदाभ्याम् ।।३६।।

वेद में किसी विशेष पशु की रक्षा का नियम नहीं है। भिन्न शब्द की वाच्यता होने से अनियम है और भिन्न अर्थ होने से भेद पाया जाता है। [वेद में स्पष्ट कहा है—**'गां मा हिंसीः', 'अविं मा हिंसीः', 'मा हिंसीरेकशफम्'** (यजु० १३।४३, ४८) अर्थात् गाय को मत मारो, भेड़ को मत मारो, एक खुरवाले पशुओं को मत मारो।]

न वा प्रयोगसमवायित्वात् ।।३७।।

सि०—शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ उनके प्रयोग से जाना जा सकता है।

रूपालिङ्गाच्च ।।३८।।

पूर्व०—रूप और लिङ्ग से भी छाग=बकरे का वध पाया जाता है (**'यागार्थं छिद्यत इति छागः'** जो याग के लिए काटा जाए उसे छाग कहते हैं।)

छागेन कर्माख्या रूपलिङ्गाभ्याम् ।।३९।।

सि०—रूप और लिङ्ग से यह अर्थ बकरे में नहीं घट सकता अपितु यज्ञ के लिए जिन पदार्थों को छेदा=काटा जाता है, वे छाग संज्ञावाले हैं।

रूपान्यत्वान्न जातिशब्दः स्यात् ।।४०।।

रूपों में भिन्नता होने के कारण 'छाग' से किसी जाति का आशय ग्रहण नहीं करना चाहिए।

विकारो नौत्पत्तिकत्वात् ।।४१।।

यज्ञ में पशु-हवनरूप विकार इष्ट नहीं, क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है।

स नैमित्तिकः पशोर्गुणस्याचोदितत्वात् ।।४२।।

वेद में 'छाग' शब्द यौगिक है, और उस वर्णन से पशुविशेष नहीं माना जा सकता।

जातेर्वा तत्प्रायवचनार्थवत्त्वाभ्याम् ।।४३।।

जातिवाचक शब्दों के साथ पढ़े जाने और प्रयोजनवाला होने से छाग शब्द जाति का वाचक है (छाग एक विशेष प्रकार की ओषधि का नाम है, जो सुगन्धिरूप प्रयोजन के लिए यज्ञ की सामग्री में डाली जाती थी)।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने षष्ठाध्यायस्याष्टमः पादः ।।

।। इति षष्ठोऽध्यायः ।।

सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुखभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥१॥

सि०—जिस अपूर्व का जो प्रयाजादि शेष है, यहाँ प्रकरणानुसार उन धर्मों की व्यवस्था की जाती है और श्रुति-प्रमाण से यह सिद्ध किया जाता है कि यह इस कर्म का शेष है।

उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यजन से ही अपूर्व की उत्पत्ति होती है, अतः यजन और अपूर्व का विभाग सम्भव नहीं। सभी यजन अपूर्ववाले होते हैं, गोत्व जाति की भाँति।

चोदना शेषभावाद्वा ताद्वा तद्भेदाद्व्यवतिष्ठेरन्नुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ॥३॥

सि०—कर्म की प्रेरणा का शेषभाव होने तथा अपूर्वों का भेद होने से और यजन का उस प्रेरणा में गौण भाव रहने के कारण प्रकरण के अनुसार ही उसकी व्यवस्था की जाती है। **'दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत'** में 'दर्शपूर्णमासी' विशेष है और 'यजेत' सामान्य है। यहाँ केवल कर्तव्यता ही बताई जाती है, क्योंकि अपूर्व यजन के समाप्त होने पर ही होता है।

सत्त्वे लक्षणसंयोगात्सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥४॥

सत्त्व (गोत्व आदि) को लक्ष्य करके जो भी धर्म कहा जाता है, वह सार्वत्रिक होता है।

अविभागात्तु नैवं स्यात् ॥५॥

पूर्व०—अपूर्व प्रयुक्त जो धर्म बताये जाते हैं, वे सब यजन प्रयुक्त ही समझने चाहिएँ, क्योंकि धर्मों का यजन के साथ कोई विभाग नहीं होता।

द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥६॥

दो प्रकार के अर्थों का मानना अन्याय है।

उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्ततश्च कर्मभेदः स्यात् ॥७॥

सि०—यजन में विधि का अभाव होने के कारण अपूर्व में प्रयाजादि धर्मों की प्रवृत्ति होती है, इससे पुनः कर्म का भेद हो जाएगा।

यदि वाऽप्यभिधानवत्सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ॥८॥

आक्षेप—यद्यपि अपूर्व धर्मों का प्रयोजक होता है तो भी अभिधान के समान सामान्यतया वह सर्वधर्मवाला होता है।

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्प्रयोगस्य कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्विभागाच्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ॥९॥

समा०—प्रयोग के पूर्ववत्त्व होने से तथा अर्थ के नियत होने से अभिधानों में तो ऐसा हो सकता है परन्तु कार्यों के शब्दमान्य होने से विभाग होने के कारण प्रयाजादि शेष कर्मों में प्रवृत्ति नहीं होगी।

स्मृतिरिति चेत् ॥१०॥

स्मृति है, यदि ऐसा कहो तो—

न पूर्ववत्त्वात् ॥११॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वे पूर्व अर्थात् प्रकृतियागवालों के धर्म हैं।

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात्प्रकरणनिबन्धनाच्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥१२॥

अङ्गकलाप के शब्दभाव्य होने से तथा प्रकरण के साथ सम्बन्ध होने से अतिदेश शास्त्ररूप शब्द से विकृतियाग के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ॥१३॥

पूर्व०— समानमितरत् श्येनेन'—इस वाक्य में अनुवाद है, ज्योतिष्टोम की विकृति होने से।

श्येनस्येति चेत् ॥१४॥

ज्योतिष्टोमों का अनुवाद नहीं है, श्येन के ग्रहण करने की सामर्थ्य से, यदि ऐसा कहो तो—

नासन्निधानात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सन्निधान न होने से श्येन के वैशेषिकों का अनुवाद युक्त नहीं हो सकता।

अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्थे ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेरतद्वाचकं समानं स्यात् ॥१६॥

सि०—उक्त वाक्य विधायक हो जाएगा। ज्योतिष्टोम विधि से जो श्येन वैशेषिक अधिक हैं, वे अतिदिश्यमान हो जाते हैं। उसका वाचक समान शब्द होता है।

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ॥१७॥

पूर्व०—पञ्च हवियों के सञ्चर में सन्निधान होने के कारण केवल अर्थवाद का अतिदेश हुआ करता है।

सर्वस्य वैकशब्द्यात् ॥१८॥

सि०—अर्थवाद मन्त्र का ही अतिदेश होता है, ऐसा कहना उचित नहीं, क्योंकि सविधिक और सार्थवादक समस्त काण्ड का अतिदेश होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१९॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

विहिताम्नानान्नेति चेत् ॥२०॥

विहित आम्नान से यह नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

नेतरार्थत्वात् ॥२१॥

उक्त कथन ठीक नहीं। विधि का अतिदेश होने पर भी अग्नि-मन्थन आदि आम्नानों की निरर्थकता नहीं होती।

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥२२॥

जिस प्रकार वैश्वदेव-सत्र में एककपाल और ऐन्द्राग्नी में द्वादश कपाल आम्नान हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी सविधिक और सार्थवादक काण्ड का अतिदेश होता है।

**एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्ति-
दर्शनादवभृथे च सकृद् द्व्यवदानस्य वचनात् ॥२३॥**

आग्रयण में समस्त होम की अप्रवृत्ति के देखे जाने से एककपाल की वैश्वदेविक प्रकृति होती है, अतः यहाँ वरुणप्रघासिक एककपाल का ग्रहण होता है और अवभृथ में एक बार द्व्यवदान का वचन होने से एककपाल का ग्रहण होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ॥१॥

पूर्व०—साम (स्तोम आदि से विशिष्ट ऋक्) की प्रवृत्ति अभिधान शब्द के द्वारा गुरु-शिष्य-परम्परा से होती है।

शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्भावात्क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ॥२॥

सि०—शब्दों के द्वारा अर्थ की विधि होने से अन्य अर्थ में प्रवृत्ति नहीं होती। गान-क्रिया का शब्द के साथ अभिसम्बन्ध होता है, शब्द का नहीं, शब्द तो पृथक् ही अवस्थित होता है।

स्वार्थे वा स्यात्प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्गभावेनोपदिश्येरन् ॥३॥

पूर्व०—स्वार्थ में विद्यमान 'अभिवती' और 'कवती' ऋचाओं का अङ्गभाव से उपदेश करना चाहिए।

शब्दमात्रमिति चेत् ॥४॥

आक्षेप—केवल शब्द का ही विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

तेनोत्पत्तिकत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है। जो शब्द जिस अर्थ में औत्पत्तिक सम्बन्ध से प्रसिद्ध होता है, वह अन्य अर्थ के बताने में समर्थ नहीं होता।

शास्त्रं चैवमनर्थकं स्यात् ॥६॥

और, यदि ऐसा माना जाए तो वह अतिदेश-शास्त्र निरर्थक हो जाएगा।

स्वरस्येति चेत् ॥७॥

आक्षेप—साम शब्द से स्वर का विधान है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थाभावात् श्रुतेरसम्बन्धः ॥८॥

समा०—अभिवती स्वर का कवती में अभाव होने से श्रुति के पदों का परस्पर अभिसम्बन्ध नहीं होता, अतः स्वर का अतिदेश नहीं होता।

स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥९॥

आक्षेप—बहुत-से वर्ण और मात्राओं के अविभक्त होने से उत्पत्तियों=उच्चारणों में स्वर होता है, अतः स्वर का अनुवाद होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१०॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरासु यथाश्रुति ॥११॥

समा०—कवती आदि ऋचाओं में स्वाध्यायकाल में जिस रीति से पाठ किया जाए उसी रीति से गान-समय में पाठ किया जाए तो **'कवतीषु रथन्तरं गायति'** यह वाक्य निरर्थक हो जाएगा, अतः स्वर का अनुवाद ठीक नहीं।

शब्दानां चासामञ्जस्यम् ॥१२॥

और, ऐसा मान लेने पर रथन्तर आदि साम शब्दों का असामञ्जस्य हो जाएगा।

अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैः ॥१३॥

सि०—रथन्तर शब्द गानरूप कर्म का वाचक है। 'गायति' शब्द के गान में प्रसिद्ध होने से रथन्तरादि शब्द का ग्रहण होता है तथा ह्रस्व-दीर्घ आदि का विकार अन्य संस्कार कर्मों द्वारा अवशिष्ट होता है।

अद्रव्यं चापि दृश्यते ॥१४॥

तथा, साम अनृच दिखाई देता है। ऋचा में साम शब्द का प्रयोग नहीं होता, गीति में ही साम का प्रयोग होता है।

तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्थो ह्यासामलौकिको विधानात् ॥१५॥

विविध रूप होने से उस (रथन्तर) की क्रिया अकर्मकाल (यज्ञ न करने) में शिक्षा एवं अभ्यास के ग्रहण करने के लिए होती है। रथन्तर आदि संज्ञावाली ऋचा का अर्थ गुरु-शिष्य-परम्परा के कारण अलौकिक हुआ करता है।

तस्मिन्संज्ञा विशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥१६॥

उस गान नामक संस्कार में गान के स्वरूपों के भिन्न-भिन्न होने से उनकी भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ होती हैं।

योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥१७॥

'योनिशस्या' ऋचाएँ तुल्य की भाँति इतर अर्थात् 'अयोनिशस्या' ऋचाओं के द्वारा विधान की जाया करती हैं।

अयोनौ चापि दृश्यतेऽतथायोनिः ॥१८॥

अयोनि में साम दिखाई देता है। अधिक अथवा न्यून ऋचावाला साम देखने में आता है।

एकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमिति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—जहाँ दोनों का एक ही अर्थ होता है, वहाँ वैरूप्य नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा लोके ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थान्तर में निष्पत्ति हो जाएगी। जैसे पाक में ओदन और गुड़ का पाक भिन्न लक्षणवाला होता है, अतः वैरूप्य होता ही है।

शब्दानाञ्च सामञ्जस्यम् ॥२१॥

इस प्रकार साम और ऋक् शब्दों का सामञ्जस्य हो जाएगा। कवती शब्द ऋचा को और रथन्तर साम को बताता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

उक्तं क्रियाभिधानं तत् श्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ॥१॥

सि०—अग्निहोत्र शब्द नामधेय है, यह पहले कहा गया है। अन्यत्र (कुण्डपायिनामयन में) अग्निहोत्र शब्द के श्रवण में धर्म का अतिदेश है।

अपूर्वे वापि भागित्वात् ॥२॥

पूर्व०—'मासाग्निहोत्र' में विद्यमान अग्निहोत्र शब्द कर्म का नाम है, दोनों कर्म अपूर्व में होते हैं, अतः इस नामधेय का 'जुहोति' भी भागी होता है, इसलिए अतिदेश नहीं होता।

नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥३॥

उपरपक्ष—नाम और नामी का औत्पत्तिक सम्बन्ध होता है। जिस अर्थ में जो नाम औत्पत्तिक सम्बन्ध से सम्बन्धित होता है, वह सदा उसी से जानने योग्य होता है, अन्य से नहीं। यहाँ अन्य के अभिधान में कोई हेतु नहीं, अतः अतिदेश होता है।

प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात्क्रियाभिधानं स्यात्तदभावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥४॥

नैयामिक अग्निहोत्र में प्रत्यक्ष गुणसंयोग होने से दोहन आदि क्रिया का आभिधान होता है। वहाँ पर प्रत्यक्ष विदित धर्म होते हैं, इसके अभाव में यह सब अप्रसिद्ध होता है।

अपि वा सर्वत्र कर्मणि गुणार्थैषा श्रुतिः स्यात् ॥५॥

प्रकृति और विकृति याग में श्रुति गुणार्थवाली होती है अर्थात् लक्षण से नामधेय धर्मों का ग्राहक हो जाता है। श्रुतार्थ न होने पर लाक्षणिक अर्थ का ग्रहण कर लेना चाहिए।

विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्यौतिष्टोमिकानि पृष्ठान्यशित च पृष्ठशब्दः ॥७॥

'विश्वजित् सर्वपृष्ठोऽतिरात्रो भवति' वाक्य में ज्योतिष्टोमगत जो पृष्ठ कहा गया

है, वह अनुवाद है, क्योंकि ज्योतिष्टोम की विकृति विश्वजित् याग है। माहेन्द्रादि चार स्तोत्रों में भी पृष्ठ शब्द प्रयुक्त है।

षडहाद्वा तत्र हि चोदना ॥७॥

सि०—छह दिवसों में साध्य याग में जो छह (रथन्तर, बृहत्, वैरूप, वैराज, रैवत और शाक्वर) स्तोत्र बताये गये हैं, वहाँ ज्योतिष्टोम के ही छह पृष्ठों का अतिदेश है, क्योंकि विश्वजित् के ठीक पूर्व ज्योतिष्टोम का उल्लेख है और पृष्ठ शब्द से इन्हीं पृष्ठों का बोध होता है।

लिङ्गाच्च ॥८॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥९॥

ज्योतिष्टोम याग उत्पन्न अधिकारवाला है।

द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥१०॥

आक्षेप—ज्योतिष्टोम में बृहत् और रथन्तर दोनों का अधिकार है, यदि ऐसा कहो तो—

न व्यर्थत्वात्सर्वशब्दस्य ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर 'सर्व' शब्द व्यर्थ हो जाएगा। 'सर्व' शब्द का प्रयोग दो में नहीं हो सकता।

तथावभृथः सोमात् ॥१२॥

सि०—जिस प्रकार षडह याग से नेष्टों का अतिदेश होता है, उसी प्रकार सौमिक अवभृथ से यहाँ धर्मातिदेश होता है।

प्रकृतेरिति चत् ॥१३॥

आक्षेप—दर्शपौर्णमास में प्राप्त अवभृथ गुणविधि हो जाए, यदि ऐसा कहो तो—

न भक्तित्वात् ॥१४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि दर्शपौर्णमास में अवभृथ नहीं होता, अवभृथ का प्रयोग केवल स्तुतिपरक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥१६॥

द्रव्यादेश में तुषनिष्कास श्रुतिसंयोग से द्रव्य है, क्योंकि तुषनिष्कास प्रत्यक्ष सुना गया है। प्रत्यक्ष श्रुति न होने से पुरोडाश तो आनुमानिक है, वह अतिदेश से प्राप्त किया जाता है। तत्प्रकृतित्व होने से ही पुरोडाश का ग्रहण होता है।

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात्समत्वात् ॥१७॥

आतिथ्य का गुण विष्णु देवता के संयोग का विधान करता है—यह गुणविधि है। यह सम होने के कारण धर्मों का ग्रहण नहीं कर सकती।

निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥१८॥

अग्नीषोमीय पशु याग के प्रकरण में 'निर्मन्थ्य' शब्द आता है और दर्शपौर्णमास

के प्रकरण में 'बर्हि' तथा 'आज्य' शब्द आये हैं। 'विष्णु' की भाँति ये शब्द भी यौगिक हैं, अतः इनके धर्मों का अतिदेश नहीं होता।

प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ॥१९॥

अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि अन्यत्र इसका विधान नहीं किया गया है।

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥२०॥

और, उत्तरवेदि सोमयाग प्रणयन में होती है, इससे भी यह सिद्ध है कि अग्नि-प्रणयन सौमिक है, क्योंकि प्रतिषेध प्राप्त का ही होता है।

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ।-२१॥

सि०—प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमासिक याग का प्रणयन है, क्योंकि उस प्रकरण में प्रणयन शब्द सौमिक प्रणयन का नाम न होने से प्राकृत ही है।

परिसंख्यार्थं श्रवण गुणार्थमर्थवादो वा ॥२२॥

'अवाच्यं हीतरत्'—वाक्य परिसंख्या के लिए है या गुणार्थ है, अथवा अर्थवाद के लिए है। परिसंख्या में तीन दोष होते हैं। किसी गुण का भी विधान नहीं किया जाता और परिशेष में जो अर्थवाद है, वह प्रयाजनरहित होता है।

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥२३॥

उत्तरवेदि के प्रतिषेध होने से प्रथम और उत्तम का अग्नि-प्रणयन होता है।

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥२४॥

सि०—मध्य पर्वों का गत्यार्थवाद होने से प्रणयन होता है।

औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥२५॥

किसी पर्व-विशेष को आरम्भ न करके ही उत्तरवेदि का प्रतिषेध होता है।

स्वरसामैककपालामिक्षं च लिङ्गदर्शनात् ॥२६॥

अथवा, स्वरसाम, एककपाल और आमिक्षा—ये तीनों शब्द धर्म का अतिदेश करते हैं, लिङ्गबोधक वचनों के पाये जाने से।

चोदनासामान्याद्वा ॥२७॥

अथवा, स्वरसामत्व सामान्य से, एककपालत्व सामान्य और अमिक्षा सामान्य से लिङ्ग के लक्षण का परिग्रह होता है।

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥२८॥

पूर्व०—कर्म से उत्पन्न वास आदि द्रव्य के श्रूयमाण होने पर कर्म किया जाता है, जैसे जोषण आदि क्रिया के निमित्त यूप से जोषण आदि क्रियाएँ ही प्राप्त होती हैं।

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥२९॥

सि०—क्रिया के शेषभूत न होने से वे आकृति अर्थात् जातिवाचक हैं।

विशये लौकिकः स्यात्सर्वार्थत्वात् ॥३०॥

संशय होने पर लौकिक अग्नि का उपधान समझना चाहिए, क्योंकि लौकिक अग्नि का कोई कार्य निर्दिष्ट नहीं होता।

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥३१॥

सि०—शास्त्र के द्वारा कार्य का निर्देश होने से वह वैदिक नहीं होता, वैदिक को

भी यदि सर्वार्थ मान लिया जाए तो शास्त्र द्वारा कार्य का निर्देश निरर्थक हो जाता है ।

तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥३२॥

इतर वैष्णव अग्नियों के भी समान होने से उसी प्रकार से उत्पत्ति होती है। इनका कार्य भी निर्दिष्ट होता है ।

संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥३३॥

पूर्व०—उपशय (११ यूपों में से अन्तिम यूप को उपशय कहते हैं) द्रव्य संस्कृत होने चाहिएँ । यूप शब्द से यूपधर्मों का अतिदेश होता है ।

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद्गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥

सि०—गौण वृत्ति से यूप शब्द का प्रयोग होने से, गुणों का अभिधान न होने से तथा यज्ञ के अङ्ग न होने से भी यूप के संस्कारों की आवश्यकता है ।

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात्तथाभूतोपदेशात् ॥३५॥

पूर्व०—पृष्ठ शब्द कर्म का वाचक है, तथाभूत उपदेश होने से यह सिद्ध है ।

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् ॥३६॥

सि०—'पुरुषैरुपतिष्ठति' इत्यादि तथा 'अभि त्वा शूर'—इत्यादि ऋग्द्रव्यों में पृष्ठ शब्द ऋचाओं का वाचक है । वहाँ आत्मनेपद होने से विप्रतिषेध भी होता है ।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

इतिकर्तव्यताऽविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥१॥

इतिकर्तव्यता (करने की रीति न बताने) का विधान न करने से सौर्ययाग में पूर्ववत्ता है अर्थात् अन्यत्र विहित धर्मों का उसमें अतिदेश है ।

स लौकिकः स्याद्दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥२॥

पूर्व०—इतिकर्तव्यता का उपाय लौकिक होता है, क्योंकि वहाँ प्रवृत्ति = अतिदेश दृष्ट होता है ।

वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ॥३॥

प्रत्येक स्थान पर लौकिक इतिकर्तव्यता होती है, ऐसा नियम नहीं है । जहाँ वैदिक इतिकर्तव्यता के विषय में प्रत्यक्ष वचन हैं, वहाँ वह वैदिकी होती है ।

लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥४॥

सि०—इतिकर्तव्यता लिङ्गवाक्य से नियम्य हुआ करती है । प्रयाजादि वैदिक अपूर्व के गुण होते हैं । जो लिङ्ग होता है, वह उनके गुणवाला होता है ।

अपि वाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः ॥५॥

पूर्व०—ऐसे लिङ्गों द्वारा वैदिकी इतिकर्तव्यता नियत नहीं की जा सकती, क्योंकि यह अन्यायपूर्वक होनी योग्य नहीं । न्यायपूर्वक वचन ही उसका साधक होता है । जहाँ पर नित्यानुवाद वचन होते हैं, वहाँ पर ही वैदिकी इतिकर्तव्यता हुआ करती है ।

मिथो वा विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥

और, लौकिक तथा वैदिक—दोनों इतिकर्तव्यताएँ एकसाथ प्रवृत्त नहीं हो सकतीं, क्योंकि दोनों का आपस में विप्रतिषेध हो जाएगा। यदि दोनों की सहप्रवृत्ति मानी जाए तो एक के द्वारा कर्म निरपेक्ष होता है और दूसरी की प्रवृत्ति प्रतिषिद्ध होने से गुणों की यथार्थ कल्पना हो जाएगी।

भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धादभिधानवद्यथा धेनुः किशोरेण ॥७॥

समान भागित्व होने पर गुणों के अभिधान होने से दोनों में वैदिकी इतिकर्तव्यता हो जाएगी। सौर्यादि में दृश्यमान प्रयाजादि गुण इस अर्थ में अभिधायक होते हैं जैसे किशोर लिङ्ग से धेनु शब्द गोधेनु में दृष्ट-प्रवृत्तिवाला होने पर भी अश्वधेनु का भी भागी होता है।

उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ॥८॥

पूर्व०—प्रयाज और अनुयाज आदि की उत्पत्ति के समान होने से अधिकार के प्रमाण से अस्तित्व होता है।

उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥९॥

एक ही वाक्य में प्रधान की उत्पत्ति और अङ्गों का वचन सम्भव नहीं। जो प्रधान उत्पन्न होता है, वह अङ्गों की अपेक्षा किया करता है।

विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तेत तथा हि लिङ्गदर्शनम् ॥१०॥

दर्शपौर्णमास के समान सौर्ययाग विधि में पुरोडाश आदि सम्पूर्ण सम्बन्ध पाये जाते हैं। इससे प्रयाजादि लिङ्गदर्शन का समर्थन हो जाता है।

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥११॥

सि०—प्रयाजादि वाचक शब्द के श्रवण से वैदिक अभ्युपाय होता है और जहाँ कोई लिङ्ग नहीं होता वहाँ लौकिक विधान होता है।

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ॥१२॥

प्रयाजादि लिङ्ग के पूर्ववत्व होने से कर्मबोधक विधिपद सामान्य है तथा स्थालीपुलाक न्याय के समान वैदिक इतिकर्तव्यता का निरूपण करता है।

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिकागमात् तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥१३॥

पूर्व०—अहर्गण नामक याग में द्वादशाह नामक याग के धर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि एकाहिक याग द्वादशाह याग की विकृति हैं। एकाह सम्बन्धी समाख्यान हैं—ज्योति, गौ, आयु आदि। ज्योतिष्टोम में जो अधिक धर्मों की प्राप्ति होती है, वह तदाख्य है, एकाह के समान।

लिङ्गाच्च ॥१४॥

प्रमाणों के पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि द्वादशाह का अनुष्ठान करना चाहिए।

न वा क्रत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ।।१५।।

सि०—द्वादशाह नहीं करना चाहिए, एकाहिक ही कर्तव्य है, क्योंकि चोदक के द्वारा द्वादशाह की प्राप्ति होती है और नामधेय से एकाहिक प्राप्त होता है। प्रत्यक्ष होने के कारण नामधेय चोदक से बलवान् होता है। अधिक आगम वचन से होता है, नामधेय से नहीं। ज्योतिष्टोम में ज्योति आदि का अभाव होता है।

लिङ्गं संघातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवत् ।।१६।।

पूर्व०—लिङ्ग संघात का धर्म होता है और द्वादशाह संघात है। अर्थापत्ति से स्थानी द्वादशाह धर्मों को ग्रहण करता है जैसे व्रीहि आदि द्रव्य से श्रुतधर्म तत्कार्यापन्न नीवारों में प्राप्त होते हैं।

न वार्थधर्मत्वात् संघातस्य गुणत्वात् ।।१७।।

सि०—संघात के गौण होने से द्वादशोपसत्व अपूर्व=प्रधान का धर्म है, संघात का नहीं।

अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ।।१८।।

'द्रव्यवत्' यह दृष्टान्त ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकार प्रतिनिधिभूत द्रव्यों में अर्थापत्ति से स्थानीभूत द्रव्यों का भी लाभ हो जाएगा।

प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ।।१९।।

मुख्य प्रवृत्ति से नियत का लिङ्गदर्शन होता है, चोदक की प्राप्ति होने से नहीं।

विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात् ।।२०।।

अप्रकरण पठितों के प्रकृत्यर्थ होने से विशिष्ट का विहार-दर्शन होता है।

।। इतिपूर्वमीमांसादर्शने सप्तमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

।।इति सप्तमोऽध्यायः।।

अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

अथ विशेषलक्षणम् ॥१॥

अब सामान्य अतिदेशनिरूपण के पश्चात् विशेष अतिदेश के लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥२॥

जिस विध्यन्त का कुछ लिङ्ग शब्दगत या अर्थगत वैकृतिकर्म-विधि में अथवा तद्गुण वाक्य में दिखाई देता है, वह विध्यन्त के साथ अर्थ का संयोग होने से अभिधान की भाँति विध्यन्त होता है।

प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ॥३॥

पूर्व०—"**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**"—यहाँ पर सोम के अङ्गभूत दीक्षणीय आदि में प्रवृत्तित्व होने से इष्टि की सोम में प्रवृत्ति होती है, दर्शपौर्णमास विध्यन्त प्रवृत्त होने से सोम में होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से ऐष्टिक विध्यन्त होता है।

कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ॥५॥

सि०—कृत्स्न विधान से सोम में अपूर्ववत्व होता है। यह विहित इतिकर्तव्यता-वाला होता है, इसी से अपूर्व है।

स्रुगभिघारणाभावस्य च नित्यानुवादात् ॥६॥

स्रुक् के अभिघारण का अभाव नित्यानुवाद होता है, अतः सोम अपूर्व होता है।

विधिरिति चेत् ॥७॥

दर्शपौर्णमास प्रकृति होने से प्राप्त स्रुक् के अभिघारण का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वात् ॥८॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यशेष होने से यह सिद्ध होता है कि यह विधि नहीं है।

शंकते चानुपोषणात् ॥९॥

दर्शपौर्णमास में नियत उपोषण होता है, परन्तु यहाँ उपोषण न होने से शंका उत्पन्न होती है।

दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ॥१०॥

प्रयाज और अनुयाज ऐष्टिकों का दर्शन लिङ्गत्व से आदिष्ट हो जाता है, अतः सोम का अपूर्वत्व होता है।

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥११॥

इष्टियों में दर्श तथा पूर्णमास के धर्मों की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि सभी इष्टियाँ विध्यान्तापेक्ष हुआ करती हैं। यह सन्देह होता है कि यह दर्शपौर्णमासिक विध्यन्त है या सौमिक अथवा केवल दर्शपौर्णमासिक ही है।

पशौ च लिङ्गदर्शनात् ॥१२॥

प्रमाण-वाक्यों के उपलब्ध होने से पशुयाग में दर्शपौणमासिक विध्यन्त ही होता है।

दैक्षस्य चेतरेषु ॥१३॥

अन्य सवनीय पशुयागों में दीक्षा के सम्बन्ध से दैक्ष अग्नीषोमीय याग के धर्म प्राप्त होते हैं।

ऐकादशिनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥१४॥

ऐकादशिन पशुयाग में सौत्य का विध्यन्त (सवनीय पशुयाग) के धर्मों का अतिदेश होता है, दो रशना (रस्सी) रूप प्रमाणवाक्य के पाये जाने से।

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात्प्रतिपशु यूपदर्शनात् ॥१५॥

प्रतिपशु में यूप के दर्शन होने से ऐकादशिन धर्म की प्रवृत्ति पशुगणों में भी हो जाएगी, अतः ऐकादशिनों का विध्यन्त पशुगणों में ही होता है।

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥१६॥

जहाँ देवता वाचक पद का विधान नहीं होता वहाँ सोम का विध्यन्त (सोम के धर्म का अतिदेश) होता है।

गणेषु द्वादशस्य ॥१७॥

अहर्गणों में द्वादशाह याग के धर्मों का अतिदेश होता है।

गव्यस्य च तदादिषु ॥१८॥

संवत्सर सत्रों में गवामयन के धर्मों का अतिदेश होता है।

निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥१९॥

निकाय (निकाय नाम है उन धर्मों का जो संघातरूप से एक नियत क्रम में आते हैं) यज्ञों में पहले यज्ञ के धर्मों का पिछले यागों में अतिदेश होता है।

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ॥२०॥

सौर्य-यागरूपी कर्म की प्रवृत्ति न होने के कारण तथा फल, नियम, कर्ता तथा समुदाय आदि का उससे सम्बन्ध होने के कारण फलादि की अप्रवृत्ति है, उनका अतिदेश नहीं होता। कर्म विध्यन्त-प्रवृत्त नहीं होता, विध्यन्त से धर्म प्रवृत्त होते हैं।

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥२१॥

कर्म का उपकार करने के लिए ही धर्मों की प्रवृत्ति हुआ करती है। फल पुरुष का

उपकार करता है, कर्म का नहीं। फल को पुरुषार्थ कहा भी गया है। इसी प्रकार नियमादि भी कर्म के धर्म नहीं होते।

अश्रुतित्वाच्च ॥२२॥

प्रधान का अतिदेश कथन करने के लिए कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है।

गुणकामेष्वाश्रितत्वात्प्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

गोदोहन आदिरूप गुणों की प्रणयनाश्रित होने से प्रवृत्ति होती है।

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥२४॥

कर्म का भेद होने से गोदोहन आदि की निवृत्ति हो जाती है।

अपि वाऽतद्विकारत्वात्क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥२५॥

ऐसे स्थलों में तद्विकारत्व न होने से प्रवृत्ति भी हो जाया करती है, जैसे खदिर क्रतु के लिए ही विकार है, अतः यह क्रत्वर्थ ही होता है।

एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥२६॥

एक विधिविहित होने से सौर्ययाग एक अविभक्त कर्म है। एक कर्म में समुच्चय सम्भव नहीं किन्तु विकल्प होता है।

लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ॥२७॥

पूर्व०—उभयत्र ओषधिद्रव्यरूपलिङ्ग साधारण होने से विकल्प होता है।

एकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्वाद्विकारो हि ॥२८॥

सि०—आग्नेय और सौर्य—दोनों एक देवतत्त्व के लिङ्ग होने से नियम्य हो जाता है कि आग्नेय है, पूर्ववत्व होने से विकार है। सौर्य पूर्ववान् है। सभी विकृतियाँ पूर्ववती होती हैं।

अश्रुतित्वान्नेति चेत् ॥२९॥

एकत्व श्रूयमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्याल्लिङ्गभावात् ॥३०॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वाक्यशेष में एकत्व के लिङ्ग होने से यहाँ पर एकत्व की व्यवस्था है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥३१॥

इसी प्रकार अनुवाक में भी एकत्व का श्रवण होता है।

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् ॥३२॥

देवता-सामान्य और हवि-सामान्य—इन दोनों में कौन विशेष बलवान् है, ऐसी शंका होने पर हवि से विध्यन्त को नियम्य करना चाहिए, क्योंकि देवता हवि की अपेक्षा बहिरङ्ग है और कर्म अन्तरङ्ग है।

तेन च कर्मसंयोगात् ॥३३॥

और, उस हवि से कर्म का संयोग होता है, अतः हवि प्रधान शब्द है।

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ॥३४॥

याग में देवता का श्रवण गुणभूत होता है। देवता तो आहुतियाँ देते नहीं। द्रव्य की आहुतियाँ दी जाती हैं, अतः हवि सामान्य ही बलवान् होता है।

हिरण्यमाज्यधर्मस्तेजस्त्वात् ॥३५॥

पूर्व०—कृष्णल (सोने के छोटे-छोटे टुकड़े जिनकी आहुति दी जाती है) चरु में आज्य धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि स्वर्ण और आज्य में तेजस्वितारूप समान धर्म पाया जाता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥३६॥

तथा, हिरण्य=सुवर्ण में आज्य के और भी बहुत-से धर्म पाये जाते हैं।

औषधं वा विशदत्वात् ॥३७॥

औषध का हिरण्य में विध्यन्त होता है, क्योंकि दोनों में विशदत्व=कठिनत्वादि धर्म विद्यमान रहते हैं।

चरुशब्दाच्च ॥३८॥

और, चरु शब्द औषध का प्रापक है, अतः औषध का लिङ्ग बलवान् है।

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥३९॥

तथा, उस आज्य में दर्शपौर्णमासिक श्रवण सुना जाता है, अतः हिरण्य में औषधि के धर्मों का अतिदेश है।

मधूदके द्रव्यसामान्यात्पयोविकारः स्यात् ॥४०॥

मधु और उदक=जल में दूध के धर्मों का अतिदेश है, क्योंकि दोनों में द्रवत्व की समानता है।

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥४१॥

सि०—वर्ण की समानता होने से मधु और उदक में आज्य=घृत के धर्मों का अतिदेश होता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥४२॥

और मधु तथा उदक के बहुत-से उत्पवन (शोधन) आदि आज्य के धर्म नहीं होते। पय के दोहन आदि धर्म मधु और उदक में नहीं पाये जाते।

पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥४३॥

पहले जो द्रवत्व सामान्य बताया गया है, वह अवशिष्ट होता है। आज्य के गर्म करने से उसमें द्रवत्व आता है, अतः मधु और उदक मे आज्य के धर्मों का अतिदेश है, पय के धर्मों का नहीं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्यां ग्रहेषु ताच्छब्द्यात् ॥१॥

पूर्व०—वाजिन् और सौत्रामणी याग में ग्रह नामक पात्र में सोम के धर्मों का अतिदेश है, सोम शब्द के श्रूयमाण होने से।

अनुवषट्काराच्च ॥२॥

अनुवषट्कार का प्रयोग भी सोम के धर्मों को दिखलाता है।

समुपहूय भक्षणाच्च ॥३॥

समुपहूत करके सोम का भक्षण करना सोम का धर्म है, उसी प्रकार के भक्षण का निर्देश यहाँ भी है।

क्रयणश्रपणपुरोरुगुपयामग्रहणासादनवासोपनहनञ्च तद्वत् ॥४॥

तथा, क्रयण, श्रपण, पुरोरुक्, उपयाम, ग्रहण, आसादन, वासोप और नहन—ये सभी धर्म सुरा के समान सोम में भी होते हैं, अतः वाजिन् और सौत्रामणी में सोम धर्मों का अतिदेश है।

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥५॥

सि०—वाजिन् और सौत्रामणी यज्ञ दर्शपौर्णमासिक याग के विकार होने से उनमें दर्शपौर्णमासिक विध्यन्त होता है।

प्रशंसा सोमशब्दः ॥६॥

यहाँ सोम शब्द प्रशंसा के अर्थवाला है, विध्यर्थवाचक नहीं, क्योंकि विधायक का अभाव है।

वचनानीतराणि ॥७॥

प्राप्ति का अभाव होने से अन्य वचन वाचनिकरूप में विधीयमान हैं।

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥८॥

और, जो व्यपदेश होता है, वह भी उसी के समान हुआ करता है।

पुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥९॥

पशुओं के पुरोडाश का निषेध है, क्योंकि ऐष्टिक धर्म का अतिदेश में लिङ्ग है।

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात् ॥१०॥

पूर्व०—पशुयाग पुरोडाश के धर्मवाला है, क्योंकि दोनों का देवता समान है।

प्रोक्षणाच्च ॥११॥

और, पुरोडाश की भाँति पशु का भी प्रोक्षण होता है, इस हेतु से भी सिद्ध है कि पुरोडाश के धर्मों का पशुयाग में अतिदेश है।

पर्यग्निकरणाच्च ॥१२॥

पर्यग्निकरण भी पुरोडाश का एक धर्म है और वह पशुयाग में भी देखा जाता है, अतः पशुयाग पुरोडाश का विकार सिद्ध होता है।

सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ॥१३॥

सि०—अग्नीषोमीय पशुयाग में सान्नाय्य के धर्मों का अतिदेश होता है, पुरोडाश के धर्मों का नहीं।

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥१४॥

सान्नाय्य हविष् में जैसे पात्र की आवश्यकता होती है, वैसे ही पशु के खाने आदि के लिए पात्र की आवश्यकता होती है, अतः सान्नाय्य धर्म पशुयाग में कर्तव्य हैं, पुरोडाश में नहीं।

दध्नः स्यान्मूर्तिसामान्यात् ॥१५॥

पूर्व०—घनत्व सामान्य धर्म के कारण सान्नाय्य धर्मवाले पशुयाग में दधि के धर्मों का अतिदेश है।

पयो वा कालसामान्यात् ॥१६॥

सि०—पशु और पयः—दोनों में सद्यः कालतारूप धर्म समान है। इस काल की समानता से पयः ही पशु को विकृत करता है, दधि नहीं।

पश्वानन्तर्यात् ॥१७॥

तथा, पशु से पयः का आनन्तर्य भी होता है। पयः दधि से अन्तरङ्ग है।

द्रवत्वं चाविशिष्टम् ॥१८॥

पशु और पयः दोनों में द्रवत्वरूप धर्म समान है।

आमिक्षोभयभाव्यत्वादुभयविकारः स्यात् ॥१९॥

पूर्व०—आमिक्षा दूध और दही दोनों के मिलाने से बनती है, अतः उसमें दूध और दही दोनों के धर्म कर्तव्य हैं।

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥२०॥

सि०—दोनों में से एक के धर्म का अतिदेश मानना योग्य है, एक विधि-विहित होने से।

दधिसंघातसामान्यात् ॥२१॥

पूर्व०—दधि के धर्मों का अतिदेश करना चाहिए, क्योंकि दधि और आमिक्षा दोनों में घनत्व समान रूप से पाया जाता है।

पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ॥२२॥

सि०—आमिक्षा याग में पयोयाग के धर्मों का अतिदेश होगा, क्योंकि आमिक्षा में दूध की प्रधानता है, न कि दही की। लोकव्यवहार में भी थोड़ा-सा दही जो खाने के काम में नहीं आता, वह दही बनाने के लिए पर्याप्त होता है।

धर्मानुग्रहाच्च ॥२३॥

और सद्यःकालतारूप धर्मानुकूल होने से भी पयोधर्म का आमिक्षा में अतिदेश है।

सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरेककर्म्यात् ॥२४॥

पूर्व०—द्वादशाह—सत्र और अहीन दोनों संज्ञाओं वाला है। उस (द्वादशाह) की दोनों प्रकार की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि एककर्म्यता दोनों में होती है।

अपि वा यजति श्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥२५॥

सि०—जहाँ 'यजति' पद का प्रयोग होता है, वे 'अहीन' होते हैं और उनमें अहीनों के धर्म का अतिदेश होगा। द्वादशाहरूप प्रकृति के साथ भी समान शब्द ही होता है।

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजति चोदनात् ॥२६॥

द्विरात्र आदि याग एकादशरात्र से अहीन होते हैं। वहाँ पर अहीनभूत की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि उनकी प्रेरणा 'यजति' शब्द से की जाती है।

त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वासनोपायि चोदनात् ॥२७॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, क्योंकि उनमें 'आसन', 'अपायि' आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, अतः इनमें सत्र के धर्मों का अतिदेश होगा।

लिङ्गाच्च ॥२८॥

त्रयोदशरात्र आदि सत्र हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात्पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य दर्शनात् ॥२९॥

पूर्व०—पञ्चदशरात्र और कुण्डपायिनामयन—ये दोनों अहीन हैं, अतः इनमें अहीनों के धर्मों का अतिदेश है। अन्यतर से अतिरात्र भूतों में अहीनत्व श्रूयमाण होता है।

अहीनवचनाच्च ॥३०॥

'अहीन' वचन के पाये जाने से भी पञ्चदशरात्र आदि अहीन ही हैं।

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥३१॥

सि०—'अपायि' शब्द का विधान उपलब्ध होने से पञ्चदशरात्र आदि सत्र हैं, अहीन नहीं।

सत्रलिङ्गं च दर्शयति ॥३२॥

तथा, लिङ्ग=प्रमाण भी यही सिद्ध करते हैं कि पञ्चदशरात्रादि सत्र हैं।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥१॥

पूर्व०—हविर्गण में उत्तर अग्नीषोमीय का पर-शुचि देवता विकार होता है। देश की समानता होने से पूर्व-पूर्व का विकार होता है।

देवताया नियम्येत शब्दवत्त्वादितरस्याश्रुतित्वात् ॥२॥

सि०—देवता से नियम होता है, क्योंकि देवता में शब्दत्व है। देश=क्रम से नियम नहीं है, क्योंकि क्रम श्रूयमाण नहीं है। देवताओं का आदर और क्रम की अवहेलना करनी चाहिए।

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् ॥३॥

पूर्व०—गणचोदना=विधान में जिसका लिङ्ग होता है, उसी की आवृत्ति चोदना सामान्य होने से आग्नेय की भाँति होती है। आग्नेय का जैसे विध्यन्ताभ्यास होता है, वैसे ही यहाँ भी हुआ करता है।

नानाहानि वा संघातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गे न चोदनात् ॥४॥

सि०—यागों का गुण संघात होता है, उस गुण से भिन्न-भिन्न अहों का जो धर्म है, वह अतिदष्ट किया जाता है। सप्तरात्र में चोदना से प्रवृत्त द्वादशाहिक चार हैं, उन्हें अनूदित करके त्रिवृत् किया जा सकता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

'यदि त्रिवृत् अभ्यास होता है तो सभी अग्निष्टोम हो जाएँगे'—ऐसा मानने पर अन्य अर्थ की उपलब्धि होती है।

कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ॥६॥

पूर्व०—कहीं-कहीं कर्मविशेष में काल का अभ्यास श्रूयमाण होता है, वहाँ द्वादशाहिकों की ही कर्मभेद से प्रवृत्ति होती है, यह आचार्य बादरायण का मत है।

तदावृत्तिं तु जैमिनिरह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥७॥

सि०—आचार्य जैमिनि षडह की आवृत्ति मानते हैं, क्योंकि चौबीस दिनों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षणग्रहणात् ॥८॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम की संस्थाओं में ज्योतिष्टोम का अभ्यास प्रतीत होता है, कृत नामक ज्योतिष्टोम का ग्रहण होने से।

अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् ॥९॥

सि०—विधान के द्वारा अधिकृत होने से प्रकृति तद्विशिष्ट (द्वादशाहिक संस्था विशिष्ट) होती है। अग्निष्टोम आदि अभिधान संस्था-निमित्त हैं, ज्योतिष्टोम के अभिधायक नहीं।

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥१०॥

पूर्व०—द्वादशाह गण होने से उपचय (मन्त्र बढ़ाना) धर्म की प्राप्ति होती है, क्योंकि शतोक्थ्य की प्रकृति द्वादशाह के समान है।

एकाहाद्वा तेषां समत्वात्स्यात् ॥११॥

सि०—शतोक्थ्य और द्वादशाह—दोनों में समानता होने से एकाह ज्योतिष्टोम से उपचय होता है।

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रवृत्त्यधिकारात्संख्यात्वादग्निष्टोम-वदव्यतिरेकात्तदाख्यत्वम् ॥१२॥

पूर्व०—गायत्रियों में त्रिष्टुप्, जगती इत्यादि प्रकृतियों का अवच्छेद (अक्षर-लोप) होता है, प्रकृति का अधिकार होने से। गायत्री में चौबीस अक्षर की संख्या होती है, इस संख्या का कभी व्यभिचार नहीं होता (गायत्री में सदा चौबीस ही अक्षर होते हैं)। अव्यतिरेक के कारण, अग्निष्टोम की भाँति गायत्री का आख्यत्व होता है।

तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनात् ॥१३॥

और, गायत्री की अपेक्षा से भिन्न संख्यावाची त्रिष्टुप्, जगती आदि में नित्य संख्यावाचक गायत्री वचन है।

न विंशतौ दशेति चेत् ॥१४॥

वीस संख्या में दस संख्या नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

एकसंख्यमेव स्यात् ॥१५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो एक संख्या में ही सब का समावेश हो जाएगा।

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वविषयत्वात् ।।१६।।

सि०—गुण होने से गायत्री शब्द चौबीस अक्षरयुक्त द्रव्य=ऋचा का वाचक है। यह संख्या नहीं है, सर्वविषयक न होने से।

गोत्ववच्च समन्वयः ।।१७।।

'गौ' शब्द गमन करने (जाने) वाले सभी सामान्य द्रव्यों का वाचक हो सकता है, परन्तु उसका समन्वय गलकम्बलवाली गौ में ही होता है, इसी प्रकार गायत्री भी ऋग्वचन में ही संगत होती है।

संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ।।१८।।

और, चौबीस संख्यावाचक 'चतुर्विंश' शब्द है, उक्त संख्या शब्दवाली है।

इतरस्याश्रुतत्वाच्च ।।१९।।

इतर जो ऋग्वेदादि की ऋचाएँ हैं, उनकी श्रुति न होने से भी गायत्री शब्द अर्थवान् है। यहाँ संख्या का कोई प्रयोजन नहीं है, अतः गायत्री ऋचाओं का ही आगम करना चाहिए।

द्रव्यान्तरेऽनिवेशादुक्थ्यलोपैर्विशिष्टं स्यात् ।।२०।।

अग्निष्टोम शब्द का किसी भी द्रव्यान्तर में निवेश न होने से, यह केवल अग्निष्टोमान्तता को बतलाता है। उक्थ्यलोप के बिना द्वादशाहिकों की अग्निष्टोमान्तता नहीं होती, अतः उक्थ्यलोप अवश्य होना चाहिए।

अशास्त्र लक्षणत्वाच्च ।।२१।।

गायत्री शास्त्रलक्षणा है और 'शताग्निष्टोम' में उक्थ्यस्तोत्र अशास्त्र लक्षणवाले हैं, अतः अशास्त्रलक्षणत्व होने से वे गायत्री का बाध नहीं कर सकते।

उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ।।२२।।

ऋचा का नाम गायत्री है और यह स्वभावसिद्ध है, अतः जगती आदि में गायत्री शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से ही होता है।

वचनमिति चेत् ।।२३।।

जहाँ विधि है, वहाँ शब्दार्थ से व्यवहार होता है, अतः यहाँ पर संख्या में गायत्री है, यदि ऐसा कहो तो—

यावदुक्तम् ।।२४।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह एक ही स्थान में संख्या अर्थवाला है, अन्यत्र नहीं। लक्षणा से कहना भी उचित नहीं।

अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि संख्याविधानम् ।।२५।।

यदि संख्या में गायत्री शब्द का विधान माना जाए तो प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास में गायत्री का विकल्प मानना पड़ेगा, अतः संख्या विधान उचित नहीं।

ऋग्गुणत्वान्नेति चेत् ।।२६।।

ऋग्गुण होने से प्रकृति में विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि ऋग्गुण उपसंगृहीत होता है।

तथा पूर्ववति स्यात् ।।२७।।

जैसे अपूर्व में होता है, वैसे ही पूर्ववान् प्रकृतिभूत 'बृहस्पति' भी सबमें हो जाएगा।

गुणावेशश्च सर्वत्र ।।२८।।

और, गुण चौवीस संख्या का तो सर्वत्र आवेश होता है। (सूत्र में 'च' का प्रयोग 'तु' के स्थान पर होने से संख्याभिधान गायत्री शब्द में प्रकृति गायत्रियों का आगम प्राप्त नहीं होता।

निष्पन्नग्रहणान्नेति चेत् ।।२९।।

गायत्री शब्द रूढ़िरूप में ग्रहण होता है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेहापि स्यात् ।।३०।।

उस प्रमाण से यहाँ भी हो जाता है।

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छब्देष्वपि प्रसिद्धः स्यात् ।।३१।।

यदि असंशय में भी प्रकृत्युपबन्धन (अतिदेश-शास्त्र के अनुग्रह) से अगायत्री में गायत्री शब्द की कल्पना करनी पड़े तो कुशों में शर शब्द की कल्पना करनी चाहिए।

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ।।३२।।

चौवीस अक्षरगत संख्या में गायत्री शब्द का प्रयोग देखा गया है, उससे कल्पना की जा सकती है, यदि ऐसा कहो तो—

तथा शरेष्व. . .।३३।।

उसी प्रकार 'शर' शब्द का प्रयोग भी कुशाग्रों में देखा जाता है।

भक्त्येति चेत् ।।३४।।

'शर' शब्द का प्रयोग लक्षणावृत्ति से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ।।३५।।

उसी प्रकार से इतर में भी ऐसा ही होता है, अर्थात् गौणवृत्ति से प्रयुक्त गायत्री शब्द स्वार्थ में वर्तमान रहते हुए तत्सदृश का गमन करता है। इससे यह सिद्ध है कि संख्या में गायत्री शब्द नहीं आता, ऋचा में ही आता है।

अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ।।३६।।

त्रिष्टुप् और जगती आदि के एक देश में अर्थ की समाप्ति न होने से, उनके एक देश में गायत्री शब्द का प्रयोग नहीं होता।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ।।१।।

सि०—'दर्विहोम' यज्ञ का नाम है, होम के संयोग से।

स लौकिकानां स्यात् कर्त्तुस्तदाख्यत्वात् ।।२।।

पूर्व०—'दर्विहोम' लौकिक कर्मों का नामधेय होता है, क्योंकि लौकिक कर्मों में उसके कर्ता का स्मरण होता है।

सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥३॥

सि०—'दर्विहोम' लौकिक और वैदिक—दोनों प्रकार के कर्मों का नाम होता है। 'अष्टक' लौकिक होम है और 'वास्तुहोम' वैदिक।

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥४॥

होम शब्द का संयोग होने से 'दर्विहोम' नाम होम का है, याग या यज्ञ का नहीं। याग के लिए 'यजति' शब्द आता है। होम वह है जिसमें अग्नि में आहुतियाँ डाली जाती हैं, यह अर्थ है 'जुहोति' शब्द का।

द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ॥५॥

पूर्व०—'दर्वि से होम'—इसमें द्रव्य का उपदेश होने से यहाँ गुणविधि है, इसे कर्माभिधान कहना उचित नहीं।

न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां चान्यार्थविधानात् ॥६॥

सि०—लौकिकों के आचार से गृहीत दर्वि होती है और जो श्रौतकर्म होते हैं, उनके भी अन्य होमार्थ पात्र कहे गये हैं, क्योंकि वहाँ स्रुवा आदि का विधान होता है, अतः दर्विहोम को गुणविधि कहना उचित नहीं।

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥७॥

'दर्विहोम' में अन्य पात्रों का दर्शन होने से भी यह गुणविधि नहीं है।

तथाग्निहविषोः ॥८॥

जिस प्रकार पात्र कार्यों में दर्वि पूज्यमान नहीं है, वैसे ही अग्नि-हवि के कार्य में भी 'दर्वि' का निवेश नहीं होता।

उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः ॥९॥

अग्नि के कर्म में दर्वि का उपदेश नहीं होता, क्योंकि अन्य द्रव्य अग्नि के दहन, पचन, प्रकाशन आदि कार्य करने में असमर्थ होता है, अतः गुणविधि नहीं है।

तस्मिन्सोमः प्रवर्त्तेताव्यक्तत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त (सोम के धर्मों की प्रवृत्ति) है, अव्यक्तत्व-रूप समानता होने से। (सोम अव्यक्त चोदनावाला है, यह भी उसी प्रकार का है।)

न वा स्वाहाकारेण संयोगाद् वषट्कारस्य च निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ॥११॥

सि०—दर्विहोम में सौमिक विध्यन्त कहना उचित नहीं, क्योंकि दर्विहोम स्वाहा-कार से संयुक्त होते हैं और तन्त्र में सौमिक में वषट्कार का निर्देश होने से विप्रतिषेध हो जाता है। दर्विहोमों को अपूर्व मान लेने से यह विरोध नहीं होता।

शब्दान्तरत्वात् ॥१२॥

भिन्न-भिन्न शब्दों के होने से भी दर्विहोम में सौमिक धर्मों की प्राप्ति अयुक्त है। सोम 'यजति' चोदनावाला होता है और दर्विहोम 'जुहोति' चोदनावाले हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

औदुम्बरी होम में स्वाहाकार के लिङ्ग के देखे जाने से भी यहाँ सौमिक विध्यन्त नहीं होता, यदि सौमिक विध्यन्त होता तो वषट्कार होना चाहिए था।

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रतिषिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्ग-दर्शनात्पशुवत् ॥१४॥

आक्षेप—स्वाहाकार-विधि उत्तरार्थ (विकृति के लिए) होती है। जैसे साप्तदश्य-वाचक मित्रविन्दादि विकृति में सन्निविष्ट होते हैं, वैसे ही सौमिक धर्म की प्रवृत्ति का प्रतिषेध नहीं होता तथा लिङ्गभूत वाक्य के दर्शन से पशुदेयक याग में पुनः प्रवृत्ति होती है।

अनुत्तरार्थो वाऽर्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राथम्यस्योपरोधः स्यात् ॥१५॥

समा०—स्वाहाकार विधि अनर्थक होने से प्रकृतिभिन्न के लिए नहीं है। अनर्थक होने से प्राकृत का उपरोध अर्थात् वषट्कार का बाध हो जाता है।

न प्रकृतावपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—प्रकृतिभूत नारिष्ट होमादि में स्वाहाकार का सन्निवेश नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥१७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि पहले (३.३.१४) कहा जा चुका है कि जहाँ-जहाँ श्रुत्यादि का समवाय होता है, वहाँ 'पर' का दौर्बल्य होता है।

तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तित्वाद्विधिः स्यात् ॥१८॥

पक्षान्तर का उत्थापक सूत्र—दर्विहोम की चोदना समस्त दर्शपौर्णमास इष्टियों में प्रवृत्त होने से अग्निहोत्रादि में नारिष्टहोम प्रवर्तक विधि प्राप्त हो जाती है जो जिसका धर्म देखा गया है, उसकी अदृश्यता होने पर उसका अनुमान कर लिया जाता है।

शब्दसामर्थ्याच्च ॥१९॥

चोदना = विधि की समानता होने से धर्म की प्राप्ति होती है, इसमें शब्द-सामर्थ्य ही हेतु होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२०॥

और, प्रमाण पाये जाने से भी उनकी प्रवृत्ति होती है।

तत्राभावस्य हेतुत्वाद्गुणार्थे स्याददर्शनम् ॥२१॥

उत्थापित पक्षान्तर का खण्डन—त्र्यम्बकों के अप्रतिष्ठत्व के उपपादन के लिए इध्मादि के अभाव को हेतुत्व कहा जाता है। इस अभाव के हेतु होने से हविर्होम में नारिष्ट होमों की प्रवृत्ति नहीं होती।

विधिरिति चेत् ॥२२॥

यह इध्मादि का प्रतिषेध करनेवाली विधि है, यदि ऐसा कहो तो—

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थे च समाधानं नानात्वेनोपपद्यते ॥२३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि इसकी विधि अन्य कही गई है, यहाँ उसका वाक्य-शेष है। यदि इन्हें विधियाँ कल्पित किया जाए तो फिर पृथक् वाक्य होंगे और व्यवहित कल्पना हो जाएगी। अनुवादस्वरूप होने से उनका विधायकत्व नहीं होता।

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ॥२४॥

पूर्व०—जिन यागों की अपर अग्नियों में होम होता है, उनकी प्रवृत्ति हो जाएगी क्योंकि वहाँ कोई विरोध नहीं होता।

तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ॥२५॥

सि०—दर्विहोम में ओषधि द्रव्य व्रीहि आदि विधीयमान हैं, अतः उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। वे द्रव्य स्थान से गम्यमान होते हैं, अतः उनकी प्रवृत्ति में कोई प्रयोजन नहीं होता।

लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ॥२६॥

पूर्व०—शेष होमों (पिष्टलेप और फलीकरण) में औषध सामान्य लिङ्ग से प्रवृत्त होता है।

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्तिव्यवस्थानादर्थस्यापरिणेयत्वाद् वचनादतिदेशः स्यात् ॥२७॥

उपसंहार सूत्र—यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि ये दोनों होम प्रतिपत्तिकरण हैं और दर्विहोम प्रधान कर्म होते हैं। इनका बहुत अधिक भेद है। प्रतिपत्तित्व से निर्वापण आदि धर्मों के ये दोनों अप्रयोजक होते हैं, अतः दर्विहोमों की धर्मप्राप्ति किसी प्रकार भी युक्त नहीं है, परन्तु सर्वत्र अप्राप्ति का स्वभाव नहीं है, वचन से अतिदेश होता है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शनेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः ॥

नवमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥१॥

दर्शपौर्णमास कर्म प्रधान होते हैं, क्योंकि अपूर्व होने से वे विधिगम्य हैं। उसके द्रव्यों और यजति में जो संस्कार है, वह अपूर्व प्रयुक्त होता है। वे तदर्थ हैं, इसीलिए किये जाते हैं।

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥२॥

पूर्व०—अवहनन नामक संस्कार में युज्यमान प्रोक्षण आदि धर्म तदर्थ (अवहनन के लिए) होने से उसमें प्रयुक्त हो जाते हैं।

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयुक्तं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥३॥

सि०—अवहननरूप कर्म से अपूर्व का सम्बन्ध है और यज्ञ के साथ उसका प्रोक्षण सम्बन्ध है, अतः संस्कार की तदर्थता होने से उसकी यज्ञप्रयुक्तता होती है।

फलदेवतयोश्च ॥४॥

पूर्व०—जो मन्त्र फल और देवता का प्रकाश करनेवाले हैं, उन्हें भी अपूर्व प्रयुक्तता प्राप्त होती है।

न चोदनातो हि ताद्गुणयम् ॥५॥

सि०—फल और देवता के स्वरूप को प्रकाशित करने में मन्त्रोच्चारण प्रयोजक नहीं है, क्योंकि फल और देवता के प्रकाश द्वारा अपूर्व प्रयुक्त होता है।

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

पूर्व०—समस्त देवता सम्पूर्ण धर्मों के प्रयोजक हो सकते हैं। देवता भोजनरूप याग देवता के लिए ही होता है, जैसे अतिथि के लिए लाया गया पदार्थ अतिथि के लिए होता है।

आर्थपत्याच्च ॥७॥

और, देवताओं के अर्थपति होने से भी यही सिद्ध होता है।

ततश्च तेन सम्बन्धः ॥८॥

इससे देवता का फल के साथ सम्बन्ध होता है। देवता यज्ञ करनेवाले को फल प्रदान करते हैं। इसी तथ्य को स्मृति और आचार से भी दृढ़ किया जाता है।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥९॥

सि०—देवता के लिए फल का प्रयोजन मानना उचित नहीं है। यज्ञकर्म ही प्रधान होता है। इसमें शब्दपूर्वत्व हेतु होता है। वही प्रयोजक हुआ करता है। देवता की श्रुति गौणरूप से होती है। जो स्मृति, आचार और अन्यार्थ दर्शनों द्वारा देवता का भोजन करना कहा है, देवता के विग्रहरहित होने से उसका भी प्रतिवाद हो जाता है।

अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वात् ॥१०॥

आतिथ्य में अतिथि की प्रीति का विधान होता है। जैसे अतिथि प्रसन्न हो वही किया जाना चाहिए किन्तु इस कर्म में प्रीति-विधान का अभाव है, अतः अतिथिवत् कहना उचित नहीं है।

द्रव्यसंख्याहेतुसमुदाय वा श्रुतिसंयोगात् ॥११॥

पूर्व०—व्रीहि आदि द्रव्य, परिधिगत त्रित्वादि संख्या, होम में शूर्पगत अन्न हेतुत्व, चतुर्होत्राभिमर्शन में पौर्णमासी यागगत समुदायत्व—ये चारों प्रोक्षण आदि के संयोजक हैं, द्वितीय आदि श्रुति के साथ सम्बन्ध होने से।

अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥१२॥

और, जाति के धर्म को अपूर्वप्रयुक्त मान लेने पर द्रव्य के साथ धर्म की व्यवस्था नहीं हो सकती, अतः द्रव्यादि प्रयुक्त ही प्रोक्षण आदि होते हैं।

अर्थो वा स्यात्प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य च गुणभूतत्वात् ॥१३॥

सि०—इतर द्रव्यादि की कर्तव्यता चोदना=विधि न होने से अर्थ ही इनका प्रयोजक होता है। अपूर्व के प्रति इनका गुणभूतत्व होने से श्रवण होता है।

अपूर्वत्वाद्व्यवस्था स्यात् ॥१४॥

'ऐन्द्रवायव'—यह अपूर्व है। इससे व्यवस्था होती है।

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥१५॥

द्रव्यादि प्रयुक्त प्रोक्षण आदि धर्मों के स्वीकार करने से धर्म की सर्वविषयता हो जाती है।

तद्युक्तस्येति चेत् ॥१६॥

सर्वविषयता प्रकरणयुक्त धर्म की ही होगी, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१७॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरणयुक्त व्रीहियों का निर्वपन कहीं भी श्रूयमाण नहीं होता और वाक्य से बाधित प्रकरण धर्म का नियम करने में समर्थ नहीं होता।

अधिकारादिति चेत् ॥१८॥

प्रकरण न होने पर भी अध्वर्यु अधिकार से ज्ञान प्राप्त कर लेगा कि ये व्रीहि भक्तार्थ हैं, या कार्यार्थ। वहाँ पर जो कार्यार्थ होंगे, उनका ही प्रोक्षण करेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः पृथक् सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञप्रयोजनम् ॥१९॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी व्रीहि तुल्य ही होते हैं और तुल्य में अधिकार

सम्भव नहीं है। उनका कोई पृथक् नाम नहीं होता। जो भक्तार्थ हैं, वे ही कार्यार्थ भी होते हैं। पृथक् होनेवालों का यज्ञार्थ से निर्वाप श्रूयमाण होता है, अतः धर्म को सर्व-विषयत्व की प्राप्ति होती है। पूर्व हेतु से प्रोक्षण आदि का अपूर्व प्रयुक्तत्व होता है।

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्यात् श्रुतिनिर्देशात्तस्य च तत्र भावात् ॥२०॥

अग्नीषोमीय से पहले होनेवाले पदार्थों का उपांशुत्व (मौन अनुष्ठान) श्रुति से होता है और इस प्रकार जातीयक का पूर्वदेश में भाव होता है।

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥२१॥

पूर्व०—यज्ञ का वाक्य के साथ सम्बन्ध होने से परमापूर्व प्रयुक्त उपांशुत्व होता है।

अनुवादश्च तदर्थवत् ॥२२॥

और, अनुवाद = अर्थवाद तद्देश पदार्थ से ही हुआ करता है।

प्रणीतादि तथेति चेत् ॥२३॥

प्रणीता, प्रणयन आदि सम्बन्धी वाङ्नियम (वाणी संयम) परमापूर्व प्रयुक्त है, यदि ऐसा कहो तो—

न यज्ञस्याश्रुतित्वात् ॥२४॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ पर यज्ञ की विवक्षा नहीं है।

तद्देशानां वा संघातस्याचोदितत्वात् ॥२५॥

सि०—पूर्वदेश-सम्बन्धी पदार्थों में उपांशुत्व प्रयुक्त होता है। ग्रह, यजि और अभ्यास आदि संघात को उपांशुत्व का विधान नहीं होता।

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं संघातात्पौर्णमासीवत् ॥२६॥

पूर्व०—कर्षण, प्रोक्षण आदि अग्नि के धर्म प्रति इष्टका में होने चाहिएँ, संघात का होना ही इसमें हेतु है। जैसे पौर्णमासी याग में होता है, वैसे ही यहाँ भी होना चाहिए।

अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात ॥२७॥

सि०—इष्टका में अलग धर्म होते हैं और अग्नि में अलग। अग्निरूप द्रव्य एक होने से इष्टका तदर्थ (अग्नि के लिए) होती है।

चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथात्वं स्यात् ॥२८॥

विधान समुदायपरक होने से पौर्णमासी याग में भी मानने योग्य है।

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥२९॥

पूर्व०—विशेष का श्रवण न पाये जाने से पत्नीसंयाजान्तत्व सभी 'अहन' नामक यागों में हो सकता है।

लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥३०॥

सि०—उत्तम याग से पूर्व सब यागों में पत्नीसंयाजान्तत्व होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तं संस्थापनस्य ॥३१॥

आक्षेप—जैसे दीक्षा का उन्मोचन वचन नक्त संस्थापन का विध्यर्थवाद है, वैसे ही यह भी अर्थवाद है।

स्याद्वाऽनारम्य विधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥३२॥

समा०—अन्त में लिङ्ग का विरोध होने से उत्तम से पहले पत्नीसंयाजान्तता होती है।

अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात्स्थानधर्मः स्यात् ॥३३॥

सामिधेनी ऋचाओं के प्राथम्य से जो अभ्यास है, वह स्थान-धर्म होता है।

इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तताऽऽरम्भणीया ॥३४॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास की आवृत्ति में प्रयाज की भाँति आरम्भणीया इष्टि का आवर्तन होता है।

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीवप्रयोगात् ॥३५॥

सि०—आरम्भ के संयोग से एक बार ही आरम्भणीया इष्टि का अनुवर्तन करना चाहिए, फिर एक ही आरम्भ यावज्जीवन चलता है।

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्राचोदितमप्राप्तं चोदिताभिधानात् ॥३६॥

अर्थाभिधान=अर्थ-प्रकाशन के संयोग से मन्त्रों में शेषभाव=अङ्गत्व होता है। मन्त्र से विधिविहित अर्थ का प्रकाश होता है, दर्शपौर्णमास में अविहित होने से वह प्राप्त नहीं है।

ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्यते ॥३७॥

इसी कारण से उनका अवचन इतरों (निर्वाप की स्तुति) के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—निर्वाप मन्त्र में अग्नि गुण शब्द है, वैसे ही असमवेत वचन है, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ समवाय होता है।

चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवद्विकारः स्यात् ॥४०॥

यदि चोदित भी समवेत है, तो वह परार्थ (स्तुति के लिए) ही किया जाता है, अपने संस्कार के लिए नहीं। परार्थ होने से वह अविकार से प्रयुक्त किया जाता है।

विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥४१॥

यजमान=प्रधान में विकार होता है।

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥४२॥

विशेषण से विशिष्ट की प्रतीति होती है; शब्दों का उन अर्थों में संयोग नहीं होता।

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥४३॥

आक्षेप—कर्माभाव होने से 'हरिवत्' आदि का प्रयोग है, यदि ऐसा कहो तो—

न परार्थत्वात् ॥४४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि 'हरिवत्' आदि शब्द इन्द्र की स्तुति के लिए होने से परार्थ होते हैं।

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वप्राप्ता सारस्वती स्त्रीत्वात् ।।४५।।

सि०—पशु-सम्बन्धी धर्मविधियों में सरस्वती देवताक मेषी-द्रव्य याग प्राप्त नहीं होता, क्योंकि 'मेषी' स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु वहाँ पुल्लिङ्ग का निर्देश है।

पश्वभिधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं पुनः पशुत्वम् ।।४६।।

पूर्व०—पशु का अभिधान होने से चोदनाभूत सर्वनाम शब्द को पुंविषयत्व होता है, फिर वह पशु के द्वारा कहा जाता है।

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ।।४७।।

सि०—पुल्लिङ्ग शब्द का निर्देश होने से विशेष है।

पशुत्वं चैकशब्द्यात् ।।४८।।

और, जो एकत्व शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पशु के अभिप्रायवाला ही है।

यथोक्तं वा सन्निधानात् ।।४९।।

अथवा, सन्निधान होने से जैसा कहा गया है, वह ठीक है।

आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ।।५०।।

जहाँ अधिकार में आम्नात से अन्य आदेशभूत विकार होता है, वह विशेष के विधान होने से है।

द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात्सामान्याद्विकल्पः स्यात् ।।५१।।

पूर्व०—'इरा' और 'गिरा' दोनों प्रकार का पाठ होता है। दोनों का हेतु भी तुल्य होता है। सामान्य होने से विकल्प होता है।

उपदेशाच्च साम्नः ।।५२।।

साम के उपदेश होने से भी 'गिरा' पद उपदिष्ट हो जाता है, अतः विकल्प ही होता है।

नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत्साप्तदश्यवत् ।।५३।।

सि०—श्रुतिविशेष के द्वारा 'इरा' पद ही उपदिष्ट किया गया है, इसलिए नियम है और जो इतर 'गिरा' पद है वह साप्तदश्य की भाँति होता है।

अप्रगाणाच्छब्दान्यत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ।।५४।।

पूर्व०—'इरा' पद 'गिरा' शब्द से भिन्न होने से अप्रगीत शब्द से विहित 'इरा' पद है, अतः जैसा विहित है वैसा ही पाठ करना चाहिए।

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात्पदान्यत्वप्रधानत्वात् ।।५५।।

सि०—जिस स्थान पर जिस शब्द का आदेश हो, उसी का गान करना चाहिए, भिन्न पद की प्रधानता होने से।

गानसंयोगाच्च ।।५६।।

और, गान के संयोग होने से भी 'इरा' पद होता है।

वचनमिति चेत् ।।५७।।

वचनों की उपलब्धि भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न तत्प्रधानत्वात् ।।५८।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ 'इरा' पद की प्रधानता का निर्देश है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ।।१।।

पूर्व०—कुछ आचार्य मानते हैं कि साम-प्रगीत मन्त्रवाक्य है। इसमें दो हेतु हैं—स्मृति और गुरु-शिष्य-परम्परा से होनेवाला उपदेश।

तदुक्तदोषम् ।।२।।

सि०—यह पक्ष दोषयुक्त है, यह बात सप्तम अध्याय में कह दी गई है। साम गीतियाँ हैं, प्रगीत-मन्त्रवाक्य नहीं हैं।

कर्म वा विधिलक्षणम् ।।३।।

पूर्व०—साम प्रधान कर्म है, द्वितीया विभक्ति का श्रवण होने से।

तदृग्द्रव्यं वचनात्पाकयज्ञवत् ।।४।।

पाकयज्ञ में जैसे लाजा आदि गुणद्रव्य गिनाए हैं, उसी प्रकार सामगान के योनिभूत ऋचारूप द्रव्य भी गुणभूत हैं और सामगान प्रधान कर्म है।

तत्राविप्रतिषिद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ।।५।।

क्रतुविशेष में द्रव्यान्तर (दोनों ऋचाओं) में प्रदेश (अतिदेश शास्त्र) और व्यतिरेक (अभाव) परस्पर विरोधी नहीं हैं, अतः साम प्रधान कर्म है।

शब्दार्थत्वात्तु नैवं स्यात् ।।६।।

सि०—रथन्तर आदि गान ऋचाओं के लिए होने से गान प्रधान कर्म नहीं अपितु गौण कर्म है।

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ।।७।।

और, रथन्तर आदि शब्दों के स्तुतिपरक होने से भी साम गुणभूत हैं।

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ।।८।।

स्तुति और गान शब्दों के पृथक् अर्थ होने से कर्म से सम्बन्ध नहीं होता, अतः ऋक् का साम गुणभूत है।

संस्कारश्च प्रकरणेऽग्निवत्स्यात् प्रयुक्तत्वात् ।।९।।

अग्नि की भाँति प्रयुक्त होने से अप्रकरण अर्थात् अध्ययनकाल में संस्कार होता है। जैसे अग्न्याधान के समय अग्नि का संस्कार होता है, ज्योतिष्टोम के प्रयोग-समय नहीं, ऐसे ही अध्ययनकाल में ऋचाओं का संस्कार होता है, गान के समय नहीं।

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ।।१०।।

शब्दों के अकार्य (संस्कृत शब्दों का प्रयोग के समय पाठ न करना) होने से अप्रयोग प्रतीत होता है। प्रगीत शब्द पुनः प्रयुक्त किये जा सकते हैं।

आश्रितत्वाच्च ॥११॥

गान के कर्मकाल के आश्रित होने से अकर्मकाल में गान की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

प्रयुज्यत इति चेत् ॥१२॥

प्रयोग के समय सामगान का प्रयोग किया जाता है, यदि ऐसा कहो तो—

ग्रहणार्थं प्रतीयेत ॥१३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह शिष्य के धारण एवं ग्रहण (अभ्यास) के लिए ही किया जाता है।

तृचे स्यात् श्रुतिनिर्देशात् ॥१४॥

पूर्व०—तृच (तीन ऋचाओं के समूह) में सामगान होता है, क्योंकि श्रुति में ऐसा निर्देश पाया जाता है।

शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ॥१५॥

तृच में व्यासज्जित (मिला) करके साम का गान करना चाहिए, क्योंकि सामगान-रूप विकार शब्दार्थ होता है।

दर्शयति च ॥१६॥

और अर्थवाद से भी ऐसा ही सिद्ध होता है।

वाक्यानां तु विभक्तत्वात्प्रतिशब्दं समाप्तिः स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥१७॥

सि०—वाक्यों के विभक्त होने से प्रत्येक ऋचा में सामगान की समाप्ति होती है, क्योंकि संस्कार (अक्षराभिव्यक्ति) ऋचा के लिए होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१८॥

तथा, प्रत्येक ऋचा में साम की समाप्ति होने से दूसरे अर्थ की सिद्धि भी होती है।

अनवानोपदेशश्च तद्वत् ॥१९॥

और भी, यदि प्रयोग के समय में प्रति ऋचा की समाप्ति पर गान करना है तो स्वाध्याय के समय भी वैसा ही अभ्यास करना चाहिए, अतः प्रत्येक ऋचा के साथ गान करना चाहिए।

अभ्यासेनेतराः ॥२०॥

अभ्यास में भी तीनों ही ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए।

तदभ्यासः समासः स्यात् ॥२१॥

पूर्व०—उस सामगान का अभ्यास समान छन्दों में ही करना चाहिए।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२२॥

समान छन्दों में ही सामगान करने के प्रमाण भी पाये जाते हैं।

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात्प्रतीयेत ॥२३॥

सि०—नैमित्तिक उत्तरात्व तो आनन्तर्य से प्रतीत होता है।

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥२४॥

और, तीनों ऋचाओं की एक अर्थ में संगति होने से उनके अभ्यास का विधान है।

प्रागाथिकं तु ॥२५॥

प्रागाथिक सामगान का भी विधान पाया जाता है।

स्वे च ॥२६॥

और, अपने छन्द में ही गाना करना अभीष्ट होता है।

प्रगाथे च ॥२७॥

जहां प्रकर्ष से गान होता है, वह प्रगाथ है, अतः प्रगाथ में साम का गान करना आवश्यक है।

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥२८॥

और, प्रमाणों का अव्यतिरेक होने से भी सामगान करना आवश्यक है।

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात्॥२९॥

प्रयोजन के एक होने से विकल्प होता है।

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—ऋक् और साम का तदर्थत्व (ऋक् और साम दोनों के स्तुत्यर्थ) होने से विकल्प होता है, क्योंकि दोनों का स्तुतिरूप एक ही प्रयोजन है।

वचनाद्विनियोगः स्यात् ॥३१॥

सि०—साम का विनियोजक वचन है, उक्त वचन से साम के द्वारा स्तवन ही होना चाहिए।

समप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सामगान के अतिदेश में 'आई' (गान में जहां 'ए' हो वहां 'आई' कर देते हैं) भावादि विकार योन्यपेक्ष होता है, और ये शास्त्र के द्वारा कृत हैं।

वर्णे तु बादरिर्यथा द्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥३३॥

सि०—'आई' भाव उत्तरावर्णवश से करना चाहिए, योनिवश से नहीं—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं। इसमें द्रव्यव्यतिरेक ही हेतु है।

स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृग्वत् ॥३४॥

पूर्व०—कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि ऋक् की भांति स्तोभ की ऋगन्तर में निवृत्ति होती है।

सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥३५॥

सि०—स्तोभ सहित साम का अतिदेश है। सामान्य होने से लोकव्यवहार के समान अतिदेश है।

अन्वयं चापि दर्शयति ॥३६॥

और, अन्वय से भी इसी बात की सिद्धि होती है।

निवृत्तिरर्थलोपात् ॥३७॥

आक्षेप—अथवा, अर्थलोप होने से स्तोभ अक्षर की निवृत्ति होती है।

अन्वयो वार्थवादः स्यात् ॥३८॥

समा०—और जो वाक्यशेष वचन है, वह अर्थवाद है।

अधिकं च विवर्णं च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ।।३९।।

जो ऋक् के अक्षर से अधिक और विलक्षण वर्ण होता है, वह 'स्तोभ' अक्षर कहाता है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं।

धर्मस्यार्थकृतत्वाद् द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे
चोदनानुबन्धः समवायात् ।।४०।।

धर्म को अर्थकृतित्व (प्रोक्षण आदि अपूर्वरूप अर्थ) होने से द्रव्य, गुण, विकार, व्यतिक्रम और प्रतिषेध में समवाय से चोदनानुबन्ध होता है।

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ।।४१।।

पूर्व०—परिधि में यूप के धर्म नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि यूप के धर्म पशु के नियोजन (बाँधने) के लिए हैं।

आवेश्येरन् वाऽर्थवत्त्वात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४२।।

सि०—संस्कार के पशु-बन्धनरूप कार्य में नियुक्त होने से उसी में उसकी सफलता होने से यूप के धर्म परिधि में भी कर्तव्य हैं।

आख्या चैवं तदावेशाद्विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् ।।४३।।

परिधि में संस्काररूप शक्यता के अवच्छेदक होने से यूप शब्द की प्रवृत्ति है और अपूर्व के निमित्त होने से विकृति में भी यूप शब्द है; परन्तु यूप शब्द ऊहितव्य नहीं है अर्थात् यूप शब्द के स्थान में परिधि का प्रयोग नहीं करना चाहिए।

परार्थे न त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ।।४४।।

पूर्व०—प्रधान याग के लिए दधि और शृत में प्रणीता धर्म नहीं है और प्रणीता कार्यकारित्व भी नहीं, क्योंकि उत्पवनादि संस्कार हविःश्रपण के लिए होते हैं।

क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः ।।४५।।

सि०—हविःश्रपण भी दधि और पय में निष्पन्न होने से उसमें उत्पवन आदि धर्म भी कर्तव्य है।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ।।४६।।

पूर्व०—बृहद् और रथन्तर धर्मों का एक प्रयोजन होने से विभाग नहीं हो सकता।

निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ।।४७।।

सि०—निर्देश-भेद (रथन्तर में ऊँची आवाज से नहीं गाना चाहिए और बृहद् में ऊँची आवाज से गान करना चाहिए) होने से व्यवस्था हो जाएगी।

अप्राकृते तद्विकाराद्विरोधाद्व्यवतिष्ठेरन् ।।४८।।

विकृतिभूत काण्व रथन्तर में बृहद् और रथन्तर का विकार होने से विरोध के कारण व्यवस्था हो जाएगी।

उभयसाम्नि चैवमेकार्थापत्तेः ।।४९।।

पूर्व०—'गोसव' आदि क्रतु में दोनों सामों (बृहद् और रथन्तर) की प्राप्ति है, अतः प्रत्येक स्तोत्र में दोनों धर्मों की प्राप्ति है।

स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात्प्रकृतिवत् ॥५०॥

सि०—जैसे प्रकृति=ज्योतिष्टोम याग में बृहद् के धर्म बृहद् में और रथन्तर के धर्म रथन्तर में होते हैं, उसी प्रकार दो सामवाले यागों में भी बृहद् और रथन्तर साम के दो धर्म होने से व्यवस्था हो जाएगी।

पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगात्तदभीज्या हि ॥५१॥

वैकृतकर्म में पार्वण होम की प्रवृत्ति नहीं होती, पौर्णमासत्रिक रूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से, क्योंकि इज्या=याग समुदाय के उद्देश्य से कर्तव्य है।

कालस्येति चेत् ॥५२॥

पर्व शब्द काल का वाचक है, यदि ऐसा कहो तो—

नाप्रकरणत्वात् ॥५३॥

प्रकरण न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

मन्त्रवर्णाच्च ॥५४॥

और, मन्त्र के वर्ण से भी समुदाय के लिए ही इज्या होती है।

तदभावेऽग्निवदिति चेत् ॥५५॥

जिस प्रकार यागार्थ से सन्निहित और असन्निहित अग्नि का आवाहन किया जाता है, उसी प्रकार समुदाय के अभाव में भी हो सकता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाधिकारिकत्वात् ॥५६॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि क्रतु के संस्कार के लिए पार्वण होम का अधिकार है।

उभयोरविशेषात् ॥५७॥

पूर्व०—पौर्णमासी और अमावास्या—दोनों में विशेषता न होने से दोनों ही दोनों में हो सकते हैं।

यदभीज्या वा तद्विषयौ ॥५८॥

सि०—दोनों उभयत्र हैं, ऐसा नहीं है। जहाँ यह अभीज्या है, वहाँ वह होता है, क्योंकि वह उसका उपकारक है और दूसरे का अनुपकारक।

प्रयाजेऽपीति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—प्रयाज में भी याग संस्काररूप है, यदि ऐसा कहो तो—

नाचोदितत्वात् ॥६०॥

समा०—याग त्रय प्रत्येक वाक्य में विहित न होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वादर्थे चाकार्यत्वात् ॥१॥

जैसे प्रकृति=दर्शपौर्णमास में अर्थों का उत्पत्तिवचन होता है, वैसे ही सौर्यादि

इष्टि में भी उसी मन्त्र के द्वारा वचन करना चाहिए, क्योंकि अर्थ में कार्यत्व=सामर्थ्य नहीं होता, अतः ऊह करना आवश्यक है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी इसी तथ्य की सिद्धि होती है।

जातिर्नैमित्तिकं यथास्थानम् ॥३॥

जाति शब्द और नैमित्तिक शब्द दोनों ही यथास्थान ऊहितव्य होते हैं।

अविकारमेकेऽनार्षत्वात् ॥४॥

पू०—कुछ आचार्य अनार्ष होने के कारण ऊह को स्वीकार नहीं करते।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

इस अर्थ में भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

विकारो वा तदुक्ते हेतुः ॥६॥

सि०—ऊह करनी चाहिए। इसका हेतु प्रथम सूत्र में कह दिया गया है।

लिङ्गं मन्त्रचिकीर्षार्थम् ॥७॥

जो लिङ्ग कहा गया है, वह तो मन्त्र के करने की इच्छा के ही लिए है। ऊहित होने से वह अमन्त्र हो जाएगा।

नियमो वोभयभागित्वात् ॥८॥

अथवा, उभय भागी (दोनों मन्त्रों के साथ सम्बन्ध होने से) नियम होता है।

लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥९॥

लौकिक (यूप) स्पर्श में दोष का संयोग होने से मन्त्रपाठ करने का विधान है। निषिद्ध स्पर्शरूप निमित्त में ही मन्त्रपाठ का विधान है। वैदिक स्पर्श में निषेध न होने से मन्त्रपाठ का विधान नहीं है।

अन्यायस्त्वविकारेण दृष्टप्रतिघातित्वादविशेषाच्च तेनास्य ॥१०॥

पूर्व०—अन्याय=दर्शपौर्णमास याग में कहा बहुवचनान्त अविकार से प्रवृत्त होता है, क्योंकि एक पाश में प्रतिघात दृष्ट नहीं होता और कोई विशेष भी नहीं है।

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥११॥

तदर्थ होने से विकार=ऊह होता है।

अपि त्वन्यायसम्बन्धात्प्रकृतिवत्परेष्वपि यथार्थं स्यात् ॥१२॥

जिस प्रकार प्रकृति में बहुवचनान्त और एकवचनान्त प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार विकृति में भी यथार्थ होता है, अन्याय=प्रकृति, दर्शपौर्णमास सम्बन्ध से।

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१३॥

सि०—अन्याय=प्रकृति के विहित न होने से यथार्थ अर्थात् द्विवचन का ही ऊहन करना चाहिए।

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥१४॥

छन्द=वेद में तो जैसा लिखा हो, वैसा ही पाठ करना चाहिए।

अन्यायस्याचोदितत्वात् ॥१५॥

अर्थ का बाध अविहित है। ऊह करते समय अर्थ का बाध नहीं करना चाहिए।

विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्तत्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वात् ।।१६।।

किसी विरोध के होने पर ही विकल्प होता है। समत्व होने से गुणविभक्त्यर्थ में अन्याय की कल्पना होती है, प्रधान प्रातिपदिक अर्थ नहीं होता, एकदेशत्व होने से प्रातिपदिक को उत्कृष्ट करता है।

प्रकरणविशेषाच्च ।।१७।।

और, विशेष प्रकरण होने से भी प्रातिपदिक बहुवचन को आकर्षित करता है।

उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत् ।।१८।।

पूर्व०—बहुवचनान्तर्गत पदवाले मन्त्रों का उत्कर्ष द्वियज्ञ के मन्त्रों के समान करना चाहिए।

अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ।।१९।।

सि०—द्वित्व विशिष्टरूप अर्थबोधक विधान का प्रकृत में अभाव है। दोनों में गुणमात्र है, अतः उत्कर्ष नहीं होगा।

द्यावोस्तथेति चेत् ।।२०।।

जैसे द्यावापृथिव्यादि अप्रकरण पठित अनुमन्त्रों का उत्कर्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ।।२१।।

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्यावापृथिवी आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द=प्रमाण नहीं हैं।

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात्प्रतीयेत ।।२२।।

अपूर्व=प्रकृति में अविकार से प्रयोग करना चाहिए (ऊह नहीं करना चाहिए) अतिदेश की प्राप्ति होने से।

विकृतौ चापि तद्वचनात् ।।२३।।

विकृतिभूत सौर्ययाग में भी प्रकृति=दर्शपौर्णमासेष्टि के समान ही करना चाहिए।

अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत्समानविधानाश्चेत् ।।२४।।

आक्षेप—यदि समान विधान हो तो 'अध्रिगुःप्रैष' मन्त्र को भी सवनीयों में उसी प्रमाण से ऊह नहीं होगा।

प्रतिनिधौ चाविकारात् ।।२५।।

समा०—व्रीहि के अभाव में नीवार प्रतिनिधि हो तो ऊह किये बिना ही मन्त्र पाठ करना चाहिए।

अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चेतरस्य स्यात् ।।२६।।

यदि मन्त्र में व्रीहि शब्द का पाठ न हो और इतर नीवार का अभाव हो तो अभिधान की सिद्धि के लिए नीवार शब्द का ऊह करना चाहिए।

तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात्संस्कारैरविशिष्टत्वात् ।।२७।।

सि०—नीवार व्रीहि के लिए है और प्रोक्षण आदि संस्कार भी उसी के लिए हैं, अतः वह नीवाराख्य अविकार से प्रयुक्त करना चाहिए।

उक्तं च तत्त्वमस्य ॥२८॥

इस विषय का तत्त्व (छठे अध्याय में) कह दिया गया है।

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥२९॥

पशुओं का भेद होने पर भी संसर्गवाले पदार्थों में परिमाण के स्थित न होने से ऊह नहीं होता।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३०॥

तथा, प्रमाण उपलब्ध होने से भी संसर्गवाले पदार्थों में ऊह नहीं होता।

एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यादसर्वविषयत्वात् ॥३१॥

एक के संयोग होने से, एक समय उच्चारण होने से, सब पशुओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से एकधा शब्द का अभ्यास से अभिधान करना चाहिए, अतः ऊह करनी चाहिए।

अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ॥३३॥

पूर्व०—बहुत-से कर्मों के स्वीकरण की भाँति अविकार होता है, ऊह नहीं होता।

सकृत्त्वं चैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रेतं तत्प्रकृतित्वात्
परेष्वभ्यासे नैवं विवृद्धावभिधानं स्यात् ॥३२॥

सि०—प्रकृति याग में एक समय में एक पशु देय होने से उसमें एकधा शब्द की आवृत्ति की आवश्यकता नहीं परन्तु विकृति याग में पशुओं की वृद्धि होने से 'एकधा' शब्द की आवृत्ति अभ्यास से होती है।

मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात्सर्वत्र च प्रयुक्तत्वात्
तस्यान्यायनिगदत्वात्सर्वत्रैवाविकारः स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—स्वामी, मेधापति और देवता—इन तीनों का उस मेधपति के प्रति आधिपत्य होने से समवाय होने के कारण और सर्वत्र—सब देशों में पति शब्द का आधिपत्य में प्रयोग होने से और उसके अन्याय (प्रकृति) निगदित होने से सर्वत्र अविकार ही होता है, ऊह नहीं होता।

अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं प्रयोगः स्यात् ॥३५॥

अथवा, द्विवचनान्त पद का प्रयोग देवता में और एकवचनान्त का प्रयोग स्वामी=यजमान में होने से यथासंख्य=क्रमानुसार प्रयोग होता है।

स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षो देवतायां स्यात् पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥३६॥

अथवा, दोनों मन्त्रों में यजमानरूप स्वामी का ग्रहण है। एकार्थप्रतिपादक शब्द के प्रयोग होने से जो देवतावाच्य हो तो एकवचनान्त पद का उत्कर्ष होता है और यजमानवाच्य हो तो द्विवचनान्त पदवाले मन्त्र में पत्नी के साथ यजमान समझने से द्विवचन भी सार्थक हो सकता है।

देवता तु तदाशीष्ट्वात्सम्प्राप्तत्वात्स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ॥३७॥

सि०—मेधपति का वाच्य देवता है। देवता के उद्देश्य से मेध होता है। यदि स्वामी-परक माना जाए तो यजमान के सत्त्व की मेध में प्राप्ति होने से **'मेधं मेधपतिभ्यामाशासाना'**—यह वाक्य निरर्थक हो जाता है।

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन्पतित्वं स्यात् ॥३८॥

और, यजमान देवता के उद्देश्य से उत्सर्ग करता है, अतः मेधपतित्व देवता में मुख्य है और स्वामी के लिए उसका गौणरूप में प्रयोग होता है।

उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ द्विदेवते संभवात् ॥३९॥

एकसंयुक्त का ही उत्कर्ष किया जाता है, क्योंकि द्विदेवता में वह असम्भव होता है।

एकस्तु समवायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् ॥४०॥

जो एकवचनान्त (मेधपति शब्द) है, वह देवतागण का बोधक है, क्योंकि उसका वह लक्षण होता है।

संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ॥४१॥

और, दोनों मन्त्रों का प्रकृतियाग में सम्बन्ध होने से तथा एकार्थवाचक भी होने से दोनों मन्त्रों का विकल्प है।

एकत्वेऽपि न गुणाऽपायात् ॥४२॥

एकत्व होने पर भी अविवक्षित होने से वह प्रकरण से उत्कृष्यमाण नहीं होता।

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—बहुदेवताक विकृतियाग में द्विवचनान्त का जो अतिदेश है, वह ऊहित होता है।

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥४४॥

सि०—एकवचन भी प्रकृति की भाँति द्विवचनान्त से विकल्पित होने के योग्य होता है।

अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्त्वादेकाभिसमवायात्स्यात् ॥४५॥

भिन्न-भिन्न देवताओं से अर्थात् अन्य पशु का अन्य देवता होने से भिन्न देवताक-याग समुदाय में विकार=ऊह होता है, एक तद्धित प्रत्यय वाचक देवता न होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद्गुणस्य प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकार्त्स्न्ये-नाभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्यादसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥१॥

पूर्व०—द्विपशुयाग में षड्विंशति (छब्बीस) शब्द का अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि पशुगण की प्रकृति अग्नीषोमीय याग है। प्रकृति में एक पशु होता है और एक पशु के शरीर में छब्बीस वंक्रियाँ (वक्र अस्थियाँ) होती हैं। विकृति याग में जहाँ दो पशुओं का विधान है, षड्विंशति शब्द का अभ्यास होता है। यदि अभ्यास न किया जाए तो छब्बीस संख्यारूप गुण का सम्बन्ध दो पशुओं में सम्पूर्ण नहीं हो सकता। दो पशुओं में बावन शब्द का समास भी नहीं हो सकता, क्योंकि विकार करने से अतिविलक्षण शब्द प्राप्त होता है और किसी भी पशु में बावन वंक्रियाँ=अस्थियाँ नहीं होतीं।

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥२॥

अभ्यास करने पर भी वही अप्राकृतत्वरूप दोष आता है, यदि ऐसा कहो तो—

न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥३॥

उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अभ्यास करने से वंक्रियों का सम्बन्ध दोनों पशुओं के साथ हो सकता है, परन्तु समास करने से ऐसा नहीं हो सकता।

समासेऽपि तथेति चेत् ॥४॥

समास करने में भी वहीं दोष आएगा, यदि ऐसा कहो तो—

नासम्भवात् ॥५॥

उक्त कथन ठीक नहीं, असम्भव होने से।

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥६॥

प्रकृति=अग्नीषोमीय याग में स्वसम्बन्धी वंक्री वचन है, उसी प्रकार अभ्यास में भी हो सकता है।

वंक्रीणान्तु प्रधानत्वात्समासेनाभिधानं स्यात् प्राधान्यमध्रिगोस्तदर्थत्वात् ॥७॥

सि०—वंक्रियों की प्रधानता है, पशुओं की नहीं। 'अध्रिगुः प्रैष' का भी यही भाव है। वंक्री की प्रधानता होने से समास का कथन ही अभीष्ट है।

तासां च कृत्स्नवचनात् ॥८॥

उन वंक्रियों का सम्पूर्णता से गिनने का वचन पाये जाने से भी उनकी प्रधानता सिद्ध होती है, पशुओं के नहीं।

अपि त्वसन्निपातित्वात्पत्नीवदाम्नातेनाभिधानं स्यात् ॥९॥

पूर्व०—असन्निकृष्ट होने से वंक्रियों का षड्विंशति शब्द विकार=ऊह-रहित ही प्रयुक्त करना चाहिए (पत्नीं सनंह्य) शब्द के समान।

विकारस्तु प्रदेशत्वाद्यजमानवत् ॥१०॥

सि०—यजमान शब्द की भाँति प्रदेश-वृत्ति होने से विकार=ऊह होता है।

अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ॥११॥

इसी प्रमाण से अपूर्व अर्थ होने से 'पत्नी' शब्द में ऊह करने की आवश्यकता नहीं है।

आम्नातस्त्वविकारात्संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥१२॥

पक्ष-उत्थापन—प्रकृति में प्रातिपदिक शब्द जैसे आम्नात है, उसी प्रकार ऊह किये बिना षड्विंशति शब्द का प्रयोग करना चाहिए। संख्यावाचक वचन में विकार करने से उसका सब वंक्रियों में कथन हो जाएगा।

संख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्वंक्रयः पुनः प्रधानम् ॥१३॥

निराकरण—इस प्रकार षड्विंशति के ऊह करने में संख्या प्रधान है। प्रकृति से वंक्री की प्रधानता है, संख्या की नहीं, अतः एकवचन ही उपपन्न होता है।

अभ्यासो वाऽविकारात् स्यात् ॥१४॥

पूर्व०—समान वचन नहीं है, अभ्यास ही होता है, क्योंकि इस प्रकार से अविकार हो जाएगा।

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात् तस्मात्समासशब्दः स्यात् ॥१५॥

सि०—ऐसा मान लेने पर यहाँ पर पशु ही प्रधानतया निर्दिष्ट हो जाता है, अभ्यास करने में पशु शब्द निमित्त है, अतः समास शब्द का पाठ करना योग्य है।

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥१६॥

पूर्व०—अश्वमेध यज्ञ में चौंतीस वंक्रियाँ समाम्नात हुई हैं, वहाँ वह वचन अश्व का ही वैशेषिक है, अथवा सभी के लिए समान है।

तत्प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वात् ॥१७॥

सि०—वहाँ ऋचा का अर्थवान् वचन होने से यह अश्व का ही वैशेषिक है, ऐसा न मानने पर ऋचा के वचन में अनर्थकत्व दोष हो जाएगा।

ऋग्वा स्यादाम्नातत्वादविकल्पश्च न्यायः ॥१८॥

अथवा, जो ऋक् आम्नात है, वह अप्रतिषिद्ध है, इस कारण से अश्व का वैशेषिक वचन होता है और वह अविकल्प है।

तस्यां तु वचनादेरवत्पदविकारः स्यात् ॥१९॥

उस ऋचा में पद-विकार होकर चतुस्त्रिंशत (चौंतीस) न कहकर षड्विंशति ही बोलना चाहिए, जैसे इरा के स्थान पर गिरा बोला जाता है।

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात्पदेन स्यात् ॥२०॥

अथवा, 'चतुस्त्रिंशत' इस पद का ऋचा के साथ संयोग न होने से समस्त ऋचाओं का प्रतिषेध हो जाएगा।

वनिष्ठुसन्निधानादुरूकेण वपाभिधानम् ॥२१॥

ज्योतिष्टोम के अग्नीषोमीय पशुयाग में जो 'अध्रिगो' वचन है, वहाँ वनिष्टु का सन्निधान होने से 'उरूक' शब्द उल्लू का वाचक न होकर वपा=चर्बी का वाचक है।

प्रशंसाऽस्याभिधानम् ॥२२॥

पूर्व०—'अध्रिगुःप्रैष' मन्त्र में 'प्रशंसा' शब्द असि=तलवार के अर्थ का वाचक है।

बाहुप्रशंसा वा ॥२३॥

सि०—वहाँ 'प्रशंसा' शब्द बाहु की प्रशंसा बतानेवाला है। प्रशंसा-बाहु का अर्थ है—प्रशस्त बाहु। यदि तलवार अर्थ होता तो 'प्रशंसा' का ऊह करके बहुवचन करना पड़ता, परन्तु यहाँ ऊह विहित नहीं है।

श्येन-शला-कश्यप-कवष-स्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं प्रसिद्धसन्निधानात् ॥२४॥

पूर्व०—श्येन, शला, कश्यप, कवष और स्रेकपर्ण में सादृश्य (श्येन पक्षी के समान) वचन है, प्रसिद्ध श्येन आदि पद का सन्निधान होने से।

कार्त्स्न्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥२५॥

सि०—एक अङ्ग के उद्धरण से अध्रिगु नामक ऋत्विज को पशु के शरीर के अवयवों का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकेगा, अतः सम्पूर्ण आकृति का उल्लेख किया गया है।

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थो हि विधीयते ॥२६॥

दर्शपौर्णमास इष्टियों में गार्हपत्य से अग्नि लाते समय यदि वह बुझ जाए तो

प्रायश्चित्तरूप में ज्योतिष्मती इष्टि करने का विधान नहीं है, क्योंकि ज्योतिष्मती इष्टि अन्य के लिए होने से, अग्निहोत्र के लिए ही विहित है।

धारणे च परार्थत्वात् ॥२७॥

'धार्य' अग्नि के बुझ जाने पर भी यह प्रायश्चित्त नहीं होता, क्योंकि इसमें भी परार्थता विद्यमान है।

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥२८॥

पर्युक्षण और परिसमूहन आदि तो संस्कारार्थ हैं, उनका और कोई प्रयोजन नहीं, अतः वे तो करने ही चाहिएँ।

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥२९॥

परार्थ उत्पन्न अग्नि (दर्शपौर्णमास) में जो अग्निहोत्र का विधान है, वहाँ काल के अभाव में विगुणता होने से 'वाचा त्वा होत्रा' आदि मन्त्र नहीं पढ़ा जाएगा।

प्रदानदर्शनं श्रपणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात्संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥३०॥

पूर्व०—पयस के श्रपण में यदि देवता के उद्देश्य से प्रदान है तो पयोधर्म पय में भी करने चाहिएं और श्रपणार्थ है तो नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि मधु और उदक के समान संसृष्ट होने से तथा याग के लिए होने से प्रदेय द्रव्य के जो धर्म कर्त्तव्य हैं, वे धर्म प्रदेय पय के भी कर्त्तव्य हैं।

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥३१॥

और, प्रदेय संस्कारों का भी उसी प्रकार प्रतिषेध है।

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥३२॥

तथा, उस पय के प्रदेयत्व का निषेध माना जाए तो पयोमिश्रित चरुद्रव्य का भी निषेध हो जाएगा।

अधर्मत्वमप्रदानात्प्रणीतार्थे विधानादतुल्यत्वादसंसर्गः ॥३३॥

सि०—पय में प्रदीयमान धर्मता नहीं है और इसका प्रणीतार्थ में विधान है तथा चरु और पय की तुल्यता भी नहीं है।

परो नित्यानुवादः स्यात् ॥३४॥

अन्य वचन (**अयजुषा वत्सानपाकरोति**) नित्यविधि का अनुवाद है।

विहितप्रतिषेधो वा ॥३५॥

अथवा, वह वचन शाखान्तर में विहित (**यजुषा वत्सानपाकरोति**) विधान का प्रतिषेधक है।

वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात्स्यात्कारणात्केवलाशनम् ॥३६॥

पूर्वोक्त (**पयो मा भुंक्ष्व**—तू दूध का सेवन मत कर) प्रतिषेध के कारण पय=संसृष्ट अन्न के भक्षण का वर्जन किया गया है, वह युक्त है। भोजन में दूध अप्रधान है। केवल दूध का सेवन व्रत में तथा औषध के रूप में किया जाता है। केवल ओदन=भात का अशन (खाना) हो सकता है।

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥३७॥

ब्रह्मचारी के लिए मांस आदि का निषेध है। मांस से संसृष्ट पदार्थों के सेवन से

उसके व्रत का लोप होता है, उसी प्रकार यहाँ भी पय से संसृष्ट पदार्थों का वर्जन हो जाएगा।

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥३८॥

उपर्युक्त कथन ठीक नहीं। व्रत पुरुष का धर्म होने से रस का प्रतिषेध है। पय=दूध का प्रतिषेध उस प्रकार का नहीं है, अतः प्रथम परिहार ही समुचित है।

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात्प्रवृत्तत्वात् ॥३९॥

चन्द्रोदय निमित्तक अभ्युदय-इष्टि में स्वधर्मा और इज्या के लिए शृत=पके हुए दूध तथा दधि इन दोनों द्रव्यों के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि वहाँ दही की भी आहुति दी जाती है और पके हुए दूध की भी।

शृतोपदेशाच्च ॥४०॥

शृत=पके हुए दूध के उपदेश से भी इज्यार्थ ही दही और पके हुए दूध के धर्म करने चाहिएँ।

अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥४१॥

चरु और पयस के समान श्रपणरूप कार्यान्तर में विधान होने से इज्या के धर्म का अभाव है।

श्रपणानां त्वपूर्वत्वात्प्रदानार्थे विधानं स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—पय आदि श्रपण का याग के लिए विधान है, अपूर्व कर्म होने से। सोम प्रदेय है। सोम की अपूर्वता होने से प्रदानार्थ पय का विधान होता है, अतः प्रदेश पयो-धर्म यहाँ पर करने ही चाहिएँ।

गुणो वा श्रपणार्थत्वात् ॥४३॥

सि०—पय सोम का गुणभूत द्रव्य है, प्रदेय नहीं है, क्योंकि पयस का उपयोग श्रपण अर्थात् मिश्रण के लिए है।

अनिर्देशाच्च ॥४४॥

और पयस का देवता के साथ निर्देश न होने से पयस गौण है, अतः उसमें प्रदेय के धर्म कर्त्तव्य नहीं हैं।

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥४५॥

तथा, द्वितीया विभक्ति की (**पयसा सोमं श्रीणाति**) श्रुति होने से भी सोम की प्रधानता स्पष्ट है।

अर्थवादश्च तदर्थत्वात् ॥४६॥

और, अर्थवाद भी सोम की प्रधानता सूचित करने के लिए ही है।

संस्कारं प्रतिभावाच्च तस्मादन्यप्रधानम् ॥४७॥

सोम के संस्कार के लिए होने से भी पयस अप्रधान=गौण है।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥४८॥

पूर्व०—जैसे चरु का उपादान उपधानार्थ होता है, उसी प्रकार पर्यग्निकृत वन्य-पशुओं के उत्सर्ग में होता है, अर्थात् आलम्भन (छू) कर उन्हें छोड़ दिया जाता है।

शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिडान्तवत् ॥४६॥

सि०—पर्यग्नि संस्कार करने के पश्चात् प्राकृत अङ्गों का प्रतिषेध है, कर्त्तव्यार्थ न होने से, ठीक उसी प्रकार जैसे आतिथ्य में इडान्त कर्म अन्य कर्मों का निवर्तक है।

पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते नोपपद्यते ॥५०॥

और, पूर्व शब्द याग की प्रवृत्तिवाला है तथा आज्य के द्वारा शेष का संस्थापन होता है। यदि यागपूर्व प्रवृत्ति नहीं है, उत्सर्ग-मात्र ही है तो वहाँ 'संस्थापयति' शब्द उपपन्न नहीं होता, अतः शेष का प्रतिषेध ही सिद्ध होता है।

क्रिया वा स्यादवच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ॥५१॥

अथवा, अवच्छेद सत्र में क्रिया होनी चाहिए। जब याग होता है तो सभी याग-कर्म करने चाहिएँ। यदि याग न हो तो अकर्म हैं, संस्कारों का सर्वहान हो जाएगा, अतः कर्मशेष प्रतिबन्ध पक्ष में भी सभी कुछ करना चाहिए।

आज्यसंस्था प्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ॥५२॥

पूर्व०—द्रव्य के उत्सर्ग होने से आज्य की समाप्ति प्रतिनिधिभूत है।

समाप्तिवचनात् ॥५३॥

तथा, समाप्ति-वचन पाये जाने से भी यही सिद्ध होता है कि पूर्व की ही परिसमाप्ति है।

चोदना वा कर्मोत्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥५४॥

सि०—पूर्वकर्म की परिसमाप्ति होने से कर्मान्तर का विधान होता है, दोनों वाक्यों में समानता होने से।

अनिज्यां च वनस्पते प्रसिद्धाऽन्तेन दर्शयति ॥५५॥

अङ्गान्तर द्वारा वनस्पति-याग का अभाव बताया जाता है।

संस्था तद्देवतात्वात् स्यात् ॥५६॥

संस्था शब्द समाप्ति का वाचक है, पत्नीवत् देवताक होने से।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

इति नवमोऽध्यायः ॥

दशमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

विधेः प्रकरणान्तरेऽतिदेशात्सर्वकर्म स्यात् ॥१॥

पूर्व०—प्रकृतियाग के प्रकरण में जिस-जिस कर्म का विधान है, उस सबका विकृतियाग में अतिदेश है, अतः प्रकृति में विहित सभी कर्म विकृति में भी करने चाहिएँ, चाहे वे लुप्त ही क्यों न हों।

अपि वाऽभिधानसंस्कारद्रव्यर्थे क्रियते तादर्थ्यात् ॥२॥

सि०—अभिधान-संस्कार द्रव्य प्रयोजन होने पर ही किया जाता है; जहाँ प्रयोजन नहीं वहाँ नहीं होता, क्योंकि वह अन्य प्रयोजन के लिए ही आम्नात है, स्वार्थ के लिए नहीं।

तेषामप्रत्यक्षशिष्टत्वात् ॥३॥

कृष्णलों (सोने के टुकड़ों, वस्तुतः घुँघची=चिरमठी अथवा कोई अन्न-विशेष) का पाक इसलिए करना चाहिए क्योंकि श्रुति में स्पष्ट विधान कर दिया गया है।

इष्टिरारम्भसंयोगादङ्गभूतान्निवर्तेतारम्भस्य प्रधानसंयोगात् ॥४॥

प्रकृतियाग की दीक्षणीय-इष्टि में जो आरम्भणीया-इष्टि की जाती है, उसका ज्योतिष्टोम की दीक्षणीय में बाध हो जाता है, क्योंकि आरम्भ का सम्बन्ध प्रधान याग के साथ है।

प्रधानाच्चान्यसंयुक्तात्सर्वारम्भान्निवर्तेतानङ्गत्वात् ॥५॥

राजसूययाग में पशुयाग, सोमयाग आदि प्रधान कर्म हैं, उनके अन्तर्गत अनुमति आदि इष्टियाँ भी हैं। इन अनुमति इष्टियों में भी आरम्भणीया-इष्टि का बाध है, क्योंकि जो प्रधान कर्म दूसरे प्रधान कर्मों से जुड़े हैं, उनमें आरम्भणीय कर्म करने की आवश्यकता नहीं है।

तस्यां तु स्यात्प्रयाजवत् ॥६॥

पूर्व०—एक आरम्भणीया-इष्टि में दूसरी आरम्भणीया-इष्टि प्रयाज के समान करनी चाहिए।

न वाऽङ्गभूतत्वात् ॥७॥

सि०—आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया-इष्टि नहीं होती, क्योंकि वह तो दर्शपौर्णमास की अङ्गभूत होती है।

एकवाक्यत्वाच्च ॥८॥

केवल एक ही वाक्य है जो आरम्भणीया का विधान करता है, अतः आरम्भणीया-इष्टि में आरम्भणीया नहीं होती।

कर्म च द्रव्यसंयोगार्थमर्थाभावान्निवर्तेत तादर्थ्यं श्रुतिसंयोगात् ॥९॥

द्रव्य के संयोग के लिए जो कर्म होता है, वह अर्थ का अभाव होने से निवृत्त हो जाता है, क्योंकि तादर्थ्य का श्रुति से संयोग होता है, अतः यूप करणार्थ जो यूपाहुति आदि संस्कार हैं, वे निरर्थक होने से निवृत्त हो जाते हैं।

स्थाणौ तु देशमात्रत्वादनिवृत्तिः प्रतीयेत ॥१०॥

पूर्व०—अग्नीषोमीय पशुयाग में स्थाणु में स्थाणु की आहुति श्रूयमाण होती है, यूप-संस्कार की भाँति स्थाणु में निवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह उपकारक कर्म है।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत ॥११॥

सि०—यूप का अङ्गभूत होने से आहुतिरूप कर्म की संस्कार में आवश्यकता प्रतीत होती है।

समाख्यानं च तद्वत् ॥१२॥

और, समाख्यान भी अवान्तर-प्रकरण यूप के अङ्गत्व का साधक है। समाख्यान स्थाणु-प्रधान आहुति का ही होता है।

मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ॥१३॥

तथा, समाख्यान की भाँति मन्त्र-वर्णन भी अङ्गत्व में प्रमाण है।

प्रयाजे च तन्न्यायत्वात् ॥१४॥

प्रयाज में संस्कार-कर्म न्याय्य है। स्थाणु में आहुति और शेषभूत होने से उसका संस्कार उचित ही है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

तथा, इस पक्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

तथाऽऽज्यभागाग्निरपीति चेत् ॥१६॥

आक्षेप—उत्तम प्रयाज के समान आज्यभाग के अन्तर्गत होनेवाला अग्नियाग भी सन्निपत्य उपकारक है, यदि ऐसा कहो तो—

व्यपदेशाद्देवतान्तरम् ॥१७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। व्यपदेश (वाक्य में निर्देश होने) से देवतान्तर (प्रधान देवता से भिन्न) का यजन किया जाता है।

समत्वाच्च ॥१८॥

और, याग तथा देवता दोनों ही प्रयोजनवाले हैं, अतः देवता की यागार्थता न्याय्य है। देवता के विना याग नहीं हो सकता तथा उपकारक कर्मों से समत्व है।

पशावपीति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—आज्यभागाग्नि याग जैसे आरादुपकारक है, उसी प्रकार पशु-पुरोडाश में भी आरादुपकारकत्व है, यदि ऐसा कहो तो—

न तद्भूतवचनात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक देवता प्रतिपादक वचन के पाये जाने से। जिस देवता का पशु है, उसी देवता का पुरोडाश होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी पशु-देवता-संस्कार के लिए पुरोडाश याग होता है।

गुणो वा स्यात्कपालवद्गुणभूतविकाराच्च ॥२२॥

पूर्व०—देवता अङ्ग है। जैसे कपाल श्रपण और तुषोपवपन में होता है, उसी प्रकार अग्नीषोमीय देवता अभिन्न पशुयाग और पुरोडाश याग में गुणभूत हो जाएँगे। इससे भी आरादुपकारकत्व सिद्ध होता है।

अपि वा शेषभूतत्वात्संस्कारः प्रतीयेत स्वाहाकारवदङ्गानामर्थसंयोगात् ॥२३॥

सि०—उक्त कर्म आरादुपकारक नहीं किन्तु देवता के संस्कार के लिए देवता-प्रयोजनवाला है। स्वाहाकार उच्चारण जैसे देवता-संस्कार के लिए है, उसी प्रकार उक्त कर्म भी देवता-संस्कार के लिए है, क्योंकि अङ्ग का प्रयोग के साथ सम्बन्ध होता है।

व्यृद्धवचनं च विप्रतिपत्तौ तदर्थत्वात् ॥२४॥

तथा, सौत्रामणी में पशु पुरोडाश और देवता की विप्रतिपत्ति के सम्बन्ध में व्यृद्ध=अङ्गलोप वचन देवता-संस्कार में ही अवकल्पित होता है।

गुणेपीति चेत् ॥२५॥

गुणपक्ष (पुरोडाश याग) में भी समान दोष है, यदि ऐसा कहो तो—

नासंहानात्कपालवत् ॥२६॥

उक्त कथन ठीक नहीं। जैसे कपालों का हान नहीं होता, उसी प्रकार पशु-देवता में भी हान नहीं होता।

ग्रहाणां च सम्प्रतिपत्तौ तद्वचनं तदर्थत्वात् ॥२७॥

और, सौत्रामणी में ग्रहों के देवता के सम्बन्ध में विवाद नहीं और जो ग्रहों में पुरोडाश सम्बन्धी वचन (ग्रहपुरोडाश ह्य ते पशवः) है, वह ग्रह और पशु दोनों देवता-संस्कार के लिए हैं, अतः संस्कार पक्ष ही बलवान् है।

ग्रहाभावे तद्वचनम् ॥२८॥

तथा, यदि ग्रह देवता के संस्कार के लिए है तो पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है। 'नैतस्य पशोर्ग्रहं गृह्णन्ति'—यह वाक्य ग्रहों के अभाव का सूचक है, इस अभाव का प्रयोजन यह है कि ग्रह और पुरोडाश का प्रयोजन एक है।

देवतायाश्च हेतुत्वे प्रसिद्धं तेन दर्शयति ॥२९॥

अग्निदेवताक पशु होता है और पुरोडाश भी अग्निदेवताक है, अतः पुरोडाश भी देवता के संस्कार के लिए है।

अविरुद्धोपपत्तिरर्थापत्तेःश्रुतवद् गुणभूतविकारः स्यात् ॥३०॥

प्रधानभूत भी अग्नीषोमों में धर्मों की उपपत्ति अवरुद्ध होती है। अर्थापत्ति से प्रधानभूत भी प्राकृतकार्य याग-निवृत्ति को करते हुए दूरभूत धर्मों के द्वारा शृत=पके हुए दूध की भाँति पूज्यमान होते हैं।

स द्व्यर्थः स्यादुभयोः श्रुतिभूतत्वाद्विप्रतिपत्तौ तादर्थ्याद्विकारत्वमुक्तं तस्यार्थवादत्वम् ।।३१।।

याग दो प्रयोजनवाला होता है, एक देवता-संस्कारार्थ और दूसरा छिद्र ढकने के लिए। दोनों ही प्रयोजन वेदविहित होने से अर्थवान् हैं। संशय उत्पन्न होने पर उभयार्थक याग समझना चाहिए। विकृतियाग भी उसी के लिए है। **'पशोरेव'** इत्यादि वाक्य अर्थवाद है।

विप्रतिपत्तौ तासामाख्याविकारः स्यात् ।।३२।।

जहाँ सन्देह होता हो, वहाँ देवताओं के नाम का विकार होता है।

अभ्यासो वा प्रयाजवदेकदेशोऽन्यदेवत्यः ।।३३।।

अथवा, पुरोडाश याग का अभ्यास है, उसका एक देश प्रयाज की भाँति भिन्न देवतावाला होता है।

चरुर्हविर्विकारः स्यादिज्यासंयोगात् ।।३४।।

याग के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ हवि का विकार ही है।

प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ।।३५।।

पूर्व०—चरु स्थाली में प्रसिद्ध है। हिमालय से कन्याकुमारी तक इसी का प्रयोग भी देखा जाता है, अतः स्थाली में ही हवि का विकार भी होता है।

ओदनो वाऽन्नसंयोगात् ।।३६।।

सि०—अन्न अर्थात् अदनीय=खाने योग्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध होने से चरु शब्द का अर्थ ओदन=भात ही है।

न द्व्यर्थत्वात् ।।३७।।

पूर्व०—उक्त कथन ठीक नहीं। चरु शब्द का अर्थ ओदन मानने पर उसमें दो अर्थवाला होने का दोष आता है, क्योंकि चरु शब्द स्थाली में प्रसिद्ध है।

कपालविकारो वा विशयेऽर्थोपपत्तिभ्याम् ।।३८।।

अथवा, चरु कपाल का विकार ही है। संशय होने पर योग्यता और उत्पत्ति से अर्थ का निश्चय होता है।

गुणमुख्यविशेषाच्च ।।३९।।

और, गाण और मुख्य के विशेष हेतु से भी कपाल विकार होता है।

तत् श्रुतौ चान्यहविष्ट्वात् ।।४०।।

चरु की श्रुति में अन्य हवियों का भी सम्बन्ध होने से यही पक्ष सिद्ध होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।४१।।

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि चरु कपाल का विकार है।

ओदनो वा प्रयुक्तत्वात् ।।४२।।

सि०—चरु शब्द का ओदन में भी प्रयोग होने से ओदन भी हवि का विकार होता है।

अपूर्वव्यपदेशाच्च ॥४३॥

और, अपूर्व का व्यपदेश होने से भी ओदन के द्वारा ही हवि का विकार होता है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥४४॥

ऐसा मानने पर इसमें अन्य प्रमाण भी उपलब्ध हो जाते हैं।

स कपाले प्रकृत्या स्यादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ॥४५॥

पूर्व०—ओदन का पाक आठ कपालों में करना चाहिए, क्योंकि दर्शपौर्णमास-रूप प्रकृति में कपालों की प्राप्ति होती है और अन्य कोई पात्र शास्त्र-विहित नहीं है, अतः इसका कोई नियम नहीं है। अर्थप्राप्त जिस किसी भी द्रव्य में पाक किया जा सकता है।

एकस्मिन् वा विप्रतिषेधात् ॥४६॥

आठ कपालों में पाक का अभ्यास होने से एक पाल में ही चरु का पाक किया जाना चाहिए।

न वाऽर्थान्तरसंयोगादपूपे पाकसंयुक्तं धारणार्थं चरौ भवति तत्रार्थात्पात्रलाभः स्यादनियमोऽविशेषात् ॥४७॥

अथवा, अर्थान्तर का संयोग होने से ओदन का पाक कपालों में नहीं करना चाहिए, क्योंकि कपाल की आवश्यकता तो अपूप=पुरोडाश के लिए होती है। चरु=ओदन में प्रयुक्त कपाल उदक=जल के धारण के लिए होता है। उदकगत ऊष्मा से ही ओदन का पाक होता है, कपालगत ऊष्मा से नहीं; अर्थापत्ति से पात्र का लाभ होता है। अमुक पात्र होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नहीं है।

चरौ वा लिङ्गदर्शनात् ॥४८॥

सि०—चरु को स्थाली में ही पकाना चाहिए, कटाह अथवा कपालों पर नहीं, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तस्मिन्पेषणमनर्थलोपात्स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—चरु में पेषण (पीसना) करना चाहिए, क्योंकि पेषणरूप अर्थ का लोप उसमें नहीं है।

अक्रिया वा अपूपहेतुत्वात् ॥५०॥

सि०—ओदन बनाने के लिए चावल का पेषण नहीं होता, पुरोडाश बनाने के लिए आटा पीसा जाता है।

पिण्डार्थत्वाच्च संयवनम् ॥५१॥

चरु का संयवन (पानी मिलाकर गूंधना) नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पिण्ड बनाने के लिए है।

संवपनं च तादर्थ्यात् ॥५२॥

संवपन पुरोडाश में किया जाता है, क्योंकि वह उसी के लिए होता है।

सन्तापनमधः श्रपणात् ।।५३।।

सन्तापन का भी चरु=ओदन में बाध है, क्योंकि वह अधःश्रपण=पुरोडाश के नीचे के भाग को पकाने के लिए होता है।

उपधानं च तादर्थ्यात् ।।५४।।

उपधान भी अनावश्यक है। कपालों को आग पर रखने को 'उपधान' कहते हैं, भात में यह भी व्यर्थ है।

पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूपत्वात् ।।५५।।

और, चरु में प्रथन (लोई बनाने) तथा श्लक्षण (चिकना करने) का भी निषेध है, क्योंकि ये क्रियाएँ पुरोडाश में होती हैं।

अभ्यूहश्चोपरिपाकार्थत्वात् ।।५६।।

ओदन में अभ्यूहन का भी बाध है। पुरोडाश को करछुल से अङ्गारे लेकर ढक देते हैं, जिससे ऊपर का भाग पक जाए। भात में यह भी व्यर्थ है।

तथा च ज्वलनम् ।।५७।।

अवज्वलन (दर्भ के पूलों को जलाकर चारों ओर से गर्म करना) भी पुरोडाश के साथ होता है, भात में यह भी व्यर्थ है।

व्युद्धृत्याऽऽसादनं च प्रकृतावश्रुतित्वात् ।।५८।।

पुरोडाश को कपालों से उठाकर अलग रखते हैं। चरु में उसका भी बाध है, श्रुति में विधान न होने से।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

कृष्णलेष्वर्थलोपादपाकः स्यात् ।।१।।

पूर्व०—कृष्णल (सोने के टुकड़े) चरु में पाकरूप अर्थ के सम्भव न होने से अर्थ का लोप होता है, अतः कृष्णलों को पकाने की आवश्यकता नहीं है।

स्याद्वा प्रत्यक्षशिष्टत्वात्प्रदानवत् ।।२।।

सि०—कृष्णालों का पाक होना चाहिए, क्योंकि श्रुति में प्रत्यक्ष विधान है। कृष्णालों का अदन=भक्षण नहीं होता, उनका प्रदान होता है। इसका दृष्टफल तो नहीं है, अदृष्ट फल होगा।

उपस्तरणाभिघारणयोरमृतार्थत्वादकर्म स्यात् ।।३।।

कृष्णलों में उपस्तरण (उँडेलना) और अभिघारण (घी डालने) का बाध है, क्योंकि ये क्रियाएँ भात को स्वादिष्ट बनाने के लिए की जाती हैं।

क्रियेत वाऽर्थवादत्वात्तयोः संसर्गहेतुत्वात् ।।४।।

पूर्व०—कृष्णल में उपस्तरण और अभिघारण दोनों क्रियाएँ करनी चाहिएँ, क्योंकि प्रकरणान्तर में विधि का अतिदेश होने से समस्त कर्म होता है। स्वादुत्वकरण तो केवल अर्थवाद है। आज्य का संसर्ग-मात्र ही किया जाता है।

अकर्म वा चतुर्भिराप्तिवचनात्सह पूर्णं पुनश्चतुरवत्तम् ॥५॥

सि०—'चतुर्भिः' इस आप्तिवचन के होने से उपस्तरण और अभिघारण—दोनों की निवृत्ति हो जाती है। इनके साथ फिर पूर्ण चतुरवत्त ही हो जाता है और वहाँ पर आप्तिवचन का व्याघात हो जाता है। कृष्णल चार हैं और अवदान भी चार ही हैं, अतः एक-एक कृष्णल एक-एक अवदान के स्थान में होता है।

क्रिया वा मुख्यावदानपरिमाणात् सामान्यात्तद्गुणत्वम् ॥६॥

उपस्तरण और अभिघारण दोनों कर्म करने चाहिएँ, क्योंकि प्रकृति में मुख्य अवदान के परिमाण का कथन पाया जाता है। परिमाण स्वयं गुण=अङ्ग होने से मुख्य द्रव्य का बाध नहीं कर सकता, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ की जानी चाहिएँ।

तेषां चैकावदानत्वात् ॥७॥

और, चारों कृष्णलों की एक ही अवदानता होती है, अतः उक्त दोनों क्रियाएँ करनी चाहिएँ।

आप्तिः संख्या समानत्वात् ॥८॥

संख्या की समानता होने से आप्तिवचन चतुःसंख्या की ही संस्तुति है, अतः उपस्तरण और अभिघारण क्रियाओं की निवृत्ति नहीं होती।

सतोस्त्वाप्तिवचनं व्यर्थम् ॥९॥

आक्षेप०—उपस्तरण और अभिघारण के विद्यमान होने से आप्तिवचन व्यर्थ ही होता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका कोई संस्तव नहीं होता।

विकल्पस्त्वेकावदानत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—एक अवदान का कथन होने से उक्त दोनों क्रियाओं की निवृत्ति होती है; इस लिङ्ग में विकल्प होता है।

सर्वविकारे त्वभ्यासानर्थक्यं हविषो हीतरस्य स्यादपि वा स्विष्टकृतः स्यादितरस्यान्यायत्वात् ॥११॥

पूर्व०—चारों कृष्णलों में सर्वावदान का विकार होने पर 'चत्वारि-चत्वारि' यह अभ्यास निरर्थक हो जाएगा। हमारे पक्ष में इतर हवि द्वितीय अवदान की अपेक्षा करके अभ्यास अवकल्पित होता है। स्विष्टकृत् के लिए अभ्यास चरितार्थ है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान प्रकरण का त्याग करके अन्य प्रकरण का स्वीकार करना अन्याय है, अतः दोनों क्रियाएँ करनी ही चाहिएँ।

अकर्मा वा संसर्गार्थनिवृत्तित्वात् तस्मादाप्तिसमर्थत्वम् ॥१२॥

सि०—कृष्णलों में उतस्तरण और अभिघारण नहीं करने चाहिएँ। स्रुक् के साथ कृष्णल का संयोग न होने से प्रकृत प्रयोजन की निवृत्ति होती है और आप्तिवचन भी उपपन्न हो जाता है।

भक्षाणां तु प्रीत्यर्थत्वादकर्म स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—भक्षों का प्रकृति में होना भक्षजन्य प्रीति के लिए होता है, अतः कृष्णल चरु में ये भक्ष नहीं करने चाहिएँ।

स्याद्वा निर्धानदर्शनात् ॥१४॥

सि०—'निर्धान' शब्द से कृष्णल के भक्षण का विधान है। खाते क्या हैं, चूस लेते हैं, क्योंकि श्रुति में विधान है।

वचनं त्वाज्यभक्षस्य प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥१५॥

आक्षेप—अथवा, प्रकृतियाग में होने से यह वचन आज्य=घृत-भक्षण के लिए है, क्योंकि यह क्रिया कृष्णल चरु में शक्य नहीं है।

वचनं वा हिरण्यस्य प्रदानवदाज्यस्य गुणभूतत्वात् ॥१६॥

समा०—उक्त वचन 'हिरण्य' के लिए है, घृत के लिए नहीं। अदनीय=भक्षणीय पदार्थ के प्रदान के समान कृष्णल चरु का ही भक्षण है, क्योंकि आज्य तो गौण है।

एकधोपहारे सहत्वं ब्रह्मभक्षाणां प्रकृतौ विहितत्वात् ॥१७॥

सि०—एक समय में प्राकृत इडा आदि हवि के चार भाग करने में महत्त्व होता है, ब्रह्मा नामक ऋत्विज के भक्षभाग के प्रकृतियाग में विहित होने से।

सर्वत्वं च तेषामधिकारात्स्यात् ॥१८॥

पूर्व०—और, ब्रह्मा-सम्बन्धी भाग को सर्वत्व विहित है, अधिकार होने से।

पुरुषापनयो वा तेषामवाच्यत्वात् ॥१९॥

सि०—शेष हवि में ब्रह्मा का सम्बन्ध होने से दूसरों के सम्बन्ध की निवृत्ति है, क्योंकि अन्य ऋत्विजों का निर्देश नहीं है।

पुरुषापनयात्स्वकालत्वम् ॥२०॥

अन्य ऋत्विजों का अपनय हो जाने से यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक भक्षण यथासमय ब्रह्मा को ही करना चाहिए।

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥२१॥

सम्पूर्ण चरु एक ब्रह्मा नामक ऋत्विज के लिए होने से विभाग की आवश्यकता नहीं है।

ऋत्विग्दानं धर्ममात्रार्थं स्याद्ददाति सामर्थ्यात् ॥२२॥

पूर्व०—ऋत्विजों को जो दान दिया जाता है, वह केवल धर्ममात्र है, क्योंकि उसकी कर्तव्यता सुनी जाती है और यह कर्तव्यता 'ददाति' शब्द की सामर्थ्य से सिद्ध है।

परिक्रयार्थं वा कर्मसंयोगाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में जो दक्षिणा दी जाती है, वह लोकव्यवहार के समान ऋत्विजों की सेवाओं के परिक्रय (खरीदने) के लिए पारिश्रमिकरूप में दी जाती है।

दक्षिणायुक्तवचनाच्च ॥२४॥

'दक्षिणायुक्ता वहन्त्यृत्विजः'—इस वचनरूपी प्रमाण से भी परिक्रय के लिए ही दान सिद्ध होता है।

परिक्रीतवचनाच्च ॥२५॥

'दक्षिणापरिक्रीता ऋत्विजो याजयन्ति'—इस वचन से यह अर्थ द्योतित होता है

कि दीक्षित ऋत्विज दक्षिणा से परिक्रीत होते हुए यज्ञ कराते हैं, अतः परिक्रयार्थ ही दान होता है।

सनिवन्ये च भृतिवचनात् ॥२६॥

याज्या से प्राप्त धन में भृति शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है।

नैष्कर्तृकेण संस्तवात् ॥२७॥

निष्कर्तृक (लकड़हारे) शब्द का प्रयोग होने से भी दान परिक्रयार्थ ही होता है। जैसे लकड़हारा पारिश्रमिक के लिए कार्य करता है, उसी प्रकार ऋत्विज भी दक्षिणा के लिए यज्ञ कराते हैं।

शेषभक्षाश्च तद्वत् ॥२८॥

पूर्व०—हविशेष का भक्षण भी दक्षिणा दान के ही समान परिक्रयार्थ होता है।

संस्कारो वा द्रव्यस्य परार्थत्वात् ॥२९॥

सि०—दक्षिणा भले ही परिक्रयार्थ हो परन्तु हवि का भक्षण परिक्रयार्थ नहीं है, वह तो द्रव्य के संस्कारार्थ होता है।

शेषे च समत्वात् ॥३०॥

जो द्रव्यशेष है, वह देवता के लिए संकल्पित है। उसका उपयोग न करने में यजमान और ऋत्विज दोनों समान हैं। इससे भक्षण का परिक्रयार्थ न होना ही सिद्ध होता है।

स्वामिनि च दर्शनात्तत्सामान्यादितरेषां तथात्वम् ॥३१॥

स्वामी=यजमान में शेष-भक्षण विहित है, क्योंकि इडा में भक्षण का वचन है, उसकी समानता होने से इतरों का भी परिक्रय नहीं होता।

वरणमृत्विजामानमनार्थत्वात्सत्रे न स्यात्स्वकर्मत्वात् ॥३२॥

सत्रों में न ऋत्विजों का वरण होता है, न उनकी सेवाओं का दक्षिणा द्वारा परिक्रय होता है, क्योंकि सत्र में तो सत्रह यजमान ही ऋत्विज होते हैं, कौन किसका वरण करे और किसको दान दे।

परिक्रयश्च तादर्थ्यात् ॥३३॥

सत्र परार्थ न होकर आत्मार्थ होता है, अतः सत्र में गो, वस्त्र, हिरण्य=सुवर्ण आदि कुछ नहीं दिया जाता।

प्रतिषेधश्च कर्मवत् ॥३४॥

आक्षेप—प्राप्ति होने पर ही कर्म की भाँति प्रतिषेध होता है।

स्याद्वा प्रसर्पिकस्य धर्ममात्रत्वात् ॥३५॥

अथवा, प्रासर्पिक दान का प्रतिषेध होता है, क्योंकि सत्रों में धर्ममात्र=अदृष्टार्थ जो दान होता है, वह निवृत्त हो जाता है, अतः प्रतिषेध उपपन्न होता है।

न दक्षिणा शब्दात्तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥३६॥

दक्षिणा शब्द के होने से उसका ही प्रतिषेध होता है, प्रासर्पिक का नहीं।

ऋत्विग्दान दक्षिणा है, वह प्रासंगिक नहीं है। सत्र दक्षिणाहीन होते हैं, अतः नित्य प्राप्त का ही यह अनुवाद है।

उदवसानीयाः सत्रधर्मा स्यात्तदङ्गत्वात्तत्र दानं धर्ममात्रं स्यात् ॥३७॥

पूर्व०—उदवसनीय सत्र धर्मवाला होता है। उक्त सत्र का अङ्ग होने से उसमें दिया गया दान केवल अदृष्टार्थक है।

न त्वेतत्प्रकृतित्वाद्विभक्तचोदितत्वात् ॥३८॥

सि०—उदवसनीय इष्टि में दक्षिणा दी जाती है, क्योंकि वह सत्र का अङ्ग नहीं है। यह सत्र के पश्चात् की जाती है।

तेषां तु वचनाद्द्वियज्ञवत्सहप्रयोगः स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—"सत्र से उठकर उदवसनीय=पृष्ठशमनीय सहस्र दक्षिणावाला ज्योतिष्टोम यज्ञ करना चाहिए"—इससे यह अर्थ निकलता है कि पृष्ठशमनीय सत्र का अङ्ग नहीं है। राजपुरोहित-यज्ञवत् संहत करके पृष्ठशमनीय करनी चाहिए।

तत्रान्यानृत्विजो वृणीरन् ॥४०॥

उदवसनीय इष्टि में सत्र के ऋत्विजों से भिन्न ऋत्विजों का वरण करना चाहिए।

एकैकशस्त्वविप्रतिषेधात्प्रकृतेश्चैकसंयोगात् ॥४१॥

सि०—संहत करके पृष्ठशमनीय नहीं करनी चाहिए। यह इष्टि सत्र करनेवालों को अलग-अलग करनी चाहिए, क्योंकि इसमें प्रतिषेध नहीं है और प्रकृति में एक कर्त्ता का संयोग है

कामेष्टौ च दानशब्दात् ॥४२॥

पूर्व०—कामेष्टि में दान परिक्रयार्थ होता है, क्योंकि दान शब्द का प्रयोग किया गया है।

वचनं वा सत्रत्वात् ॥४३॥

सि०—'कामेष्टि' स्वयं सत्र नहीं है, 'सारस्वत' सत्र का अङ्गमात्र है। यह ऋत्विजों की सेवाओं का परिक्रय करने के लिए नहीं है, क्योंकि यहाँ भी ऋत्विज अलग नहीं होते। यह दान केवल धर्म के लिए है और अदृष्टफल की आकांक्षा से किया जाता है।

द्वेष्ये वा चोदनाद्दक्षिणापनयात् ॥४४॥

वैश्वानर इष्टि में एक वर्ष का बछड़ा शत्रु को दान में दिया जाता है। यह भी परिक्रय नहीं है, अपितु धर्ममात्र है, अदृष्टफल के लिए।

अस्थियज्ञोऽविप्रतिषेधादितरेषां स्याद्विप्रतिषेधादस्थ्नाम् ॥४५॥

अस्थियज्ञ[1] में हड्डियों से यज्ञ कराए। परन्तु हड्डियाँ तो यज्ञ कर नहीं सकतीं, अतः इसका अर्थ यह है कि जो हड्डीवाले हैं, उनसे संवत्सर अस्थियज्ञ कराया जाए।

---

१. सत्र के यजमानों में से कोई मर जाए तो उसका दाह करके हड्डियों को काले मृग के चमड़े में बटोर लाते हैं और उस मृतक के किसी सम्बन्धी को दीक्षित करके यजमान बना लेते हैं। इस प्रकार सत्र का कार्य चलता रहता है। वर्ष के अन्त में अस्थि-यज्ञ कराते हैं।

यावदुक्तमुपयोगः स्यात् ।।४६।।

जितनों में वह वचन है, उतने ही में वह हो सकता है। वह सब यजमानों को लक्षित नहीं कर सकता, अतः जीवितों का ही यज्ञ होता है।

यदि तु वचनात्तेषां जपसंस्कारमर्थलुप्तं सेष्टि तदर्थत्वात् ।।४७।।

यदि वचन से अस्थियों का यज्ञ होता है तो इसमें मन्त्रों के जाप, संस्कार (जैसे दाढ़ी मुंडाना) तथा दीक्षणीय इष्टि का बाध हो जाएगा।

क्रत्वर्थं तु क्रियेत गुणभूतत्वात् ।।४८।।

अस्थियाग में यजमान के कद के बराबर यूप को नापना तथा शुक्रग्रहपात्र का स्पर्श—ये दोनों कर्म होंगे, क्योंकि ये कर्म यज्ञ के गुणभूत हैं।

काम्यानि तु न विद्यन्ते कामाज्ञानाद्यथेतरस्यानुच्यमानानि ।।४९।।

अस्थियज्ञ में काम्य कर्म नहीं होंगे, क्योंकि अस्थियों में कोई कामना नहीं होती, जैसे जब तक कहा न जाए तब तक यज्ञकर्ता की कामनाओं का भी ज्ञान नहीं होता।

ईहार्थाश्चाभावात्सूक्तवाकवत् ।।५०।।

आयुष् आदि की प्रार्थना भी सूक्तवाक् में श्रूयमाण न होने से कर्तव्य नहीं हैं।

स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ।।५१।।

पूर्व०—उक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि ये विधियाँ नहीं हैं किन्तु अर्थवाद हैं, अतः ईहार्थ काम करने चाहिएँ।

नेच्छाभिधानात्तदभावादितरस्मिन् ।।५२।।

सि०—ये कर्म इच्छा-विधान हैं अर्थात् इच्छा उत्पन्न होने पर ही हो सकते हैं तथा जीवित में ही ये कार्य होते हैं। इतर अस्थियों में मन के न होने से नहीं होते, अतः ईहार्थ कर्म नहीं करने चाहिएँ।

स्युर्वा होतृकामाः ।।५३।।

पूर्व०—अस्थियों के होतृकाम करने चाहिएँ।

न तदाशीष्ट्वात् ।।५४।।

सि०—अस्थियों में होतृकाम नहीं करने चाहिएँ। यजमान ऋत्विक का आशीर्वाद चाहते हैं। यहाँ यजमान नहीं है, केवल अचेतन अस्थियाँ हैं और उनमें कामना नहीं है।

सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ समापनं न विद्यते कर्मणो जीवसंयोगात् ।।५५।।

पूर्व०—यजमान के मरने पर 'सर्वस्वार' नामक क्रतु की समाप्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि कर्म का जीव से संयोग होता है, वह जीवित होते हुए ही किया जा सकता है।

स्याद्वोभयोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।५६।।

सि०—'सर्वस्वार' की परिसमाप्ति होती है, क्योंकि क्रतु और परिसमाप्ति—दोनों का ही प्रत्यक्ष विधान है।

गते कर्मास्थियज्ञवत् ।।५७।।

यजमान के घर जाने पर अस्थियाग की भाँति यागरूप कार्य हो जाएगा।

जीवत्यवचनमायुराशिषस्तदर्थत्वात् ॥५८॥

पूर्व०—जीवन की कामना करने का वचन होने से 'सर्वस्वार' में आयु के आशीर्वाद का वचन नहीं कहना चाहिए। आशीर्वाद जीवन की कामना करनेवाले के लिए होता है।

वचनं वा भागित्वात्प्राग्यथोक्तात् ॥५९॥

सि०—आयु का आशीष-भागी होने से आयु का आशीर्वचन करना ही चाहिए। आर्भव पवमान स्तोत्र पूर्ण होने तक यजमान जीवित रहने की इच्छा करता है, अतः जैसे अन्य क्रियाएँ की जाती हैं उसी प्रकार आयु के आशासूचक मन्त्रों का पाठ करना चाहिए।

क्रिया स्याद्धर्ममात्राणाम् ॥६०॥

द्वादशाह सत्र में 'दान' धर्ममात्र की भावना से अदृष्ट फल के लिए होने चाहिएँ।

गुणलोपे तु मुख्यस्य ॥६१॥

गौण (हवनी) का लोप होने पर भी प्रधान कर्म निर्वाप=हवि पकाने की क्रिया तो करनी ही चाहिए।

मुष्टिलोपात्तु संख्यालोपस्तद्गुणत्वात्स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—मुष्टि का लोप होने पर ही संख्या का लोप मानना योग्य है, क्योंकि संख्या मुष्टि का गुण है।

न निर्वापशेषत्वात् ॥६३॥

सि०—संख्या मुष्टि का गुण नहीं अपितु निर्वाप=पाक का गुण है, अतः संख्या का बाध मानना उचित नहीं, मुष्टि का ही बाध होता है।

संख्या तु चोदनां प्रति सामान्यात्तद्विकारः संयोगाच्च परं मुष्टेः ॥६४॥

पूर्व०—विधानप्रमाणे सादृश्य चतुष्टय विकार और द्रव्य के मानने से मुष्टिविकार बाधित होता है।

न चोदनाभिसम्बन्धात्प्रकृतौ संस्कारयोगात् ॥६५॥

सि०—चार मुष्टि का सम्बन्ध प्रकृतियाग में निर्वाप संस्कार के साथ है और सत्रह शरावों का सम्बन्ध वाजपेय याग के साथ है। इस प्रकार भिन्न सम्बन्ध होने से दोनों का बाध नहीं हो सकता। चोदक वचन से चार मुट्ठी का बाध होकर सत्रह शरावे-भर का ही अनुष्ठान होना चाहिए।

औत्पत्तिके तु द्रव्यतो विकारः स्यादकार्यत्वात् ॥६६॥

उत्पत्ति से ही जातिविशिष्ट गुण शब्द में द्रव्य से विकार होता है, क्योंकि वह अकार्य है। चोदक की अपेक्षा से प्रत्यक्ष जाति का त्याग नहीं किया जा सकता। धेनु का अर्थ गाय है, दूध देनेवाली बकरी नहीं।

नैमित्तिके तु कार्यत्वात्प्रकृतेः स्यात्तदापत्तेः ॥६७॥

केवल गुण को निमित्त करके प्रवृत्त होनेवाला शब्द कार्य होने से प्रकृति में 'अज'

का ग्राहक है, अतिदेशशास्त्र की उत्पत्ति होने से। ('वायव्यं श्वेतमालभते'—में श्वेत का अर्थ है श्वेत बकरा।)

विप्रतिषेधे तद्वचनात्प्रकृतगुणलोपः स्यात्तेन कर्मसंयोगात् ॥६८॥

प्राकृत और वैकृत गुणों का विरोध होने पर वैकृत गुण का वचन मान्य होने से प्राकृत गुण का बाध होता है, समीपवर्ती यूप के साथ कर्म का संयोग होने से।

परेषां प्रतिषेधः स्यात् ॥६९॥

'खलेवाली' में यूप के तक्षण, जोषण और उच्छ्रयण (छीलना) आदि कर्मों की भी आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'खलेवाली' तो पहले से ही बनी होती है।

विप्रतिषेधाच्च ॥७०॥

और, विरोध होने से भी 'खलेवाली' में तक्षण आदि कर्म नहीं करने चाहिएँ, क्योंकि तक्षण आदि करने पर 'खलेवाली' का रूप नष्ट होकर वह अन्य द्रव्य बन जाएगा।

अर्थाभावे संस्कारत्वं स्यात् ॥७१॥

तक्षण आदि कार्यों का अभाव होने पर भी 'खलेवाली' में जिन संस्कारों (सुदृढ़ गाढ़ना, तेल चुपड़ना) का फल दृष्ट है, वे तो करने ही चाहिएँ। इन कर्मों से वह दृढ़ हो जाती है।

अर्थेन च विपर्यासे तादर्थ्यात्तत्त्वमेव स्यात् ॥७२॥

गुण के लोप होने पर भी मुख्य क्रिया करनी चाहिए। महापितृयज्ञ में खीलों को भूनने से पहले थोड़ा छड़ लेना चाहिए, इससे उनका धानत्व नष्ट नहीं होता।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विकृतौ शब्दवत्त्वात्प्रधानस्य गुणानामधिकोत्पत्तिः सन्निधानात् ॥१॥

पूर्व०—प्राकृत गुण से विलक्षण गुणवाले, प्राकृत अङ्गवाले अग्नीषोमीय पश्वादि में एकादशत्वादि विशिष्ट प्रयाज आदि विधायक शब्द होने से अप्राकृत गुणों की स्वतन्त्रता से उत्पत्ति है, मुख्य भावना का सन्निधान होने से।

प्रकृतिवत्त्वस्य चानुपरोधः ॥२॥

इस प्रकार 'पशुमालभते' इस वाक्य में 'प्रकृतिवत्' पद की कल्पना की आवश्यकता नहीं रहती।

चोदनाप्रभुत्वाच्च ॥३॥

और, प्रयाजादि विधि में 'एकादशप्रयाजान् यजति'—इस वाक्य का प्रभुत्व है, अतः प्रकृतियाग की इतिकर्तव्यता इनपर लागू नहीं है।

प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं तथाभूतमपूर्वं स्यात्तस्य विध्युपलक्षणात्सर्वो हि पूर्ववान्विधिरविशेषात्प्रवृत्तिः ॥४॥

सि०—प्राकृत कर्म जिस अङ्ग से संयुक्त होता है, उसी अङ्ग से संयुक्त विकृति

सामान्य है। विकृति में प्राकृत अङ्गों की उपलब्धि होने से विकृतियाग भी प्रकृतिपूर्वक होता है और सामान्य रूप से प्रवर्तित है, अतः इतिकर्तव्यता को प्राप्त होने पर यह गुण-विधि है।

न चाङ्गविधिरनङ्गे स्यात् ॥५॥

और, अङ्गरहित कर्म में अङ्ग की विशेष विधि नहीं होती।

कर्मणश्चैकशब्द्यात् सन्निधाने विधेराख्या संयोगो गुणेन तद्विकारः स्याच्छब्दस्य विधिगामित्वाद्गुणस्य चोपदेश्यत्वात् ॥६॥

प्रधानकर्म और गुणकर्म, प्रयोगवाचक एक शब्द से कहे गये हैं। प्रधान वचन से अङ्ग सन्निहित होता है। अङ्गविधि का नाम के साथ सम्बन्ध होता है। एकादशत्व संख्या-रूप गुण से विकार होता है। एकादशत्वादि शब्द प्रयाजादि विधिगामी है और गुण उपदेश करने योग्य है, इससे इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है।

अकार्यत्वाच्च नाम्नः ॥७॥

नाम का सम्बन्ध न होने से भी इतिकर्तव्यता प्राप्त होती है और ये गुण-विधियाँ हैं।

तुल्या च प्रभुता गुणे ॥८॥

और विधिप्रत्ययशक्ति गुणकर्म और प्रधानकर्म में तुल्य है।

सर्वमेवं प्रधानमिति चेत् ॥९॥

इस प्रकार सभी कर्म प्रधान होते हैं, यदि ऐसा कहो तो—

तथाभूतेन संयोगाद्यथार्थविधयः स्युः ॥१०॥

उक्त कथन ठीक नहीं। दूसरे अध्याय में गुण और प्रधान के जैसे लक्षण बताये गये हैं, वैसा ही संयोग होने से यथार्थ विधियाँ हो जाएँगी।

विधित्वं चावशिष्टं वैकृतैः कर्मणा योगात्तस्मात्सर्वं प्रधानार्थम् ॥११॥

वैकृत कर्म के साथ विधित्व समान है, अर्थवाद के साथ सम्बन्ध होने से, अतः सभी प्रधानार्थ विकृति में गुणभूत होता है।

समत्वाच्च तदुत्पत्तेः संस्कारैरधिकारः स्यात् ॥१२॥

उत्पत्तिक्रम की समानता होने से प्रयाजादि का संस्कार के साथ सम्बन्ध होता है, इससे सब प्रधान नहीं है, कुछ प्रधानार्थ भी होता है।

हिरण्यगर्भः पूर्वस्य मन्त्रलिङ्गात् ॥१३॥

पूर्व०—'हिरण्यगर्भ' मन्त्र पूर्व आधार की गुणविधि है, मन्त्र में प्रयाजादि देवता की स्तुति होने से।

प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१४॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह पूर्व की गुणविधि ही है।

उत्तरस्य वा मन्त्रार्थित्वात् ॥१५॥

सि०—यह पूर्व की गुणविधि नहीं अपितु उत्तर की गुणविधि है। 'हिरण्यगर्भ' मन्त्र कार्यविशेष का विधायक है।

विध्यतिदेशात्तत् श्रुतौ विकारः स्याद्गुणानामुपदेश्यत्वात् ॥१६॥

आधार विधि का प्रकृति में अतिदेश होता है। उपदेश्य मन्त्रविशेष यहाँ उत्तर आधार में है और वह उत्तर में अङ्गभूत तदर्थ विज्ञान का साधक है, अतः पूर्व में नहीं, उत्तर में ही गुणविधि होती है।

पूर्वस्मिंश्चामन्त्रदर्शनात् ॥१७॥

और, पूर्व आधार में मन्त्रदर्शन नहीं है, अतः उत्तर की गुणविधि सिद्ध होती है।

संस्कारे तु क्रियान्तरं तस्य विधायकत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—वाक्य पशुनियोजन का विधायक होने से और परिधि के सम्बन्ध से पशु का संस्कार होने से प्राकृत कर्म से यह भिन्न है और वह अदृष्टार्थक है।

प्रकृत्यनुपरोधाच्च ॥१९॥

और, प्रकृति के अनुपरोध होने से भी यह क्रियान्तर होता है।

विधेस्तु तत्र भावात्सन्देहे यस्य शब्दस्तदर्थं स्यात् ॥२०॥

सि०—नियोजनविषयक प्राकृत और प्रत्यक्ष विधियों का क्रतुविशेष में भाव होने से, सन्देह में जिसके उद्देश्य से परिधिरूप शब्द प्रयोज्य है, वह नियोजनार्थक है, अतः यह गुणविधि है।

संस्कारसामर्थ्याद्गुणसंयोगाच्च ॥२१॥

संस्कार का सामर्थ्य और गुणों का सम्बन्ध होने से कर्मान्तर नहीं होता।

विप्रतिषेधात्क्रिया प्रकरणे स्यात् ॥२२॥

सौत्रामणी प्रकरण में दृष्टार्थकता सम्भावित न होने से कर्म अपूर्व कर्म है।

षड्भिर्दीक्षयतीति तासां मन्त्रविकारः श्रुतिसंयोगात् ॥२३॥

पूर्व०—'षड्भिर्दीक्षयति'—इस श्रुति के साथ संयोग होने से प्राकृत आहुतियों का मन्त्र विकार होता है। वैकृत मन्त्रों से प्राकृत निवृत्त हो जाते हैं, अतः प्राकृतों का बाध है, समुच्चय नहीं है।

अभ्यासात्तु प्रधानस्य ॥२४॥

सि०—प्राकृत दीक्षा-आहुतियों की आवृत्ति=अभ्यास होने से समुच्चय है।

आवृत्त्या मन्त्रकर्म स्यात् ॥२५॥

आक्षेप—आवृत्ति होने पर भी मन्त्रकर्म होता है।

अपि वा प्रतिमन्त्रत्वात्प्राकृतानामहानिः स्यादन्यायश्च कृतेऽभ्यासः ॥२६॥

समा०—प्रत्येक मन्त्र में आहुतियाँ होने से प्राकृत मन्त्रों का अहान होता है। वैकृत मन्त्रों का प्रत्यक्ष पाठ है और प्राकृत मन्त्र अतिदेश से प्राप्त हैं, अतः दोनों प्रकरणों का समुच्चय हो सकता है। एक बार वैकृत मन्त्रों का पाठ होकर पुनः पाठ करना अन्याय है।

पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे नोपपद्यते नैमित्तिकत्वात् ॥२७॥

और अभ्यास में पूर्वापर भाव उपपन्न नहीं होता, क्योंकि आगन्तुक नैमित्तिक होता है, इससे भी प्राकृत मन्त्रों का अहान है।

तत्पृथक्त्वं च दर्शयति ॥२८॥

'आग्निकी' और 'आध्वरिकी'—दोनों आहुतियों का पृथक्त्व बताया गया है, दोनों आहुतियाँ देनी चाहिए, इससे भी प्राकृत और वैकृत दोनों मन्त्रों का समुच्चय है।

न चाविशेषाद्व्यपदेशः स्यात् ॥२९॥

व्यपदेश होने से अनिवृत्ति समुच्चय है।

अग्न्याधेयस्य नैमित्तिके गुणविकारे दक्षिणादानमधिकं स्याद् वाक्यसंयोगात् ॥३०॥

पूर्व०—पुनः आधेय में दक्षिणारूप गुण का विकार प्राप्त होने पर अग्न्याधान का दक्षिणा-दान अधिक है, वाक्य का संयोग होने से, अतः अनिवृत्ति समुच्चय है।

शिष्टत्वाच्चेतरासां यथास्थानम् ॥३१॥

और, अन्य प्राकृत दक्षिणा का यथाक्रम विधान होने से भी दक्षिणाओं का समुच्चय है।

विकारस्त्वप्रकरणे हि काम्यानि ॥३२॥

सि०—समुच्चय नहीं होता किन्तु विकार=बाध है, क्योंकि अप्रकृतिभूत विकृति-याग में पुनराधेय की जो दक्षिणा होती है, 'वह वर्तमान=पिछले अग्न्याधान की है, पूर्व अग्न्याधान की नहीं अर्थात् दोनों दक्षिणाओं का समुच्चय नहीं होता। (यह नियम है कि नैमित्तिक कर्म में नित्य कर्म का बाध होता है, जैसे बीमार को खिचड़ी, रोटी के स्थान पर दी जाती है, रोटी के साथ खिचड़ी नहीं।)

शङ्कते च निवृत्तेरुभयत्वं हि श्रूयते ॥३३॥

'प्राकृत दक्षिणा दी जाएगी अथवा नहीं,' इस शंका का समाधान यह है कि पिछले अग्न्याधान में पहली दक्षिणाओं का बाध होगा, दोनों का समुच्चय नहीं होगा। श्रुति से यही सिद्ध होता है कि विकृति की दक्षिणा से दोनों का काम चल जाएगा।

वासो वत्सं च सामान्यात् ॥३४॥

और, वस्त्र अथवा पहलौठा वत्स (बछड़ा) कार्यसामान्य होने से पुनराधेय दक्षिणा का बाध करता है। (आग्रयण यज्ञ में वस्त्र या बछड़ा ही दान में दिया जाएगा, प्रकृति-याग में अन्वाहार्य नहीं दिया जाएगा।)

अर्थापत्तेस्तद्धर्मः स्यान्निमित्ताख्याभिसंयोगः ॥३५॥

प्राकृत मन्त्र आदि के उद्देश्यभूत दक्षिणा की प्राप्ति होने से वस्त्र या वत्स में अन्वाहार्य के धर्म होते हैं, मन्त्र निमित्त का दक्षिणा के साथ संयोग होने से। (अन्वाहार्य दक्षिणा के जो अन्य धर्म हैं, वे इस नई दक्षिणा में भी पालने पड़ेंगे। जैसे भात दिया जाता है, उसी प्रकार वस्त्र या वत्स भी दिया जाएगा।)

दाने पाकोऽर्थलक्षणः ॥३६॥

अन्वाहार्य धर्मों में भात का पाक भी कर्तव्य है परन्तु दान-साधन वत्स में उसकी निवृत्ति है, बछड़े को पकाया नहीं जाएगा।

पाकस्य चान्नकारित्वात् ॥३७॥

पाक तो ओदन आदि अन्न में कर्तव्य है, अतः वस्त्र में भी पाक की निवृत्ति है।

तथाभिघारणस्य ॥३८॥

इसी प्रकार अभिधारण=घी डालने की भी निवृत्ति है।

द्रव्यविधिसन्निधौ संख्या तेषां गुणत्वात्स्यात् ॥३९॥

पूर्व०—द्रव्यविधि की सन्निधि में जो संख्या शब्द है, द्रव्य का गुण होने से उसका प्रत्येक द्रव्य के साथ सम्बन्ध है।

समत्वात्तु गुणानामेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥४०॥

गुण और संख्या के समान होने से संख्या एक का ही निर्देश करती है, एक-एक का नहीं, श्रुति में स्पष्ट कथन होने से।

यस्य वा सन्निधाने स्याद्वाक्यतो ह्यभिसम्बन्धः ॥४१॥

अथवा, जिस शब्द के सन्निधान में संख्या शब्द उच्चारित होता है, उसी के साथ उसका अभिसम्बन्ध होता है।

असंयुक्तास्तु तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते तस्मात्सर्वाधिकारः स्यात् ॥४२॥

असंयुक्त संख्या केवल 'माषों' में होती है, अन्य द्रव्यों का श्रुति के साथ समानता से विधान है, अतः संख्या का सबके साथ सम्बन्ध है।

असंयोगाद्विधिश्रुतावेकजाताधिकारः स्यात् श्रुत्याकोपात्क्रतोः ॥४३॥

सि०—संख्या का दो द्रव्यों के साथ संयोग न होने से विधिवाक्य में किसी एक द्रव्य के साथ सम्बन्ध का अन्वय है। विधिवाक्य का कोप होने से यह द्रव्य का बोध न कराके ऋतु की बोधक है, अतः एकजातीय एक द्रव्य के साथ संख्या का सम्बन्ध है।

शब्दार्थश्चापि लोकवत् ॥४४॥

लौकिक भाषा की भाँति वेद में भी शब्दों का अर्थ होता है।

सा पशूनामुत्पत्तितो विभागात् ॥४५॥

सि०—संख्या पशुओं की उत्पत्ति से विभाग होने के कारण होती है अर्थात् पशुगण संव्यवहारों में लोकव्यवहार से संख्यापित हुआ करते हैं, अतः पशुओं के साथ संख्या का सम्बन्ध है।

अनियमोऽविशेषात् ॥४६॥

पूर्व०—पशुओं में गौओं का ही दान करना चाहिए, ऐसा कोई विशेष नियम नहीं बताया गया है।

भागित्वाद्वा गवां स्यात् ॥४७॥

सि०—गौ महान् उपकार करनेवाली है, अतः गौओं का दान करना चाहिए।

प्रत्ययात् ॥४८॥

विशेष्य की आकांक्षा से शास्त्र में सर्वप्रथम गौ का ही प्रतिपादन है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४९॥

तथा, शास्त्रान्तर में भी गोदान के प्रमाण उपलब्ध होने से गौओं का ही दान करना चाहिए।

तत्र दानं विभागेन प्रदानानां पृथक्त्वात् ॥५०॥

प्रतिग्रहीताओं के अलग-अलग होने से गौओं का दान विभाग करके (दान लेने-

वालों की योग्यतानुसार) देना चाहिए।

परिक्रयाच्च लोकवत् ॥५१॥

जैसे लोक में स्वामी लकड़हारे आदि को विभाग करके मजदूरी देता है, उसी प्रकार विभाग करके दक्षिणा देनी चाहिए, क्योंकि यह परिक्रयार्थ है, केवल धर्म नहीं है।

विभागं चापि दर्शयति ॥५२॥

और, श्रुति भी विभाग का निर्देश करती है।

समं स्यादश्रुतित्वात् ॥५३॥

पूर्व०—सबको समान दक्षिणा देनी चाहिए, वैषम्य का श्रवण न होने से।

अपि वा कर्मवैषम्यात् ॥५४॥

अथवा, कर्मप्रमाणे वैषम्य भी होता है। जो अधिक कर्म करता है, उसे अधिक देना चाहिए। यह दूसरा पक्ष है।

अतुल्याः स्युः परिक्रये विषमाख्या विधिश्रुतौ परिक्रयान्न कर्मण्युपपद्यते दर्शनाद्विशेषस्य तथाभ्युदये ॥५५॥

सि०—दक्षिणा (पारिश्रमिक) समान नहीं होनी चाहिए। श्रुति-प्रमाण से ऋत्विजों में दक्षिणा का विभाग पारिश्रमिक के कारण विषम होता है। (किसी को आधा, किसी को चौथाई, किसी को तिहाई और ब्रह्मा तथा उद्गाता आदि को पूरा-पूरा भाग मिलता है) यह वैषम्य कर्म के कारण नहीं है, यह श्रुतिकृत वैषम्य है, जैसा कि 'अभ्युदय' नामक सत्र में विधान है।

तस्य धेनुरिति गवां प्रकृतौ विभक्तं चोदितत्वात्तत्सामान्यात्तद्विकारः स्याद्यथेष्टिर्गुणशब्देन ॥५६॥

पूर्व०—'भूयाग' की दक्षिणा एक धेनु विहित है। वह अतिदेश से प्राप्त गोरूप दक्षिणा का बाध करती है। प्रकृतियाग में गौ, अश्वादि भिन्न-भिन्न दक्षिणाएँ बताने से और धेनु तथा गौ के समान होने से उसका बाध होता है, जैसे इष्टि में विहित द्रव्य सूर्य आदि के साथ सम्बन्ध बताता है।

सर्वस्य वा क्रतुसंयोगादेकत्वं दक्षिणार्थस्य गुणानां कार्यैकत्वादर्थे विकृतौ श्रुतिभूतं स्यात्तया समवायाद्धि कर्मभिः ॥५७॥

सि०—इससे सर्वक्रतु दक्षिणा का बाध होता है। सर्वदक्षिणा का क्रतु के साथ सम्बन्ध होने से एकत्व अर्थात् समुच्चय है। क्रतु में जो गुण होता है, उसका मुख्य कार्य के साथ सम्बन्ध होता है। विकृति में जो श्रुति होती है, वह प्राकृत अर्थ का बाध करती है, अतः समुच्चय कर्म होने से धेनुरूप दक्षिणा सर्वदक्षिणी की निर्वर्तिका है।

चोदनानामनाश्रयाल्लिङ्गेन नियमः स्यात् ॥५८॥

यदि प्राकृत कार्य अनाश्रय हो तो लिङ्ग के द्वारा उसका नियम होता है, परन्तु यहाँ तो धेनुरूप दक्षिणा की स्पष्ट विधि है, अतः सर्वप्राकृत दक्षिणा का बाध है।

एका पञ्चेति धेनुवत् ॥५९॥

पूर्व०—एक गौ अथवा पाँच गौओं की दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निर्वर्तिका है, जैसे उपर्युक्त प्रकरण में धेनु-दक्षिणा सर्वदक्षिणा की निर्वर्तिका है।

त्रिवत्सश्च ॥६०॥

'साद्यस्क्र' याग में तीन वर्ष के बछड़े की दक्षिणा से अन्य सब दक्षिणाओं का बाध हो जाता है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ॥६१॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

एके तु श्रुतिभूतत्वात्संख्यया गवां लिङ्गविशेषेण ॥६२॥

सि०—'एकाम्' यह स्त्रीलिङ्ग है और गौ का विशेषण है, अतः प्राकृत संख्यायुक्त गौओं की निवृत्ति करता है। 'एकाम्' का सम्बन्ध दक्षिणा के साथ नहीं है, अतः साद्यस्क्र याग में विहित एक गाय की दक्षिणा प्राकृत संख्याविशिष्ट गौओं की निवृत्तिका है, अश्वादि की नहीं।

प्राकाशौ च तथेति चेत् ॥६३॥

आक्षेप—अश्वमेध याग में अध्वर्यु को दो सुवर्णमय दीपस्तम्भ देने का विधान है, अतः अन्य किसी दक्षिणा की आवश्यकता नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

अपि त्ववयवार्थत्वद्विभक्तप्रकृतित्वाद्गुणेदन्ताविकारः स्यात् ॥६४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकाश दक्षिणा अवयवकार्य के लिए है, कृत्स्न = सम्पूर्ण कार्य के लिए नहीं, क्योंकि अध्वर्यु आदि के भाग विभक्त होते हैं। 'प्रकाश' दक्षिणा अध्वर्यु की होने से अन्य दक्षिणाओं का बाध नहीं होता, वह तो देनी ही पड़ेगी।

धेनुवच्चाश्वदक्षिणा स ब्रह्मण इति पुरुषापनयो यथा हिरण्यस्य ॥६५॥

उपहव्य नामक एकाह याग में जो अश्व-दक्षिणा है, वह धेनु-दक्षिणा के समान सम्पूर्ण दक्षिणा की निर्वतिका है। वह ब्रह्मा को देय है, अन्य ऋत्विजों के लिए नहीं जैसे 'शतकृष्णल' याग में सुवर्ण की दक्षिणा केवल ब्रह्मा के लिए है।

एके तु कर्तृसंयोगात्स्रग्वत्तस्य लिङ्गविशेषेण ॥६६॥

पूर्व०—एक लिङ्गविशेष से कर्तृसंयोग होने से स्रक् = माला की भाँति अर्थ निवृत्त होते हैं।

अपि वा तदधिकाराद्धिरण्यवद्विकारः स्यात् ॥६७॥

सि०—दक्षिणा का अधिकार होने से हिरण्य के समान वह अश्व-दक्षिणा अन्य प्राकृतिक दक्षिणाओं का बाध करती है।

तथा च सोमचमसः ॥६८॥

पूर्व०—उसी प्रकार 'ऋतपेय' याग में 'सोमचमस' की दक्षिणा अन्य सब दक्षिणाओं का बाध करती है।

सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे पशूनां प्रतिषेधात् ॥६९॥

सि०—क्रत्वर्थक दान में पशुदान का प्रतिषेध है, अतः वह सर्वदक्षिणाओं का बाध करता है।

ब्रह्मदानेऽविशिष्टमिति चेत् ॥७०॥

आक्षेप—ब्रह्मदान में भी पशुप्रतिषेधानुवाद अवकल्पित होता है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्सर्गस्य क्रत्वर्थत्वात्प्रतिषिधस्य कर्मत्वान्न च गौणः प्रयोजनमर्थः स दक्षिणानां स्यात् ।।७१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। सोमचमस का दान क्रतु के लिए है। क्रतु में जो पशुदान है, प्रकृतियाग में उसका निषेध होने से सबके स्थान में चमस-दक्षिणा है। चमसरूप दक्षिणा का प्रयोजन गौण नहीं है, अतः सोमचमसरूप दक्षिणा सम्पूर्ण क्रतुदक्षिणा का बाध करती है।

यदि तु ब्रह्मस्तदूनं तद्विकारः स्यात् ।।७२।।

पूर्व०—यदि सोमचमस दान ब्रह्मा का भाग है तो वह दक्षिणा ब्रह्मभाग से ऊन=अल्प हो जाएगी। इस विचार से अन्य दक्षिणा दी जाया करेगी।

सर्वं वा पुरुषापनयात्तासां क्रतुप्रधानत्वात् ।।७३।।

सि०—दक्षिणाओं में क्रतु-प्रधानता होने से पुरुष-अपनय (अन्य ऋत्विजों के भाग का निषेध) किया जाता है कि वह ब्रह्मा को ही देना चाहिए।

यजुर्युक्तेऽध्वर्योर्दक्षिणा विकारः स्यात् ।।७४।।

पूर्व०—वाजपेय याग में यजुरथ (रथविशेष) अध्वर्यु को दिया जाता है, वह अन्य दक्षिणाओं का बाध करता है।

अपि वा श्रुतिभूतत्वात्सर्वासां तस्य भागो नियम्यते ।।७५।।

सि०—वाजपेय याग में श्रुति द्वारा सप्तदश रथ आदि बहुत-सी दक्षिणाओं का विधान है। इनमें यजुरथ अध्वर्यु को दिया गया, ऋग्युक्त रथ होता को और सामयुक्त उद्गाता को। शेष का सबमें यथायोग्य विभाग हुआ, अतः यजुरथ किसी का बाध नहीं करता।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

प्रकृतिलिङ्गसंयोगात्कर्मसंस्कारं विकृतावधिकं स्यात् ।।१।।

नारिष्ठ आदि उपहोमों का प्रकृति के कार्य के साथ संयोग न होने से वह अदृष्ट फलवाला है, अतः उसका विकृति में समुच्चय है।

चोदनालिङ्गसंयोगे तद्विकारः प्रतीयेत प्रकृतिसन्निधानात् ।।२।।

प्राकृत विधि में संयोग होने से उसके विकार की प्रतीति होती है, क्योंकि वहाँ प्रकृतिलिङ्ग से संयोग होता है।

सर्वत्र तु ग्रहाम्नातमधिकं स्यात्प्रकृतिवत् ।।३।।

'बृहस्पति-सव' आदि विकृतियागों में ग्रहों का आम्नान होने से सर्वत्र बृहस्पति ग्रहों के साथ इन्द्रवायु ग्रहों का समुच्चय होता है, प्रकृतियाग के समान।

अधिकश्चैकवाक्यत्वात् ।।४।।

एकवाक्यता होने से भी समुच्चय होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी समुच्चय होता है।

प्राजापत्येषु चाम्नानात् ॥६॥

तथा, वाजपेय याग में उपदिष्ट प्राजापत्य पशुओं के साथ अतिदिष्ट ऋतु पशुओं का समुच्चय होता है, आम्नान होने से।

आमने लिङ्गदर्शनात् ॥७॥

'सांग्रहरण' इष्टि में अनुयाजों का 'आमन' होमों के साथ समुच्चय होता है, प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

उपगेषु शरवत्स्यात्प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥८॥

पूर्व०—उपगान करनेवालों में दर्भ में जैसे शर बाधक होता है, उसी प्रकार पत्न्युपगान बाधक होता है, प्राकृत उपगान के साथ सम्बन्ध होने से।

आनर्थक्यात्त्वधिकं स्यात् ॥९॥

सि०—ऋत्विगुपगान के साथ पत्न्युपगान का समुच्चय है, अनार्थक्य होने से।

संस्कारे चान्यसंयोगात् ॥१०॥

अञ्जन और अभ्यञ्जन संस्कार में दीक्षाकाल और सुत्याकाल का संयोग होने से समुच्चय है।

प्रयाजवदिति चेन्नार्थान्यत्वात् ॥११॥

प्रयाज के समान भिन्नकालिक होने से इसका बाध होता है, यदि ऐसा कहो तो—यह ठीक नहीं। भिन्न कार्य होने से बाध नहीं हो सकता।

आच्छादने त्वैकार्थ्यात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—प्राकृत और वैकृत—दोनों का एक ही आच्छादनरूप प्रयोजन होता है, अतः प्राकृत में अहत (कोरे) वस्त्रों का बाध होता है।

अधिकं वाऽन्यार्थत्वात् ॥१३॥

सि०—महाव्रत में तार्प्य आदि वस्त्रों का प्रकृतियाग के अहत-वस्त्रों के साथ समुच्चय होता है, भिन्न प्रयोजन होने से।

सामस्वर्थान्तरश्रुतेरविकारः प्रतीयेत ॥१४॥

सामगान में प्राकृत साम के साथ समुच्चय की प्रतीति होती है।

अर्थे त्वश्रूयमाणे शेषत्वात्प्राकृतस्य विकारः स्यात् ॥१५॥

प्राकृतफल श्रूयमाण न होने पर शेष होने से प्राकृत सामगान का बाध होता है।

सर्वेषामविशेषात् ॥१६॥

पूर्व०—कोई विशेष प्रमाण उपलब्ध न होने से विकृति पठित साम प्रकृति-पठित सभी सामों का निवर्तक होता है।

एकस्य वा श्रुतिसामर्थ्यात्प्रकृतेश्चाविकारात् ॥१७॥

सि०—श्रुति का सामर्थ्य होने से एक साम एक का ही निवर्तक होता है, प्राकृत साम का ग्रहण न होने से।

स्तोमविवृद्धौ त्वधिकं स्यादविवृद्धौ द्रव्यविकारः स्यादितरस्याश्रुतित्वात् ॥१८॥

जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि होती है, उसमें प्रकृति और विकृति सामों का समुच्चय होता है। दोनों का श्रवण न होने से आगम के द्वारा संख्यापूर्ति की जाती है। जिस ऋतु में स्तोम की वृद्धि नहीं होती, वहाँ सामरूप द्रव्य का बाध होता है।

पवमाने स्यातां तस्मिन्नावापोद्वापदर्शनात् ॥१९॥

पवमान स्तोत्र में 'आवाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ वृद्धि) और 'उद्वाप' (पवमान स्तोत्रों में कुछ घटाना) होता है, पवमान स्तोत्र में आवाप और उद्वाप दोनों का विधान होने से।

वचनानि त्वपूर्वत्वात् ॥२०॥

न्याय (दलील) के अभाव में वचन ही निर्णायक होने से पवमान स्तोत्रों में ही आवाप और उद्वाप हो सकता है।

विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः स्यात्तेन चोदना ॥२१॥

मन्त्र-सम्बन्धी देवतावाची शब्द का उच्चारण आवश्यक होने से याग और निर्वाप में उसी शब्द का उच्चारण होना चाहिए, उसी शब्द का विधान होने से (जैसे अग्नये स्वाहा के स्थान पर पावकाय स्वाहा नहीं पढ़ना चाहिए)।

शेषाणां वा चोदनैकत्वात्तस्मात् सर्वत्र श्रूयते ॥२२॥

शेष मन्त्रों में भी विधि की एकरूपता होने से सभी स्थानों पर विधिगत शब्दों का ही प्रयोग उपलब्ध होता है।

तथोत्तरस्यां ततौ तत्प्रकृतित्वात् ॥२३॥

उसी प्रकार सौर्यादि विकृतियाग में भी शब्द का नियम है, क्योंकि वह दर्श-पौर्णमास प्रकृतिवाला है।

प्रकृतस्य गुणश्रुतौ सगुणेनाभिधानं स्यात् ॥२४॥

प्राकृत अग्नि की गुणश्रुति में सगुण अग्नि का अभिधान करना चाहिए।

अविकारो वाऽर्थशब्दानपायात् स्याद् द्रव्यवत् ॥२५॥

पूर्व०—केवल अग्नि शब्द का ही प्रयोग होना चाहिए। केवल अग्नि शब्द के प्रयोग से भी अर्थ का त्याग नहीं होता, द्रव्य की भाँति।

आरम्भासमवायाद्वा चोदितेनाभिधानं स्यादर्थस्य श्रुतिसमवायित्वा-
दवचने च गुणशासनमनर्थकं स्यात् ॥२६॥

सि०—विधिविहित सगुण में अभिधान करना आरम्भ समवाय के कारण होता है। उत्पत्तिवाक्य में गुणविशिष्ट अग्नि आदि का बोध कठिन होने से केवल अग्नि शब्द का प्रयोग स्वीकार किया जाए तो गुण शासन निरर्थक हो जाएगा।

द्रव्येष्वारम्भगामित्वादर्थे विकारः सामर्थ्यात् ॥२७॥

द्रव्यों में आरम्भ समवाययुक्त होने से केवल गुणरहित द्रव्य का अभिधान इष्ट है, देवता का नहीं।

वृधन्वान्पवमानवद्विशेषनिर्देशात् ॥२८॥

पूर्व०—पवमान इष्टि में जैसे सगण देवता का अभिधान होता है, वैसे ही

'वृधन्वान्' अग्नि में भी करना चाहिए, क्योंकि विशेष का निर्देश है और वह निर्देश अर्थ-वाला होता है, अतः सगुण अग्नि का अभिधान होना चाहिए।

मन्त्रविशेषनिर्देशान्न देवताविकारः स्यात् ॥२९॥

सि०—मन्त्रविशेष के निर्देशक होने से देवता का विकार नहीं होता, अतः देवता का निर्गुण ही अभिधान करना चाहिए।

विधिनिगमभेदात्प्रकृतौ तत्प्रकृतित्वाद्विकृतावपि भेदः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—प्रकृति में विधि और निगम में भेद होने से विकृति में भी भेद होता है, तत्प्रकृतित्व होने से।

यथोक्तं वा विप्रतिपत्तेर्न चोदना ॥३१॥

सि०—यथोक्त वचन से ही अभिधान करना चाहिए, क्योंकि विधि और निगम की प्रतिपत्ति की चोदना नहीं है।

स्विष्टकृद्देवतान्यत्वे तच्छब्दत्वान्निवर्त्तेत ॥३२॥

पूर्व०—प्रकृतियाग में स्विष्टकृत् में जो देवता है, उसके भिन्न होने से और प्राकृत अग्निरूप अर्थविशिष्ट शब्द होने से स्विष्टकृत् शब्द की निवृत्ति होती है।

संयोगे वाऽर्थापत्तेरभिधानस्य कर्मजत्वात् ॥३३॥

सि०—स्विष्टकृत् सहित अग्नीवरुण अभिधान करना चाहिए, क्योंकि अर्थापत्ति से स्विष्टकृत् शब्द क्रियानिमित्तक है (अग्नि के अर्थ में अग्नि और वरुण श्रूयमाण होते हैं)।

सगुणस्य गुणलोपे निगमेषु गुणास्थाने यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥

पूर्व०—प्रकृति में सगुणस्थान में गुणलोप प्राप्त होने से मन्त्रों में जितना कहा गया है, वह होता है। इससे याग में ही लोप होता है, सब निगमों=मन्त्रों में नहीं।

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥३५॥

सि०—स्विष्टकृत् अग्निशब्द के गुण का लोप होना चाहिए, क्योंकि यागरूप प्रयोग एक है, अतः निगदों और निगमों में भी गुणरहित अग्निशब्द का अभिधान करना योग्य है।

स्विष्टकृदावापिकोऽनुयाजे स्यात् प्रयोजनवदङ्गानामार्थसंयोगात् ॥३६॥

समीपवर्ती अङ्गों का वाक्य में श्रूयमाण अर्थ के साथ संयोग होने से प्रयोजनवान् अग्नि की भाँति अनुयाज में स्विष्टकृत् आवापिक (संस्कार-सम्बन्धी) होता है।

अन्वाहेति च शस्त्रवत् कर्म स्याच्चोदनान्तरात् ॥३७॥

पूर्व०—'अन्वाह' इत्यादि शंसति की भाँति प्रधान कर्म है, स्वतन्त्र विधिविहित होने से।

संस्कारो वा चोदितस्य शब्दस्य वचनार्थत्वात् ॥३८॥

सि०—दर्शपौर्णमास के अनुयाजों में स्विष्टकृत् आहुति संस्कार के लिए है, स्वतन्त्र कर्म नहीं है, क्योंकि विहित जो वाचक शब्द है, वह दृष्टार्थ का बोधक है।

अवाच्यत्वान्नेति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—विधि न होने से दृष्टार्थक नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद् गुणार्थत्वात् ।।४०।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं; गुणार्थक होने से 'अन्वह' प्रधान कर्म नहीं, संस्कार कर्म हैं।

मनोतायां तु वचनादविकारः स्यात् ।।४१।।

मनोता मन्त्र (**त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता**) में वचन होने से अविकार होता है, ऊह नहीं होता।

पृष्ठार्थेऽन्यद्रथन्तरात्तद्योनिपूर्वत्वात् स्यादृचां प्रविभक्तत्वात् ।।४२।।

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र कार्य में रथन्तर से भिन्न जो कण्वरथन्तर-सामविहित है, वह ज्योतिष्टोम प्रकृतिवाला होने से रथन्तर योनि में गान करना चाहिए। बृहद् योनिभूत ऋचा के पृथक् होने से उसमें नहीं गाना चाहिए।

स्वयोनौ वा सर्वाख्यत्वात् ।।४३।।

सि०—कण्वरथन्तर शब्द सामविशेष में रूढ़ होने से कण्वरथन्तर की योनि में ही गाना चाहिए।

यूपवदिति चेत् ।।४४।।

यूप शब्द के समान संस्कार के निमित्त यह शब्द प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ।।४५।।

उक्त कथन ठीक नहीं। कर्म के साथ सम्बन्ध होने से कण्वरथन्तर स्वयोनि में ही गेय है।

कार्यत्वादुत्तरयोर्यथाप्रकृति ।।४६।।

पूर्व०—सामगानरूप कार्य प्रथम के अतिरिक्त अन्य दो ऋचाओं में भी होने से उन्हीं विशेष योनियों (ऋचाओं) पर गाया जाना चाहिए, रथन्तर आदि अन्य सामों की योनियों पर नहीं।

समानदेवते वा तृचस्याविभागात् ।।४७।।

सि०—तृच (तीन ऋचाओं) का अविभाग होने से सामगानरूप कर्म स्वयोनि उत्तरों में ही गेय होता है, क्योंकि सम्पूर्ण तृच का छन्द और देवता समान होता है।

ग्रहाणां देवतान्यत्वे स्तुतशस्त्रयोः कर्मत्वादविकारः स्यात् ।।४८।।

ग्रहों का देवता स्तुतशस्त्र मन्त्र के देवता से भिन्न होने पर ऊह नहीं होता, मन्त्र का ज्यों-का-त्यों प्रयोग होता है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र प्रधान कर्म हैं।

उभयपानात्पृषदाज्ये दध्नोप्युपलक्षणं निगमेषु पातव्यस्योपलक्षणत्वात् ।।४९।।

पूर्व०—पृषदाज्य हविष् में दधि और घृत दोनों का पान होने से वह दधि का उपलक्षण है, क्योंकि मन्त्र में जो पीने योग्य वस्तु है, उसमें उपलक्षण है।

न वा परार्थत्वाद्यज्ञपतिवत् ।।५०।।

सि०—पर-प्रत्यायक (दूसरे के लिए) होने से दधि और आज्य—दोनों का मन्त्र में प्रयोग नहीं है।

स्याद्वा आवाहनस्य तादर्थ्यात् ॥५१॥

पूर्व०—'दधि' पद का प्रक्षेप करना चाहिए, क्योंकि आवाहन पातृ और पेय—दोनों का स्मरण कराने के लिए है।

न वा संस्कारशब्दत्वात् ॥५२॥

सि०—दधि का उपलक्षण नहीं होता, क्योंकि दधिरूप अर्थ तो संस्कार के लिए है।

स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ॥५३॥

पूर्व०—दधि शब्द का प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि दधि भी द्रव्य की भाँति अभिहित है।

दध्नस्तु गुणभूतत्वादाज्यपानिगमाः स्युर्गुणत्वं श्रुतेराज्यप्रधानत्वात् ॥५४॥

सि०—दधि शब्द गौण होने से मन्त्रों में आज्य शब्द का प्रयोग होना चाहिए। दधि को गुणत्व है, क्योंकि श्रुति में आज्य की प्रधानता स्पष्ट रूप से बताई गई है।

दधि वा स्यात्प्रधानमाज्ये प्रथमान्त्यसंयोगात् ॥५५॥

पूर्व०—दधि प्रधान है, आज्य में प्रथम और अन्त संयोग होने से। प्रथम संयोग उपलक्षण होता है और अन्त-संयोग अभिघारण होता है, अतः दधि का ही उपलक्षण करना चाहिए।

अपि वाऽऽज्यप्रधानत्वाद्गुणार्थे व्यपदेशे भक्त्या संस्कारशब्दः स्यात् ॥५६॥

सि०—याग के सम्बन्ध से प्रयोजनवाला आज्य ही प्रधान है। गुणार्थ होने से उपस्तरण आदि भक्ति अर्थात् लक्षणा से प्रयुक्त हैं, अतः दधि संस्कार के लिए हैं, मुख्य नहीं है।

अपि वाऽऽख्याविकारत्वात्तेन स्यादुपलक्षणम् ॥५७॥

पूर्व०—संज्ञा का भेद होने से उस संज्ञा का मन्त्र में प्रयोग करना चाहिए।

न वा स्याद्गुणशास्त्रत्वात् ॥५८॥

सि०—ऊह नहीं करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र में गुण का विधान है। भाव यह है कि 'आज्यपान्' शब्द के स्थान में 'दधिपान्' नहीं कहना चाहिए।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

पञ्चमः पादः

आनुपूर्व्यवतामेकदेशग्रहणेष्वागमवदन्त्यलोपः स्यात् ॥१॥

सि०—नियत क्रमवालों में एक देश (एक भाग) का ग्रहण होता है, अन्तवालों का लोप होता है। अन्त्य का लोप और आद्य का उपादान मुख्य होने से होता है, लोक-समाज में आनेवालों की भाँति।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२॥

लोप और उपादान में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

विकल्पो वा समत्वात् ॥३॥

पूर्व०—आद्योपादान और अन्त्यलोप में कोई श्रुति नहीं है, दोनों समान हैं, अतः विकल्प होता है। कभी आरम्भवालों का और कभी अन्तवालों का लोप होता है।

क्रमादुपसर्जनोऽन्ते स्यात् ॥४॥

जहाँ क्रम निर्धारित होता है, वहाँ ही अप्रधान अन्त में आता है, अतः लोक-समाज का दृष्टान्त ठीक नहीं है।

लिङ्गमविशिष्टं संख्याया हि तद्वचनम् ॥५॥

जो लिङ्गवाक्य कहा गया है, वह भी विशिष्ट नहीं है, क्योंकि वह वचन तो केवल संख्या का बोध कराता है।

आदितो वा प्रवृत्तिः स्यादारम्भस्य तदादित्वाद्वचनादन्त्यविधिः स्यात् ॥६॥

सि०—आदि से प्रवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रारम्भ सदा आदि से ही होता है परन्तु यदि श्रुति में विशेष आदेश हो तो अन्त्यविधि हो सकती है।

एकत्रिके तृचादिषु माध्यन्दिनछन्दसां श्रुतिभूतत्वात् ॥७॥

पूर्व०—'एकत्रिक' नामक क्रतु में माध्यन्दिन पवमान में तीन ऋचाओं में से प्रत्येक तृच की प्रथम ऋचा में गान होता है, क्योंकि श्रुति में तीन छन्दों का विधान पाया जाता है।

आदितो वा तन्न्यायत्वादितरस्यानुमानिकत्वात् ॥८॥

सि०—आद्य तृच में ही गान करना चाहिए, यही न्याय है। प्रत्येक तृच की पहली ऋचा से गान करना चाहिए, यह तो आनुमानिक है।

यथानिवेशञ्च प्रकृतिवत्संख्यामात्रविकारत्वात् ॥९॥

प्रकृति में तृच का जो क्रम संनिवेश है, उससे संख्या-मात्र का बाध है। क्रमानुग्रह मुख्य है, अतः आद्य तृच में ही गान होना चाहिए।

त्रिकस्तृचे धुर्ये स्यात् ॥१०॥

पूर्व०—धूर्साम-गान में जो त्रिकस्तोत्र है, वह तीनों ऋचाओं में ही होना चाहिए।

एकस्यां वा स्तोमस्यावृत्तिधर्मत्वात् ॥११॥

सि०—धूर्साम-गान एक ही ऋचा पर होगा, क्योंकि धूर्गान में उसी ऋचा को बार-बार दुहराना पड़ता है।

चोदनासु त्वपूर्वत्वाल्लिङ्गेन धर्मनियमः स्यात् ॥१२॥

विधिविहित द्विरात्रयाग में प्रायणीय और उदयनीयों में पूर्वत्व के असम्भव होने से विध्यन्त प्रवृत्त होता है। यह विध्यन्त लिङ्ग के द्वारा नियत किया जाता है।

प्राप्तिस्तु रात्रिशब्दसम्बन्धात् ॥१३॥

रात्रि (द्विरात्रम्, दशरात्रम्) का सम्बन्ध दोनों स्थानों पर है, अतः द्वादशरात्र के धर्मों की द्विरात्र में प्राप्ति है।

अपूर्वासु तु संख्यासु विकल्पः स्यात्सर्वासामर्थवत्त्वात् ।।१४।।

विधिविहित संख्याओं में विकल्प होता है, क्योंकि इस प्रकार से सभी ऋचाओं का अर्थवत्व हो जाएगा।

स्तोमविवृद्धौ प्राकृतानामभ्यासेन संख्यापूरणमविकारात्संख्यायां गुणशब्दत्वादन्यस्य चाश्रुतित्वात् ।।१५।।

पूर्व०—स्तोम (स्तुति के साम मन्त्रों) की जहाँ वृद्धि होती है, वहाँ प्रकृति से विहित साम ऋचाओं में अभ्यास से संख्या की पूर्ति की जाती है, सन्निधान होने से। एकविंशति संख्या शब्द गुण होने से और अप्राकृत ऋचाओं के अशास्त्रीय होने से।

आगमेन वाऽभ्यासस्याश्रुतित्वात् ।।१६।।

सि०—अप्राकृत सामों की आगमों से संख्यापूर्ति करनी चाहिए, क्योंकि अभ्यास श्रूयमाण नहीं होता।

संख्यायाश्च पृथक्त्वनिवेशात् ।।१७।।

संख्या पृथक्त्व निवेशनी होती है, अतः उसकी पूर्ति आगम से ही करनी चाहिए।

पराक्छब्दत्वात् ।।१८।।

'पराक्' शब्द का प्रयोग होने से भी भिन्न-भिन्न साम-ऋचाओं से संख्या की पूर्ति करनी चाहिए, यही सिद्ध होता है।

उक्ताविकाराच्च ।।१९।।

और, निन्दा का श्रवण होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है।

अश्रुतित्वादिति चेत् ।।२०।।

आक्षेप—आगम भी श्रूयमाण नहीं होता, यदि ऐसा कहो तो—

स्यादर्थचोदितानां परिमाणशास्त्रम् ।।२१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। एकविंश संख्या के कहने से स्पष्ट विधान है, अतः परिमाण बतानेवाले शास्त्र-प्रमाण से कार्य होना चाहिए।

आवापवचनं वाऽभ्यासे नोपपद्यते ।।२२।।

अभ्यास में आवाप-वचन भी उपपन्न नहीं होता, अतः आगम ही होता है।

साम्ना चोत्पत्तिसामर्थ्यात् ।।२३।।

और, सामों की उत्पत्ति भी आगम से ही पूरी होती है।

धुर्येष्वपीति चेत् ।।२४।।

आक्षेप—फिर तो धूर्साम में भी आवृत्ति=अभ्यास न होकर आगम होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नावृत्तिधर्मत्वात् ।।२५।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि धूर्साम आवृत्ति के धर्मवाला है, वहाँ आगम नहीं होगा।

बहिष्पवमाने तु ऋगागमः सामैकत्वात् ।।२६।।

बहिष्पवमान नामक स्तोमवृद्धि में ऋचाओं का आगम करना पड़ता है, क्योंकि उनमें साम का एकत्व होता है।

अभ्यासेन तु संख्यापूरणं सामिधेनीष्वभ्यासप्रकृतित्वात् ॥२७॥

पूर्व०—प्रकृति में अभ्यास होने से सामिधेनियों में अभ्यास से ही संख्या की पूर्ति करनी चाहिए।

अविशेषान्नेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—अभ्यास और आगम में कोई विशेषता नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्धर्मत्वात् प्रकृतिवदभ्यस्येताऽऽसंख्यापूरणात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। विकृति-धर्मता होने से ही अभ्यास होता है, पूर्व-प्रकृति की संख्या के समान। जब तक संख्या पूरी न हो, तब तक अभ्यास होना चाहिए।

यावदुक्तं वा कृतपरिमाणत्वात् ॥३०॥

सि०—शास्त्र में जितना निर्देश है, उतना ही अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि निश्चित परिमाण निर्दिष्ट किया गया है।

अधिकानाञ्च दर्शनात् ॥३१॥

अधिकों का दर्शन होने से भी अभ्यास नहीं है, आगम है।

कर्मस्वपीति चेत् ॥३२॥

आक्षेप—धूर्साम-गान में भी ऐसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदितत्वात् ॥३३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ स्पष्ट विधान है, अतः आगम से ही संख्यापूर्ति करनी चाहिए।

षोडशिनो वैकृतत्वं तत्र कृत्स्नविधानात् ॥३४॥

पूर्व०—षोडशी का वैकृतत्व है अर्थात् षोडशी-ग्रह विकृतिविहित पदार्थ है, विकृति में उसका सम्पूर्ण विधान होने से।

प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ॥३५॥

और, प्रकृति में षोडशी ग्रह के अभाव का दर्शन होने से प्रकृति में इसका निषेध भी है, अतः यह वैकृत है।

अयज्ञवचनाच्च ॥३६॥

तथा, किन्हीं स्थानों पर षोडशी से रहित ज्योतिष्टोम को अयज्ञ कहा है, अतः यह वैकृत है।

प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रकृति=ज्योतिष्टोम में विहित होने से षोडशी प्राकृत है।

प्रकृतिदर्शनाच्च ॥३८॥

और, प्रकृति में षोडशी के दर्शन होने से भी षोडशी प्राकृत है।

आम्नानं परिसंख्यार्थम् ॥३९॥

परिसंख्या के लिए षोडशी का विकृति में भी आम्नान है।

उक्तमभावदर्शनम् ॥४०॥

प्रकृति में षोडशी के अभावदर्शन से वैकल्पिक षोडशी होती है।

गुणादयज्ञत्वम् ॥४१॥

षोडशी को 'अयज्ञ' भक्ति से कहा गया है। पक्ष में यज्ञ न होने से वह वैकल्पिक है। पक्ष में अभाव होने से गौणवृत्ति से उसे अयज्ञ कहा जाता है। वस्तुतः षोडशी प्राकृत है और यह सिद्धान्त-पक्ष में ग्रहण होती है।

तस्याग्रयणाद्ग्रहणम् ॥४२॥

उस षोडशी-ग्रह का ग्रहण आग्रयण से करना चाहिए।

उक्थ्याच्च वचनात् ॥४३॥

पूर्व०—उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रमाण पाये जाते हैं।

तृतीयसवने वचनात्स्यात् ॥४४॥

प्रमाण उपलब्ध होने से तृतीय सवन में भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

अनभ्यासे पराक्छब्दस्य तादर्थ्यात् ॥४५॥

'पराक्' शब्द अनभ्यास में होता है, क्योंकि उसका अवगम तादर्थ्य होता है, अतः उक्थ्य और आग्रयण से षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्यविच्छेदवचनाच्च ॥४६॥

और, विच्छेदक के उपलब्ध होने से उक्थ्य से भी षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

आग्रयणाद्वा पराक्छब्दस्य देशवाचित्वात्पुनराधेयवत् ॥४७॥

सि०—'पराक्' शब्द देशवाची होने से पुनराधेय की भाँति आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

विच्छेदः स्तोमसामान्यात् ॥४८॥

विच्छेद—वचन स्तोम सामान्य के कारण है, अतः आग्रयण से ही षोडशी का ग्रहण करना चाहिए।

उक्थ्याऽग्निष्टोमसंयोगादस्तुतशस्त्रः स्यात्सति हि संस्थान्यत्वम् ॥४९॥

पूर्व०—षोडशी का उक्थ्य और अग्निष्टोम के साथ सम्बन्ध होने से यह स्तोत्र और शस्त्र से रहित होती है। यदि इसे स्तोत्र और शस्त्र से युक्त माना जाए तो भिन्न संस्था माननी पड़ेगी, अतः षोडशी स्तोत्र और शस्त्र से रहित ही होती है।

सस्तुतशस्त्रो वा तदङ्गत्वात् ॥५०॥

सि०—षोडशी स्तोत्र और शस्त्र सहित होती है, क्योंकि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥५१॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि स्तोत्र और शस्त्र षोडशी के अङ्ग हैं।

वचनात्संस्थान्यत्वम् ॥५२॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भिन्न संस्था भी मान्य है।

अभावादतिरात्रेषु गृह्यते ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गिरस का द्विरात्र में अभाव होने से अङ्गिरस द्विरात्र में षोडशी का ग्रहण होता है।

अन्वयो वाऽनारभ्यविधानात् ॥५४॥

सि०—षोडशी का भी अन्वय इस ऋतु में होता है, क्योंकि अनारम्भ विधान होता है।

चतुर्थे चतुर्थेऽहन्यहीनस्य गृह्यते इत्यभ्यासेन प्रतीयेत भोजनवत् ॥५५॥

पूर्व—अहीन याग में चौथे-चौथे दिन में षोडशी का ग्रहण होता है, इसलिए एक अहीन में भोजन की भाँति अभ्यास प्रतीत होता है।

अपि वा संख्यावत्त्वान्नाहीनेषु गृह्यते पक्षवदेकस्मिन्संख्यार्थभावात् ॥५६॥

सि०—'चतुर्थे' पद संख्यावाचक होने से भिन्न-भिन्न अहीन यागों में षोडशी का ग्रहण होता है, क्योंकि एक में संख्या का प्रयोजन सफल नहीं होता।

भोजने च तत्संख्यं स्यात् ॥५७॥

और, जो 'भोजनवत्' कहा गया है, उससे चतुर्थ से अन्य चतुर्थ वहाँ पर कल्पित किया गया है।

जगत्साम्नि सामाभावादृक्तः साम तदाख्यं स्यात् ॥५८॥

जगत्साम में जगती छन्दवाली ऋचाओं का सम्बन्ध होने से, ऋचा के आधार पर यह नाम पड़ा है, साम के आधार पर नहीं, क्योंकि सम्पूर्ण सामवेद में जगत्संज्ञक साम का अभाव है।

उभयसाम्नि नैमित्तिकं विकल्पेन समत्वात्स्यात् ॥५९॥

पूर्व०—उभय सामवाले 'गोसव' आदि ऋतुओं में जहाँ बृहत् और रथन्तर दोनों सामों का गान होता है, वहाँ नैमित्तिक होने से विकल्प है, क्योंकि दोनों साम हैं।

मुख्येन वा नियम्यते ॥६०॥

अथवा, मुख्यत्व से नियम करना चाहिए।

निमित्तविघाताद्वा ऋतुयुक्तस्य कर्म स्यात् ॥६१॥

सि०—निमित्त का विघात होने से कोई अन्य ही ऋचा ऋतु के आधार पर ली जाएगी।

ऐन्द्रावायवस्याग्रवचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—अग्र वचन होने से ऐन्द्रावायव ग्रह=पात्र का सबसे पूर्व ग्रहण होना चाहिए।

अपि वा धर्मविशेषात्तद्धर्माणां स्वस्थाने प्रतिकरणादग्रत्वमुच्यते ॥६३॥

सि०—ऐन्द्रावायव ग्रह विशेष धर्मवाले होने से उसी धर्म से पूर्णरूपेण युक्त हैं, अतः अग्रता का तात्पर्य है कि प्रकरणानुसार अपने स्थान में ही उनका अग्रत्व है। भाव यह है कि जहाँ मैत्रावरुण आदि ग्रह लिये जाते हैं, वहाँ ऐन्द्रावायव ग्रह उनसे पूर्व लिया जाएगा; ग्रह यथास्थान ही लेने चाहिएँ।

धारासंयोगाच्च ।।६४।।

धाराग्रहों का संयोग होने से सर्व की अग्रता का विधान नहीं है, अतः सबके आदि में प्रतिकर्ष नहीं करना चाहिए।

कामसंयोगे तु वचनादादितः प्रतिकर्षः स्यात् ।।६५।।

पूर्व०—जहाँ काम=फल का संयोग होता है, वहाँ ग्रह का सर्व आदि में प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तद्देशानां वाऽग्रसंयोगात्तद्युक्ते कामशास्त्रं स्यान्नित्यसंयोगात् ।।६६।।

सि०—जहाँ 'अग्र' पद का सम्बन्ध उस-उस देश में स्थित ग्रहों के साथ है, वहाँ अग्रता का सम्बन्ध होने से स्वस्थान में फलवोधक विधि है, नित्य संयोग होने से। भाव यह है कि ग्रह का ग्रहण अपने नियत स्थान पर ही होगा।

परेषु चाग्रशब्दः पूर्ववत् स्यात्तदादिषु ।।६७।।

पूर्व०—ऐन्द्रावायव आदि ग्रह में श्रूयमाण 'अग्र' शब्द पूर्व अधिकरण के समान होता है। जिस-जिसकी अग्रता श्रूयमाण होती है, तदग्रों का कामसंयोग होता है।

प्रतिकर्षो वा नित्यार्थेनाग्रस्य तदसंयोगात् ।।६८।।

सि०—ऐन्द्रावायव से प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि नित्यार्थ से अग्रता का काम=फल से संयोग नहीं होता।

प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ।।६९।।

और, 'धारयेयुस्तं यं कामाय गृह्णीयुः' इत्यादि लिङ्गवाक्य भी प्रतिकर्ष के सूचक हैं।

पुरस्तादैन्द्रवायववादग्रस्य कृतदेशत्वात् ।।७०।।

अग्रता का स्थान निश्चित होने से आश्विन आदि ग्रहों का ऐन्द्रावायव ग्रहों से पूर्व प्रतिकर्ष होना चाहिए।

तुल्यधर्मत्वाच्च ।।७१।।

और, समानधर्मता होने से भी ऐन्द्रावायव ग्रह से पूर्व आश्विन आदि का ग्रहण करना योग्य है।

तथा च लिङ्गदर्शनम् ।।७२।।

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

सादनं चापि शेषत्वात् ।।७३।।

आसादन (वेदि पर यथास्थान रखना) भी अपकृष्ट होता है, क्योंकि वे ग्रहण के शेष हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।७४।।

आसादन के प्रतिकर्ष में प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

प्रदानं चापि सादनवत् ।।७५।।

पूर्व०—प्रदान (आहुति देने) में भी आसादन के समान प्रतिकर्ष होता है, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

न वा प्रधानत्वाच्छेषत्वात्सादनं तथा ॥७६॥

सि०—नहीं। प्रदान मुख्य कर्म है, अतः आसादन के समान प्रतिकर्ष (अदल-बदल) नहीं होगा।

त्र्यनीकायां न्यायोक्तेष्वाम्नानं गुणार्थं स्यात् ॥७७॥

पूर्व०—त्र्यनीक (द्वादशाह के पहले, पिछले और दसवें दिन को छोड़कर जो शेष नौ दिन हैं, उनका नाम त्र्यनीक है) में तीसरे दिन में अतिदेश शास्त्र से प्राप्त आग्रयणता न्याय्य है और पुनः कथन अर्थवाद=स्तुति के लिए है।

अपि वाऽहर्गणेष्वग्निवत्समानं विधानं स्यात् ॥७८॥

सि०—अहर्गणों में अग्निचयन के समान समान विधान है, अर्थवाद नहीं।

द्वादशाहस्य व्यूढसमूढत्वं पृष्ठवत्समानविधानं स्यात् ॥७९॥

पूर्व०—द्वादशाह पृष्ठ के समान व्यूढ और समूढरूप होने से समान विधान-वाला है।

व्यूढो वा लिङ्गदर्शनात्समूढविकारः स्यात् ॥८०॥

सि०—व्यूढ समूढ का विकार है। इस विषय में प्रमाण उपलब्ध होते हैं, अतः व्यूढ और समूढ दोनों समान विधानवाले नहीं हैं।

कामसंयोगात् ॥८१॥

काम का संयोग होने से व्यूढ समूढ का विकार है।

तस्योभयथा प्रवृत्तिरैककर्म्यात् ॥८२॥

व्यूढ और समूढ दोनों प्रकार के द्वादशाहों की प्रवृत्ति अविशेषतया होती है, क्योंकि दोनों की एक कर्मता है।

एकदशिनीवत् त्र्यनीका प्रवृत्तिः स्यात् ॥८३॥

पूर्व०—जैसे एकादशिन प्रकरण में आवृत्ति=अभ्यास है, उसी प्रकार त्र्यानीक में भी आवृत्ति है।

स्वस्थानविवृद्धिर्वाऽह्नामप्रत्यक्षसंख्यत्वात् ॥८४॥

सि०—स्वस्थान-विवृद्धिरूप आवृत्ति है, क्योंकि दिवसों की संख्या अप्रत्यक्ष है।

पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्रयणस्य दर्शनात् त्रयस्त्रिंशे परिवृत्तौ पुनरैन्द्रवायवः स्यात् ॥८५॥

और, पृष्ठ्य की आवृत्ति में तेतीस दिनों में अग्रता का दर्शन होता है, पुनः दण्ड-कलित आवृत्ति में ऐन्द्रावायव होता है, अतः स्वस्थान में विवृद्धि होती है।

वचनात्परिवृत्तिरैकादशिनेषु ॥८६॥

एकादशिन प्रकरण में जो दण्डकलित आवृत्ति होती है, वह प्रमाण उपलब्ध होने से युक्त है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८७॥

प्रमाण उपलब्ध होने से भी एकादशिन प्रकरण में दण्डकलित आवृत्ति स्वीकार करने योग्य है।

छन्दोव्यतिक्रमाद् व्यूढे भक्षपवमानपरिधिकपालमन्त्राणां यथोत्पत्तिवचनमूहवत्स्यात् ॥८८॥

व्यूढसंज्ञक द्वादशाह याग में मुख्य छन्दों का व्यतिक्रम होने से भक्ष, पवमान, परिधि और कपाल के मन्त्रों का जैसा पाठक्रम है, उसी प्रकार बोले जाएँगे। मन्त्रों में अदल-बदल नहीं होगा; ऊह केवल छन्दों में होगा।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य पञ्चमः पादः ॥

षष्ठः पादः

एकर्चस्थानानि यज्ञे स्युः स्वाध्यायवत् ॥१॥

पूर्व०—यज्ञ में रथन्तर आदि सामों का गान एक ही ऋचा में करना चाहिए, स्वाध्याय के समान।

तृचे वा लिङ्गदर्शनात् ॥२॥

सि०—यह गान एक ऋचा पर न होकर तीनों ऋचाओं पर होना चाहिए, लिङ्गबोधक प्रमाणों के उपलब्ध होने से।

स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं कालमात्रं परार्थत्वात् ॥३॥

स्वर्दृक् शब्द के साथ वीक्षण का साक्षात् सम्बन्ध होता है, अन्यथा यह शब्द काल को लक्षित करता है, स्तुत्यर्थक होने से।

पृष्ठ्यस्य युगपद्विधेरेकाहवद्द्विसामत्वम् ॥४॥

पूर्व०—पृष्ठस्तोत्र का एकसाथ विधान होने से एकाह के समान दोनों सामों का एक दिन में अनुष्ठान करना चाहिए।

विभक्ते वाऽसमस्तविधानात्तद्विभागेऽप्रतिषिद्धम् ॥५॥

पूर्व०—'पृष्ठ्यः' पद में द्वन्द्व समास का अभाव और बहुव्रीहि समास का विधान होने से विभाग में भी वृहत् और रथन्तर का प्रतिषेध नहीं होता अर्थात् किसी दिन वृहत् साम का गान हो, किसी दिन रथन्तर का।

समासस्त्वेकादशिनेषु तत्प्रकृतित्वात् ॥६॥

पूर्व०—प्रकृति=ज्योतिष्टोम में सम्पूर्ण एकादशिनों का आलम्भ=दान होने से वहाँ पर समास होता है।

विहारप्रतिषेधाच्च ॥७॥

असमान अधिकरण का प्रतिषेध होने से अन्य दिनों में उन (पशुओं के आलम्भ) का प्रतिषेध किया जाता है और प्रायणीय में उनका आलम्भन होता है।

श्रुतितो वा लोकवद्विभागः स्यात् ॥८॥

सि०—द्वित्व (द्विवचनी) श्रुति होने से जैसे लोक में व्यवहार होता है, उसी प्रकार प्रायणीय और उदयनीय में विभाग होता है।

विहारप्रकृतित्वाच्च ॥६॥

और, विहार अर्थात् एक-एक पशु का दान प्रकृत है, इसलिए भी विभाग होना चाहिए।

यावच्छक्यं तावद्विहारस्यानुग्रहीतव्यं विशये च तदासत्तेः ॥१०॥

जहाँ तक हो सके विहार-वाक्य का अनुसरण करना चाहिए। संशय होने पर मुख्य प्रमाण के आधार पर निर्णय करना चाहिए।

त्रयस्तथेति चेत् ॥११॥

आक्षेप—यदि मुख्य वचन के आधार पर ही निर्णय होना है तो प्रायणीय में तीन ही पशुओं का आलम्भन=दान होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न समत्वात्प्रयाजवत् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, समान भाग होने से प्रयाज के समान। वस्तुतः साम्यत्व से ही प्रयाजवत् विभाग करना चाहिए।

सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्तेषां स्यादेकदेशत्वं पृष्ठस्य कृतदेशत्वात् ॥१३॥

पूर्व०—सर्वपृष्ठ में पृष्ठ शब्द के होने से रथन्तर आदि सभी पृष्ठों का एकदेशत्व है, क्योंकि पृष्ठ का स्थान पूर्व से ही निश्चित है।

विधेस्तु विप्रकर्षः स्यात् ॥१४॥

सि०—विधिवचन से देशभेद होता है।

वैरूपसामा क्रतुसंयोगात् त्रिवृद्वदेकसामा स्यात् ॥१५॥

पूर्व०—ज्योतिष्टोम याग की संस्था उक्थ्य में एक वैरूप साम होना चाहिए, क्योंकि साम का समग्र क्रतु के साथ सम्बन्ध है। जैसे त्रिवृत् अग्निष्टोम समग्र क्रतु में त्रिवृत्स्तोम है, उसी प्रकार उक्थ्य में भी एक साम होना चाहिए।

पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगात् ॥१६॥

सि०—पृष्ठकार्य में ही वैरूप साम का निवेश है, प्रकृतिलिङ्ग के संयोग से।

त्रिवृद्वदिति चेत् ॥१७॥

आक्षेप—जैसे त्रिवृदग्निष्टोम में समग्र क्रतु में त्रिवृत्त्व का निवेश होता है, वैसे ही यहाँ भी होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावकृत्स्नसंयोगात् ॥१८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकृति में सम्पूर्ण क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से त्रिवृत्त्व नहीं है।

विधित्वान्नेति चेत् ॥१९॥

आक्षेप—जैसे धेनुविधि में क्रतु के साथ सम्बन्ध है, वैसे ही यहाँ भी क्रतु के साथ सम्बन्ध होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्कर्माविभागात् ॥२०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। यह विधि धेनु के समान नहीं है। संशय की स्थिति में वह न्याय्य है, क्योंकि कर्मों का अभेद है।

प्रकृतेश्चाविकारात् ॥२१॥

और, प्रकृति=ज्योतिष्टोम का विकार न होने से भी सामों का कृत्स्न=सम्पूर्ण क्रतु संयोग नहीं है।

त्रिवृति संख्यात्वेन सर्वसंख्याविकारः स्यात् ॥२२॥

पूर्व०—त्रिवृदग्निष्टोम में त्रिवृत्=त्रैगुण्यरूप संख्या का विधान होने से हर वस्तु को तिगुना करना चाहिए, क्योंकि संख्यात्व सामान्य से सर्वसंख्या का विकार है।

स्तोमस्य वा तल्लिङ्गत्वात् ॥२३॥

सि०—त्रिवृदग्निष्टोम में केवल स्तोमों को ही त्रिवृत्=तिगुना करना पड़ता है। प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है।

उभयसाम्नि विश्वजिद्विभागः स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—उभय सामवाले याग में विश्वजित् याग के समान विभाग होता है।

पृष्ठार्थे वाऽतदर्थत्वात् ॥२५॥

सि०—पृष्ठार्थ में दोनों का विनियोग है, अतः उनका विभाग न होकर समुच्चय है, क्योंकि उन दोनों का और कोई प्रयोजन नहीं है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि उभय सामवाले याग में रथन्तर और बृहत् दोनों सामों का समुच्चय है।

पृष्ठे रसभोजनमावृत्तेसंस्थिते त्रयस्त्रिशेऽहनि स्यात्तदानन्तर्यात् प्रकृतिवत् ॥२७॥

पूर्व०—पृष्ठ में रसभोजन=घी या मधु का भक्षण विपरीत क्रम से करना चाहिए प्रकृतियाग के समान, त्रयस्त्रिशत (तेतीसवें) अह के संस्थित होने पर, क्योंकि इन दोनों में आनन्तर्य है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥२८॥

सि०—मधु या घृत-भक्षण षडह के अन्त में होगा, क्योंकि इसका समय निर्धारित है।

अभ्यासे च तदभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥२६॥

पूर्व०—षडहरूप कर्म के पुनः-पुन: प्रयोग से षडह की आवृत्ति होने पर रस-भोजन की भी आवृत्ति होती है।

अन्ते वा कृतकालत्वात् ॥३०॥

सि० —कई षडह होने पर रसभोजन अन्तिम षडह के पश्चात् ही होगा, प्रत्येक षडह के पश्चात् नहीं, क्योंकि इसके लिए समय का निर्धारण किया हुआ है।

आवृत्तिस्तु व्यवाये कालभेदात् ॥३१॥

व्यवधान होने पर कालभेद से आवृत्ति होती है। भाव यह है कि गवामयन्न यज्ञ में भक्ष प्रत्येक मास के अन्त में होना चाहिए।

मधु न दीक्षिता ब्रह्मचारित्वात् ॥३२॥

पूर्व०—सत्री लोग दीक्षित होते हैं। दीक्षित अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन करने से उन्हें मधु का भक्षण नहीं करना चाहिए।

प्राश्येत वा यज्ञार्थत्वात् ॥३३॥

सि०—यज्ञ में विशेष विधान होने से सत्री लोगों को मधु-भक्षण करना चाहिए। (जहाँ मधु का निषेध है, वहाँ मधु का अर्थ है शराब, परन्तु यहाँ मधु का अर्थ है शहद।)

मानसमहरन्तरं स्याद् द्वादशाहे व्यपदेशात् ॥३४॥

पूर्व०—भेद-व्यपदेश होने से 'मानसग्रह' द्वादशाह के पश्चात् होना चाहिए।

तेन च संस्तवात् ॥३५॥

द्वादशाह 'मानस' के द्वारा स्तुत होता है, इस स्तवन से भी भेद का ज्ञान होता है।

अहरन्तान्च परेण चोदना ॥३६॥

और, 'मानसग्रह' का विधान द्वादशाह के पश्चात् होने से 'मानस' द्वादशाह से भिन्न दिवस का अङ्ग है।

पक्षे संख्या सहस्रवत् ॥३७॥

यदि तेरह दिन माने जाएँ तो बारह की संख्या का बाध होता है, यदि ऐसा कहा जाए तो द्वादश संख्या सहस्र संख्या (सहस्र संख्या हजार से अधिक के लिए भी प्रयुक्त होती है) के समान अधिक में भी प्रयुक्त होती है।

अहरङ्गं वांशुवच्चोदनाभावात् ॥३८॥

सि०—पृथक् विधान न होने से 'मानसग्रह' पृथक् कर्म नहीं है, अपितु द्वादशाह के दसवें दिन का अङ्ग है, सोमयाग में होनेवाले अंशुग्रह के समान।

दशमविसर्गवचनाच्च ॥३९॥

दशम विसर्ग-वचन से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानसग्रह' दशम दिवस का अङ्ग है।

दशमेऽहनीति च तद्‍गुणशास्त्रात् ॥४०॥

'दशमे अहनि' इस वाक्य से भी 'मानसग्रह' दसवें दिन का अङ्ग है।

संख्यासामञ्जस्यात् ॥४१॥

'मानसग्रह' को दसवें दिवस का अङ्ग मानने पर संख्या का भी सामञ्जस्य हो जाता है।

पशवतिरेके चैकस्य भावात् ॥४२॥

पशुओं के दान में एक के अतिरेक (बढ़ाने) से भी यही सिद्ध होता है कि 'मानसग्रह' अङ्ग है, कर्मान्तर नहीं है।

स्तुतिव्यपदेशमङ्गेनाविप्रतिषिद्धं व्रतवत् ॥४३॥

स्तुति का व्यपदेश व्रत की भाँति विप्रतिषिद्ध नहीं होता, क्योंकि अङ्ग से अङ्गी की स्तुति होती है।

वचनादतदन्तत्वम् ॥४४॥

वचन से तदनन्तता नहीं होती, अतः 'मानसग्रह' अङ्ग है, स्वतन्त्र कर्म नहीं। पत्नीसंयाज के पश्चात् 'मानसग्रह' का ग्रहण किया जाता है।

सत्रमेकः प्रकृतिवत् ॥४५॥

पूर्व०—सत्र में एक ही कर्ता=यजमान होता है, जैसे प्रकृति=ज्योतिष्टोम में एक ही यजमान होता है।

बहुवचनात्तु बहूनां स्यात् ॥४६॥

सि०—बहुवचन का प्रयोग होने से सत्र बहुतों द्वारा होना चाहिए, एक का बाध है।

अपदेशः स्यादिति चेत् ॥४७॥

आक्षेप—केवल क्रिया का सम्बन्ध होने से बहुवचन का प्रयोग है, यदि ऐसा कहो तो—

नैकव्यपदेशात् ॥४८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, एक का व्यपदेश (दूसरे के साथ सम्बन्ध) होने से।

सन्निवापं च दर्शयति ॥४९॥

सन्निवाप का प्रयोग भी सत्र को बहुकर्तृक सिद्ध करता है।

बहूनामिति चैकस्मिन्विशेषवचने व्यर्थम् ॥५०॥

यदि केवल एक ही यजमान माना जाए तो बहुवचन का निर्देश निरर्थक हो जाएगा, अतः सत्र में एक नहीं, अनेक यजमान होते हैं, गृहपति उनमें सर्वश्रेष्ठ होता है।

अन्ये स्युर्ऋत्विजः प्रकृतिवत् ॥५१॥

पूर्व०—सत्र मे प्रकृति=ज्योतिष्टोम की भाँति ऋत्विज यजमान से भिन्न होने चाहिएँ।

अपि वा यजमानाः स्युर्ऋत्विजामभिधानसंयोगात्तेषां स्याद्यजमानत्वम् ॥५२॥

सि०—यजमान ही ऋत्विज होते हैं, ऋत्विजों का नाम के साथ सम्बन्ध होने से उनका यजमानत्व है।

कर्तृसंस्कारो वचनादाधातृवदिति चेत् ॥५३॥

आक्षेप—वचन-सामर्थ्य से इन सबकी दीक्षा-संस्कार का विधान है, जैसा आधान में होता है, यदि ऐसा कहो तो—

स्याद्विशये तन्न्यायत्वात्प्रकृतिवत् ॥५४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। संशय उत्पन्न होने पर यजमान ही ऋत्विज होते हैं, यही न्याय्य है, प्रकृति के समान।

स्वाम्याख्याः स्युर्गृहपतिवदिति चेत् ॥५५॥

आक्षेप—अध्वर्यु आदि शब्दों को भी गृहपति शब्द के समान यजमान का वाचक मानना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रसिद्धग्रहणत्वादसंयुक्तस्य तद्धर्मेण ॥५६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रसिद्ध है, उसी का ग्रहण किया जाता

है। अध्वर्यु आदि से यजमान का ग्रहण नहीं हो सकता। ऋत्विक् धर्म से असंयुक्त=असम्बद्ध स्वामी की ही गृहपति आख्या (नाम) है।

बहूनामिति तुल्येषु विशेषवचनं नोपपद्यते ॥५७॥

बहुत यजमानों में जो गृहपति होता है, सत्रकर्ता कहलाता है, केवल यजमानों में विशेष वचन उपपन्न नहीं होता।

दीक्षिताऽदीक्षितव्यपदेशश्च नोपपद्यतेऽर्थयोर्नित्यभावित्वात् ॥५८॥

सत्र में दीक्षित और अदीक्षित का व्यवहार भी उपपन्न नहीं होता, क्योंकि वहाँ अर्थ (दीक्षित और अदीक्षित) का नित्य भाव है, अतः सत्र में सब कार्य यजमान द्वारा ही होते हैं।

अदक्षिणत्वाच्च ॥५९॥

सत्र में दक्षिणा भी नहीं दी जाती, क्योंकि वे स्वयं ही यज्ञ के स्वामी होते हैं। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि सत्र यजमान द्वारा ही सम्पन्न होता है।

द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमानबहुत्वेन च सत्रशब्दाभिसंयोगात् ॥६०॥

द्वादशाह सत्र भी होते हैं और अहीन भी। वे द्वादशाह सत्र हैं जिनमें **'आस'** बैठने और **'उप+इ'** कार्य आरम्भ करने आदि शब्द का प्रयोग होता है और जिसमें नियमानुसार सत्रह से कम और चौबीस से अधिक यजमान नहीं होते।

यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां चाऽस्थितपरिमाणत्वात् ॥६१॥

वे द्वादशाह अहीन कहलाते हैं जिनमें **'यजति'** धातु का प्रयोग हो और यजमानों की संख्या निश्चित नहीं होती।

अहीने दक्षिणाशास्त्रं गुणत्वात् प्रत्यहं कर्मभेदः स्यात् ॥६२॥

पूर्व०—पौण्डरीक अहीन में जो दक्षिणा का विधान है, वह प्रतिदिन भिन्न-भिन्न होता है, क्योंकि वहाँ दक्षिणा गौण है और प्रतिदिन के कर्म में भी भिन्नता होती है।

सर्वस्य वैककर्म्यात् ॥६३॥

आक्षेप—पौण्डरीक याग ग्यारह दिन का एक कर्म है, अतः याग पूर्ण होने पर एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए।

पृषदाज्यवद्वाऽह्नां गुणशास्त्रं स्यात् ॥६४॥

समा०—'एक ही बार दक्षिणा देनी चाहिए'—ऐसा कहना ठीक नहीं। प्रतिदिन की दक्षिणाओं में भेद हो सकता है, पृषदाज्य के समान, क्योंकि यहाँ अहन=दिन प्रधान है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन दक्षिणा की आवृत्ति हो सकती है।

ज्योतिष्टोम्यस्तु दक्षिणाः सर्वासामेककर्मत्वात्प्रकृतिवत् तस्मात्तासां विकारः स्यात् ॥६५॥

आक्षेप—अहीन-याग विकार है, सम्पूर्ण कार्य के एक होने से। ज्योतिष्टोम की दक्षिणा भी एक होती है, प्रकृति के समान, अतः पौण्डरीक में भी दक्षिणा एक ही बार दी जानी चाहिए।

द्वादशाहे तु वचनात्प्रत्यहं दक्षिणाभेदस्तत्प्रकृतित्वात्परेषु तासां संख्याविकारः स्यात् ।।६६।।

समा०—द्वादशाह याग में प्रत्यक्ष वचन होने से प्रतिदिन अलग-अलग दक्षिणा दी जाती है। पौण्डरीक आदि याग भी द्वादशाह की प्रकृतिवाला है, अतः वहाँ भी कर्म के अनुसार दक्षिणा में भेद हो जाएगा।

परिक्रयाविभागाद्वा समस्तस्य विकारः स्यात् ।।६७।।

सि०—परिक्रया में विभाग न होने से समस्त का विकार होता है अर्थात् सम्पूर्ण यज्ञ को सम्पन्न करने के लिए ऋत्विक् का स्वीकार होता है, अतः दक्षिणा एक ही होनी चाहिए।

भेदस्तु गुणसंयोगात् ।।६८।।

द्वादशाह में जो भेद कथन है वह तो गुण (सुत्या-सम्बन्ध) के कारण है। पौण्डरीक याग में ऐसा कोई कथन नहीं है, अतः वहाँ दक्षिणा एक वार ही दी जाती है।

प्रत्यहं सर्वसंस्कारः प्रकृतिवत् सर्वासां सर्वशेषत्वात् ।।६९।।

पूर्व०—जैसे प्रकृति में समस्त दक्षिणा का संस्कार उसी समय हो जाता है, उसी प्रकार पौण्डरीक याग में भी करना चाहिए, क्योंकि यहाँ अहों=दिनों की प्रधानता है और दक्षिणा गौण है, अतः प्रतिदिन सारी दक्षिणा ले जानी चाहिए।

एकार्थत्वान्नेति चेत् ।।७०।।

आक्षेप—दक्षिणाओं का एकार्थत्व होने से प्रतिदिन उनके नयन (ले जाने) रूप संस्कार की आवश्यकता नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्पत्तौ कालभेदात् ।।७१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। दक्षिणाओं की उत्पत्ति में विशिष्ट काल का सम्बन्ध श्रूयमाण होता है, अतः भेद से ही संस्कार होना चाहिए, प्रतिदिन दक्षिणा ले जानी चाहिए।

विभज्य तु संस्कारवचनाद्द्वादशाहवत् ।।७२।।

सि०—पौण्डरीक याग का प्रकृतियाग है द्वादशाह, न कि ज्योतिष्टोम—ऐसा वचन है, अतः द्वादशाह के समान विभाग करके ही दक्षिणा ले जानी चाहिए।

लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे सर्वत्र प्रत्ययः साल्लिङ्गस्य सर्वगामित्वात् ।।७३।।

पूर्व०—लिङ्गवाक्य के द्वारा शब्द का निर्देश होने पर लिङ्गलक्षित सभी मानवी=मनु-सम्बन्धी ऋचाओं का वोध होता है, आग्नेय की भाँति लिङ्गवाक्य के सर्व-गामी होने से।

यावदर्थं वाऽर्थशेषत्वादतोऽर्थेन परिमाणं स्यात्तस्मिश्च लिङ्गसामर्थ्यम् ।।७४।।

सि०—जितनी मानवीय ऋचाओं से कार्यसिद्धि होती है, उतनी ऋचाओं का ग्रहण करना चाहिए, सवका नहीं। अर्थशेष होने से सामिधेनियों का ही उपादान होता है, उन्हीं में लिङ्गवाक्य का सामर्थ्य है।

आग्नेये कृत्स्नविधिः ॥७५॥

आग्नेय सूक्त में सम्पूर्ण मन्त्रों के अङ्गत्व का विधान है।

ऋजीषस्य प्रधानत्वादहर्गणे सर्वस्य प्रतिपत्तिः स्यात् ॥७६॥

ऋजीष के प्रधान होने से द्वादशरात्र आदि में सबकी प्रतिपत्ति=प्राप्ति होती है।

वाससि मानोपावहरणे प्रकृतौ सोमस्य वचनात् ॥७७॥

प्रकृति=ज्योतिष्टोम में सोम का मान=तोलना और उपावरण=बटोरना एक ही वस्त्र में हो जाता है, वचन के सामर्थ्य से। (प्रकृतियाग में जिस कपड़े पर तोलते हैं, उसी से बटोर भी लेते हैं, क्योंकि प्रकृतियाग एक ही दिन में समाप्त हो जाता है।)

तत्राहर्गणेऽर्थाद्वा सः प्रकृतिः स्यात् ॥७८॥

परन्तु द्वादशाह अहर्गण में (जो कई दिन चलते हैं) अर्थापत्ति से उपावहरण के लिए नया वस्त्र लाना चाहिए।

मानं पत्युत्पादयेत्प्रकृतौ तेन दर्शनादुपावहरणस्य ॥७९॥

पूर्व०—प्रकृति में उपावहरण के श्रवण से मान=तोलने के उद्देश्य से दूसरा वस्त्र लेना चाहिए।

हरणे वा श्रुत्यसंयोगादर्थाद्विकृतौ तेन ॥८०॥

सि०—सोम के उपावहरण के लिए ही अन्य वस्त्र की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह भिन्न वस्त्र से किया जाता है। मान के लिए श्रुति में भिन्न वस्त्र के लिए निर्देश नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य षष्ठः पादः ॥

सप्तमः पादः

पशावेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात् ॥१॥

पूर्व०—अग्निषोम पशु में (सम्पूर्ण पशु घी, दूध आदि का साधन होने से) एक हवि की कल्पना होती है, समस्तरूप विधि पाये जाने से।

प्रत्यङ्गं वा ग्रहवदङ्गानां पृथक्कल्पनत्वात् ॥२॥

सि०—अङ्गों की पृथक् कल्पना होने से प्रत्येक अङ्ग में हवि का भेद होता है, ग्रह=पात्र के समान। (अङ्गरूप घृत आदि भी हवि के साधन हैं।)

हविर्भेदात्कर्मणोऽभ्यासस्तस्मात्तेभ्योऽवदानं स्यात् ॥३॥

पूर्व०—प्रत्येक अङ्ग पृथक् हवि है, अतः कर्म का भी अभ्यास होना चाहिए और इस प्रकार सब अवयवों (दूध, दही, घृत) आदि से आहुतियाँ दी जानी चाहिएँ।

आज्यभागाद्वा निर्देशात्परिसंख्या स्यात् ॥४॥

आक्षेप—जैसे गृहमेधीय में पञ्चम पक्ष में आज्यभाग का निर्देश है, वैसे ही यहाँ भी परिसंख्यार्थ सबका ग्रहण होता है।

तेषां वा द्वयवदानत्वं विवक्षन्नभिनिर्दिशेत्पशोः पञ्चावदानत्वात् ॥५॥

समा०—पशु के घी, दूध आदि पाँच अवदान=अवयव श्रूयमाण होते हैं, उनमें से दो अवदानों की विवक्षा करते हुए उनका निर्देश किया जाता है।

अंसशिरोनूकसक्थिप्रतिषेधश्च तदन्यपरिसंख्यानेऽनर्थकः स्यात् प्रदानत्वात्तेषां निरवदानप्रतिषेधः स्यात् ॥६॥

पूर्व०—अंस, शिर, अनूकादि के प्रतिषेध से परिसंख्या नहीं होती। उनके निरवदान का प्रतिषेध किया जाता है, अतः यह सिद्ध है कि सभी अङ्गों द्वारा इज्या की जाती है।

अपि वा परिसंख्या स्यादनवदानीयशब्दत्वात् ॥७॥

सि०—अवदान विधिवाक्य के द्वारा होमार्थ को प्राप्त करता है, अतः अवदानीय शब्द होने से पक्षान्तर में परिसंख्या हो सकती है।

अब्राह्मणे च दर्शनात् ॥८॥

यागविशेष में ब्राह्मण से भिन्न के लिए अवशिष्ट हवि का भक्षण विहित है।

शृताशृतोपदेशाच्च तेषामुत्सर्गवदयज्ञशेषत्वं सर्वेषां न श्रपणं स्यात् ॥९॥

अग्निपक्व और अनग्निपक्व का उपदेश होने से भी परिसंख्या में उत्सर्गवत् अयज्ञ-शेषत्व होता है।

इज्याशेषात्स्विष्टकृदिज्येत प्रकृतिवत् ॥१०॥

पूर्व०—इज्या के शेषभूत में से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए, जैसे प्रकृतियाग में होता है।

त्र्यङ्गैर्वा शरवद्विकारः स्यात् ॥११॥

सि०—तीन अङ्गों (पक्व, अपक्व और घृत) से स्विष्टकृत् होम करना चाहिए; जैसे शर नामक घास के विधान से कुशाओं का बाध होता है, वैसे ही केवल एक अङ्ग से स्विष्टकृत् होम नहीं करना चाहिए।

अध्यूध्नी होतुस्त्र्यङ्गवदिडादविकारः स्यात् ॥१२॥

अध्यूध्नी में होता के 'इडा' नामक भक्ष की कल्पना करनी चाहिए, त्र्यङ्गवत्=तीन अङ्गों के समान।

शेषे वा समवैति तस्माद्रथवन्नियमः स्यात् ॥१३॥

पूर्व०—'रथ' की भाँति यहाँ भी होतृभाग में नियम होता है। यदि अध्यूध्नी अपूर्वा होती है तो वही इडा में होती है।

अशास्त्रत्वात्तु नैवं स्यात् ॥१४॥

सि०—इडा नामक भक्ष की अध्यूध्नी में कल्पना करना अशास्त्रीय है।

अपि वा दानमात्रं स्याद्भक्षशब्दानभिसम्बन्धात् ॥१५॥

पूर्व०—भक्ष शब्द के साथ संयोग न होने से यह दान-मात्र है, इडा भक्ष विकार नहीं है।

दातुस्त्वविद्यमानत्वादिडाभक्षविकारः स्याच्छेषं प्रत्यविशिष्टत्वात् ॥१६॥

सि०—दाता के विद्यमान न होने से यह दान नहीं है। इडा के भक्ष का विकार ही होता है, शेष के प्रति समानता (जैसा यजमान है वैसा ही होता) होने से।

अग्नीधश्च वनिष्ठुरध्यूध्नीवत् ॥१७॥

अध्यूध्नी के समान वनिष्ठु भी अग्नीध ऋत्विक् के लिए होता है।

अप्राकृतत्वान्मैत्रावरुणस्याभक्षत्वम् ॥१८॥

पूर्व०—प्रकृति में विधान न होने से मैत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए हविशेष अभक्ष है।

स्याद्वा होत्रध्वर्य्युविकारत्वात्तयोः कर्माभिसम्बन्धात् ॥१९॥

सि०—मैत्रावरुण नामक ऋत्विज के लिए शेष हवि भक्ष है। मैत्रावरुण नामक ऋत्विज होता और अध्वर्यु का प्रतिनिधि है, उनके कर्मों के साथ सम्बन्ध होने से, अतः उसे भक्षत्व प्राप्त होता है।

द्विभागः स्याद्द्विकर्मत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—होता और अध्वर्यु—दोनों का कार्य सम्पादन करने से मैत्रावरुण नामक ऋत्विज को दो भाग मिलने चाहिएँ।

एकत्वाद्वैकभागः स्याद् भागस्याश्रुतिभूतत्वात् ॥२१॥

सि०—दो भाग का कथन श्रूयमाण नहीं है, अतः एक ही भाग होना चाहिए, कर्म-निमित्तक लक्षण एक होने से।

प्रतिप्रस्थातुश्च वपाश्रपणात् ॥२२॥

पूर्व०—वपाश्रपण की भावना करने के कारण प्रतिप्रस्थाता नामक अध्वर्यु को भी हविःशेष का भक्षण होना चाहिए।

अभक्षो वा कर्मभेदात्तस्याः सर्वप्रदानत्वात् ॥२३॥

सि०—प्रतिप्रस्थाता के भक्षण का विधान नहीं है, क्योंकि कर्म में भेद है और सर्वप्रदान होने से शेष रहता ही नहीं है।

विकृतौ प्राकृतस्य विधेर्ग्रहणात्पुनः श्रुतिरनर्थकं स्यात् ॥२४॥

पूर्व०—गृहमेधीय प्रकरण में दर्शपूर्णमास की विधि का पुनः ग्रहण होने से श्रुति-वचन निरर्थक हो जाता है।

अपि वाऽऽग्नेयवद्द्विशब्दत्वं स्यात् ॥२५॥

अथवा, आग्नेय की भाँति दो वचनों से एक ही कर्म का विधान है।

न वा शब्दपृथक्त्वात् ॥२६॥

सि०—उक्त कथन ठीक नहीं। दृष्टान्त (अग्निमग्न आवह) में अग्नि शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों का सूचक है।

अधिकं वाऽर्थवत्त्वात् स्यादर्थवादगुणाभावे वचनादविकारे तेषु हि तादर्थ्यं स्यादपूर्वत्वात् ॥२७॥

अथवा, शास्त्रवचन अधिक—विशिष्ट अर्थ का बोधक है, क्योंकि 'आज्यभागौ

यजति'—यह वाक्य अर्थवाद, गुणवाद और प्राकृत धर्मों का प्रापक न होने से अपूर्व विधान है।

प्रतिषेधः स्यादिति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—'आज्यभागौ यजति' से अतिरिक्त कर्म करने का निषेध है, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतत्वात् ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कोई भी प्रतिषेधवचन श्रूयमाण नहीं होता।

अग्रहणादिति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—अतिदेश से आज्यभागों का ग्रहण नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यत्वात् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सभी अङ्ग समान हैं।

तथा तद्ग्रहणे स्यात् ॥३२॥

ऐसा मानने पर अतिदेश से आज्यभाग के ग्रहण करने का भी निषेध हो जाएगा।

अपूर्वतां तु दर्शयेद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वात् ॥३३॥

सि०—ग्रहण की अर्थवत्ता होने से गृहमेधीय अपूर्व अर्थ का प्रतिपादक है।

ततोऽपि यावदुक्तं स्यात् ॥३४॥

गृहमेधीय प्रकरण में स्विष्टकृत् आदि जिस-जिसका प्रत्यक्ष वचन है, उन सबका अनुष्ठान होता है।

स्विष्टकृति भक्षप्रतिषेधः स्यात्तुल्यकारणत्वात् ॥३५॥

गृहमेधीय प्रकरण में प्राशित्रादि ऋत्विजों के लिए हविःशेष के भक्षण का प्रतिषेध है, तुल्य कारण होने से।

अप्रतिषेधो वा दर्शनादिडायां स्यात् ॥३६॥

पूर्व०—प्रतिषेध नहीं है, क्योंकि 'इडा' नामक हवि में भक्षण का श्रवण है।

प्रतिषेधो वा विधिपूर्वस्य दर्शनात् ॥३७॥

सि०—प्रतिषेध है, क्योंकि जो दर्शन=विधान कहा गया है, वह विधिपूर्वक भक्ष का ही होगा।

शंय्विडान्तत्वे विकल्पः स्यात् परेषु पत्न्यनुयाजप्रतिषेधोऽनर्थकः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—प्रायणीय और आतिथ्य इष्टियों में शंयुवाक और इडान्त भक्ष के पीछे जो कर्म की समाप्ति है, उसमें विकल्प होना चाहिए, अन्यथा पत्न्यनुयाज का प्रतिषेध निरर्थक हो जाएगा।

नित्यानुवादो वा कर्मणः स्यादशब्दत्वात् ॥३९॥

सि०—शंयुवाक के पश्चात् कर्म करने का कोई प्रमाण न होने से केवल अर्थवाद है।

प्रतिषेधवच्चोत्तरस्य परस्तात्प्रतिषेधः स्यात् ॥४०॥

पूर्व०—उत्तर के प्रतिषेध के सार्थक होने से पीछे के कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्राप्तेर्वा पूर्वस्य वचनादतिक्रमः स्यात् ॥४१॥

सि०—प्रथम शंयुवाक की प्रथम प्राप्ति है वचन से, अन्यथा शास्त्र का अतिक्रम हो जाएगा।

प्रतिषेधस्य त्वरायुक्तत्वात्तस्य च नान्यदेशत्वम् ॥४२॥

प्रतिषेध अनुष्ठान कर्म में 'त्वरा' शब्द का विधान होने से शंयुवाक का अन्यदेशत्व नहीं है।

उपसत्सु यावदुक्तमकर्म स्यात् ॥४३॥

पूर्व०—उपसद-कर्मों में जितना कहा गया है उतना ही नहीं करना चाहिए, अपितु अतिदेशशास्त्र से प्राप्त अवशिष्ट सब करना चाहिए।

स्रौवेण वाऽगुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४४॥

स्रौव (स्रौवेण आघारमाघारयति) वाक्य से आघार का विधान है, वही करना चाहिए, गौण होने से अवशिष्ट का प्रतिषेध है।

अप्रतिषेधो वा प्रतिषिध्य प्रतिप्रसववत् ॥४५॥

वस्तुतः प्रतिषेध नहीं है, यह तो प्रतिप्रसव=निषेध का निषेध है।

अनिज्या वा शेषस्य मुख्यदेवतानभीज्यत्वात् ॥४६॥

सि०—प्राकृत शेषहोम नहीं करना चाहिए, क्योंकि मुख्य देवता, जिसको आहुतियाँ प्रदान करनी हैं, एक (अग्नि) ही है।

अवभृथे बर्हिषः प्रतिषेधाच्छेषकर्म स्यात् ॥४७॥

पूर्व०—अवभृथ में बर्हि का निषेध होने से शेष समस्त कर्म करने चाहिएँ।

आज्यभागयोर्वागुणत्वाच्छेषप्रतिषेधः स्यात् ॥४८॥

अथवा, आज्यभागों के गौण होने से अवशिष्ट कर्मों का प्रतिषेध होता है।

प्रयाजानां त्वेकदेशप्रतिषधादवाक्यशेषत्वं तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥४९॥

प्रयाजों में एकदेश (बर्हियाग) के प्रतिषेघ से वाक्यशेषत्व नहीं होता, (शेष अङ्गों की प्राप्ति नहीं होती) अतः अतिदेशशास्त्र से प्राप्त **'आज्यभागौ यजति'** यह नित्यानुवाद है।

आज्यभागयोर्ग्रहणं नित्यानुवादो वा गृहमेधीयवत्स्यात् ॥५०॥

सि०—आज्यभागों का ग्रहण नित्यानुवाद=अर्थानुवाद नहीं, गृहमेधीय की भाँति यह अपूर्व अवभृथ है।

विरोधिनामेकश्रुतौ नियमः स्याद्ग्रहणस्यार्थवत्त्वाच्छरवच्च श्रुतितो विशिष्टत्वात् ॥५१॥

विरोधियों में किसी एक पदार्थ के श्रूयमाण होने पर नियम-विधि होती है तभी ग्रहणशास्त्र अर्थवाला होता है, अन्यथा प्राप्त अनुवादमात्र अनर्थक हो जाएगा। पक्षश्रुति प्रबल होने से यहाँ पर 'शर' के समान होता है।

उभयप्रदेशादिति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—दोनों (खदिर और पलाश) का अतिदेश होने से नियम नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

शरेष्वपीति चेत् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। यदि दोनों का अतिदेश माना जाए तो शरों में भी कुश का निवर्तन नहीं होगा।

विरोध्यग्रहणात्तथा शरेष्विति चेत् ॥५४॥

आक्षेप—विरोधी पदार्थों के ग्रहण न होने से शरों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥५५॥

समा०—इस भाँति इतर खदिर आदि में भी मानना पड़ेगा।

श्रुत्यानर्थक्यमिति चेत् ॥५६॥

आक्षेप—ऐसा मानने पर श्रुति निरर्थक हो जाएगी, यदि ऐसा कहो तो—

ग्रहणस्यार्थवत्त्वादुभयोरप्रतिपत्तिः स्यात् ॥५७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। ग्रहणशास्त्र प्रयोजनवाला होने से दोनों की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः खदिर पलाश का निवर्तक है।

सर्वासाञ्च गुणानामर्थवत्त्वाद् ग्रहणमप्रवृत्ते स्यात् ॥५८॥

सर्व कामेष्टि-सम्बन्धी विधियों की और गुणों की अर्थवत्ता होने से अतिदेशशास्त्र से प्राप्त द्रव्य देवता में आकांक्षा न होने से कामेष्टि में विकृति में कहे द्रव्यदेवता का ग्रहण होता है। इस प्रकार प्राकृत द्रव्यदेवता के साथ विकृति द्रव्यदेवता का विकल्प तथा समुच्चय नहीं है।

अधिकं स्यादिति चेत् ॥५९॥

आक्षेप—समुच्चय अथवा विकल्प होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थाभावात् ॥६०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ आकांक्षा नहीं है।

तथैकार्थविकारे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः प्रवृत्तौ हि विकल्पः स्यात् ॥६१॥

सि०—एक फलवाले खदिर और उदुम्बर द्रव्यविधि में प्राकृत खदिर की अप्रवृत्ति है, क्योंकि प्रवृत्ति होने पर विकल्प मानना पड़ेगा।

यावत् श्रुतीति चेत् ॥६२॥

आक्षेप—जितना विधान है उतना ही करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रकृतावशब्दत्वात् ॥६३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रकृति और विकृति में कहे दोनों पदार्थों का ग्रहण करना शास्त्रविहित नहीं है।

विकृतौ त्वनियमः स्यात्पृषदाज्यवद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वादुभयोश्च प्रदिष्टत्वाद् गुणशास्त्रं यदेति स्यात् ॥६४॥

पूर्व०—विकृति में विरोधियों में से किसी एक के ग्रहण का नियम नहीं है, क्योंकि ग्रहण गौण है, पृषदाज्य के समान। दोनों के उपदिष्ट होने से जब व्रीहिरूप गुण-विधायक शास्त्र की प्रवृत्ति होती है, तभी यवशास्त्र की प्रवृत्ति का बाध होता है, अतः यव=जौ और व्रीहि=चावल का विकल्प है।

एकार्थ्याद्वा नियम्येत श्रुतितो विशिष्टत्वात् ।।६५।।

सि०—(व्रीहि और यव का) एक प्रयोजन होने से नियम-विधि है, किन्तु व्रीहियों को श्रुतिविशिष्टता हो जाने से यवों की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि आनुमानिक यवशास्त्र से श्रुति बलवती है।

विरोधित्वाच्च लोकवत् ।।६६।।

और, परस्पर विरोधियों में कभी सहप्रवृत्ति नहीं हो सकती, यह बात लोकव्यवहार से भी सिद्ध है।

क्रतोश्च तद्गुणत्वात् ।।६७।।

तथा, क्रतु का सम्बन्ध शुक्ल और कृष्ण व्रीहि के साथ होने से व्रीहि से ही याग करना चाहिए, यह सिद्ध होता है।

विरोधिनाञ्च तत् श्रुतावशब्दत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।६८।।

विरोधियों में से किसी एक के श्रवण होने पर और अन्य के अतिदेश से प्राप्त होने पर अशब्दत्व होने से विकल्प हो जाता है।

पृषदाज्ये समुच्चयाद्ग्रहणस्य गुणार्थत्वम् ।।६९।।

पृषदाज्य में समुच्चय होने से आज्यग्रहण गुणार्थक है।

क्रत्वन्तरे वा तन्न्यायत्वात्कर्मभेदात् ।।७०।।

अथवा, दर्शपूर्णमास में कर्मभेद होने से चतुरवत्त दर्शन प्राप्त होता है।

यथाश्रुतीति चेत् ।।७१।।

आक्षेप—जिस यज्ञ में पञ्चावत्त श्रूयमाण होता है, वहाँ श्रुति के प्रमाण से कार्य करना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकत्वात् ।।७२।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधान एक होता है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य सप्तमः पादः ।।

अष्टमः पादः

प्रतिषेधः प्रदेशेऽनारभ्यः विधाने प्राप्तप्रतिषिद्धत्वाद्विकल्पः स्यात् ।।१।।

पूर्व०—चोदकशास्त्र से प्राप्त और अनारम्य विधान में प्रतिषेध होता है। प्रत्यक्ष और अतिदेशशास्त्र से प्राप्त का प्रतिषेध होने से विकल्प होता है।

अर्थप्राप्तवदिति चेत् ।।२।।

आक्षेप—जैसे लोक में अर्थ-प्राप्ति (विष खाना चाहिए या नहीं) में प्रतिषेध होता है, उसी प्रकार यहाँ भी प्रतिषेध है, यदि ऐसा कहो तो—

न तुल्यहेतुत्वादुभयं शब्दलक्षणम् ।।३।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। तुल्य हेतु होने से प्राप्ति और प्रतिषेध दोनों ही शब्दलक्षण हैं, अतः विकल्प मानना ही ठीक है।

अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्यायत्वाद्विकल्पस्य विधिनामेकदेशः स्यात् ।।४।।

सि०—वाक्यशेष से प्रतिषेध ही मानना चाहिए। विधि के एकभाग में निषेध का सम्बन्ध होने से विकल्प मानना अन्याय्य है।

अपूर्वे चार्थवादः स्यात् ।।५।।

और, अपूर्व सोमयाग में आज्यभाग की प्राप्ति का अभाव होने से वह निषेध अर्थवाद है।

शिष्ट्वा तु प्रतिषेधः स्यात् ।।६।।

प्रथम विधान करने के पश्चात् निषेध करने पर वहाँ विकल्प होता है।

न चेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादानर्थक्यात्परसामर्थ्यात् ।।७।।

अन्य विधेय का विधान न होने पर विकल्प होता है और अन्य का विधान होने पर विहित का अर्थवाद होता है। पर-द्रव्य के विधान के सामर्थ्य से और निषेध के व्यर्थ होने से।

पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ।।८।।

पूर्वाधिकरण के समान योग-क्षेम होने से अर्थवाद है। चातुर्मास्य याग में त्र्यम्बक आहुतियों में अभिघारण या अनभिघारण का उल्लेख केवल अर्थवाद है, न विधि है, न निषेध।

उपवादश्च तद्वत् ।।९।।

और, उपवाद (उपशब्द से आरम्भ होनेवाला वाक्य 'उपवीता वा ऐतस्य' इत्यादि) भी शिष्टा के समान समझना चाहिए, अर्थात्, ब्रह्मा के सामगान में विकल्प है।

प्रतिषेधादकर्मेति चेत् ।।१०।।

आक्षेप—प्रतिषेध होने से सामगान अकर्म है, यदि ऐसा कहो तो—

न शब्दपूर्वत्वात् ।।११।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। सामगान कर्तव्य है, क्योंकि उसका विधान है।

दीक्षितस्य दान-होम-पाक-प्रतिषेधेऽविशेषात्सर्व-दान-होम-पाक-प्रतिषेधः स्यात् ।।१२।।

पूर्व०—यज्ञ में दीक्षित यजमान के जो दान, होम और पाक का प्रतिषेध है, कोई विशेष वचन न होने से वह सारे दान, होम और पाक का प्रतिषेध है।

अक्रतुयुक्तानां वा धर्मः स्यात् क्रतोः प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।१३।।

अथवा, क्रतु के साथ जिनका सम्बन्ध नहीं है, ऐसे दान आदि का निषेध धर्म है, क्योंकि क्रतु में दान आदि के प्रत्यक्ष विहित होने से उनका निषेध धर्म नहीं है।

तस्य वाऽप्यानुमानिकमविशेषात् ।।१४।।

अथवा, उस निषेध का विषय अतिदेशशास्त्र से प्राप्त प्रयाजादि का होम और अग्निहोत्र है, क्योंकि वे प्रत्यक्ष विहित नहीं हैं, आनुमानिक हैं।

अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यात् ।।१५।।

सि०—वाक्यशेष होने के कारण पर्युदास (किसी विशेष अवस्था में निषेध) है। ज्योतिष्टोम में दीक्षित पुरुष न दान दे, न आहुतियाँ दे, न पकाए। यदि प्रतिषेध माना जाए तो विकल्प होगा।

अविशेषेण यच्छास्त्रमन्यायत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेष-शिष्टं स्यात् ॥१६॥

जो विशेष शास्त्रविहित है वह सामान्य शास्त्र से असम्बद्ध होता है, क्योंकि वह संदिग्ध होता है और विकल्प अन्याय्य होने से सामान्य-विधान विशेष विधि में नहीं होता।

अप्रकरणे तु यच्छास्त्रं विशेषे श्रूयमाणमविकृतमाज्यभागवत् प्राकृतप्रतिषेधार्थम् ॥१७॥

पूर्व०—वैमृध आदि विकृति में श्रूयमाण अप्रकरण-पठित वचन का अविकृतरूप में विधान हो तो वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए होता है, आज्यभाग के समान ।

विकारे तु तदर्थं स्यात् ॥१८॥

विकार होने पर भी वह प्राकृत अङ्गों के प्रतिषेध के लिए ही होता है ।

वाक्यशेषो वा क्रतुनाऽग्रहणात् स्यादनारभ्यविधानस्य ॥१६॥

सि०—अनारभ्य विधान का क्रतु के साथ सम्बन्ध न होने से यह वाक्यशेष है, अतः वैमृध आदि विकृति याग में सत्रह सामिधेनियाँ पढ़नी चाहिएँ ।

मन्त्रेष्ववाक्यशेषत्वं गुणोपदेशात्स्यात् ॥२०॥

मन्त्रों में वाक्यशेष नहीं होता वर्णानुपूर्वीरूप गुण का उपदेश होने से । यहाँ पर प्रदान ही मुख्य कर्म होता है ।

अनाम्नाते दर्शनात् ॥२१॥

जहाँ दर्विहोमों में स्वाहाकार आम्नात नहीं है, वहाँ भी स्वाहा बोला जाता है, विधान होने से ।

प्रतिषेधाच्च ॥२२॥

और कहीं-कहीं स्वाहाकार का प्रतिषेध होने से भी स्वाहाकार का होना सिद्ध होता है, क्योंकि प्राप्त का ही प्रतिषेध हो सकता है ।

अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यात् ॥२३॥

पूर्व०—अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में उपदेश होने से चोदकशास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती ।

मासि ग्रहणं च तद्वत् ॥२४॥

और, 'मासि' ग्रहण भी प्राकृत धर्म का निवर्तक है ।

ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ॥२५॥

सि०—चोदकशास्त्र से (अतिग्राह्य का) ग्रहण होता है, समानता होने से ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२६॥

लिङ्गवाक्यों से भी यही सिद्ध होता है कि अतिग्राह्य की विकृति में प्राप्ति है ।

ग्रहणं समानविधानं स्यात् ॥२७॥

अग्नि और अतिग्राह्य का विकृति में जो उपदेश है, वह प्रकृति के समान विधान है ।

मासि ग्रहणमभ्यासप्रतिषेधार्थम् ।।२८।।

मासि ग्रहण अभ्यास के प्रतिषेध के लिए है ।

उत्पत्तितादर्थ्याच्चतुरवत्तं प्रधानस्य होमसंयोगादधिकमाज्यम-तुल्यत्वाल्लोकवदुत्पत्तेर्गुणभूतत्वात् ।।२९।।

चतुरवत्त अवदान प्रधान द्रव्य से होना चाहिए, क्योंकि उसकी उत्पत्ति होम के लिए ही होती है और उसका होम के साथ संयोग भी है। आज्य तो संस्कार के लिए है। वह प्रधान-द्रव्य पुरोडाश के तुल्य नहीं है तथा उसकी उत्पत्ति भी गौण है, लोकव्यवहार के समान।

तत्संस्कारश्रुतेश्च ।।३०।।

उपस्तरण और अभिघारण पुरोडाश के संस्कार के लिए श्रूयमाण होते हैं, चतुर-वत्त अवदान में इनकी गिनती नहीं है।

ताभ्यां वा सह स्विष्टकृतः सहत्त्वे द्विरभिघारणेन तदाप्तिवचनात् ।।३१।।

सि०—चतुरवत्त उपस्तरण और अभिघारण के साथ होता है, क्योंकि स्विष्टकृत् के सहकृत्व में दो बार अभिघारण का श्रवण चार की पूर्ति के लिए है।

तुल्यवच्चाभिधाय सर्वेषुभक्त्यनुक्रमणात् ।।३२।।

समानता से कथन करके फिर सबमें भागों का कथन होने से यह सिद्ध होता है कि चतुरवत्ता उपस्तरण और अभिघारण से मिलकर पूर्ण होती है।

साप्तदश्यवन्नियम्येत ।।३३।।

पूर्व०—सप्तदश=सत्रह सामिधेनियों के विकृतियाग में जैसा नियम है वैसा उपांशुयाग में चतुरवत्त का नियम हो सकता है।

हविषो वा गुणभूतत्वात्तथाभूतविवक्षा स्यात् ।।३४।।

सि०—हविष् विधेय होने से होम सामान्य में चतुरवत्त हविष् की गुणत्व विवक्षा है अर्थात् उपांशुयाग में पुरोडाश में से ही चार भाग करके आहुतियों को चतुरवत्त किया जाएगा।

पुरोडाशाभ्यामित्यधिकृतानां पुरोडाशयोरुपदेशस्तत् श्रुतित्वाद्वैश्य-स्तोमवत् ।।३५।।

पूर्व०—असोमयाजियों को ही आग्नेय और ऐन्द्राग्न पुरोडाश की विधि है। सुवर्ण की कामना करनेवाले असोमयाजियों के अधिकार का श्रवण होने से उन्हें ही उक्त दो पुरोडाशों से याग करने का उपदेश है वैश्यस्तोम के समान।

न त्वनित्याधिकारोऽस्ति विधेर्नित्येन सम्बन्धस्तस्मादवाक्यशेषत्वम् ।।३६।।

अनित्य (स्वर्ग-कामना) का अधिकार नहीं, क्योंकि विधि का नित्य (दर्शपौर्ण-मास) के साथ सम्बन्ध होता है, अतः इस वाक्य के साथ सम्बन्ध न होने से वह वाक्य का शेष नहीं है।

सति च नैकदेशेन कर्त्तुः प्रधानभूतत्वात् ।।३७।।

अधिकारशेष के होने पर पुरोडाशों का असोमयाजी कर्त्ता के साथ सम्बन्ध नहीं

हो सकता और अधिकार होने पर प्रधानभूत कर्त्ता का निर्देश किया जाता है तथा दर्श-पौर्णमास का एकदेशभूत पुरोडाश भी फल का साधक नहीं हो सकता।

कृत्स्नत्वात्तु तथा स्तोमे ॥३८॥

वैश्यस्तोम किसी का एकदेश नहीं है, वह तो सम्पूर्ण है, अतः वहाँ फल होता है।

कर्त्तुः स्यादिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—गौण कर्ता के लिए यह उपदेश है, यदि ऐसा कहो तो—

न गुणार्थत्वात्प्राप्ते न चोपदेशार्थः ॥४०॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान कर्त्ता को ही क्रियोपदेश से गुणभूत प्राप्त होता है। प्राप्त के पुनः उपदेश में कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

कर्मणोस्तु प्रकरणे तन्न्यायत्वाद् गुणानां लिङ्गेन कालशास्त्रं स्यात् ॥४१॥

पुरोडाश और यागरूप कर्म के प्रकरण में 'असोमयाग' पद के प्रयोग से काल=समय ही लक्षित होता है। सोमयाग के समय से भिन्न समय (दर्शपौर्णमास) में उक्त दोनों पुरोडाशों से यजन करना चाहिए।

यदि तु सान्नाय्यं सोमयाजिनो न ताभ्यां समवायोऽस्ति विभक्तकालत्वात् ॥४२॥

परन्तु यदि सान्नाय हविष् सोमयाजियों के लिए हो तो काल के भिन्न होने से उसका उक्त दोनों पुरोडाशों के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अपि वा विहितत्वाद्गुणार्थायां पुनः श्रुतौ सन्देहे श्रुतिर्द्विदेवतार्था स्याद्यथाऽनभिप्रेतस्तथाऽऽग्नेयो दर्शनादेकदेवते ॥४३॥

दर्श और पूर्णमास दोनों में आग्नेय पुरोडाश विहित है, पुनः श्रुति किसलिए, ऐसा सन्देह होने पर इसका समाधान यह है कि श्रुति दो देवताओं के विधान के लिए है। एक देवतावाली अग्नि में आग्नेय केवल अनुवादरूप है।

विधिं तु बादरायणः ॥४४॥

परन्तु दोनों की कालविधि होती है—ऐसा आचार्य बादरायण मानते हैं।

प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ॥४५॥

सि०—यह कालविधि अधिक कर्मों की उत्पत्ति आग्नेय का अनुवाद और ऐन्द्राग्न की विधि नहीं है, प्रतिषिद्ध विज्ञान से दोनों का अनुवाद है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४६॥

और, अन्यार्थ (श्रुतिप्रमाणों) से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

उपांशुयाजमन्तरा यजतीति हविर्लिङ्गाश्रुतित्वाद्यथाकामी प्रतीयेत ॥४७॥

पूर्व०—'**उपांशुयाजमन्तरा यजति**' इस वाक्य से उपांशुयाग का विधान है। किसी हविविशेष की श्रुति न होने से कर्ता चाहे जिस द्रव्य से उपांशुयाग कर ले।

ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगात् ॥४८॥

सि०—'**सर्व**' शब्द का सब यागों के साथ सम्बन्ध होने से ध्रुवा नामक पात्रस्थ आज्य से ही उपांशुयाग करना चाहिए।

तद्वच्च देवतायां स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—द्रव्य की भाँति देवता में भी अनियम है। उपांशुयाग किस देवता के लिए है, इसका भी कोई विधान नहीं है।

तन्त्रीणां प्रकरणात् ॥५०॥

सि०—प्रकरण के अनुसार किसी एक देवता का अवगम हो सकता है।

धर्माद्वा स्यात्प्रजापतिः ॥५१॥

पूर्व०—धर्म (विशेषताओं) के कारण प्रजापति ही उपांशुयाग का देवता होता है।

देवतायास्त्वनिर्वचनं तत्र शब्दस्येह मृदुत्वं तस्मादिहाधिकारेण ॥५२॥

जहाँ उपांशुयाग का विधान है, वहाँ उसके देवता का कथन नहीं और प्राजापत्य याग में उपांशु धर्मवाचक शब्द का स्पष्ट श्रवण नहीं, अतः शब्द-सादृश्य न होने से उपांशुयाग में मुख्य देवता अग्नि का ही स्वामित्व है।

विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादमावास्याहविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनात् ॥५३॥

अथवा, उपांशुयाग का देवता विष्णु है। हौत्रमन्त्र के आम्नान होने से दर्श= अमावास्या की हविः है। अमावास्या में ही वैष्णव हौत्र का दर्शन=विधान भी है।

अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगाद्गुणत्वान्मन्त्रो यथाप्रधानं स्यात् ॥५४॥

अथवा, पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है, क्योंकि मुख्य शब्द का उसी के साथ श्रवण होता है। मन्त्र गौणरूप होने से प्रधान के अनुसार कर्म होना चाहिए।

आनन्तर्यं च सान्नाय्यस्य पुरोडाशेन दर्शयत्यमावास्याविकारे ॥५५॥

अमावास्या का विकृतियाग जो साकंप्रस्थानीय है उसमें सान्नाय का आनन्तर्य पुरोडाश के द्वारा देखा जाता है, उपांशुयाग का नहीं, अतः अमावास्या में उपांशुयाग का अनुष्ठान नहीं होता।

अग्नीषोमविधानात्तु पौर्णमास्यामुभयत्र विधीयते ॥५६॥

वस्तुतः पौर्णमासी याग में अग्नीषोमीय देवता का विधान है, अतः पौर्णमासी और अमावास्या दोनों में उपांशुयाग कर्तव्य है।

प्रतिषिद्धच विधानाद्वा विष्णुः समानदेशः स्यात् ॥५७॥

सि०—प्रतिषेध करके विधान होने से पौर्णमासी में ही उपांशुयाग होता है और विष्णु, प्रजापति और अग्नीषोमीय उसके देवता हैं।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५८॥

पौर्णमासी में चौदह आहुतियों के हवन के विधान से अन्य प्रमाण भी इसी अर्थ को दिखाते हैं कि अमावास्या में उपांशुयाग नहीं होता।

न चानङ्गं सकृत् श्रुतावुभयत्र विधीयेतासम्बन्धात् ॥५९॥

प्रधान के एक बार श्रूयमाण होने से वह दो स्थानों पर विहित नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है।

विकारे चाश्रुतित्वात् ॥६०॥

और, अमावास्या के विकृतियाग में उपांशुयाग का श्रवण न होने से अमावास्या में

उपांशुयाग कर्तव्य नहीं।

द्विपुरोडाशायां स्यादन्तरालगुणार्थत्वात् ॥६१॥

पूर्व०—दो पुरोडाशवाले पौर्णमासी में उपांशुयाग होना चाहिए, अन्तरालरूप गुण का विधान होने से।

अजामिकरणार्थत्वाच्च ॥६२॥

और, अजामित्व=असादृश्य करने के लिए भी द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग सिद्ध होता है।

तदर्थमिति चेन्न तत्प्रधानत्वात् ॥६३॥

अन्तरालत्व होने से द्विपुरोडाश दशा में ही उपांशुयाग होता है, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि पौर्णमासी प्रधान है और अन्तराल गौण है, अतः एक पुरोडाशवाले पौर्णमासी में भी उपांशुयाग कर्तव्य है।

अशिष्टेन च सम्बन्धात् ॥६४॥

और, अश्रुत अन्तरालार्थ के साथ उपांशुयाग का सम्बन्ध करना चाहिए।

उत्पत्तेस्तु निवेशः स्याद्गुणस्यानुपरोधेनार्थस्य विद्यमानत्वाद्विधानादन्तरार्थस्य नैमित्तिकत्वात्तदभावेऽश्रुतौ स्यात् ॥६५॥

गुणत्व से अन्तराल श्रूयमाण नहीं होता। उत्पत्तिवाक्य के द्वारा ही अन्तराल में उपांशुयाग निविष्ट होता है। अन्तराल अर्थ द्विपुरोडाश में होता है, विधान होने से। जहाँ अन्तरालरूप निमित्त होता है वहाँ ही उपांशुयाग होता है; जहाँ अन्तराल नहीं होता वहाँ उपांशुयाग भी नहीं होता। यदि द्विपुरोडाशवाली पौर्णमासी न हो तो एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग होता है; परन्तु दो पुरोडाशवाली पौर्णमासी है, अतः एक पुरोडाशवाली पौर्णमासी में उपांशुयाग नहीं होता।

उभयोस्तु विधानात् ॥६६॥

सि०—विधान होने से एक पुरोडाश और द्विपुरोडाशवाली दोनों पूर्णमासियों में उपांशुयाग होता है।

गुणानाञ्च परार्थत्वादुपवेषवद् यदेति स्यात् ॥६७॥

गुणों के प्रधान के लिए होने के कारण गुणों के होने या न होने पर भी प्रधान कार्य होता है, 'उपवेषी' के समान, अतः उपांशुयाग एक पुरोडाशवाली पूर्णमासी में भी करना चाहिए।

अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ ॥६८॥

दोनों पुरोडाश काल को लक्षित करते हैं। एक पुरोडाश में भी यह लक्षण है।

प्रशंसार्थमजामित्वम् ॥६९॥

और जो उपांशुयाग को अजामित्व के लिए कहा है, वह तो केवल प्रशंसा के लिए है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने दशमाध्यायस्य अष्टमः पादः ॥

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

एकादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्रयोजनाभिसम्बन्धात्पृथक् सतां ततः स्यादेककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात् ॥१॥

सि०—पृथक्-पृथक् आग्नेय आदि याग एक कर्म हैं, क्योंकि उन सबका मिलकर एक नाम है और उन सबका प्रयोजन के साथ अभिसम्बन्ध है। (एक कर्म का अर्थ है एक फल होना, सब अङ्गों का एक फल होता है, अलग-अलग नहीं।)

शेषवद्वा प्रयोजनं प्रतिकर्म विभज्येत ॥२॥

आक्षेप—'शेष' के समान प्रतिकर्म फल का भेद होता है।

अविधानात्तु नैवं स्यात् ॥३॥

समा०—शेष और शेषी का साम्यरूप से विधान न होने से ऐसा नहीं हो सकता।

शेषस्य हि परार्थत्वाद्विधानात्प्रतिप्रधानभावः स्यात् ॥४॥

शेष=फल परार्थ=प्रधान के लिए होता है और इसका विधान भी है, अतः प्रत्येक प्रधान में इसकी आवृत्ति होती है।

अङ्गानां तु शब्दभेदात्क्रतुवत्स्यात् फलान्यत्वम् ॥५॥

पूर्व०—शब्दभेद होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, सौर्य आदि क्रतुओं के समान।

अर्थभेदस्तु तत्रार्थे हैकार्थ्यादेककर्म्यम् ॥६॥

सि०—क्रतुओं में अर्थभेद है परन्तु यहाँ अङ्ग प्रधान कर्म के उपकारी हैं, अतः सब एक कर्म=फलजनक हैं।

शब्दभेदान्नेति चेत् ॥७॥

आक्षेप—शब्द भिन्न होने से अङ्गों का फल पृथक्-पृथक् होता है, यदि ऐसा कहो तो—

कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ताच्छब्द्यं स्यात्तदर्थत्वात् ॥८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। कर्मार्थत्व होने से उसी प्रधान प्रयोग वचन से ही अङ्गों का भी प्रयोग कहा गया है, क्योंकि वे उसी के लिए होते हैं।

कर्तृविधेर्नानार्थत्वाद्गुणप्रधानेषु ॥९॥

प्रधान और अङ्ग-विधियों में कर्त्ता को जो प्रधान विधि है, वह नाना अर्थवाली होती है। प्रधान विधि तो फलार्थ होती है और अङ्गविधि प्रधानार्थ होती है, अतः अङ्ग प्रधान से अनुगृहीत नहीं होते।

आरम्भस्य शब्दपूर्वत्वात् ॥१०॥

प्रत्येक व्यापार शब्दपूर्वक होता है, अतः प्रधान-प्रयोग वचन से ही अङ्गों का प्रयोग विधीयमान होता है।

एकेनापि समाप्येत कृतार्थत्वाद् यथा क्रत्वन्तरेषु प्राप्तेषु चोत्तरावत्स्यात् ॥११॥

पूर्व०—एक अङ्ग का अनुष्ठान करने से भी प्रयोग की समाप्ति होती है, क्योंकि उससे कृतार्थता हो जाती है, स्वर्ग-साधन सौर्य आदि में से किसी भी यज्ञ से स्वर्ग की प्राप्ति हो जाती है, 'उत्तरा' के समान।

फलाभावादिति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—सम्पूर्णता न करने से फल का अभाव होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात्प्रयोजनमशब्ददोषं स्यात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। प्रधान कर्म का फल के साथ संयोग होने से फलार्थत्व में कोई शब्ददोष नहीं है।

ऐकशब्द्यादिति चेत् ॥१४॥

आक्षेप—केवल एक वाक्य होने से दर्शपूर्णमासियों से तत्फल है, समिदादि से नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नार्थपृथक्त्वात्समत्वादगुणत्वम् ॥१५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अर्थ में पृथक्त्व होता है और समानता होने से अगुणत्व भी होता है।

विधेस्त्वेकश्रुतित्वादपर्यायविधानान्नित्यवत् श्रुतिभूताभिसंयोगार्थेन युगपत्प्राप्तेर्यथा-क्रमं स्वशब्दो निवीतवत्तस्मात्सर्वप्रयोगे प्रवृत्तिः स्यात् ॥१६॥

सि०—एकदेश से भी अङ्गों के प्रयोग का कथन ठीक नहीं, क्योंकि विधि का एक श्रुतित्व होने से सर्वाङ्गोपसंहार से प्रयोग होता है। पर्याय से इन अङ्गों का विधान न होने से भी एकदेशापेक्षा युक्त नहीं हैं। अर्थ के द्वारा एक ही साथ प्राप्ति होने के कारण भी नित्यवत् श्रुतों का भी एकदेश अपेक्षित नहीं होता। क्रमपूर्वक सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए निवीत की भाँति। यहाँ भी सर्वप्रधान प्रयोग के साथ सब अङ्गों का अनुष्ठान करना चाहिए।

तथा कार्मोपदेशः स्यात् ॥१७॥

ऐसा करने से कर्म (आहुतियों की संख्या) का उपदेश भी चरितार्थ होता है।

क्रत्वन्तरेषु पुनर्वचनम् ॥१८॥

भिन्न-भिन्न यागों में अलग-अलग फलश्रुति है। यहाँ सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः सब अङ्गों का अनुष्ठान एकसाथ होना चाहिए।

उत्तरास्वश्रुतित्वाद्विशेषाणां कृतार्थत्वात्स्वदोहे यथाकामी प्रतीयेत ॥१९॥

'उत्तरा' यागों में दोहन विहित न होने से और वाग्विसर्ग आदि के विधान से कृतार्थ होने से यह निष्कर्ष निकलता है कि गौओं के दोहन में कर्त्ता स्वतन्त्र है, वह इच्छानुसार अपनी गौओं को दुह सकता है।

कर्मण्यारम्भभाव्यत्वात्कृषिवत् प्रत्यारम्भं फलानि स्युः ॥२०॥

काम्य-कर्म के अनुष्ठान में प्रत्येक प्रयोग से फल प्राप्त होना चाहिए, प्रत्येक आरम्भ से फल हुआ करते हैं, कृषि के समान।

अधिकारश्च सर्वेषां कार्यत्वादुपपद्यते विशेषः ॥२१॥

और, सब कर्मों का अनुष्ठान पुनः-पुनः करने से विशेष अधिकार उपपन्न=प्राप्त होता है अतः जितनी इच्छा है, उतना अभ्यास करे।

सकृत्तु स्यात्कृतार्थत्वादङ्गवत् ॥२२॥

पूर्व०—काम्य-कर्म का तो अङ्गवत् एक ही बार अनुष्ठान करना चाहिए, क्योंकि एक बार अनुष्ठान करने से ही विधि चरितार्थ हो जाती है।

शब्दार्थश्च तथा लोके ॥२३॥

और, विधि शब्द के अर्थ का अनुष्ठान एक ही बार होता है, जैसे लोकव्यवहार में 'काष्ठ लाओ' ऐसा कहने पर एक ही बार काष्ठ (लकड़ी) लाया जाता है।

अपि वा सम्प्रयोगे यथाकामीप्रतीयेताश्रुतित्वाद्विधिषु वचनानि स्युः ॥२४॥

सि०—काम्य कर्मों के अनुष्ठान में कर्त्ता अपनी इच्छानुसार एक या अनेक बार काम्य-कर्म कर सकता है। एक ही बार कर्म करे, ऐसा कोई शास्त्रवचन नहीं है। विधि-वचन तो केवल काम्य-कर्मों का अनुष्ठान ही बताता है।

ऐकशब्द्यात्तथाङ्गेषु ॥२५॥

एक ही शब्द=वचन के होने से अङ्गों के अनुष्ठान में वैसा हो सकता है, परन्तु फल की इच्छा में नहीं, अतः काम्य-कर्मों की आवृत्ति होती है।

लोके कर्माऽर्थलक्षणम् ॥२६॥

लौकिक दृष्टान्त भी ठीक नहीं। लौकिक कर्म का फल प्रत्यक्ष होता है, अतः उसी के अनुसार कर्म होता है।

क्रियाणामर्थशेषत्वात्प्रत्यक्षमतस्तन्निर्वृत्त्याऽपवर्गः स्यात् ॥२७॥

दृष्ट प्रयोजनवाली क्रियाओं (कूटकर चावल निकालना आदि) का प्रयोग फल-निष्पत्ति पर्यन्त होता है, अतः प्रयोजन की सिद्धि तक आवृत्ति होनी चाहिए।

धर्ममात्रे त्वदर्शनाच्छब्दार्थेनापवर्गः स्यात् ॥२८॥

जहाँ अवहनन अदृष्ट फल के लिए होता है, वहाँ एक बार ही अवहनन करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से विधि चरितार्थ होती है।

क्रतुवद्वानुमानेनाभ्यासे फलभूमा स्यात् ॥२९॥

पूर्व०—अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि अभ्यास करने से भूमा=अधिक फल होता है, यह अनुमान से जाना जाता है। जैसे सौर्य आदि में फल कर्म से होता है, उसी प्रकार यहाँ भी होता है।

सकृद्वा कारणैकत्वात् ॥३०॥

सि०—एक बार ही अङ्ग का प्रयोग करना चाहिए, प्रधानरूप कारण एक होने से।

परिमाणं चानियमेन स्यात् ॥३१॥

जब अङ्ग के एक बार या अनेक बार करने का कोई नियम नहीं है, तब यज्ञ की आहुतियों की कोई सीमा नहीं रहेगी, अतः अभ्यास नहीं है।

फलारम्भनिवृत्तेः क्रतुषु स्यात् फलान्यत्वम् ॥३२॥

क्रतुओं में अभ्यास उचित है, क्योंकि वहाँ फल के आरम्भ से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है। क्रतुओं में फलभेद होता है। काम्यकर्मों में कर्म मुख्य है, सब कर्म मिलकर फल देते हैं, अतः वहाँ अभ्यास नहीं है।

अर्थवांस्तु नैकत्वादभ्यासः स्यादनर्थको यथा भोजनमेकस्मिन्नर्थस्या-परिमाणत्वात्प्रधाने च क्रियार्थत्वादनियमः स्यात् ॥३३॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास फलवान् होता है। एक कर्मविषयक अभ्यास अनर्थक होता है, जैसे एक ही समय भोजन की आवृत्ति निरर्थक होती है। प्रधान फल नियत न होने से और प्रधान कर्म में क्रिया फल उत्पन्न करने में सहायक होने से वहाँ नियम नहीं होता।

पृथक्त्वाद्विधितः परिमाणं स्यात् ॥३४॥

चौदह और तेरह संख्या का नियम भिन्न अर्थवाला है। अर्थ भिन्न होने से उपकाराभ्यास न्याय प्राप्त होने पर आहुतियों की संख्या विधिपरक होती है।

अनभ्यासो वा प्रयोगवचनैकत्वात्सर्वस्य युगपच्छास्त्रादफलत्वाच्च कर्मणः स्यात्क्रियार्थत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रयोगवचन के एक होने से अङ्गों का अभ्यास नहीं होता। कर्म का अफलत्व होने से सब अङ्ग और प्रधान कलाप का एक साथ शासन है। अङ्गों का स्वयं कोई फल नहीं, परन्तु वे प्रधान कर्म के सहायक हैं।

अभ्यासो वा छेदनसम्मार्गाऽवदानेषु वचनात्सकृत्त्वस्य ॥३६॥

पूर्व०—अङ्गों का अभ्यास होता है, क्योंकि एक बार करने का विधान छेदन, सम्मार्ग और अवदान के सम्बन्ध में ही है।

अनभ्यासस्तु वाच्यत्वात् ॥३७॥

सि०—प्रयाजादि अङ्गों में अभ्यास नहीं होता, वे एक ही बार किये जाते हैं। छेदन आदि में जो अभ्यास कथन किया है, उसका प्रयोजन भिन्न है।

बहुवचनेन सर्वप्राप्तेर्विकल्पः स्यात् ॥३८॥

पूर्व०—बहुवचन से संख्याओं की प्राप्ति होने से संख्याओं का विकल्प होना चाहिए। (**'कपिञ्जलानालभेत'**—यहाँ 'कपिञ्जलान्' बहुवचन है, अतः तीन, चार, पाँच कोई भी संख्या ली जा सकती है।)

दृष्टः प्रयोग इति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—'बहुवचन से तीन का ही ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसे प्रयोग मिलते हैं,' यदि ऐसा कहो तो—

तथेहि ॥४०॥

समा०—उस प्रकार तो यहाँ भी कपिञ्जल का प्रयोग मयूर और कपोत में भी देखा गया है।

भक्त्येति चेत् ॥४१॥

आक्षेप—यहाँ कपिञ्जल शब्द का प्रयोग गौणवृत्ति से है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥४२॥

समा०—उसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी गौणवृत्ति से ही प्रयोग समझना चाहिए।

प्रथमं वा नियम्येत कारणादतिक्रमः स्यात् ॥४३॥

सि०—बहुसंख्या में प्रथम नियम्य होता है अर्थात् केवल तीन का ही ग्रहण होगा। इसका नाम है 'कपिञ्जल-न्याय'। कोई विशेष कारण होने पर ही तीन संख्या का अति-क्रमण होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥४४॥

इस अर्थ के साधक अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

प्रकृत्या च पूर्ववत्तदासत्तेः ॥४५॥

और, प्रकृति से अग्नीषोमीय से एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्ववत् उसका सामीप्य है। (तीन संख्या एकत्व के समीप है, चार आदि नहीं, अतः कपिञ्जलान् से तीन कपिञ्जल समझने चाहिएँ। प्रथम के त्याग करने में कोई प्रमाण नहीं है।)

उत्तरासु न यावत्स्वमपूर्वत्वात् ॥४६॥

पूर्व०—'उत्तर' गौओं में जितनी गौओं में यजमान का स्वत्व है, उतनी गौओं को दुहने का विधान है। यहाँ अपूर्व अर्थ होने से विधि है, अनुवाद नहीं है।

यावत्स्वं वाऽन्यविधानेनानुवादः स्यात् ॥४७॥

यजमान के पास जितनी गौ हैं उन सबका दोहन करना चाहिए, यह तो अनुवाद है, विधान दूसरा है। **'विसृष्टवागनन्वारभ्य'**—वाणी को छोड़कर उन गौओं को न छूए, इस वाक्य में विधान है। **'उत्तरा दोहयति'** फिर पिछली गायों को दुहता है, इस वाक्य में विधान नहीं है।

साकल्यविधानात् ॥४८॥

सारी गायों के दोहन का विधान होने से उत्तरा-दोहन अनुवाद है।

बह्वर्थत्वाच्च ॥४९॥

तथा, बहुत अर्थ का कथन होने से बहु-दोहन की प्रतीति होती है।

अग्निहोत्रे चाशेषवद्यवागूनियमः ॥५०॥

और, अग्निहोत्र में यवागू (यव की माँढ) की आहुति का नियम समस्त पय की सान्नायार्थता को दिखाता है। (सान्नाय=दही और घी का घोल)

तथा पयः प्रतिषेधः कुमाराणाम् ॥५१॥

उपर्युक्त कारण से ही (यज्ञ में बहुत सा सान्नाय होना चाहिए) कुमारों को दूध देने का भी निषेध है।

सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन संयुज्य देवताभिसंयोगात् ॥५२॥

ऐसा लिङ्गवचन भी विद्यमान है जो सब गौओं के दोहन का विधान करके उससे वत्स और मनुष्यों की तृप्ति करके उसका सम्बन्ध देवताओं से जोड़ता है।

प्रधानकर्मार्थत्वादङ्गानां तद्भेदात् कर्मभेदः प्रयोगे स्यात् ॥५३॥

पूर्व०—अङ्गों के प्रधान के लिए होने से प्रधान कर्मों में भेद होने पर अङ्गों के अनुष्ठान में कर्मभेद होता है।

क्रमकोपश्च यौगपद्ये स्यात् ॥५४॥

एक साथ तन्त्र[1] रूप अनुष्ठान करने से विहित=प्रधानों का क्रमकोप होता है।

तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात् स्याद्विशेषाग्रहणात् ॥५५॥

सि०—जिस कर्म के देश, काल और कर्त्ता समान होते हैं, उनका अनुष्ठान एक-साथ ही होता है। अङ्ग का उपदेश भी दर्श और पौर्णमासरूप एक ही शब्द से होता है और अङ्गों में कोई विशेषता भी नहीं, अतः तन्त्र से अनुष्ठान होना उचित है।

एकार्थ्यादव्यवायः स्यात् ॥५६॥

सारे अङ्गों का प्रयोजन एक होने से क्रमकोप भी नहीं है।

तथा चान्यार्थदर्शनं कामुकायनः ॥५७॥

इसी अर्थ को सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं, ऐसा आचार्य कामुकायन मानते हैं।

तन्न्यायत्वादशक्तेरानुपूर्व्यं स्यात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥५८॥

'अङ्गों का एकसाथ अनुष्ठान होना चाहिए' इस न्याय से सर्वत्र सहक्रिया होती है परन्तु जहाँ सह-अनुष्ठान सम्भव नहीं वहाँ आवृत्ति से अङ्गों का अनुष्ठान होता है, क्योंकि एक संस्कार से ही कार्य पूर्ण हो जाता है।

असंसृष्टोऽपि तादर्थ्यात् ॥५९॥

आक्षेप—असंसृष्ट आघार आदि भी प्रधान के लिए होने से प्रतिवर्तित होते हैं।

विभवाद्वा प्रदीपवत् ॥६०॥

समा०—किसी एक के सन्निधान में क्रियमाण होने पर भी अङ्ग सबके उपकारक होते हैं, अतः अङ्गों में सामर्थ्य होने से उनकी प्रवृत्ति नहीं है प्रदीप के समान। प्रदीप एक की सन्निधि में प्रदीप्त होकर सबका उपकार करता है।

---

१. जब एक ही कर्म बहुतों का उपकारक होता है, उसे तन्त्र कहते हैं, जैसे मध्य में रखा हुआ दीपक। जो कार्य अलग-अलग करने पड़ते हैं, उन्हें आवाप कहते हैं, जैसे चन्दन सबको अलग-अलग लगाना पड़ेगा।

अर्थात्तु लोके विधिः प्रतिप्रधानं स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—लोकव्यवहार में फलरूप अर्थ प्रत्यक्ष होने से सकृत्=एक बार अनुष्ठान माना जा सकता है परन्तु विधि-प्राप्त कर्म तो प्रत्येक प्रधान के साथ होना चाहिए।

सकृदिज्यां कामुकायनः परिमाणविरोधात् ॥६२॥

आचार्य कामुकायन का मत है कि अङ्गों का अनुष्ठान एक बार होना चाहिए अन्यथा आहुतियों के परिमाण में विरोध आएगा।

विधेस्त्वितरार्थत्वात् सकृदिज्याश्रुतिव्यतिक्रमः स्यात् ॥६३॥

अङ्गों का अनुष्ठान प्रधान के लिए होने से एक ही बार अनुष्ठान करना शास्त्र-विरुद्ध है।

विधिवत्प्रकरणाविभागे प्रयोगं बादरायणः ॥६४॥

सि०—प्रकरण में विभाग न होने से तन्त्र से प्रयोग होता है, आचार्य बादरायण ऐसा मानते हैं।

क्वचिद्विधानान्नेति चेत् ॥६५॥

आक्षेप—कहीं-कहीं सहविधान होने से सर्वत्र सहविधान नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

न विधेश्चोदितत्वात् ॥६६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि निर्वाप विधि का पृथक् कथन है।

व्याख्यातं तुल्यानां यौगपद्यमगृह्यमाणविशेषाणाम् ॥६७॥

पूर्व०—जैसा पूर्व व्याख्यान कर दिया गया है, जहाँ किसी विशेष के ग्रहण का कथन न हो और समानता हो, वहाँ सह-अनुष्ठान होता है।

भेदस्तु कालभेदाच्चोदनाव्यवायात् स्याद्विशिष्टानां विधिः प्रधानकालत्वात् ॥६८॥

सि०—कालभेद होने से प्रदान का भेद ही है। चोदक-व्यवाय=व्यवधान होने से कालभेद होता है। काल की प्रधानता होने से विशिष्टों की विधि होती है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥६९॥

अन्य प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की सिद्धि होती है।

विधिरिति चेन्न वर्तमानापदेशात् ॥७०॥

उक्त वाक्य विधिपरक है, यदि ऐसा कहो तो—ठीक नहीं, क्योंकि वर्तमानकाल का उल्लेख है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

एकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात् ॥१॥

सि०—प्रधानभूत छह अङ्गों में देश, काल और कर्त्ता की एकता होती है, क्योंकि उनका एक शब्द से विधान है।

अविधिश्चेत्कर्मणामभिसम्बन्धः प्रतीयेत तल्लक्षणार्थाभिसंयोगाद्
विधित्वाच्चेतरेषां प्रतिप्रधानं भावः स्यात् ॥२॥

पूर्व०—यदि प्रधान कर्मों को उद्देशी के देश आदि का विधान न होता तो 'आग्नेय' आदि अङ्गों का देश, काल आदि के साथ सम्बन्ध हो सकता था परन्तु लक्षणों के संयोग से प्रत्येक प्रधान के साथ इतर विधियों का सम्बन्ध है।

अङ्गेषु च तदभावः प्रधानं प्रति निर्देशात् ॥३॥

पूर्व०—प्रयाजादि अङ्गों में देश, काल आदि का अभाव होता है, क्योंकि उनका प्रधान के प्रति निर्देश है।

यदि तु कर्मणो विधिसम्बन्धः स्यादैकशब्द्यात्प्रधानार्थभिसंयोगात् ॥४॥

सि०—यदि 'आग्नेय' आदि कर्म का विधि के साथ सम्बन्ध होता तो अलग-अलग अनुष्ठान होता परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि समुदायवाचक एक शब्द से निर्देश होने से उसका सम्बन्ध स्वर्गरूप प्रधान फल की प्राप्ति के साथ है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥५॥

ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी सङ्गत हो जाते हैं।

श्रुतिश्चैषां प्रधानवत्कर्मश्रुतेः पदार्थत्वात्कर्मणोऽश्रुतित्वाच्च ॥६॥

दर्शपौर्णमासरूप कर्म की श्रुति परार्थ है, अतः देशादि का श्रवण प्रधानवत् होता है। कर्म के अश्रुत होने से भी तन्त्रभाव सिद्ध होता है।

अङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानोपदिश्येरंस्तस्मात्स्यादेकदेशत्वम् ॥७॥

सि०—फलवाक्य से विधान होने के कारण अङ्ग प्रधान के साथ उपदिष्ट होते हैं, अतः अङ्गों का प्रधान के साथ एक ही देश तथा काल कर्तृत्व होता है।

द्रव्यदेवतं तथेति चेत् ॥८॥

आक्षेप—द्रव्य और देवता प्रधान और अङ्गों के भेद से होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदना विधिशेषत्वान्नियमार्थो विशेषः ॥९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि द्रव्य और देवता उत्पत्ति-विधि के शेष होने से विशेष नियम के लिए हैं।

तेषु समवेतानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदः प्रयोगे स्यात्तेषां
प्रधानशब्दत्वात्तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१०॥

प्रधानयाग में विहितों का सम्बन्ध होने से तन्त्र से अनुष्ठान होता है। द्रव्य और देवता का भेद होने से कर्म=अनुष्ठान में भी भेद होता है और प्रयोग में भी। छह यागों के प्रधान होने से और अङ्ग तथा अङ्गी का तन्त्र से अनुष्ठान करने से पौर्णमासी में चौदह आहुतियाँ देने का विधान भी उपपन्न हो जाता है।

इष्टिराजसूयचातुर्मास्येष्वैककर्म्यादङ्गानां तन्त्रभावः स्यात् ॥११॥

पूर्व०—दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, राजसूय और चातुर्मास्य में एक फल होने से तन्त्र से प्रयोग होता है।

कालभेदान्नेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—काल का भेद होने से तन्त्र से अनुष्ठान करना उचित नहीं, यदि ऐसा कहो तो—

नैकदेशत्वात्पशुवत् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि पशु की भाँति एकदेशत्व होता है।

अपि वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥१४॥

सि०—दर्शयाग त्रय और पौर्णमासयाग त्रय का तन्त्र से विधान होने के कारण दर्शप्रयोग और पौर्णमासप्रयोग पृथक् होता है, अतः उन-उन प्रयोगों में अङ्गसहित प्रयोगों का उपदेश है, इसलिए विशेष ग्रहण करने में भेद होता है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥१५॥

पौर्णमासी में चौदह आहुति आदि के प्रमाण उपलब्ध होने से भी भेद ही सिद्ध होता है।

तदाऽवयवेषु स्यात् ॥१६॥

तब चातुर्मास्य आदि के अवयवों में भी देश-काल-भेद से तन्त्र-भेद हो जाएगा।

पशौ तु चोदनैकत्वात्तन्त्रस्य विप्रकर्षः स्यात् ॥१७॥

सवनीय पशु में एक विधान होने से तन्त्र से ही अनुष्ठान होना योग्य है।

तथा स्यादध्वरकल्पेष्टौ विशेषैककालत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—इस प्रमाण से 'अध्वरकल्प' इष्टि में भी निर्वापान्त अङ्गकलाप का एक फल होने से तन्त्र से अनुष्ठान होना चाहिए।

इष्टिरिति चैकवत् श्रुतिः ॥१९॥

'अध्वरकल्प' इष्टि में एकवचन का प्रयोग होने से भी यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण इष्टि एक है, अतः तन्त्र से अनुष्ठान करना चाहिए।

न वा कर्मपृथक्त्वात्तेषां च तन्त्र विधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यात् ॥२०॥

सि०—तन्त्र=अभेद से अनुष्ठान नहीं होगा। भिन्न-भिन्न काल में कर्मों का विधान होने से और तन्त्रशास्त्र के विधान से साङ्गकर्मों का उपदेश भेद से अनुष्ठान करने के लिए है।

प्रथमस्य वा कालवचनम् ॥२१॥

अथवा, प्रातःकाल का विधान प्रथम पुरोडाश के लिए है, दोनों के लिए नहीं।

फलैकत्वादिष्टिशब्दो यथान्यत्र ॥२२॥

एक फल का उपदेश होने से इष्टि शब्द में एकवचन का प्रयोग है, जैसा अन्यत्र भी उपलब्ध होता है।

वसाहोमस्तन्त्रमेकदेवतेषु स्यात् प्रदानस्यैककालत्वात् ॥२३॥

एक देवता प्रजापति=परमात्मा की प्रीत्यर्थ जो पशु का दान दिया जाता है उसमें वसाहोम=पुष्टपशु का दान एक ही बार करना चाहिए, क्योंकि प्रदान का समय एक ही होता है।

कालभेदात्त्वावृत्तिर्देवता भेदे ॥२४॥

और, समय और देवता का भेद होने से भेद से अनुष्ठान करना चाहिए।

अन्ते यूपाहुतिस्तद्वत् ॥२५॥

पूर्व०—नाना देवताओं में वसाहोम जैसे भेद से होता है, वैसे ही अन्त में यूपाहुति भी भेद से करनी चाहिए।

इतरप्रतिषेधो वा अनुवादमात्रमन्तिकस्य ॥२६॥

सि०—यह आहवनीय-प्रतिषेध है, अन्तविधि नहीं है, अतः भेद से नहीं करनी चाहिए। यह तन्त्र है।

अशास्त्रत्वाच्च देशानाम् ॥२७॥

और, देश का विधान न होने से भी यूपाहुति तन्त्र है।

अवभृथे प्रधानेऽग्निविकारः स्यान्न हि तद्धेतुरग्निसंयोगः ॥२८॥

पूर्व०—अवभृथ में प्रधान कर्म में अग्नि का विकार होता है, क्योंकि अग्नि के साथ प्रधान हेतुक-अङ्गों का संयोग नहीं है।

द्रव्यदेवतावत् ॥२९॥

जैसे द्रव्य (कपाल) और देवता (वरुण) प्रधान कर्मों में विहित हैं, वैसे ही आपः =जल भी प्रधान कर्मों में विहित हैं, अवभृथ कर्म के साथ अङ्गों का सम्बन्ध नहीं है।

साङ्गो वा प्रयोगवचनैकत्वात् ॥३०॥

सि०—अङ्गसहित प्रधान कर्म 'आपः' में कर्तव्य हैं, क्योंकि प्रयोगविधि में एकत्व पाया जाता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥३१॥

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

शब्दविभागाच्च देवतापनयः ॥३२॥

अवभृथ शब्द द्वारा विभाग होने से द्रव्य देवता का अपनय होता है, अतः अङ्गों के साथ उसका सम्बन्ध नहीं है।

दक्षिणेऽग्नौ वरुणप्रघासेषु देशभेदात्सर्वं विक्रियते ॥३३॥

सि०—वरुणप्रघास याग में दक्षिणाग्नि में देशभेद होने के कारण सब अङ्गों का अनुष्ठान अलग-अलग करना चाहिए, तन्त्र से नहीं।

अचोदनेति चेत् ॥३४॥

आक्षेप—कर्म का विधान होने से अङ्गों की प्राप्ति ही नहीं है फिर भेद अथवा तन्त्र के विचार का अवकाश ही कहाँ, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्पौर्णमासीवत् ॥३५॥

समा०—अङ्गों की प्राप्ति है, पौर्णमासी के समान।

प्रयोगचोदनेति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—प्रयोगविधि है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेह ॥३७॥

समा०—उसी प्रमाण से यहाँ भी है।

आसादनमिति चेत् ।।३८।।

आक्षेप—'मारुति' याग में आसादन है, यदि ऐसा कहो तो—

नोत्तरेणैकवाक्यत्वात् ।।३९।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उत्तरवेदि के साथ एकवाक्यता होने से यह आसादन अदृष्टार्थ नहीं है।

अवाच्यत्वात् ।।४०।।

और, आसादन होमवाच्य नहीं है, अतः प्रयोगविधि नहीं है।

आम्नायवचनं तद्वत् ।।४१।।

वैदिक वचन भी इसी बात की ओर संकेत करता है।

कर्तृभेदस्तथेति चेत् ।।४२।।

आक्षेप—जैसे अङ्गों में भेद होता है, वैसे ही कर्त्ताओं में भी भेद हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न समवायात् ।।४३।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समवाय होने से अङ्गवत् कर्तृभेद नहीं होता। पञ्चत्व होने से कर्त्ता तन्त्र से होते हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।४४।।

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

वेदिसंयोगादिति चेत् ।।४५।।

आक्षेप—अन्तर्वेदि और बहिर्वेदि के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होने से कर्तृभेद होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न देशमात्रत्वात् ।।४६।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि देशमात्र का विधान होने से होता की स्थिति का ही कथन है।

एकाग्नित्वादपरेषु तन्त्रं स्यात् ।।४७।।

पूर्व०—अपराग्नीक होम' एक अग्नि में होने से पत्नीसंयाज आदि अपराग्नियाँ भी तन्त्र से अर्थात् एकसाथ होनी चाहिएँ।

नाना वा कर्तृभेदात् ।।४८।।

सि०—कर्त्ताओं में भेद होने से कर्म की आवृत्ति है।

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे प्राजापत्यानां कर्मोत्सर्गः श्रुतिसामान्यादारण्यवत्तस्माद्ब्रह्मसाम्नि चोदनापृथक्त्वं स्यात् ।।४९।।

पूर्व०—वाजपेययाग में परमात्मा का स्मरण करके जब पशुओं को छोड़ दिया जाता है, तब यागकर्म का भी उत्सर्ग हो जाता है, श्रुति के विधान से आरण्यवत्। इसी प्रकार ब्रह्मसाम में भी चोदना पृथक्त्व=कर्मान्तर होता है।

संस्कारप्रतिषेधो वा वाक्यैकत्वे क्रतुसामान्यात् ।।५०।।

सि०—एक वाक्य होने और क्रतुसामान्य होने से संस्कार कालमात्र का प्रतिषेध है।

वपानां चानभिघारणस्य दर्शनात् ॥५१॥

और, वपा के अनभिघारण के दर्शन होने से भी संस्कारों का प्रतिषेध होता है।

पञ्चशारदीयास्तथेति चेत् ॥५२॥

आक्षेप—प्राजापत्य के समान 'पञ्चशारदीय' नामक ऋतु में कर्म की अत्यन्त-निवृत्ति नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनैकवाक्यत्वात् ॥५३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अपूर्व कर्म का विधान है, अनेक गुण-विशिष्ट अपूर्व कर्मविधान में एकवाक्यता होने से।

संस्काराणां च दर्शनात् ॥५४॥

तथा, संस्कारों का श्रवण होने से भी दोनों अवस्थाओं में कर्म होना चाहिए।

दशपेये क्रयप्रतिकर्षात्प्रतिकर्षस्ततः प्राञ्चां तत्समानं तन्त्रं स्यात् ॥५५॥

पूर्व०—'दशपेय' नामक एकाह (एक दिनवाले) याग में क्रम का प्रतिकर्ष होने से सोमक्रय के पहले अङ्गों का भी प्रतिकर्ष है, अतः दोनों का समान तन्त्र है।

समानवचनं तद्वत् ॥५६॥

तन्त्र के समान होने से दशपेय और अभिषेचनीय—इन दोनों यज्ञों की समानता भी है।

अप्रतिकर्षो वाऽर्थहेतुत्वात्सहत्वं विधीयते ॥५७॥

सि०—प्रतिकर्ष नहीं है, विशेष प्रयोजन से दोनों के एकसाथ करने का विधान है।

पूर्वस्मिश्चावभृथस्य दर्शनात् ॥५८॥

पूर्व अर्थात् अभिषेचनीय में अवभृथ का दर्शन भी है।

दीक्षाणां चोत्तरस्य ॥५९॥

'दशपेय' की दीक्षाओं का पृथक् विधान है, अतः दोनों का सह-अनुष्ठान नहीं है।

समानः कालसामान्यात् ॥६०॥

ऋतुरूप काल की समानता होने से समानता उपपन्न होती है, अन्यथा दोनों यागों के अङ्गों का अनुष्ठान तो भेद से ही होता है।

निष्कास्यावभृथे तदेकदेशत्वात्पशुप्रदानविप्रकर्षः स्यात् ॥६१॥

पूर्व०—आमिक्षा का एकदेश होने से अवभृथ में निष्कास के प्रदान का विप्रकर्ष होता है, पशु के समान।

अपनयो वा प्रसिद्धेनाभिसंयोगात् ॥६२॥

सि०—प्रसिद्ध कर्म के साथ निर्देश होने से निष्कास का अपनय होता है, वह भिन्न कर्म है। प्रदान का विप्रकर्ष नहीं होता।

प्रतिपत्तिरिति चेन्न कर्मसंयोगात् ॥६३॥

अन्य शेषत्व होने से निष्कास (तुष) से अवभृथ का अनुष्ठान करना प्रतिपत्तिकर्म है, यदि ऐसा कहो तो, यह कथन ठीक नहीं, कर्म के विद्यमान होने से।

उदयनीय च तद्वत् ॥६४॥

पूर्व०—उदयनीय में भी प्रधान कर्म से तद्वत्=अवभृथ के समान अपूर्व कर्म मानना चाहिए।

प्रतिपत्तिर्वाऽकर्मसंयोगात् ॥६५॥

अथवा, प्रापणीयशेष प्रतिपत्तिरूप कर्म है, उसका निर्वाप के साथ सम्बन्ध होने से।

अर्थकर्म वा शेषत्वाच्छ्रपणवत्तदर्थेन विधानात् ॥६६॥

श्रपण के समान सप्तम्यन्त पद का अर्थ निर्वाप के लिए विहित होने से शेषत्व होने के कारण निष्कास में निर्वाप है, प्रतिपत्ति नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वचनादन्यकालत्वम् ॥१॥

अङ्गकर्मों का अनुष्ठान प्रधान कर्म के साथ ही होता है (११.२.७.) परन्तु निर्देश होने पर उनका अनुष्ठान अन्य देश-काल आदि में भी हो सकता है।

द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वात् ॥२॥

वसन्तादिरूप स्वकाल में विहित होने से द्रव्य (आधान संस्कृतवह्नि) के अकर्म (प्रधानकर्म से भिन्न) काल में निष्पत्ति का प्रयोग सर्वार्थ (सबके लिए) होता है। इससे समस्त कर्मों के अर्थ में तन्त्र-आधान होता है, एक बार किया हुआ अग्न्याधान सब यज्ञों में काम आता है।

यूपश्चाकर्मकालत्वात् ॥३॥

अनुष्ठान के समय यूप की अनुपपत्ति होने से यूप तन्त्र होता है, क्योंकि वह सबके लिए होता है।

संस्कारास्त्वावर्तेरन्नर्थकालत्वात् ॥४॥

पूर्व०—पशु के नियोजन का अर्थकालत्व होने से यूप के प्रोक्षण, अञ्जन आदि संस्कारों की आवृत्ति होती है।

तत्कालास्तु यूपकर्मत्वात्तस्य धर्मविधानात्सर्वार्थानां च वचनादन्यकालत्वम् ॥५॥

सि०—संस्कारों का अपना काल होता है। वे दीक्षा के समय किये जाते हैं। यूप इनका कार्य होता है और ये यूप के धर्म के रूप में विधान किये गये हैं। यूप सर्वार्थ होता है, यूप में तन्त्रभाव है। विशेष निर्देश होने पर वे संस्कार भिन्न समय में भी किये जा सकते हैं।

सकृन्मानं च दर्शयति ॥६॥

और, सकृत्=एक बार मापने से भी यह सिद्ध होता है कि यूप में तन्त्रभाव है।

स्वरुस्तन्त्रापवर्गः स्यादस्वकालत्वात् ॥७॥

पूर्व०—अग्नीषोमीयतन्त्र से स्वरु (वह पहली चीपटी जो यूप बनाते समय लकड़ी

काटने से निकलती है, इससे पशु को चुपड़ने का काम लिया जाता है) की समाप्ति है, क्योंकि स्वरु का अपना कोई स्वतन्त्र काल नहीं होता।

साधारणो वाऽनुनिष्पत्तिस्तस्य साधारणत्वात् ॥८॥

सि०—जैसे समस्त पशुओं के लिए एक यूप होता है, वैसे ही स्वरु भी एक ही होना चाहिए।

सोमान्ते च प्रतिपत्तिदर्शनात् ॥९॥

और, सोमयाग के अन्त में स्वरु की प्रतिपत्ति=फेंकने का दर्शन होने से भी यह सिद्ध होता है कि स्वरु (तीनों पशुओं के लिए) एक ही होता है।

तत्कालो वा प्रस्तरवत् ॥१०॥

आक्षेप—जैसे प्रस्तर के प्रहरण में सोमान्त काल है, उसी प्रकार स्वरु का भी उतना ही काल है अर्थात् स्वरु की अवधि उतने काल तक है।

न वोत्पत्तिवाक्यत्वात्प्रदेशात्प्रस्तरे तथा ॥११॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। उत्पत्तिवाक्य होने से दर्शपौर्णमास में प्रस्तर-प्रहरण काल का विधान है, स्वरु-प्रहरण का नहीं।

अहर्गणे विषाणाप्रासनं धर्मविप्रतिषेधादन्त्ये प्रथमे वाहनि विकल्पः स्यात् ॥१२॥

पूर्व०—अहर्गणयाग में खुजाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले काले सींग को पहले या अन्तिम दिन विकल्प से फेंका जा सकता है, दोनों पक्षों में धर्म का लोप नहीं होता, क्योंकि उसे फेंकने का कोई विशेष विधान उपलब्ध नहीं है।

पाणेस्त्वश्रुतिभूतत्वाद्विषाणानियमः स्यात्प्रातः सवनमध्यत्वाच्छिष्टे चाभिप्रवृत्तत्वात् ॥१३॥

सि०—सींग फेंकने में विकल्प नहीं है। सींग सभी दिनों में पास रहना चाहिए, क्योंकि याग के मध्य में निश्चित कालों में सींग से खुजाना होगा, हाथ से खुजाने का निषेध है, अतः दक्षिणादान के पश्चात् अन्तिम दिन ही सींग को फेंकना चाहिए।

वाग्विसर्गो हविष्कृता वीजभेदे तथा स्यात् ॥१४॥

नाना वीजेष्टि (जिन यज्ञों में अनेक प्रकार के वीजों का प्रयोग होता है) में अन्तिम वार वीज कूटनेवाली हविष्कृत् को बुलाने के पश्चात् वाग्विसर्ग करना (मौन तोड़ना) चाहिए।

पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत् ॥१५॥

इसी प्रकार अग्नीषोमीय पशुयाग में जब पुरोडाश तैयार करनेवाली का आह्वान हो चुके तब मौन खोलना चाहिए।

अनियोगः सोमकाले तदर्थत्वात् संस्कृतकर्मणः प्ररेषु साङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे विमोकः स्यात् ॥१६॥

पूर्व०—सोमयाग में अग्निसंयोग (अग्नि से यज्ञ का सम्बन्ध जोड़ना) अङ्गसहित प्रधान के लिए होता है। आहुति से संस्कृत हुई अग्नि अङ्गों के लिए भी होने से अन्य अग्नि कार्यों के लिए भी है, अतः सब कर्मों की समाप्ति के पश्चात् उसका विमोक (अग्नि से यज्ञ के सम्बन्ध को तोड़ना) होना चाहिए।

प्रधानापवर्गे वा तदर्थत्वात् ॥१७॥

सि०—यह अग्निविमोक कर्म प्रत्येक प्रधानकर्म के अन्त में होना चाहिए, क्योंकि यह प्रधान के लिए ही होता है।

अवभृथे च तद्वत्प्रधानार्थस्य प्रतिषेधोऽपवृक्तार्थत्वात् ॥१८॥

इसी प्रकार अवभृथ में प्रधान याग का प्रतिषेध है, क्योंकि उद्देश्य की पूर्ति तो पहले ही हो जाती है, अतः प्रधानकर्म के अन्त में ही विमोक सिद्ध होता है।

अहर्गणे च प्रत्यहं स्यात्तदर्थत्वात् ॥१९॥

अहर्गण द्वादशाह में तो प्रतिदिन अग्निसंयोग और अग्निविमोक करना पड़ता है, क्योंकि वह प्रधान के लिए होता है।

सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं दीक्षावदन्यकालत्वात् ॥२०॥

पूर्व०—द्वादशाह में उपसद के समय जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव है। वह एक बार ही होना चाहिए दीक्षा के समान, क्योंकि इसका अपना अलग समय है।

तत्कालस्त्वावर्तेत प्रयोगतो विशेषसम्बन्धात् ॥२१॥

सि०—सुत्याकाल में जो सुब्रह्मण्य का आह्वान है, उसमें तन्त्रभाव नहीं है, उसकी आवृत्ति बार-बार करनी पड़ती है, विशेष पद (अद्य) का संयोग होने के कारण।

अप्रयोगाङ्गमिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—'अद्य' शब्द प्रयोग का अङ्ग नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

स्यात्प्रयोगनिर्देशात्कर्तृभेदवत् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि अद्य प्रयोग का अङ्ग है, प्रयोग का निर्देश होने से, कर्त्ता के भेद के समान।

तद्भूतस्थानादग्निवदिति चेत्तदपवर्गस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

एक बार आह्वान से संस्कृत देवता सर्वार्थ होता है, अतः उसका पुनः आह्वान नहीं होता इसलिए आवृत्ति नहीं होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्येक कर्म उसी के लिए होने से प्रधानकर्म में अग्निविमोक होता है।

अग्निवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—जैसे अग्नि-आधान तन्त्र है, उसी प्रकार यहाँ भी है, यदि ऐसा कहो तो—

न प्रयोगसाधारण्यात् ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सुब्रह्मण्य-आह्वान आधान के तुल्य नहीं है।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥२७॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है कि सुब्रह्मण्य का आह्वान प्रतिदिन करना चाहिए।

तद्धि तथेति चेत् ॥२८॥

आक्षेप—यूपाहुतिरूप कर्म तन्त्र है, उसी प्रकार यह भी तन्त्र है, यदि ऐसा कहो तो—

नाशिष्टत्वादितरन्यायत्वाच्च ॥२९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि एक तो इसका विधान नहीं है, दूसरे यहाँ इतर अग्निसंस्कार-न्याय ही उपयुक्त है।

विध्येकत्वादिति चेत् ॥३०॥

आक्षेप—द्वादशाहिक विधि तन्त्र-दृष्ट है और यह भी द्वादशाहिक विधि है, अतः विधि की सादृश्यता से यह भी वैसा ही होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कृत्स्नस्य पुनः प्रयोगात् प्रधानवत् ॥३१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि जैसे प्रधानकर्म प्रतिदिन किये जाते हैं उसी प्रकार सोमाभिषव आदि अन्य सम्पूर्ण विधियाँ भी पुनः की जाती हैं, अतः आवृत्ति ही है।

लौकिकेषु यथाकामी संस्कारानर्थलोपात् ॥३२॥

पूर्व०—लौकिक पदार्थों (देश, कर्त्ता तथा पात्र) के सम्बन्ध में कोई नियम नहीं है, उनका इच्छानुसार उपयोग किया जा सकता है, क्योंकि उनके यथेच्छ प्रयोग से संस्काररूप अर्थ का लोप नहीं होता।

यज्ञायुधानि धार्येरन्प्रतिपत्तिविधानादृजीषवत् ॥३३॥

सि०—यज्ञ के पात्रों को तो जीवनपर्यन्त धारण करना (काम में लाना) चाहिए, क्योंकि ऋजीष (साररहित सोम) की भाँति परिधानीय कर्म में उनकी प्रतिपत्ति का विधान है।

यजमानसंस्कारो वा तदर्थः श्रूयते तत्र यथाकामी तदर्थत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—वे पात्र यजमान के संस्कार के लिए हैं, क्योंकि वे उसी के लिए श्रूयमाण होते हैं। उसके लिए होने से पात्रधारण में यजमान की इच्छा नियामक है।

मुख्यस्य धारणं वा मरणस्यानियतत्वात् ॥३५॥

सि०—मुख्य अथवा आद्य पात्र को धारण किये रहना चाहिए, क्योंकि मृत्यु का कोई समय निश्चित नहीं है।

यो वा यजनीयेऽहनि म्रियेत सोऽधिकृतः स्यादुपवेषवत् ॥३६॥

आक्षेप— जो यजमान यज्ञ के दिन ही मर जाए, वही इस संस्कार का अधिकारी होता है (उसी का शव पात्रों सहित जलाया जाना चाहिए) जैसे सामान्य यात्री को ही उपवेश का अधिकार होता है।

न शास्त्रलक्षणत्वात् ॥३७॥

समा०—उपवेश का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ शास्त्रलक्षण होता है, वहाँ पर असंयाजी का सम्भव नहीं होता।

उत्पत्तिर्वा प्रयोजकत्वादाशिरवत् ॥३८॥

संस्कार के प्रयोजक होने से मरते समय नये पात्र बनवा लेने चाहिएँ, आशिरवत् (जैसे आशिर के लिए नवीन गौ का दोहन होता है)।

शब्दसामञ्जस्यमिति चेत् ॥३९॥

आक्षेप—उस स्थिति में यज्ञपात्र शब्द का सामञ्जस्य कैसे होगा (क्योंकि यज्ञ के सम्बन्ध से ही यज्ञपात्र होते हैं), यदि ऐसा कहो तो—

तथाऽऽशिरे ॥४०॥

उसी प्रकार आशिर में भी जो अन्य गौ ली जाती है, वह वृत्तधुक् नहीं होती, यहाँ पर भी शब्द का असामञ्जस्य है।

शास्त्रात्तु विप्रयोगस्तत्रैकद्रव्यचिकीर्षा प्रकृतावथेहापूर्वार्थवद् भूतोपदेशः ॥४१॥

समा०—वहाँ पर शास्त्र से शब्द का असामञ्जस्य है। प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम में गौ के द्रव्य अर्थात् दूध को यजमान की इच्छा के कारण आशिर में दोहन करते हैं, परन्तु यहाँ अपूर्व अर्थ की विधिवाले यज्ञ-सम्बन्धी पात्र का उपदेश है, अतः पात्रों का धारण ही होता है।

प्रकृत्यर्थत्वात्पौर्णमास्याः क्रियेरन् ॥४२॥

पूर्व०—पात्रों का धारण पौर्णमासी से आरम्भ होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र प्रकृति=पौर्णमासी के लिए ही होते हैं।

अग्न्याधेये वाऽप्रतिषेधात्तानि धारयेन्मरणस्यानिमित्तत्वात् ॥४३॥

सि०—मृत्यु-समय के निश्चित न होने से उन पात्रों को अग्न्याधान से ही धारण करना चाहिए, क्योंकि कोई प्रतिषेध नहीं है।

प्रतिपत्तिर्वा यथान्येषाम् ॥४४॥

अथवा, जैसे अन्य द्रव्यों की अवभृथ में प्रतिपत्ति है, उसी प्रकार यज्ञपात्रों और अग्नियों की भी यजमान के शरीर में प्रतिपत्ति है।

उपरिष्टात्सोमानां प्राजापत्यैश्चरन्तीति सर्वेषामविशेषादवाच्यो हि प्रकृतिकालः ॥४५॥

वाजपेययाग में प्राजापत्याहुतियों को सब सोमाहुतियों के पश्चात् देना चाहिए, क्योंकि कोई विशेष निर्देश नहीं है और प्रकृतिकाल आनुमानिक है।

अङ्गविपर्यासो विना वचनादिति चेत् ॥४६॥

आक्षेप—कोई निर्देश न होने से अङ्गों का विपर्यास=क्रम का बाध होता है, यदि ऐसा कहो तो—

उत्कर्षः संयोगात्कालमात्रमितरत्र ॥४७॥

समा०—संयोग होने से परिधि-प्रहरण का उत्कर्ष न्याय है, अन्य स्थान पर तो केवल कालमात्र का बोध है।

प्रकृतिकालासत्तेः शस्त्रवतामिति चेत् ॥४८॥

आक्षेप—प्रकृतिकाल की आसत्ति=समीपता होने से शस्त्रों का ही उपरिष्टात् प्रचार युक्त होना है, यदि ऐसा कहो तो—

न श्रुतिप्रतिषेधात् ।।४९।।

समा०—श्रुति का बाध होने से उक्त कथन ठीक नहीं है।

विकारस्थान इति चेत् ।।५०।।

आक्षेप—विकारस्थान (उक्थ्य) में प्रचार हो जाएगा, यदि ऐसा कहो तो—

न चोदनापृथक्त्वात् ।।५१।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि सोमयाग और पशुप्रचार पृथक्-पृथक् कर्म हैं।

उत्कर्षे सूक्तवाकस्य न सोमदेवतानामुत्कर्षः पश्वनङ्गत्वाद्यथा निष्कर्षेऽनन्वयः ।।५२।।

पूर्व०—सूक्तवाक के उत्कर्ष में सोम देवताओं का उत्कर्ष नहीं होता, क्योंकि वे पशुयाग के अङ्ग नहीं हैं। जैसा कि पौर्णमासी देवताओं के निष्कर्ष में अमावास्या देवताओं का अनन्वय होता है।

वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः समानतन्त्रत्वादर्थलोपादनन्वयः ।।५३।।

सि०—सवनीय पुरोडाश में जब अनुयाजों का उत्कर्ष होता है, तब संयोग होने से सूक्तवाक में भी देवताओं का उत्कर्ष होता है। समान तन्त्र और अर्थलोप होने से अनन्वय होता है।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ।।

चतुर्थः पादः

चोदनैकत्वाद्राजसूयेऽनुक्तदेशकालानां समवायात्तन्त्रमङ्गानि ।।१।।

पूर्व०—एक ही प्रकार का विधान होने से राजसूय याग में जिन अङ्गों का देश और काल उक्त नहीं है, ऐसे अङ्गों का अनुष्ठान तन्त्र से होगा, क्योंकि फल की उत्पत्ति में उनका समवाय=सम्बन्ध है।

प्रतिदक्षिणं वा कर्तृसम्बन्धादिष्टिवदङ्गभूतत्वात्समुदायो हि तन्निर्वृत्त्या तदेकत्वादेकशब्दोपदेशः स्यात् ।।२।।

सि०—दक्षिणा का भेद होने से प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का सम्बन्ध होता है, क्योंकि इन कर्मों में दक्षिणा-भेद श्रूयमाण है, अतः इष्टि के समान कर्त्ता के भेद से अङ्गभेद होता है। फल की उत्पत्ति होने से समुदाय विवक्षित होता है, अतः उसका एक शब्द से उपदेश किया गया है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ।।३।।

और, अन्य प्रमाणों से भी यही बात सिद्ध होती है कि राजसूययज्ञ के अङ्गों का अनुष्ठान भेद से होगा, तन्त्रभाव से नहीं।

अनियमः स्यादिति चेत् ।।४।।

आक्षेप—प्रत्येक दक्षिणा के साथ कर्त्ता का नियम नहीं है, यदि ऐसा कहो तो—

नोपदिष्टत्वात् ॥५॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि समुदाय के लिए एक ही ऋत्विज के वरण करने का विधान है।

लाघवातिपत्तिश्च ॥६॥

और, ऋत्विक् का एक ही बार वरण करने से कार्य में लाघव=सरलता भी आती है।

प्रयोजनैकत्वात् ॥७॥

प्रयोजन एक होने से भी एक ही बार ऋत्विक् का वरण होना उचित है।

विशेषार्था पुनः श्रुतिः ॥८॥

पुनः श्रुति (दोबारा कहना) विशेष अर्थ को दिखलाने के लिए है।

अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं स्याल्लिङ्गदर्शनात् ॥९॥

पूर्व०—अवेष्टि नामक इष्टि में तन्त्रभाव होता है, क्योंकि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

वचनात्कामसंयोगेन ॥१०॥

सि०—साक्षात् वचन (आदेश) होने से तथा कामना के साथ सम्बन्ध (११.४.२) कथित होने से अवेष्टि में तन्त्रभाव नहीं है। वे अलग-अलग करने होते हैं।

ऋत्वार्थायामिति चेन्न वर्णसंयोगात् ॥११॥

यह इष्टि ऋत्वर्थ है, यदि ऐसा कहो तो—यह ठीक नहीं, ब्राह्मण आदि वर्णों का संयोग होने से। (राजसूय तो क्षत्रिय ही कर सकता है, परन्तु अवेष्टि को तीनों वर्णवाले कर सकते हैं।)

पवमानहविष्वैकतन्त्र्यं प्रयोगवचनैकत्वात् ॥१२॥

पूर्व०—पवमान हवियों में एकतन्त्रता है, प्रयोगवचन एक होने से।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१३॥

और, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी यही सिद्ध होता है।

वचनात्तु तन्त्रभेदः स्यात् ॥१४॥

सि०—वचन से तन्त्रभेद होता है। (अग्न्याधान में जो तीन पवमान आहुतियाँ देनी होती हैं, उन्हें अलग-अलग ही देना चाहिए।)

सहत्वे नित्यानुवादः स्यात् ॥१५॥

सहत्व में नित्यानुवाद होता है।

द्वादशाहे तत्प्रकृतित्वादेकैकमहरपवृज्येत कर्मपृथक्त्वात् ॥१६॥

पूर्व०—द्वादशाह नामक याग में ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति के धर्म कर्तव्य होने से एक-एक कर्म दीक्षा और उपसद् सहित प्रति अह (दिन) समाप्त होता है, प्रत्येक कर्म भिन्न होने से।

अह्नां वा श्रुतिभूतत्वात्तत्र साङ्गं क्रियते यथा माध्यन्दिने ॥१७॥

अथवा, अहों (दिनों) की द्वादश=बारह संख्या प्रत्यक्ष श्रुत होने से प्रत्येक प्रधान याग अङ्गों सहित किया जाना चाहिए, माध्यन्दिन के समान।

अपि वा फलकर्तृसम्बन्धात् सह प्रयोगः स्यादाग्नेयाग्नीषोमीयवत् ॥१८॥

अथवा, अङ्गों का सह-प्रयोग है, फल और कर्त्ता का सम्बन्ध होने से, आग्नेय और अग्नीषोमीय याग की भाँति।

साङ्गकालश्रुतित्वाद्वा स्वस्थानां विकारः स्यात् ॥१९॥

सि०—अङ्गों (दीक्षा, उपसद्) सहित प्रधानों की कालश्रुति होने से स्वस्थान की वृद्धि है, स्वस्थानों का विकार होता है।

तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ॥२०॥

द्वादश (बारह) संख्या उन (दीक्षा, उपसद् और सुत्या) की अपेक्षा से है।

दीक्षोपसदां च संख्या पृथक् पृथक् प्रत्यक्षसंयोगात् ॥२१॥

दीक्षा और उपसद् की संख्या अलग-अलग है, प्रत्यक्ष संयोग होने से।

वसतीवरीपर्यन्तानि पूर्वाणि तन्त्रमन्यकालत्वादवभृथादीन्युत्तराणि दीक्षाविसर्गार्थत्वात् ॥२२॥

इस प्रकार 'वसतीवरी' पर्यन्त पूर्वतन्त्र है, स्वकाल में विहित होने से और अवभृथ आदि उत्तरतन्त्र हैं दीक्षा-विसर्ग के लिए होने से।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२३॥

दीक्षा, अह्न और उपसद् के साथ द्वादश का सम्बन्ध होने से अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न हो जाता है।

चोदनापृथक्त्वे त्वैकतन्त्र्यं समवेतानां कालसंयोगात् ॥२४॥

आग्नेय और अग्नीषोमीय याग में पृथक्-पृथक् विधान होने पर भी अङ्गों-सहित प्रधान की एकतन्त्रता है, एक काल का संयोग होने से।

भेदस्तु तद्भेदात्कर्मभेदे प्रयोगे स्यात्तेषां प्रधानशब्दत्वात् ॥२५॥

प्रधानकाल का भेद होने से उन-उन प्रधानों के प्रयोग में अङ्गों का भी भेद होता है, उनके प्रधानविधि से विधेय होने के कारण।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२६॥

इस प्रकार से पत्नीसंयाजान्त अहों का अन्यार्थदर्शन भी उपपन्न होता है।

श्वःसुत्यावचनं च तद्वत् ॥२७॥

'श्वःसुत्यावचनम्' यह लिङ्गवाक्य भी कर्मभेद में प्रमाण है।

पश्वतिरेकश्च ॥२८॥

और, पशु का अतिरेक (अन्तर) भी कर्मभेद को सूचित करता है।

सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्मण्यायां सर्वेषामुपलक्षणं प्रकृत्यन्वयादावाहनवत् ॥२९॥

पूर्व०—सुत्या-विवृद्धि में सुब्रह्मण्य=इन्द्र का आह्वान सब दिवसों का उपलक्षण है। ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति में चतुरादि संख्या का अह्न में अन्वय होने से आवाहनवत् (जैसे आग्नेययाग में आह्वान की आवृत्ति है, वैसे ही यहाँ भी है)।

अपि वेन्द्राभिधानत्वात्सकृत्स्यादुपलक्षणं कालस्य लक्षणार्थत्वाद्विभागाच्च ॥३०॥

सि०—मन्त्र इन्द्रवाचक होने से उसका प्रयोग एक ही बार करना चाहिए और

कालवाचक चतुर-ग्रह आदि शब्द लक्षणार्थ होने तथा विभाग न होने से अविकार से प्रयोग होता है।

पशुगणे कुम्भीशूलवपाश्रपणीनां प्रभुत्वात्तन्त्रभावः स्यात् ॥३१॥

प्राजापत्य पशुयाग में कुम्भी, शूल और वपाश्रपणी का प्रभुत्व (कार्यक्षमत्व) होने से तन्त्रभाव होता है।

भेदस्तु सन्देहाद्दैवतान्तरे स्यात् ॥३२॥

पूर्व०—भिन्न-भिन्न देवताओं के कारण सन्देह होने से अलग-अलग पात्र होने चाहिएँ।

अर्थाद्वा लिङ्गकर्म स्यात् ॥३३॥

सि०—सह-प्रयोग होने से भेद नहीं होता और एक ही पात्र होने पर उसपर कोई चिह्न लगा देना चाहिए।

अयाज्यत्वाद्वसानां भेदः स्यात्स्वयाज्याप्रदानत्वात् ॥३४॥

पूर्व०—स्निग्ध द्रव्य से ऋग्विशेष-मन्त्रों का उच्चारण करके होम करने के कारण कुम्भीरूप पात्र के भेद बिना अयाज्य होने से भेद है (पृथक्-पृथक् पात्र होने चाहिएँ)।

अपि वा प्रतिपत्तित्वात्तन्त्रं स्यात् स्वत्वस्याश्रुतिभूतत्वात् ॥३५॥

सि०—प्रतिपत्तिरूप कर्म होने से तन्त्ररूप ही कुम्भीपात्र है। 'स्व' सम्बन्धी कोई श्रुति नहीं है। स्वयाज्य अर्ध-ऋचा के अन्त में होतव्य है, इसके लिए कोई भी श्रुति नहीं है।

सकृदिति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—यदि 'स्व' श्रुति नहीं है, 'तो एक ही बार' ऐसा बोलना अयुक्त है, यदि ऐसा कहो तो—

न कालभेदात् ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, काल का भेद होने से।

जात्यन्तरेषु भेदः पक्तिवैषम्यात् ॥३८॥

भिन्न-भिन्न द्रव्यों के पाक में पात्रों का भेद होगा, क्योंकि सबके पकने का समय अलग-अलग है।

वृद्धिदर्शनाच्च ॥३९॥

पात्रों की वृद्धि (अलग-अलग पात्र) होने के प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

कपालानि च कुम्भीवत्तुल्यसंख्यानाम् ॥४०॥

समान संख्यावाले पुरोडाशों के कपाल तन्त्र हैं, जैसे प्राजापत्यों में कुम्भीतन्त्र होता है।

प्रतिप्रधानं वा प्रकृतिवत् ॥४१॥

सि०—प्रत्येक पुरोडाश के लिए अलग-अलग कपाल होना चाहिए, प्रकृति के समान।

सर्वेषां चाभिप्रथनं स्यात् ॥४२॥

तन्त्रभाव होने पर सब कपालों में पुरोडाश का अभिप्रथन (फैलाना) असम्भव होने से पात्रों का भेद होता है।

एकद्रव्ये संस्काराणां व्याख्यातमेककर्मत्वम् ॥४३॥

व्रीहि आदि एक द्रव्य में अवहनन (कूटना) आदि संस्कार का एक कर्मत्व कह दिया गया है। जहाँ मन्त्र का अर्थ भिन्न-भिन्न होता है, वहाँ उसकी आवृत्ति होती है और जहाँ मन्त्रार्थ एक ही है, वहाँ आवृत्ति निरर्थक है।

द्रव्यान्तरे कृतार्थत्वात्तस्य पुनः प्रयोगान्मन्त्रस्य च तद्गुणत्वात् पुनः प्रयोगः स्यात्तदर्थेन विधानात् ॥४४॥

राजसूयवाली नाना बीज-इष्टि में द्रव्य अलग-अलग होने से मन्त्र भी अलग-अलग पढ़े जाएँगे। प्रथम बीज में मन्त्र के कृतार्थ हो जाने से उसका पुनः प्रयोग होगा। अतिदेश-शास्त्र से विधान होने के कारण तथा तद्गुणत्व होने से मन्त्र का पुनः-पुनः प्रयोग होगा।

निर्वपणलवणस्तरणाज्यग्रहणेषु च एकद्रव्यवत्प्रयोजनैकत्वात् ॥५५॥

पूर्व०—दर्शपौर्णमास में निर्वपण (चार मुट्ठी अन्न निकालना), लवण (बर्हि को काटना), आस्तरण (फैलाना) और आज्यग्रहण (घी निकालने) में द्रव्य के समान तथा एक प्रयोजन होने से एक बार मन्त्रपाठ होना चाहिए।

द्रव्यान्तरवद्वा स्यात्तत्संस्कारात् ॥४६॥

सि०—भिन्न-भिन्न बीज के अवहनन के समान संस्कार्य द्रव्य में भेद होने से मन्त्रों की आवृत्ति होती है, अर्थात् उपर्युक्त चारों कर्मों में मन्त्र बार-बार पढ़े जाएंगे।

वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः कर्मणः पुनः प्रयोगात् ॥४७॥

पूर्व०—वेदि के प्रक्षालन में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, कर्म के पुनः-पुनः होने से।

एकस्य वा गुणविधिर्द्रव्यैकत्वात्तस्मात्सकृत्प्रयोगः स्यात् ॥४८॥

सि०—वेदि का तीन बार प्रक्षालन (धोना) गौण विधि है, अतः मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, क्योंकि वेदिरूप द्रव्य एक ही है।

कण्डूयणे प्रत्यङ्गं कर्मभेदात् स्यात् ॥४९॥

पूर्व०—अङ्गों के खुजाने में मन्त्र की आवृत्ति होनी चाहिए, क्योंकि प्रत्येक अङ्ग को खुजाना एक भिन्न कर्म है।

अपि वा चोदनैककालमेककर्म्यं स्यात् ॥५०॥

सि०—अङ्ग खुजाने का मन्त्र एक ही बार पढ़ा जाएगा, विधिकाल एक होने से यह एक ही कर्म है।

स्वप्ननदीतरणाभिवर्षणामेध्यप्रतिमन्त्रणेषु चैवम् ॥५१॥

इसी प्रकार स्वप्न, नदीतरण, अभिवर्षण तथा अमेध्य दर्शन में मन्त्र की अनावृत्ति है, मन्त्रपाठ एक ही बार होगा।

प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्तेः ॥५२॥

दीक्षित मनुष्य के कहीं प्रस्थान करने पर मन्त्र एक ही बार बोला जाएगा।

उपरवमन्त्रस्तन्त्रं स्याल्लोकवत् बहुवचनात् ॥५३॥

पूर्व०—उपरव (गढ़ा खोदने का) मन्त्र तन्त्रभाव से पढ़ा जाएगा, लौकिक व्यवहार के समान, बहुवचन होने के कारण।

न सन्निपातित्वादसन्निपातिकर्मणां विशेषग्रहणे कालैकत्वात्सकृत् वचनम् ॥५४॥

सि०—तन्त्रभाव नहीं होगा। प्रत्येक गढ़े को खोदते हुए मन्त्र बार-बार पढ़ना होगा। उपरवमन्त्र अनुष्ठेय क्रिया में सीधा सहायक है। जो कर्म क्रिया में सीधे सहायक नहीं होते वहीं तन्त्रभाव से कर्म होता है, काल की एकता होने के कारण।

हविष्कृदध्रिगुपुरोऽनुवाक्यामनोतस्यावृत्तिः कालभेदात्स्यात् ॥५५॥

हविष्कृत, अध्रिगु-प्रैष, पुरोनुवाक्या और मनोता मन्त्रों की भी आवृत्ति होती है, काल का भेद होने से।

अध्रिगोश्च विपर्यासात् ॥५६॥

और, अध्रिगु-प्रैष के मन्त्रों की तो विपर्यास के कारण भी आवृत्ति होती है।

करिष्यद्वचनात् ॥५७॥

'करिष्यत्' (आरभध्वम्) इस वचन से भी अध्रिगु-प्रैष की आवृत्ति सिद्ध होती है।

॥ इतिपूर्वमीमांसादर्शने एकादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

द्वादशोऽध्यायः

प्रथमः पादः

ग्यारहवें अध्याय में तन्त्र का वर्णन हुआ। अब बारहवें अध्याय में 'प्रसङ्ग' का विवेचन होगा। एक स्थान पर किया गया कोई कार्य जब अन्य स्थान पर भी लाभदायक होता है (जैसे एक घर में जलाया हुआ दीपक जब बाहर सड़क पर भी प्रकाश करता है) तब उसे 'प्रसङ्ग' कहते हैं।

तन्त्रिसमवाये चोदनातः समानामेकतन्त्रत्वमतुल्येषु तु भेदः स्यात्
विधिप्रक्रमतादर्थ्यात्तादर्थ्यं श्रुतिकालनिर्देशात् ॥१॥

प्रधान तन्त्रों के समवाय में एक देश, काल, कर्तृत्व होने पर विधिवाक्य से निर्दिष्टों का एक तन्त्र होता है और जो विभिन्न विधिबोधित कर्म हैं, वहाँ भेद होता है, क्योंकि श्रुति से प्रयोगारम्भ काल के भेद का निर्देश होने से अङ्गों के अनुष्ठान का क्रम तादर्थ्य होता है।

गुणकालविकाराच्च तन्त्रभेदः स्यात् ॥२॥

गुण और काल का विकार होने से भी तन्त्रभेद होता है।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा मुख्यतन्त्रेण सिद्धिः स्यात्तन्त्रार्थस्याविशिष्टत्वात् ॥३॥

सि०—एक मन्त्र के मध्य में विधान होने से मुख्य तन्त्र द्वारा सबकी सिद्धि हो जाती है, क्योंकि अर्थ की अविशिष्टता होती है।

विकाराच्च न भेदः स्यादर्थस्याविकृतत्वात् ॥४॥

और, अङ्गजनित उपकार के अविकृत होने से विकार के कारण भी भेद नहीं होगा।

एकेषां चाशक्यत्वात् ॥५॥

तथा, कुछ अङ्गों में भेद होने से अनुष्ठान हो ही नहीं सकता।

एकाग्निवच्च दर्शनम् ॥६॥

और, पशु तथा पुरोडाश का एकाग्निवत् दर्शन भी होता है।

जैमिनेः परतन्त्रत्वापत्तेः स्वतन्त्रप्रतिषेधः स्यात् ॥७॥

आचार्य जैमिनि के मत में परतन्त्रापत्ति (पर-तन्त्र की प्राप्ति होने) से स्वतन्त्र का प्रतिषेध होता है। (पाशुकतन्त्र पर-तन्त्र है, अतः पशुपुरोडाश में दो आहुतियाँ देनी चाहिएँ।)

नानार्थत्वात्सोमे दर्शपूर्णमासप्रकृतीनां वेदिकर्म स्यात् ॥८॥

पूर्व०—सोमयाग में जिसकी प्रकृति दर्शपौर्णमास है, उनके लिए अलग वेदि बनवानी चाहिए, भिन्न-फल होने से।

अकर्म वा कृतदूषा स्यात् ॥९॥

सि०—अलग वेदि नहीं बनवानी चाहिए। अलग वेदि बनवाने से सौरिक वेदि दूषित हो जाएगी।

पात्रेषु च प्रसङ्गः स्याद्धोमार्थत्वात् ॥१०॥

पूर्व०—होम के ग्रह-चमस आदि पात्रों में 'प्रसङ्ग' से कार्य होना चाहिए, क्योंकि वे पात्र होम के लिए ही होते हैं।

न्याय्यानि वा प्रयुक्तत्वादप्रयुक्ते प्रसङ्गः स्यात् ॥११॥

सि०—दर्शपौर्णमास के पात्रों का ज्योतिष्टोम में प्रयोग उचित है, क्योंकि वे पहले से ही प्रयोग में विद्यमान थे। उनका प्रयोग न होने पर ही वे प्रसङ्ग से प्रयुक्त हो सकते हैं।

शामित्रे च पशुपुरोडाशो न स्यादितरस्य प्रयुक्तत्वात् ॥१२॥

शमित्र अग्नि में पशु-पुरोडाश का पाक नहीं होता, क्योंकि उसके लिए शालामुख्य (गार्हपत्य) अग्नि पहले ही तैयार होती है।

श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य शालामुखीये न स्यात्प्राजहितस्य विद्यमानत्वात् ॥१३॥

तथा, अग्निहोत्र हविष् का पाक शालामुखी अग्नि में नहीं होगा, क्योंकि प्राजहित (गार्हपत्य) अग्नि पहले से ही विद्यमान है।

हविर्धाने निर्वपणार्थं साधयेतां प्रयुक्तत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—सोम के आधारभूत दो हविर्धानों (शकटों) से ही पुरोडाश का पाक करना चाहिए, क्योंकि वे निर्वाप के लिए ही हैं और पहले से ही प्रयुक्त हैं।

अप्रसिद्धिर्वाऽन्यदेशत्वात्प्रधानवैगुण्यादवैगुण्ये प्रसङ्गः स्यात् ॥१५॥

सि०—हविर्धान नामक शकट में निर्वाप साधन की असिद्धि है, स्थान भिन्न होने से और प्रधान में वैगुण्य आने के कारण। विगुणता न होने पर ही उनका 'प्रसङ्ग' से प्रयोग हो सकता है।

अनसां च दर्शनात् ॥१६॥

और, 'अनसाम्' (शकट) में बहुवचन होने से भी यही सिद्ध होता है कि (इन दोनों शकटों के अतिरिक्त) शकट होना चाहिए।

तद्युक्तं च कालभेदात् ॥१७॥

और, प्रायणीय आदि इष्टियों में दीक्षा-जागरण अलग-अलग होना चाहिए, क्योंकि वहाँ कालभेद है।

मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ॥१८॥

तथा, वरुणप्रघास याग में दक्षिण-विहार में प्रतिप्रस्थाता को मन्त्र अलग-अलग बोलने चाहिएँ, क्योंकि वे समीप में उपकारक हैं।

धारणार्थत्वात्सोमेऽग्न्यन्वाधानं न विद्यते ॥१९॥

सोम सम्बन्धी दीक्षणीय आदि में अग्नि-अन्वाधान नहीं होता, क्योंकि अग्न्याधान समाप्तिपर्यन्त धारण के लिए होता है।

तथा व्रतमुपेतत्वात् ॥२०॥

उसी प्रकार सोमयाग में प्रायणीय आदि इष्टियों में दर्शपौर्णमास सम्बन्धी व्रत भी नहीं लेने पड़ते, क्योंकि वे तो पहले ही लिए हुए होते हैं।

विप्रतिषेधाच्च ॥२१॥

और, विप्रतिषेध होने से भी व्रत धारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

सत्यवदिति चेत् ॥२२॥

आक्षेप—सत्य बोलना व्रत की भाँति होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न संयोगपृथक्त्वात् ॥२३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, संयोग में भेद होने से।

ग्रहार्थं च पूर्वमिष्टेस्तदर्थत्वात् ॥२४॥

और देवता परिग्रह के लिए अग्नि-अन्वाधान की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि दीक्षणीय इष्टि उसी के लिए है।

शेषवदिति चेत् ॥२५॥

आक्षेप—अङ्ग-देवता के लिए ऐष्टिक-अन्वाधान होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न वैश्वदेवो हि ॥२६॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वैश्वदेव पद समग्र देवता के लिए प्रयुक्त होने से अङ्गदेवता भी उसी में आ जाता है।

स्याद्व्यपदेशात् ॥२७॥

आक्षेप—ऐष्टिक अन्वाधान करना चाहिए, क्योंकि उनका भेद से कथन किया गया है।

न गुणार्थत्वात् ॥२८॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वह वर्णन तो केवल स्तुति के लिए है।

सन्नहञ्च वृत्तत्वात् ॥२९॥

पत्नीसंनहन (यजमान पत्नी को वस्त्र पहनाना) भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह पहले ही हो चुका है, अतः यहाँ भी 'प्रसङ्ग' लागू होगा।

अन्यविधानादारण्यभोजनं न स्यादुभयं हि वृत्यर्थम् ॥३०॥

दर्शपौर्णमास में अरण्य (वन की वस्तुओं का) भोजन और सोमयाग में ब्राह्मण का पयोव्रत—ये दोनों ही जीवन धारण के लिए होते हैं, अतः अन्य विधान होने के कारण अरण्य भोजन नहीं करना चाहिए, विधिवाक्य से प्राप्त होने पर भी।

शेषभक्षास्तथेति चेन्नान्यार्थत्वात् ॥३१॥

इडा-भक्ष आदि की भी उसी प्रकार निवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, वह तो होगा, क्योंकि उस भक्षण का उद्देश्य भिन्न है, वह वृत्यर्थ=जीवन-धारण के लिए नहीं होता।

भृतत्वाच्च परिक्रयः ॥३२॥

और, दर्शपूर्णमास में अन्वाहार्य दक्षिणा भी नहीं होनी चाहिए, क्योंकि उनका परिक्रय पहले ही कर लिया गया है।

शेषभक्षास्तथेति चेत् ॥३३॥

आक्षेप—अन्वाहार्य की भाँति शेषभक्ष की भी निवृत्ति है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥३४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, कर्मवाचक द्वितीया विभक्ति का प्रयोग पाये जाने से शेषभक्ष होगा (परन्तु परिक्रय=पारिश्रमिक के रूप में नहीं)।

प्रवृत्तवरणात्प्रतितन्त्रं वरणं होतुः क्रियेत ॥३५॥

कार्यारम्भ होने के पश्चात् वरण होने से प्रत्येक इष्टि में होताओं का वरण होगा।

ब्रह्मापीति चेत् ॥३६॥

आक्षेप—ब्रह्मा का भी प्रत्येक इष्टि में वरण होना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न प्राङ् नियमात्तदर्थं हि ॥३७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्मा का वरण पहले होता है। वरण के पश्चात् ब्रह्मा का कर्म होता है, वह कार्यार्थ ही है।

निर्दिष्टस्येति चेत् ॥३८॥

आक्षेप—ब्रह्मा के द्वारा अमावास्या से पहले दिन वेदि बनाने का निर्देश है, अतः ब्रह्मा भी प्रवृत्त (कार्यारम्भ के पश्चात्) वरण होता है, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतत्वात् ॥३९॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि परिग्रह का विधान श्रुत नहीं है।

होतुस्तथेति चेत् ॥४०॥

आक्षेप—वरण से पूर्व ब्रह्मा की भाँति होता का भी कोई कार्य नहीं होता है, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मसंयोगात् ॥४१॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि वरण से पूर्व होता का सामिधेनीय कर्म से संयोग होता है।

यज्ञोत्पत्त्युपदेशे निष्ठितकर्मप्रयोगभेदात्प्रतितन्त्रं क्रियेत ॥४२॥

पूर्व०—आतिथ्या इष्टि में जो प्रोक्षण आदि कर्म किये जाते हैं, वे भिन्न प्रयोजन होने से प्रत्येक प्रयोग में अलग-अलग करने चाहिएँ।

न वा कृतत्वात्तदुपदेशो हि ॥४३॥

सि०—नहीं, प्रतिप्रयोग आवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वे प्रोक्षण आदि तो पहले ही किये जा चुके हैं। यह भी उपदेश है कि आतिथ्या के लिए काटा हुआ बर्हि उपसदों और अग्नीषोमियों में भी काम आता है।

देशपृथक्त्वान्मन्त्रोऽभ्यावर्तते ॥४४॥

देश-पृथक्त्व (भिन्न-भिन्न देश) होने से मन्त्र की बार-बार आवृत्ति करनी चाहिए।

सन्नहनहरणे तथेति चेत् ।।४५।।

आक्षेप—सन्नहन (बर्हि को बाँधने) और हरण (बर्हि को एक स्थान से दूसरे स्थान पर लेजाने) से मन्त्रों की आवृत्ति करनी चाहिए, यदि ऐसा कहें तो—

नान्यार्थत्वात् ।।४६।।

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। इन मन्त्रों के पाठ अलग-अलग नहीं होंगे। इनमें 'प्रसङ्ग' नियम लागू होगा, क्योंकि स्तरण कर्म तो अलग-अलग हैं, परन्तु सन्नहन और हरण तो साझे की चीज हैं।

।। इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यास्य प्रथमः पादः ।।

द्वितीयः पादः

विहारो लौकिकानामर्थं साधयेत् प्रभुत्वात् ।।१।।

पूर्व०—विहार (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) अग्नि लौकिक कर्मों को भी सिद्ध कर सकती है, क्योंकि उसमें सामर्थ्य है।

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत् ।।२।।

उसी प्रमाण से विहार-अग्नि में मांस पकाने का भी निषेध है। लौकिक पाक में ही मांस का प्रसङ्ग है, वैदिक कर्मों में नहीं।

निर्देशाद्वा वैदिकानां स्यात् ।।३।।

सि०—विहार-अग्नियों में केवल वैदिक कर्म ही करने चाहिएँ, लौकिक कर्म नहीं। आरम्भ में ही यह निर्देश दे दिया जाता है कि ये अग्नियाँ केवल यज्ञ के लिए हैं।

सति चोपासनस्य दर्शनात् ।।४।।

विहार-अग्नि के विद्यमान होने पर भी 'औपासन' अग्नि का भी दर्शन होता है। इससे यह भी सिद्ध है कि विहार-अग्नि लौकिक कर्मों के लिए नहीं है, यज्ञ के लिए ही है।

अभावदर्शनाच्च ।।५।।

मांस आदि अपवित्र वस्तुओं का विहार-अग्नियों में अभाव दर्शन होने से भी यही सिद्ध होता है कि ये अग्नियाँ लौकिक कर्मों के लिए नहीं हैं।

मांसपाको विहितप्रतिषेधः स्याद् वाऽऽहुतिसंयोगात् ।।६।।

अथवा, यज्ञ[1] के साथ सम्बन्ध होने के कारण जिह्वा के स्वाद के लिए मांसपाक का सख्त विरोध है।

वाक्यशेषो वा दक्षिणास्मिन्नारम्यविधानस्य ।।७।।

अथवा, यह 'दक्षिणास्मिन्' इस अनारम्भ विधान का वाक्यशेष है।

---

१. यज्ञ एक ऐसा कर्म है जिसमें मनुष्य ही नहीं प्राणिमात्र का भी उपकार होता है, अतः जिह्वा के स्वाद के लिए पशुओं को मारकर पकाना यज्ञ की भावना के सर्वथा प्रतिकूल ही है।

सवनीये छिद्रापिधानार्थत्वात् पशुपुरोडाशो न स्यादन्येषामेवमर्थत्वात् ।।८।।

पूर्व०—सवनीय में पशुपुरोडाश नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो यज्ञ में होनेवाले दोषों को दूर करने के लिए होता है और यह कार्य अन्य पुरोडाशों से सम्पन्न हो जाता है।

क्रिया वा देवतार्थत्वात् ।।९।।

सि०—पशुपुरोडाश करना चाहिए, क्योंकि वह देवता के संस्कार के लिए होता है।

लिङ्गदर्शनाच्च ।।१०।।

तथा, प्रमाणों के उपलब्ध होने से भी इसी अर्थ की सिद्धि होती है।

हविष्कृत्सवनीयेषु न स्यात्प्रकृतौ यदि सर्वार्था पशुं प्रत्याहूता सा कुर्याद्विद्यमानत्वात् ।।११।।

सवनीय पशुपुरोडाश में हविष्कृत् (हवि बनानेवाली) का आह्वान नहीं होगा, क्योंकि वह पशुयाग में आहूत थी। वहाँ विद्यमान होने से वह सब कार्य सम्पन्न कर देगी, क्योंकि प्रकृति में सब कार्यों के सम्पादन के लिए उसका आह्वान किया गया था।

पशौ तु संस्कृते विधानात्तार्तीयसवनिकेषु स्यात्सौम्याश्विनयोश्चापवृक्तार्थत्वात् ।।१२।।

पूर्व०—संस्कृत-पशु में हविष्कृत् का विधान होने से तार्तीय-सवन के पुरोडाशों और सौम्याश्विनों में भेद होने से हविष्कृत् का आह्वान होता है। उस समय में पाशुकी हविष्कृत् कृतार्थ होने से अपवृक्त होती है।

योगाद्वा यज्ञाय तद्विमोके विसर्गः स्यात् ।।१३।।

सि०—तृतीय सवन के पुरोडाश में हविष्कृत् का आह्वान नहीं होता, क्योंकि हविष्कृत् तो यज्ञ की समाप्ति तक वहाँ रहती है। व्रत की समाप्ति के पश्चात् ही उसका विमोक=छुटकारा होता है।

निशि यज्ञे प्राकृतस्याप्रवृत्तिः स्यात्प्रत्यक्षशिष्टत्वात् ।।१४।।

पूर्व०—निशियज्ञ में अमावास्या तन्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि यह इष्टि प्रत्यक्षशिष्ट=उपदिष्ट है।

कालवाक्यभेदाश्च तन्त्रभेदः स्यात् ।।१५।।

तथा, काल और वाक्यभेद से तन्त्रभेद होता है।

वेद्युद्धननव्रतं विप्रतिषेधात्तदेव स्यात् ।।१६।।

वेदि-खनन और व्रतग्रहण दर्शेष्टि के समान ही होंगे, अन्यथा होने से विप्रतिषेध=वैगुण्यता हो जाएगी।

तन्त्रमध्ये विधानाद्वा तत्तन्त्रा सवनीयवत् ।।१७।।

सि०— तन्त्र के मध्य में विधान होने से काम्येष्टि दर्श-तन्त्रवाली है, सवनीय-पुरोडाश के समान।

वैगुण्यादिध्माबर्हिर्न साधयेदग्न्याधानं च यदि देवतार्थम् ।।१८।।

निशियाग में दर्शेष्टि के सभी कृत्य प्रसङ्ग-नियम से लागू होते हैं परन्तु इध्म और

बर्हि दोनों नये लाने होंगे तथा अग्नि-अन्वाधान भी अलग से करना होगा, क्योंकि निशियाग का देवता अलग है।

आरम्भणीया विकृतौ न स्यात्प्रकृतिकालमध्यत्वात्कृता पुनस्तदर्थेन ॥१९॥

पूर्व०—आरम्भणीया इष्टि विकृति सौर्यादि में नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रकृतिभूत दर्शपौर्णमास के काल में पड़ती है, अतः इसका पहले ही अनुष्ठान हो चुका है। इसे दोबारा करने की आवश्यकता नहीं है। अथवा एक बार आरम्भ-संयोग होने से वह एकारम्भ यावज्जीवन प्रयुक्त होता है।

स्याद्वा कालस्याशेषभूतत्वात् ॥२०॥

सि०—सौर्यादि विकृतियाग में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए, क्योंकि विहित जो जीवनकाल है, वह प्रकृति का अङ्ग नहीं है।

आरम्भविभागाच्च ॥२१॥

और, आरम्भ का विभाग होने से भी विकृतियों में आरम्भणीया इष्टि करनी चाहिए।

विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये भूयसां स्यात्सधर्मत्वम् ॥२२॥

पूर्व०—जिन प्रधान यागों का अनुष्ठान एक साथ होता है, यदि उनके धर्मों में विरोध हो तो उन्हीं धर्मों का अनुष्ठान होगा जिनका सबसे अधिक यागों में सादृश्य होगा।

मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत् ॥२३॥

सि०—प्रधानकर्म के धर्मों का अनुष्ठान होना चाहिए, लोकव्यवहार के समान, क्योंकि वह पूर्वपठित है।

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥२४॥

तथा, ऐसा मानने पर अन्य प्रमाण भी संगत हो जाते हैं।

अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात् ॥२५॥

और, जब प्रधान के धर्म तथा अङ्ग के धर्म विरुद्ध हों तो अनुष्ठान प्रधान के ही अनुकूल होगा, क्योंकि अङ्ग प्रधान के लिए ही होते हैं।

परिधिर्द्व्यर्थत्वादुभयधर्मा स्यात् ॥२६॥

परिधि में दोनों (परिधि और यूप) के धर्म घटित होते हैं, अतः परिधि उभय—दोनों धर्मोंवाली है।

यौप्यस्तु विरोधे स्यान्मुख्यानन्तर्यात् ॥२७॥

पूर्व०—जहाँ परिधि और यूप के धर्मों में विरोध हो वहाँ यूप के धर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए, क्योकि वह मुख्य के समीप है।

इतरो वा तस्य तत्र विधानात् ॥२८॥

सि०—वस्तुतः परिधि के धर्मों का अनुष्ठान होगा, पशु-नियोजन (पशु को बाँधना) परिधि में विहित होने से।

उभयोश्चाङ्गसंयोगः ॥२६॥

और, दोनों पक्षों का अङ्ग के साथ सम्बन्ध है, अतः परिधि के धर्मों का अनुष्ठान होगा।

पशुसवनीयेषु विकल्पः स्याद्वैकृतश्चेदुभयोरश्रुतिभूतत्वात् ॥३०॥

पूर्व०—सवनीय पशु में और सवनीय पुरोडाश में 'प्रसङ्ग' से विकल्प होता है। दोनों में अङ्गों का श्रवण न होने से, वे अतिदेश से प्राप्त होते हैं, अतः विकल्प है।

पाशुकं वा तस्य वैशेषिकाम्नानात्तदनर्थकं विकल्पे स्यात् ॥३१॥

सि०—पशु-सम्बन्धी प्रयोग तन्त्री है, विशेष आम्नान=विधान होने से। विकल्प होने पर वह आम्नान निरर्थक हो जाएगा।

पशोश्च विप्रकर्षस्तन्त्रमध्ये विधानात् ॥३२॥

और, पशु के तन्त्र का विप्रकर्ष होने से तन्त्र के मध्य में पुरोडाशों का विधान युक्त होता है। सवनीय पशु और सवनीय पुरोडाश में मुख्य है पशु, अतः उसी के धर्म प्रसङ्ग-नियम से पुरोडाश में भी लागू होंगे, विकल्प नहीं है।

अपूर्वं च प्रकृतौ समानतन्त्रा चेदनित्यत्वादनर्थकं हि स्यात् ॥३३॥

जहाँ प्रकृति और विकृति के तन्त्र समान हों वहाँ विकृति के तन्त्र ही मानने होंगे, क्योंकि नैमित्तिक इच्छा नित्यकर्म की इच्छा को बाँध लेती है।

अधिकश्च गुणः साधारणेऽविरोधात्कांस्यभोजिवदमुख्येऽपि ॥३४॥

साधारण में कोई विरोध न होने पर मुख्य न हो तो भी अधिक गुण का ग्रहण करना चाहिए कांस्यभोजनवत् (कांस्य-पात्र में भोजनव्रत पालनेवाले शिष्यादि के समान)। आग्रयण याग में केवल प्रसूनमय बर्हि का ही ग्रहण करना चाहिए।

तत्प्रवृत्या तु तन्त्रस्य नियमः स्याद्यथा पाशुकं सूक्तवाकेन ॥३५॥

पूर्व०—प्रसून-बर्हि के नियम की प्रकृति होने से द्यावा-पृथिवी तन्त्र का नियम है, जैसे सूक्तवाक मन्त्र की प्रवृत्ति से पाशुक तन्त्र का नियम है।

न वाऽविरोधात् ॥३६॥

इतरेतर हवियों से यह धर्म अविरुद्ध है, अतः तन्त्र का नियम लागू नहीं होता।

अशास्त्रलक्षणाच्च ॥३७॥

और, शास्त्र में भी ऐसा कोई विधान नहीं है, अतः तन्त्र का कोई नियम नहीं है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

तृतीयः पादः

विश्वजिति वत्सत्वङ् नामधेयादितरथा तन्त्रभूयस्त्वादहतं स्यात् ॥१॥

पूर्व०—विश्वजित् नामक याग में वत्सत्वक् पहनने का विधान है, क्योंकि उसका नाम कथन किया गया है। अथवा अहन (दिनों) के भूयस्त्व=अधिक होने से अतिदेश-

शास्त्र द्वारा अहत (नये वस्त्र) की प्राप्ति है। यहाँ विकल्प नहीं होगा, नामधेय से प्राप्त वत्सत्वक् (कोई वस्त्र-विशेष) ही पहनी जाएगी।

अविरोधो वा उपरिवासो हि वत्सत्वक् ॥२॥

सि०—दोनों में कोई विरोध न होने से दोनों का समुच्चय होगा, न बाध होगा और न विकल्प। वत्सत्वक् उपरिवस्त्र के रूप में पहना जाएगा।

अनुनिर्वाप्येषु भूयस्त्वेन तन्त्रनियमः स्यात् ॥३॥

पूर्व०—अनुनिर्वाप्य हविष् में अहन-भूयस्त्व से पुरोडाश तन्त्र की प्रसक्ति होनी चाहिए।

आगन्तुकाद्वा स्वधर्मा स्यात् श्रुतिविशेषादितरस्य च मुख्यत्वात् ॥४॥

सि०—श्रुतिविशेष से अनुनिर्वाप्य आगन्तुक (गौण) होते हैं। पशुपुरोडाश मुख्य है, अतः पशुपुरोडाश के ही तन्त्र का अनुष्ठान करना चाहिए।

स्वस्थानत्वाच्च ॥५॥

और, पशुपुरोडाश स्वस्थान में होने से भी पशुपुरोडाश का तन्त्र करना चाहिए।

स्विष्टकृच्छ्रवणान्नेति चेत् ॥६॥

आक्षेप—स्विष्टकृत् का श्रवण होने से पुरोडाश को तन्त्रभाव नहीं हो सकता, यदि ऐसा कहो तो—

विकारः पवमानवत् ॥७॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं। वचन से विकार हो जाएगा। पवमानरूप गुण-विधान के समान प्रकृति में भी गुण-विधान है।

अविकारो वा प्रकृतिवच्चोदनां प्रति भावाच्च ॥८॥

अथवा, यहाँ विकार का विधान नहीं है, प्रकृतिवत् अतिदेश होने से अस्विष्टकृत्‌वाला वचन करना चाहिए। चोदना=विधान के प्रति भाव होने से स्विष्टकृत् वचन है।

एककर्मणि शिष्टत्वाद्‌गुणानां सर्वकर्म स्यात् ॥९॥

एक कर्म=यज्ञ में अनेक गुणों का विधान होने पर सब गुणों का समुच्चय होना चाहिए।

एकार्थस्तु विकल्पेरन् समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्य ॥१०॥

यदि सारे गुणों का प्रयोजन एक हो तो गुणों का विकल्प होगा, क्योंकि समुच्चय मानने पर प्रधान कर्म की आवृत्ति माननी पड़ेगी।

अभ्यस्येतार्थवत्त्वादिति चेत् ॥११॥

आक्षेप—उपयोगी होने के कारण प्रधान की भी आवृत्ति होनी चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

नाश्रुतित्वात् ॥१२॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रधान की आवृत्ति का श्रुति में विधान नहीं है।

सति चाभ्यासशास्त्रत्वात् ॥१३॥

और, जहाँ आवृत्ति करने की आवश्यकता है वहाँ शास्त्र में विधान दिया हुआ है।

विकल्पवच्च दर्शयति ॥१४॥

तथा, शास्त्र में एक ऐसा भी निर्देश है, जो विकल्प को सूचित करता है।

कालान्तरेऽर्थवत्त्वं स्यात् ॥१५॥

विकल्प कालान्तर में सफल प्रयोजनवाला होता है।

प्रायश्चित्तेषु चैकार्थ्यान्निष्पन्नेनाभिसंयोगस्तस्मात्सर्वस्य निर्घातः ॥१६॥

अनेक प्रायश्चित्तों में एक प्रयोजन होने से विकल्प होता है। एक प्रयोजन से उत्पन्न होनेवाले निमित्त के साथ प्रायश्चित्त का सम्बन्ध होता है, अतः एक ही प्रायश्चित्त के अनुष्ठान से सब दोषों का नाश हो जाता है, समुच्चय नहीं होता।

समुच्चयस्त्वदोषो निर्घातार्थेषु ॥१७॥

जो प्रायश्चित्त दोषों के निर्घात=नाश के लिए नहीं होते, अपितु निमित्तवाले प्रायश्चित्त हैं, वहाँ समुच्चय होता है।

मन्त्राणां कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगः स्याद्धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ॥१८॥

पूर्व०—मन्त्रों का सम्बन्ध कर्म के साथ होने से मन्त्रों का स्वधर्म के साथ ही प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि पाठरूप धर्म पठन के लिए ही होता है।

विद्यां प्रतिविधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात्कर्मार्थत्वात् प्रयोगस्य ॥१९॥

सि०—अनध्याय (पाठ न करने) का विधान केवल विद्याध्ययन के लिए है, यज्ञ के लिए नहीं। यज्ञ में तो सभी दिनों में पाठ हो सकता है, क्योंकि मन्त्रों का प्रयोजन यज्ञकर्मों के अनुष्ठान के लिए ही है।

भाषास्वरोपदेशेषु ऐरवत्प्रवचनप्रतिषेधः स्यात् ॥२०॥

पूर्व०—भाषिक स्वर के उपदेश से प्रावचन स्वर का प्रतिषेध होता है, जैसे 'इरा' पद के उपदेश से 'गिरा' पद का निषेध होता है।

मन्त्रोपदेशो वा न भाषिकस्य प्रायापत्तेर्भाषिकश्रुतिः ॥२१॥

सि०—यह उपदेशमन्त्र का ही होता है, भाषिक स्वर का नहीं। ब्राह्मण ग्रन्थों में जो भाषिक स्वर दिया गया है, वह तो एकरूपता के कारण है।

विकारः करणाग्रहणे ॥२२॥

किसी कारण का ग्रहण न होने से 'इरा' पद से 'गिरा' पद का विकार युक्त ही है।

तन्न्यायत्वाददृष्टोऽप्येवम् ॥२३॥

पूर्व०—फिर तो इसी न्याय से मन्त्रकाण्ड (वेद) में अदृष्ट मन्त्रों में भी प्रावचन स्वर होना चाहिए।

तदुत्पत्तेर्वा प्रवचनलक्षणत्वात् ॥२४॥

सि०—जो मन्त्र केवल ब्राह्मणग्रन्थों में ही मिलते हैं, और भाषिक स्वर में ही मिलते हैं, उन्हें भाषिक स्वर में ही पढ़ना चाहिए।

मन्त्राणां करणार्थत्वान्मन्त्रान्तेन कर्मादिसन्निपातः स्यात्सर्वस्य वचनार्थत्वात् ॥२५॥

मन्त्र क्रिया को करने के लिए होने से मन्त्रपाठ पूरा होने के पश्चात् कर्म आरम्भ करना चाहिए, क्योंकि पूरा मन्त्र समस्त अर्थ को बतलाता है।

सन्ततवचनाद्धारायामादिसंयोगः ॥२६॥

पूर्व०—वसोर्धारा में मन्त्रपाठ के साथ ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए, 'सन्तत' (एकसाथ) शब्द के विद्यमान होने से।

कर्मसन्तानो वा नानाकर्मत्वादितरस्याशक्यत्वात् ॥२७॥

सि०—'वसोर्धारा' में कर्मों को एकसाथ करने का विधान है, मन्त्रों के साथ क्रिया का विधान नहीं, क्योंकि कर्म अनेक हैं। तथा क्रिया और मन्त्रों का सन्तत संयोग असम्भव है। ('वसोर्धारा' में बारह मन्त्र पढ़े जाने के पश्चात् ही क्रिया आरम्भ होनी चाहिए।)

आघारे च दीर्घधारत्वात् ॥२८॥

आघार में भी दीर्घधारा होने से सन्तत शब्द का संयोग है, कर्म तो मन्त्र के अन्त में ही इष्ट है।

मन्त्राणां सन्निपातित्वादेकार्थानां विकल्पः स्यात् ॥२९॥

यदि कई मन्त्र एक ही यज्ञ के कारण हों तो विकल्प से कोई एक मन्त्र पढ़ना पर्याप्त है, मन्त्रों का समुच्चय नहीं होगा।

संख्याविहितेषु समुच्चयोऽसन्निपातित्वात् ॥३०॥

परन्तु मन्त्रों की संख्या विहित होने पर मन्त्रों का समुच्चय होगा, क्योंकि उन सबसे ही कर्म होगा।

ब्राह्मणविहितेषु च संख्यावत् सर्वेषामुपदिष्टत्वात् ॥३१॥

पूर्व०—फिर तो ब्राह्मणग्रन्थों में विहित सब मन्त्रों का भी समुच्चय होना चाहिए, सबका उपदेश होने से संख्यावत्।

याज्यावषट्कारयोश्च समुच्चयदर्शनं तद्वत् ॥३२॥

और, जैसे याज्या और वषट्कार में समुच्चय दर्शन होता है, उसी प्रकार यहाँ भी समुच्चय है।

विकल्पो वा समुच्चयस्याश्रुतित्वात् ॥३३॥

सि०—ब्राह्मणग्रन्थों में जहाँ विनियोग में कई मन्त्र दिये हों, वहाँ विकल्प होता है, क्योंकि समुच्चय का श्रवण नहीं है।

गुणार्थत्वादुपदेशस्य ॥३४॥

और, ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक मन्त्रों का उपदेश गुणार्थक (विवरण के लिए) है, मन्त्र-प्राप्त्यर्थ नहीं है।

वषट्कारे नानार्थत्वात्समुच्चयः ॥३५॥

वषट्कार के दृष्टान्त में भिन्न-प्रयोजन होने से समुच्चय है।

हौत्रास्तु विकल्पेरन्नेकार्थत्वात् ॥३६॥

पूर्व०—हौत्र-मन्त्रों में विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे सब एक प्रयोजनवाले होते हैं।

समुच्चयो वा क्रियमाणानुवादित्वात् ॥३७॥

सि०—हौत्र-मन्त्रों में समुच्चय है, क्योंकि ये करण-मन्त्र नहीं हैं, अपितु क्रियमाण कर्म के अनुवादक हैं।

समुच्चयं च दर्शयति ॥३८॥

और, शास्त्र से भी यही सिद्ध होता है कि हौत्र-मन्त्रों में समुच्चय है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

चतुर्थः पादः

जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः स्तुत्याशीरभिधानाच्च याजमानेषु समुच्चयः स्यादाशीः पृथक्त्वात् ॥१॥

कर्म प्रकाशक-लिङ्ग से शून्य होने के कारण यजमान द्वारा प्रयुक्त जप, स्तुति, आशी और अभिधान (बुलाने) के मन्त्रों का समुच्चय है, क्योंकि आशी आदि कर्म पृथक्-पृथक् हैं।

समुच्चयं च दर्शयति ॥२॥

और, शास्त्र-वचन भी समुच्चय ही बताते हैं।

याज्यानुवाक्यासु तु विकल्पः स्याद्दैवतोपलक्षणार्थत्वात् ॥३॥

ऐन्द्रबार्हस्पत्यलिंगिक अनेक याज्यानुवाक्या और पुरोवाक्या युगलों का विकल्प होना चाहिए, क्योंकि वे देवता के स्मरण के लिए हैं।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥४॥

तथा प्रमाण उपलब्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

क्रयणेषु तु विकल्पः स्यादेकार्थत्वात् ॥५॥

पूर्व०—सोम क्रय करनेवाले द्रव्यों में विकल्प होता है, क्योंकि उन सबका प्रयोजन एक है।

समुच्चयो वा प्रयोगे द्रव्यसमवायात् ॥६॥

सि०—प्रयोग में द्रव्यों का समवाय होने से समुच्चय ही है।

समुच्चयं च दर्शयति ॥७॥

और, शास्त्रवचन से भी समुच्चय सिद्ध होता है।

संस्कारे च तत्प्रधानत्वात् ॥८॥

संस्कार में उसकी प्रधानता होने से भी समुच्चय ही है।

संख्यासु तु विकल्पः स्यात् श्रुतिविप्रतिषेधात् ॥९॥

संख्या के श्रवण में विरोध होने से संख्याओं में विकल्प होता है।

द्रव्यविकारं तु पूर्ववदर्थकर्म स्यात्तथा विकल्पे नियमः प्रधानत्वात् ॥१०॥

और, द्रव्यविकार में पूर्व अधिकरण के समान विकल्प है तथा विकल्प में नियम है। प्रधानत्व होने से समुच्चय नहीं है, विकल्प ही है।

द्रव्यत्वेऽपि समुच्चयो द्रव्यस्य कर्मनिष्पत्तेः प्रतिपशु कर्मभेदादेवं सति यथाप्रकृति ॥११॥

पूर्व०—द्रव्य होने पर भी समुच्चय होना चाहिए, क्योंकि होम-द्रव्य की उत्पत्ति कर्म से होती है। प्रतिपशु कर्म का भेद होने से समुच्चय है। इस प्रमाण से प्रकृति के समान होना योग्य है।

कपालेऽपि तथेति चेत् ॥१२॥

आक्षेप—तब तो कपाल में भी समुच्चय मानना चाहिए, यदि ऐसा कहो तो—

न कर्मणः परार्थत्वात् ॥१३॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म परार्थ होता है।

प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ॥१४॥

पूर्व०—शेषत्व होने से प्रतिपत्ति है, अतः समुच्चय होता है।

शृतेऽपि पूर्ववत्त्वात्स्यात् ॥१५॥

आक्षेप—शृत (पके हुए दूध) में भी पूर्व की भाँति प्रतिपत्ति है।

विकल्पे त्वर्थकर्म नियमप्रधानत्वात् शेषे च कर्मकार्यसमवायात्तस्मात्तेनार्थकर्म स्यात् ॥१६॥

समा०—विकल्प में नियमप्रधानत्व होने से अर्थकर्म=विकल्प होता है और शेष में कर्मकार्य के समवाय से अर्थकर्म होता है, अतः विकल्प ही है, प्रतिपत्ति नहीं है।

उखायां काम्यनित्यसमुच्चयो नियोगे कामदर्शनात् ॥१७॥

पूर्व०—उखा में काम्य और नित्य अग्नियों का समुच्चय है, क्योंकि अग्नि के नियोजन (अग्नि को प्रज्वलित रखने) में काम=इच्छा का दर्शन प्राप्त होता है।

असति चासंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥१८॥

और, यदि समुच्चय न माना जाए तो असंस्कृत-अग्नि में कर्म करना पड़ेगा।

तस्य च देवतार्थत्वात् ॥१९॥

तथा, वह अग्नि (नित्य-अग्नि) देवता के लिए होती है, अतः समुच्चय है।

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥२०॥

सि०—नित्य-अग्नि और काम्य-अग्नि का समुच्चय इष्ट नहीं है। नित्य-अग्नि का काम्य-अग्नि से विकार होगा, इसके हेतु पहले (३.६.१०) ही दे दिये गये हैं।

वचनादसंस्कृतेषु कर्म स्यात् ॥२१॥

निर्देश होने से असंस्कृत-अग्नियों में भी कर्म हो सकता है।

संसर्गे चापि दोषः स्यात् ॥२२॥

समुच्चय होने पर प्रादाव्य और वैकारिक अग्नियों के संसर्ग में दोष श्रूयमाण होता है।

वचनादिति चेत् ॥२३॥

आक्षेप—वचन होने से संसर्ग है, यदि ऐसा कहो तो—

तथेतरस्मिन् ॥२४॥

समा०—उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि उस प्रमाण से अन्य पक्ष में भी वचन है।

उत्सर्गेऽपि परिग्रहः कर्मणः कृतत्वात् ॥२५॥

नित्य-अग्नि (जो देवता के लिए है, सूत्र १६, उस) के परित्याग करने पर भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि कर्म तो पहले ही निष्पन्न हो चुका है।

स आहवनीयः स्यादाहुतिसंयोगात् ॥२६॥

पूर्व०—काम्य-अग्नि को आहवनीय मानना चाहिए, क्योंकि इसका आहुति के साथ संयोग है।

अन्यो वोद्धृत्याऽऽहरणात् ॥२७॥

सि०—काम्य-अग्नि आहवनीय अग्नि नहीं है, क्योंकि यह अग्नि निकाली गई और लाई गई है।

तस्मिन्संस्कारकर्म शिष्टत्वात् ॥२८॥

पूर्व०—उस वैकारिक अग्नि में आधान आदि संस्कार कर्म करने चाहिएँ, क्योंकि उनका विधान किया गया है, वह सब कर्मों के लिए विहित है।

स्थानाद्वा परिलुप्येरन् ॥२९॥

सि०—असंस्कृत-अग्नि संस्कृत-अग्नि के स्थान में होने से आधानादि संस्कारों का उसमें लोप है।

नित्यधारणे विकल्पो न ह्यकस्मात्प्रतिषेधः स्यात् ॥३०॥

पूर्व०—उखा अग्नि के नित्यधारण में विकल्प है, क्योंकि बिना कारण के प्रतिषेध नहीं हो सकता।

नित्यधारणाद्वा प्रतिषेधो गतश्रियः ॥३१॥

सि०—नित्यधारण होने से गतश्री-अग्नि के लिए प्रतिषेध है।

परार्थान्येको यजमानगणे ॥३२॥

यजमानों के गण में जो परार्थ=दूसरे के लिए कर्म हैं, उन्हें कोई भी यजमान विकल्प से कर सकता है।

अनियमोऽविशेषात् ॥३३॥

अहीन-क्रतु में 'शुक्रस्पर्श' कोई भी यजमान कर सकता है, क्योंकि कोई विशेष नियम नहीं है।

मुख्यो वाऽविप्रतिषेधात् ॥३४॥

अथवा, मुख्य यजमान को ही सत्र में 'शुक्रस्पर्श' करना चाहिए, क्योंकि इस विषय में कोई प्रतिषेध नहीं है।

सत्रे गृहपतिरसंयोगाद्धौत्रवत् ॥३५॥

पूर्व०—सत्र में अञ्जन और अभ्यञ्जन संस्कार गृहपति को ही करना चाहिए, हौत्र के समान, क्योंकि अन्य यजमानों का उसके साथ सम्बन्ध नहीं है।

आम्नायवचनाच्च ॥३६॥

गृहपति ही इन संस्कारों को करे, क्योंकि ऐसा करने से गृहपति की समृद्धि होती है। इस विषय में शास्त्रप्रमाण भी उपलब्ध होते हैं।

सर्वे वा तदर्थत्वात् ॥३७॥

सि०—सभी यजमानों को इन संस्कारों को करना चाहिए, क्योंकि वे सभी के लिए हैं।

गृहपतिरिति च समाख्या सामान्यात् ॥३८॥

और, 'गृहपति' समाख्या है। गृहपति का प्रयोग समानरूप से सभी यजमानों के लिए है।

विप्रतिषेधे परम् ॥३९॥

विरोध होने पर जो 'पर' होता है, उसी में कार्य होता है। (जहाँ यजमान तथा ऋत्विज—दोनों का कार्य एकसाथ कराना होता है, वहाँ ऋत्विजों का ही कार्य होता है।)

हौत्रे परार्थत्वात् ॥४०॥

हौत्र में कर्म परार्थ ही होता है।

वचनं परम् ॥४१॥

जो आम्नान वचन कहा है, वह केवल अर्थवाद है।

प्रभुत्वादार्त्विज्यं सर्ववर्णानां स्यात् ॥४२॥

पूर्व०—सामर्थ्य होने से ऋत्विककर्म सभी वर्णवाले कर सकते हैं।

स्मृतेर्वा स्याद् ब्राह्मणानाम् ॥४३॥

सि०—स्मृति के प्रमाण से ब्राह्मण-वर्ग को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

फलचमसविधाच्चेतरेषाम् ॥४४॥

फलचमस का विधान होने से क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

सान्नाय्येऽप्येवं प्रतिषेधः सोमपीथहेतुत्वात् ॥४५॥

सोमपायी न होने के कारण भी क्षत्रिय और वैश्य का सान्नाय्य में भी प्रतिषेध है, अतः क्षत्रिय और वैश्य को ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार नहीं है।

चतुर्धाकरणे च निर्देशात् ॥४६॥

चतुर्धाकरण (पुरोडाश को चार भागों में बाँटने) में भी ब्राह्मण का ही निर्देश होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

अन्वाहार्ये दर्शनात् ॥४७॥

अन्वाहार्य दक्षिणा में भी ब्राह्मण का ही अधिकार होने से भी ब्राह्मण को ही ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकार है।

॥ इति पूर्वमीमांसादर्शने द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

॥ समाप्तं चेदं मीमांसादर्शनम् ॥

वेदान्तदर्शनम्

वेदान्तदर्शन एक दृष्टि में

इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि व्यास हैं। इस दर्शन में चार अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं। सूत्रों की संख्या ५५५ है। इस दर्शन का उद्देश्य वेद के परम तात्पर्य परमात्मा के बतलाने में है। ब्रह्म के साक्षात्कार से ही स्थिर-शान्ति और परम-आनन्द=मोक्ष की प्राप्ति होती है।

'वेदान्त' शब्द का अर्थ है—**वेदस्य अन्तः, अन्तिमो भाग इति वेदान्तः**। वेद के अन्तिम भाग (उपनिषदों) का नाम वेदान्त है। उपनिषदें ही वेद के अन्तिम सिद्धान्त को खोलती हैं। इसलिए वेदान्तदर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता है। उपनिषदों के ज्ञान को व्यवस्था में लाने के लिए ही इस दर्शन का निर्माण हुआ है।

वेदान्तदर्शन में मुख्यतया तीन विषयों का वर्णन है—१. ब्रह्म, २. जीव और ३. प्रकृति। इन तीनों का स्वरूप क्या है, इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, इन्हीं विषयों का वर्णन और विवेचन इस ग्रन्थ में है।

ब्रह्म का स्वरूप—ब्रह्म का आभास हमें तीन प्रकार से होता है: (१) ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप 'नेति-नेति' शब्दों से व्यक्त किया जाता है अर्थात् न वह मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न लम्बा है, बिना स्नेह के है, इत्यादि। (२) ब्रह्म का शबल स्वरूप वह है जो तत्त्वों के साथ मिलकर भासता है, जैसे अग्नि का शुद्ध स्वरूप अङ्गारे में है। (३) ब्रह्म का उपलक्षण स्वरूप उसे कहते हैं, जहाँ बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके अन्तरात्मा पर दृष्टि ले-जाना अभिप्रेत होता है, जैसे जो पृथिवी में रहकर उससे अलग है, पृथिवी जिसको नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।

जीव का स्वरूप—वेदान्त में जीव और प्रकृति ये दोनों ब्रह्म के अधीन हैं। जीव नित्य है, न जन्मता है और न मरता है। जीवात्मा अणु है, क्योंकि शरीर से निकलना, परलोक में जाना और इस लोक में आना अणु में ही सम्भव है, विभु में नहीं। जीवात्मा कर्त्ता है। जीव निष्क्रिय नहीं अपितु क्रियाशील है। यह विज्ञानात्मा पुरुष देखनेवाला, सुननेवाला, समझनेवाला और करनेवाला है।

प्रकृति—इसे माया भी कहते हैं। यह प्रकृति जगत् का उपादान कारण है। प्रकृति मिथ्या नहीं है अपितु अपनी वास्तविक सत्ता रखती है।

वेदान्त पर भाष्य करते हुए भिन्न-भिन्न आचार्यों ने खेंचातानी करके अपने अभिप्राय को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य ने जगत् को मिथ्या और जीव-ब्रह्म को एक माना है। परन्तु यह कल्पना निराधार है। सर राधाकृष्णन् ने ठीक लिखा है—The world is not an illusion or a dream-like structure but a real positive something. यह जगत् मिथ्या नहीं है, न ही इसका ढाँचा स्वप्नवत् है; यह अपनी विशेष सत्ता रखता है।

जीव-ब्रह्म की एकता का खण्डन करते हुए ऋषि दयानन्द ने ठीक ही लिखा है—

"जो जीव ब्रह्म हो, तो जैसी ब्रह्म ने यह असंख्यात सृष्टि करी है, वैसे एक मक्खी वा मच्छर को भी जीव क्यों नहीं कर सकता? इससे जगत् को मिथ्या और जीव—ब्रह्म की एकता मानना ही मिथ्या है।"

—वेदान्ति-ध्वान्त निवारण

वेदान्तदर्शनम्

अथ प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥१॥

संसार के रोग, भोग और वियोगरूपी दुःखों की अनुभूति और जगत् की नश्वरता के अनन्तर स्थिर-सुख और अमृत की अनुभूति हेतु अनन्त, अखण्ड, महान् ब्रह्म की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) होती है।

जन्माद्यस्य यतः ॥२॥

जिससे इस समस्त ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है—वह ब्रह्म है।

शास्त्रयोनित्वात् ॥३॥

ऋग्वेदादि शास्त्र का कारण होने से परमात्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है।

तत्तु समन्वयात् ॥४॥

जगत् का कर्ता और ऋग्वेदादिशास्त्रप्रदाता एकमात्र ब्रह्म है—यह बात जगत् और वेद के समन्वय से जानी जाती है।

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥५॥

ईक्षण क्रिया का प्रवर्तक होने से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है, शब्दप्रमाण से भी यही बात सिद्ध होती है।

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥६॥

ईक्षण क्रिया का प्रयोग गौण है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ 'लोकसृजन' प्रकरण में 'आत्मा शब्द' स्पष्ट पढ़ा गया है।

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥७॥

उस ब्रह्म में निष्ठा=आस्था रखनेवाले ब्रह्मनिष्ठ मुमुक्षु के लिए मोक्ष का उपदेश है, ऐसा शास्त्रविधान होने से ब्रह्म चित्स्वरूप है (क्योंकि जड़ प्रकृति में निष्ठा रखने से मोक्ष कभी नहीं हो सकता)।

हेयत्वावचनाच्च ॥८॥

और, आत्मतत्त्व को कहीं भी हेय=परित्याज्य, हीन नहीं कहने (और जगत् को हेय कहने) से भी ब्रह्म का चित्स्वरूप होना सिद्ध होता है।

स्वाप्ययात् ॥९॥

आत्मा का आश्रय होने से भी यह स्पष्ट होता है कि ब्रह्म चित्स्वरूप है।

गतिसामान्यात् ॥१०॥

गति=ज्ञान, चेतना के समान होने से तथा गति=लोकव्यवहार की समानता (जैसे घड़े का निमित्तकारण कुम्हार) से ब्रह्म का चित्स्वरूप, निमित्तकारण होना सिद्ध होता है।

श्रुतत्वाच्च ॥११॥

श्रुति=वेद से प्रतिपादित होने से भी ब्रह्म चेतन और निमित्तकारण है।

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥१२॥

भिन्न-भिन्न प्रसङ्गों में ब्रह्म को पुनः-पुनः आनन्दरूप बताया गया है, अतः ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। अथवा उस ब्रह्म के अभ्यास=निरन्तर उपासना से जीवात्मा आनन्द-मय हो जाता है।

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥१३॥

उक्त आनन्दमय शब्द में विकारवाचक 'मयट्' प्रत्यय होने से वहाँ ब्रह्म का निर्देश नहीं है, यदि ऐसा कहो तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'मयट्' प्रत्यय प्रचुर अर्थ में भी होता है।

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥१४॥

ब्रह्म को आनन्द का कारण कहा जाने से भी (आनन्दमय पद में 'मयट्' प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में ही है।)

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥१५॥

एवं, वेदों में ऐसा ही प्रतिपादित किया गया और गाया गया है कि (ब्रह्म आनन्दमय है और परमात्मा से युक्त होने पर जीवात्मा भी आनन्दमय हो जाता है।)

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥१६॥

(जीव को आनन्दमय मान लिया जाए तो क्या आपत्ति है?—) ब्रह्म से भिन्न किसी दूसरे में आनन्दमयता नहीं, क्योंकि युक्ति द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हो सकता।

भेदव्यपदेशाच्च ॥१७॥

और, भेद का कथन (शास्त्रों में परमात्मा को आनन्दमय और जीवात्मा को उससे पृथक् आनन्दरहित) होने से भी जीवात्मा आनन्दमय नहीं है।

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥१८॥

जीव में काम=आनन्द की कामना पाई जाने से, 'जीव आनन्दमय नहीं है'—इसमें अनुमान की भी अपेक्षा=आवश्यकता नहीं है।

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥१९॥

और भी हेतु है—आनन्दमय ब्रह्म में जीवात्मा का ब्रह्म के साथ आनन्दप्राप्तिरूप योग भी शास्त्र में उपदिष्ट है।

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥२०॥

अध्यात्म प्रसङ्ग में 'अन्तः' पद से हृदय-गुहा में स्थित ब्रह्म अभीष्ट है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म के धर्मों=विशेषताओं का उपदेश किया गया है।

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥२१॥

और भी, भेदव्यवहार के कारण 'अन्तः' शब्द से जीव से भिन्न ब्रह्म ही ग्रहण करने योग्य है।

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥२२॥

ब्रह्म के लिङ्ग=लक्षण पाये जाने से अध्यात्म प्रकरण में 'आकाश' पद ब्रह्मवाचक है, न कि भूताकाशवाचक।

अत एव प्राणः ॥२३॥

इसी हेतु से अर्थात् ब्रह्म के लक्षणों के पाये जाने से 'प्राण' शब्द भी ब्रह्म का वाचक है।

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥२४॥

अध्यात्म प्रकरण में 'ज्योति' शब्द भी ब्रह्म का वाचक है, जगत् को उसका चरण कहे जाने से।

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात् तथा हि दर्शनम् ॥२५॥

यदि यह कहा जाए कि पूर्व-सूत्र में वर्णित 'ज्योति' शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं, क्योंकि वहाँ गायत्री छन्द का प्रकरण चल रहा है तो ऐसी आशंका ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ मन को ब्रह्म में अर्पण करने का प्रसङ्ग है, छन्द के वर्णन का नहीं। ऐसा ही दर्शन-शास्त्रों में दिखलाया गया है।

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥२६॥

और भी, भूत, पृथिवी, शरीर और हृदय को पादरूप से कहे जाने के कारण भी ऐसा ही प्रतीत होता है (कि चतुष्पाद का प्रयोग ब्रह्म के लिए हुआ है)।

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥२७॥

उपदेश=कथन (के ढंग) में भेद से यदि यह कहा जाए कि वहाँ ब्रह्म की विवक्षा नहीं है, तो दोनों उपदेशों में विरोध न पाये जाने से ऐसा कहना ठीक नहीं है।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥२८॥

इसी प्रकार पूर्वापर प्रकरण की संगति से 'प्राण' शब्द भी ब्रह्मवाचक है।

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥२६॥

यदि यह कहा जाए कि वहाँ वक्ता इन्द्र का अपने आत्मा को लक्ष्य करके उपदेश किया गया है (इस कारण वहाँ ब्रह्म का ग्रहण नहीं है) तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रकरण में अध्यात्मसम्बन्ध की, ब्रह्म में निमग्नता की बहुलता है।

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥३०॥

वैदिक शैली के अनुसार इन्द्र का वह उपदेश महर्षि वामदेव के उपदेश के समान है। (**अहं मनुरभवमहं सूर्यश्च**। बृह० १।१४।१०)

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥३१॥

प्राण शब्द जीवात्मा तथा मुख्य प्राण का वाचक होने के कारण ब्रह्म का वाचक

नहीं है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर त्रिविध (ब्रह्म, जीव और मुख्य प्राण) उपासना का आश्रय लेना पड़ेगा। ब्रह्म ही उपास्य है। प्राण और जीव भी ब्रह्म के आश्रित हैं और उपासक भी ब्रह्म के ही योग=दर्शन की इच्छा करता है।

।। इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

अथ प्रथमाध्याये द्वितीयः पादः

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ।।१।।

सर्वशास्त्रों में, वेदान्त-वाक्यों और उपासना-प्रकरणों में प्रसिद्ध=निश्चित उपदेश पाये जाने से उपासना-प्रसङ्गों में ब्रह्म ही ग्राह्य है।

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ।।२।।

और भी, विवक्षित=अभीष्ट गुणों के ब्रह्म में ही उपपन्न=युक्त होने से भी यहाँ ब्रह्म ही उपास्य है।

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ।।३।।

एवं, (कुछ गुणों के) अनुपस्थित होने से शारीरः=जीवात्मा ब्रह्म नहीं है।

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ।।४।।

कर्म और कर्ता के भिन्न-भिन्न कहे जाने से भी (जीवात्मा और परमात्मा भिन्न हैं। उपासना-प्रसङ्ग में ब्रह्म कर्म है और जीवात्मा कर्त्ता)।

शब्दविशेषात् ।।५।।

शब्द-प्रमाण से भी जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता पाई जाती है।

स्मृतेश्च ।।६।।

स्मृतिशास्त्र से भी जीवात्मा और परमात्मा का भेद स्पष्ट है।

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ।।७।।

(हृदयदेश) अल्प=छोटा स्थान होने से यदि ऐसा कहो कि हृदयदेश में ईश्वर नहीं रह सकता तो भी यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि परमात्मा की उपासना का उपदेश हृदयदेश में ही किया गया है, आकाश की भाँति। (आकाश सर्वगत होता हुआ भी अल्प-स्थान में अवकाशरूप से प्राप्त होता ही है।)

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ।।८।।

यदि ऐसा कहो कि सर्वगत ब्रह्म के हृदयदेश में रहने से ब्रह्म को जीव की भाँति सुख-दुःख की प्राप्ति होगी, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि जीव की अपेक्षा ब्रह्म के गुण विशिष्ट हैं तथा ब्रह्म जीव से भिन्न है।

अत्ता चराचरग्रहणात् ।।९।।

प्रलय के समय परमात्मा चर और अचर (चेतन और जड़) जगत् को अपने

अन्दर ग्रहण करनेवाला होने से (परमात्मा में विशेषता है) चर और अचर प्राणियों के जीवन को समाप्त करनेवाला परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। यह सूत्र भी दोनों में भेद बताता है।

प्रकरणाच्च ॥१०॥

पूर्वापर-प्रकरण से भी यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही चराचर जगत् का अत्ता=प्रलयकर्त्ता है और जीवात्मा से भिन्न है।

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥११॥

हृदयगुहा में प्रविष्ट दो आत्माओं (जीवात्मा और परमात्मा) के साक्षात्कार=दर्शन करने से भी (यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म और जीव दोनों में अन्तर है)।

विशेषणाच्च ॥१२॥

ईश्वर और जीव के विशेषणों से भी सिद्ध होता है कि उक्त सूत्र 'गुहां प्रविष्टौ०' में इन दोनों का ही वर्णन है।

अन्तर उपपत्तेः ॥१३॥

युक्ति से भी यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म जीव से भिन्न है।

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥१४॥

(ब्रह्म और जीव के) स्थान आदि के कथन किये जाने से भी दोनों में भेद सिद्ध होता है।

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥१५॥

सुखविशेष के कथन किये जाने से भी परमात्मा और आत्मा की भिन्नता प्रकट होती है। (ब्रह्म आनन्दमय और जीव दुःख-सुख से युक्त है।)

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥१६॥

वेद और उपनिषदों के ज्ञाता=तत्त्वज्ञानी के कथन और व्यवहार से भी यह सिद्ध होता है (कि ब्रह्म, जीव और प्रकृति परस्पर भिन्न हैं)।

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥१७॥

शरीर के सब अङ्गों में उपस्थित न होने तथा उसकी सम्पूर्ण अङ्गों में उपस्थिति असम्भव होने से भी जीवात्मा परमात्मा नहीं।

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥१८॥

अधिदैवादि प्रकरण में परमात्मा के आत्मत्व, अमृतत्वादि धर्मों का वर्णन होने से परमात्मा अन्तर्यामी है।

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥१९॥

तथा, स्मृति का साधन मन अन्तर्यामी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसमें उन धर्मों की उपस्थिति नहीं देखी जाती।

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनेनमधीयते ॥२०॥

शरीर में रहनेवाला जीवात्मा अन्तर्यामी भी नहीं हो सकता, क्योंकि काण्व और माध्यान्दिन दोनों शाखाओंवाले इस अन्तर्यामी को जीवात्मा से भिन्न करके पढ़ते हैं।

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥२१॥

ब्रह्म अदृश्यत्वादि गुणयुक्त है, उसके धर्मों का सर्वत्र ऐसा ही कथन है।

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याञ्च नेतरौ ॥२२॥

विशेषण और भेदपूर्वक कथन होने से भी यहाँ जीवात्मा और प्रकृति का वर्णन नहीं है।

रूपोपन्यासाच्च ॥२३॥

रूपकालंकार (अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ। मु० ५।१।५) से भी सिद्ध होता है कि इस प्रकरण में अदृश्यत्व गुणवाला ब्रह्म है, न जीव और न प्रकृति।

अथवा भिन्न-भिन्न रूप=गुणों के कथन होने से भी परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति में भेद है।

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥२४॥

साधारण शब्द होता हुआ भी कुछ विशेष अर्थ रखने के कारण 'वैश्वानरः' (वह अग्नि जो सम्पूर्ण विश्व में व्यापक है) शब्द ईश्वर का वाचक है।

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥२५॥

अन्यत्र किये गये ब्रह्म के वर्णन के स्मरण किये जाने योग्य अनुमान से भी जाना जाता है कि 'वैश्वानरः' शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए ही हुआ है।

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न, तथादृष्ट्युपदेशादसंभवात् पुरुषमपि चैनमधीयते ॥२६॥

गार्हपत्यादि तीन प्रकार की अग्नियों के ग्रहण करने से और अन्दर स्थित होने से यदि यह माना जाए कि 'वैश्वानरः' शब्द ब्रह्मवाचक न होकर केवल जठराग्नि के लिए प्रयुक्त है तो ठीक नहीं, क्योंकि वैश्वानररूप में ब्रह्म का उपदेश किसी विशेष दृष्टि से किया गया है। मूर्धा आदि अवयवों का वर्णन ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व में सम्भव नहीं तथा इस वैश्वानर को साक्षात् ब्रह्म कहा गया है।

अत एव न देवता भूतञ्च ॥२७॥

इसलिए 'वैश्वानरः' शब्द का प्रयोग न तो किसी देव के लिए हुआ है, न भूतों (पञ्चभूतों) के लिए, प्रत्युत उसका प्रयोग केवल ब्रह्म के लिए है।

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥२८॥

'वैश्वानरः' पद सीधा ब्रह्म का वाचक है, इसमें कोई विरोध नहीं—ऐसा महर्षि जैमिनि मानते हैं।

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥२९॥

वैश्वानर ब्रह्म हृदयगुहा में प्रकट होता है (इस कारण उसे प्रादेशमात्र कहा है) ऐसा अश्मरथ नामक आचार्य का मत है।

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥३०॥

(व्यास कहते हैं कि—) अपने पिता बादरि की बात का स्मरण कर मैं भी यही कहता हूँ कि वैश्वानर से परमात्मा का अर्थ लेना चाहिए। अथवा वैश्वानर ब्रह्म का

अनुस्मरण=चिन्तन हृदय में किया जाता है, इस कारण बादरि के विचार से वैश्वानर को प्रादेशमात्र कहा है।

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथाहि दर्शयति ॥३१॥

परमात्मा का स्थान हृदयप्रदेश बताना समाधिलाभ के कारण है—ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं और शास्त्रों में भी ऐसा ही प्रतिपादन है।

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥३२॥

वैश्वानर आत्मा की उपासना के सम्बन्ध में ऋषिगण भी उपासना की इस विधि का अनेक प्रसङ्गों में बार-बार उल्लेख करते हैं।

॥ इति प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ प्रथमाध्याये तृतीयः पादः

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥१॥

द्युलोक, भूलोक और अन्तरिक्ष भी जिसके आश्रय हैं, जिसमें टिके हुए हैं, वह परमात्मा है, ऐसा हम पूर्व कह चुके हैं।

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥२॥

मुक्त आत्माओं का उपगम्य स्थान होने से यह सिद्ध होता है कि इनका आश्रय-स्थान भी परमात्मा ही है।

नानुमानमतच्छब्दात् ॥३॥

द्युलोक और भूलोक आदि का आश्रय-स्थान परमात्मा है, यह बात कथन और अनुमान से नहीं अपितु प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है।

प्राणभृच्च ॥४॥

और, प्राणधारण करनेवाले जीवात्मा भी उसी परमात्मा के आश्रय में निवास करते हैं। अथवा प्राणधारण करनेवाला जीवात्मा द्युलोक और भूलोक का आश्रय नहीं हो सकता।

भेदव्यपदेशात् ॥५॥

(ब्रह्म, जीव और प्रकृति में) भेद कथन होने से द्युलोक आदि का आश्रय जीवात्मा और प्रकृति नहीं अपितु परमात्मा है।

प्रकरणात् ॥६॥

प्रकरण से भी यही सिद्ध होता है कि द्युलोक आदि का आश्रय परमात्मा है, जीव नहीं।

स्थित्यदनाभ्याञ्च ॥७॥

स्थिति (सत्ता रूप से असङ्ग रहना) और अदन (कर्मफल का भोगना) के कारण भी जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं। (ब्रह्म साक्षी है और जीव भोक्ता है।)

भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात् ॥८॥

परमात्मा जीवात्मा से बहुत महान् है, उस प्रकरण में वसा उपदेश होने के कारण।

धर्मोपपत्तेश्च ॥९॥

धर्मों की उपस्थिति से भी पता चलता है कि भूमा में जो धर्म बताये हैं, वे पर-ब्रह्म में ही सम्भव हैं, अन्यत्र नहीं।

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥१०॥

पृथिवी से लेकर आकाश तक पदार्थों को धारण करने से 'अक्षर' शब्द ब्रह्म का वाचक है।

सा च प्रशासनात् ॥११॥

पृथिवी से लेकर आकाश तक सबका प्रशासन करना ब्रह्म का धर्म=कार्य है।

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥१२॥

दूसरे भावों (अक्षरों—प्रकृति और जीवात्मा) के पृथक् व्यवहार (भिन्न धर्म) से भी यह सिद्ध होता है कि उस प्रसङ्ग में 'अक्षर' पद ब्रह्म का वाचक है।

ईक्षति कर्मव्यपदेशात् सः ॥१३॥

ईक्षण क्रिया के कथन से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म है। (यहाँ ईक्षण को परमात्मा का धर्म बताया है।)

दहर उत्तरेभ्यः ॥१४॥

आगे दी जानेवाली युक्तियों से यह सिद्ध किया जाएगा कि 'दहराकाश' (हृदय-कमल में जो आकाश है) नाम ब्रह्म का है।

गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गञ्च ॥१५॥

वागादि इन्द्रियों की गति से यह सिद्ध होता है कि 'दहराकाश' से परमात्मा का ही वर्णन है। अन्य शास्त्रों में भी ऐसा ही देखा गया है जो इसकी यथार्थता में साधन हैं। (शरीर में गति और कर्म की शक्ति प्रभुप्रदत्त है।)

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥१६॥

इस शरीर और जगत् को धारण करने की महिमा=प्रभाव के पाये जाने से भी यह सिद्ध होता है कि 'दहराकाश' ब्रह्म का वाचक है।

प्रसिद्धेश्च ॥१७॥

शास्त्र और लोक में प्रसिद्धि से भी यह बात स्पष्ट है कि 'दहराकाश' से पर-मात्मा का कथन किया गया है।

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासम्भवात् ॥१८॥

इतर=जीवात्मा का सम्बन्ध पाये जाने से यहाँ 'दहराकाश' से जीवात्मा अभि-प्रेत है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, असम्भव होने से (जो दहर के धर्म कहे गये हैं वे जीवात्मा में सम्भव नहीं)।

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥१६॥

आगे आनेवाले सूत्रों से यदि यह कहो कि 'दहराकाश' से तात्पर्य जीवात्मा है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ मुक्तात्मा का वर्णन है।

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥२०॥

और भी, दहर प्रकरण में जीवात्मा का सम्बन्ध-वर्णन जीव से भिन्न परमात्मा का बोध कराने के लिए है।

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥२१॥

यदि यह कहो कि 'दहर' शब्द अल्पत्व का वाचक है, अतः दहर का तात्पर्य ब्रह्म नहीं हो सकता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि इसका समाधान पूर्व हो चुका है। (द्रष्टव्य १.२.७)

अनुकृतेस्तस्य च ॥२२॥

दहर में उपस्थित परमात्मा की उपासना से मोक्ष प्राप्त होता है।

अपि च स्मर्यते ॥२३॥

सर्वव्यापक ब्रह्म की उपासना हृदयगुहा में ही उपयुक्त है, स्मृतियों में भी ऐसा ही प्रतिपादित है। अथवा वह परमात्मा हृदय में ही स्मरण किया जाता है।

शब्दादेव प्रमितः ॥२४॥

शब्दप्रमाण से सर्वव्यापक ब्रह्म परिमित रूप में प्रतिपादित है।

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥२५॥

आत्मविद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार बतलाने की दृष्टि से परमात्मा का हृदय में होना कथन किया गया है, स्वतन्त्ररूप से नहीं।

तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात् ॥२६॥

बादरायण=व्यास कहते हैं—हृदय से बाहर भी परब्रह्म उसी रूप में विद्यमान रहता है, क्योंकि ब्रह्म के विषय में यही स्थिति सम्भव है। अथवा, हृदय से ऊपर मूर्धा आदि स्थानों में भी उसकी उपासना हो सकती है, क्योंकि ऐसा होना सम्भव है।

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥२७॥

ब्रह्म के उक्त दो प्रकार के वर्णन में कर्मविषयक विरोध होता है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि ब्रह्म की अनन्त शक्ति देखी जाती है।

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२८॥

शब्द=वेदविषयक रचना में विरोध है, यदि ऐसा कहा जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि वेद का प्रादुर्भाव परमात्मा से होता है। यह बात प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रमाणित है।

अत एव च नित्यत्वम् ॥२६॥

ब्रह्म से प्रादुर्भूत होने, अपौरुषेय होने के कारण वेद नित्य हैं।

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥३०॥

प्रलय के अनन्तर सर्ग के पुनः आरम्भ होने पर वेद और प्राकृतिक जगत् के नाम

और रूप समान रहने से इस स्थिति में कोई विरोध नहीं। श्रुति और स्मृति से भी ऐसा ही प्रतीत होता है।

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥३१॥

मधुच्छन्दा आदि ऋषियों में किसी शूद्र मन्त्रद्रष्टा के सम्भव न होने से आचार्य जैमिनि वेद और ब्रह्मविद्या में शूद्र का अनधिकार मानते हैं।

ज्योतिषि भावाच्च ॥३२॥

वेद एवं ब्रह्मविद्या में मनुष्यमात्र का अधिकार नहीं है, क्योंकि 'ज्योतिः' पदयुक्त मन्त्र से तीन वर्णों का ही ग्रहण होता है—यह जैमिनि का दूसरा हेतु है।

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥३३॥

व्यास का मत है कि वेद-ज्ञान एवं ब्रह्मविद्या में शूद्र का भी अधिकार है, क्योंकि मधुच्छन्दा आदि ऋषियों में शूद्र का भी नाम है।

शुगस्य तदनादरश्रवणात् तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥३४॥

जानश्रुति परमहंसों से अपना अनादर सुनने के कारण शोकित हुआ। तब शोक से ब्रह्मविद्या-प्राप्ति के लिए वह रैक्व के पास दौड़ा। इससे निश्चय ही सूचित होता है कि शूद्र को भी वेद पढ़ने का अधिकार है।

क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥३५॥

जानश्रुति शूद्र था, फिर गुण-कर्मों से क्षत्रिय हो गया। चैत्ररथ=खच्चरों से युक्त रथ उसके पास होने से (वह क्षत्रिय हो गया यह स्पष्ट होता है) अथवा चैत्ररथ नामक राजा के साथ समान विद्या पढ़ने से भी यह सिद्ध होता है कि वह बाद में क्षत्रिय हो गया था।

संस्कारपरामर्शात् तदभावाभिलापाच्च ॥३६॥

शास्त्र में विद्या ग्रहण से पूर्व उपनयन संस्कार का सम्बन्ध देखा जाता है, परन्तु उसके अभाव में भी विद्या के उपदेश का विधान होने से शूद्र को भी अधिकार है।

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥३७॥

अध्ययन-विरोधी गुण-कर्म के अभाव का निश्चय हो जाने पर ही विद्याभ्यास में प्रवृत्ति देखी जाती है।

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥३८॥

स्मृतिप्रमाण से भी यह सिद्ध है कि गुण-कर्म से हीन किसी भी वर्ण के लिए वेदादि शास्त्रों का श्रवण और अध्ययन निषिद्ध है।

विद्याध्ययन में प्रासङ्गिक अधिकार-अनधिकार का विचार पूर्ण हुआ, अब पुनः उसी परमात्मा विषय पर आते हैं—

प्राणः कम्पनात् ॥३९॥

'प्राणः' शब्द ब्रह्म का वाचक है, क्योंकि परमात्मा सारे संसार को कंपाता है।

ज्योतिर्दर्शनात् ॥४०॥

अध्यात्म-प्रकरण में 'ज्योतिः' शब्द परमात्मा का वाचक है, क्योंकि वह सबको प्रकाशित करता है और उसका ही साक्षात्कार किया जाता है।

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥४१॥

अध्यात्म में 'आकाश' शब्द परमात्मा का वाचक है, नामरूपात्मक जगत् से उसे भिन्न बताये जाने के कारण।

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥४२॥

सुषुप्ति और उत्क्रान्ति (जीवात्मा का शरीर से बहिर्गमन) इन दोनों का भेद पाये जाने से जीव और ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं।

पत्यादिशब्देभ्यः ॥४३॥

पति (अधिपति) आदि शब्दों के प्रयोग से भी सिद्ध है कि परमात्मा जीवात्मा से भिन्न है।

॥ इति प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ प्रथमाध्याये चतुर्थः पादः

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ॥१॥

कुछ एक नास्तिक अनुमान के बल पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि यह जगत् स्वभाव से बनता-बिगड़ता है, प्रकृति इस जगत् की कर्त्ता है। सूत्रकार कहते हैं कि यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ (आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। कठो० १।३।३) शरीर के रूप में प्रकृति—अव्यक्त का अलंकाररूप से ग्रहण किया है और उसी का प्रतिपादन किया है।

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥२॥

प्रकृति सूक्ष्म है, स्थूल नहीं, इसलिए अव्यक्त पद से कहलाने योग्य है। अथवा प्रकृति सूक्ष्म है, स्थूल नहीं, क्योंकि कार्यमात्र के उपादान के लिए ऐसा होना ही चाहिए।

तदधीनत्वादर्थवत् ॥३॥

परमात्मा के अधीन होने से प्रकृति सार्थक है, कार्यरूप में परिणत होती है।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥४॥

प्रकृति के ज्ञेय (जानने योग्य) कथन न किये जाने से भी निश्चय होता है कि प्रकृति ब्रह्म के अधीन रहती है।

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥५॥

यदि यह कहो कि शास्त्र प्रकृति को ज्ञेय कहता है तो ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण से वह ज्ञेय चेतन है।

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥६॥

तीन (ईश्वर, जीव, प्रकृति) का ही कथन है। ये तीनों सूक्ष्म हैं, अतः तीनों का ही प्रश्न और निर्देश होना चाहिए।

महद्वच्च ॥७॥

और 'महत्' (महत् परिमाणवाले आकाश से परे, आत्मा) शब्द की भाँति वहाँ अव्यक्त का अर्थ प्रकृति है।

चमसवदविशेषात् ॥८॥

कोई विशेषता न बताने से 'चमस' शब्द के समान दूसरे शब्द का आभास भी हो सकता है। (चमस शब्द का अर्थ है चमचा, परन्तु उपनिषद् में शिर के अर्थ में भी प्रयुक्त है।)

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥९॥

तेज आदिक पदों से अजा=प्रकृति का ही वर्णन है जैसा कि कुछ ऋषि अन्यत्र कहते हैं।

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥१०॥

सूर्य में मधु की कल्पना के समान, अजा=प्रकृति का ब्रह्म के शरीर के रूप में कल्पनामूलक उपदेश किये जाने से यहाँ कोई विरोध नहीं है।

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥११॥

प्रकृति के एक होने से भी प्रकृति का कारण होना सिद्ध नहीं होता, कारणों के अनेक होने से तथा प्रकृति से अतिरिक्त ब्रह्म कारण के कथन से भी।

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥१२॥

बृहदारण्यक उपनिषद् के अगले वाक्य (४।४।१८) से यह प्रमाणित होता है कि प्राण आदि से वहाँ ब्रह्म की शक्तियों का ही वर्णन हुआ है।

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥१३॥

किन्हीं के शाखा-पाठ में 'अन्न' पद के न होने पर भी 'ज्योतिः' शब्द द्वारा संख्या की पूर्ति हो जाती है।

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥१४॥

आकाश आदि सृष्टि-प्रकरण में कहे हुए पदार्थों में सर्वत्र ब्रह्म ही जगत् के जन्मादि का स्वतन्त्र कारण सिद्ध होता है।

समाकर्षात् ॥१५॥

जहाँ 'असत्' से जगदुत्पत्ति का वर्णन है वहाँ पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्म का समाकर्षण=अनुवर्तन है। (ब्रह्म पद वहाँ से खींचकर यहाँ सम्बद्ध कर लिया जाना चाहिए।)

जगद्वाचित्वात् ॥१६॥

वह शब्द जगत् का वाचक है; वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है, प्रकृति नहीं।

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ॥१७॥

यदि यह कहो कि उक्त संवाद में जीवात्मा और मुख्य प्राण के बोध करानेवाले लक्षण भी उपलब्ध होते हैं, अतः वहाँ ब्रह्म का वर्णन नहीं तो इसका समाधान पहले (१.१.३१) कर चुके हैं।

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥१८॥

आचार्य जैमिनि कहते हैं कि प्रश्नोत्तर से ज्ञात होता है कि वहाँ जीव और प्राण

का कथन तो अन्य प्रयोजन (जीव से भिन्न ब्रह्म) के लिए है। और भी कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं।

वाक्यान्वयात् ॥१९॥

वाक्यों के विश्लेषण से भी सिद्ध होता है कि वहाँ 'आत्मा' शब्द परब्रह्म परमात्मा का ही वाचक है।

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥२०॥

आचार्य आश्मरथ का मत है कि उस प्रसङ्ग में जीवविषयक कथन प्रतिज्ञासिद्धि का चिह्न है।

उत्क्रमिष्यत एवम्भावादित्यौडुलोमिः ॥२१॥

देह से उत्क्रमण करनेवाले जीवात्मा का ऐसा स्वरूप होने से जीव का ब्रह्म में अभिधान किया है—ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं।

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥२२॥

प्रलयकाल में सम्पूर्ण जगत् उस ब्रह्म में अवस्थित रहता है—ऐसा आचार्य काशकृत्स्न मानते हैं।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥२३॥

और, प्रकृति भी जगत् का कारण है, प्रतिज्ञा और दृष्टान्त के अनुकूल होने से ऐसा निश्चय होता है।

अभिध्योपदेशाच्च ॥२४॥

सृष्टि-रचना का ब्रह्मसंकल्पपूर्वक कथन होने से भी यह निश्चय होता है कि प्रकृति जगत् का कारण है।

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥२५॥

अध्यात्मशास्त्रों में साक्षात् दोनों कारणों का पृथक्-पृथक् उल्लेख होने से यह सिद्ध होता है कि निमित्त कारण ब्रह्म के साथ प्रकृति जगत् का उपादान कारण है।

आत्मकृतेः परिणामात् ॥२६॥

परब्रह्म के संकल्परूप प्रयत्न से प्रकृति में परिणाम होने से जगत् उत्पन्न होता है, अतः ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण और प्रकृति उपादान कारण है।

योनिश्च हि गीयते ॥२७॥

अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म को जगत् की योनि=निमित्त कारण कहा गया है।

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्यताः ॥२८॥

इस विवेचन से अन्य सब उपनिषद् आदि वाक्यों की व्याख्या भी हो गई—ऐसा समझ लेना चाहिए।

॥ इति प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अथ द्वितीयाध्याये प्रथमः पादः

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसंगात् ।।१।।

यदि यह कहो कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने से स्मृति (सांख्यदर्शन[1]) को न मानने का दोष प्रसङ्ग आएगा तो यह ठीक नहीं, क्योंकि उसके मत को स्वीकार न करने पर अन्य स्मृतियों[2] को न मानने का दोष उपस्थित होगा।

इतरेषाञ्चानुपलब्धेः ।।२।।

ब्रह्म और प्रकृति से इतर अर्थात् जीवों का जगत् का कारण होना श्रुति-स्मृति में कहीं नहीं लिखा, अतः जीव जगत् का कारण नहीं। (वे तो केवल भोग्य सेवन करते हैं।)

एतेन योगः प्रत्युक्तः ।।३।।

इससे (जीवों के जगत् का कारण न होने से) उन जीवों का ब्रह्म और प्रकृति के साथ योग भी जगत् का कारण होना खण्डित समझना चाहिए।

न विलक्षणत्वादस्य तथात्व च शब्दात् ।।४।।

इस जगत् के विलक्षण न होने से (समान धर्मवाला होने से) प्रकृति उपादान कारण है। कारणगुणपूर्वक कार्य का गुण होता है, यह बात शब्दप्रमाण से भी सिद्ध है।

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ।।५।।

(मृदब्रवीत्—मिट्टी बोली—) शास्त्रों में वर्णित ऐसा चेतनत्व आलंकारिक है, वास्तविक नहीं, क्योंकि चेतन और अचेतन दोनों का भेद और ब्रह्म का अन्तर्यामिरूप से वर्णन शास्त्रों में उपलब्ध है।

दृश्यते तु ।।६।।

आलंकारिक वर्णन केवल वेद या उपनिषदों में ही नहीं, लोक में भी दिखाई देता है।

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ।।७।।

जगत् का कारण 'असत्' है, यदि ऐसा कहो तो भी ठीक नहीं, क्योंकि 'असत्' पद अभावमात्र का कथन करता है।

---

१. सांख्य १।२६ में जगत् का कारण प्रकृति को बताया है—**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारः**, इत्यादि।

२. महर्षि मनु (१।५) ने कहा है—**आसीदिदं तमोभूतम्**। प्रलयावस्था में यह सब जगत् तम=प्रकृतिरूप में अवस्थित था।

इन स्थलों से यही भाव निकलता है कि परमात्मा ने प्रकृति से जगत् की रचना की, अतः इन दोनों स्थलों में कोई विरोध नहीं है।

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥८॥

प्रलय में कार्य के कारण में लय होने पर कार्य की भाँति कारण के हो जाने की आपत्ति से प्रकृति को जगत् का उपादान कारण मानना अनुचित है।

न तु दृष्टान्तभावात् ॥९॥

यह आशंका ठीक नहीं, क्योंकि ऐसे दृष्टान्त देखे जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि कार्यधर्मों से कारण प्रभावित नहीं होता।

स्वपक्षदोषाच्च ॥१०॥

प्रलय में कार्यधर्म कारण को प्रभावित करता है, 'असद्वादी' का यह कथन बलपूर्ण नहीं, क्योंकि ऐसा दोष उसके अपने पक्ष में भी आता है।

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥११॥

तर्क के अप्रतिष्ठित=निराधार होने से, अन्य प्रकार से भी अनुमान किया जा सकता है, यदि ऐसा कहो तो भी छुटकारा नहीं मिल सकता।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥१२॥

इस व्याख्यान प्रकार से शिष्ट पुरुषों द्वारा अमान्य मतों का भी खण्डन समझ लेना चाहिए।

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥१३॥

यदि ऐसा कहो कि ब्रह्म को जगत् का कारण मानने पर उसमें भोक्ता का दोष आ जाएगा और जीव तथा ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध नहीं होगी तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि भोग जड़ और भोक्ता चेतन की भिन्नता जैसे लोक में देखी जाती है, वैसे ही यहाँ भी सिद्ध होगी।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥१४॥

पृथिवी आदि जगत् सृष्टि-आरम्भ से पूर्व अपने उपादान प्रकृति से अभिन्न रहता है, यह बात शास्त्र के 'आरम्भण' शब्द आदि के द्वारा सिद्ध है।

भावे चोपलब्धेः ॥१५॥

कारण के होने पर कार्य की उपलब्धि होती है। (मिट्टी के होने पर घड़ा बनता है।) इससे कार्य और कारण की अनन्यता=अभिन्नता सिद्ध होती है।

सत्त्वाच्चावरस्य ॥१६॥

कार्य के कारण में विद्यमान रहने से भी अथवा शास्त्र में कार्य के कारण में सत्त्व कथन से भी कार्य और कारण की अभिन्नता सिद्ध होती है।

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥१७॥

यदि यह कहो कि शास्त्रों में असत् का कथन होने से सर्ग से पूर्व कर्म नहीं रहता तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह दूसरे धर्म द्वारा=लक्षणों में विभिन्नता होने के कारण कहा गया है—यह बात अगले वाक्य से जानी जाती है।

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥१८॥

युक्ति और शब्द-प्रमाण से भी कार्य का कारण से अभिन्न होना सिद्ध होता है।

पटवच्च ॥१९॥

पट=वस्त्र की भाँति। वस्त्र अपने तन्तुओं से भिन्न कुछ भी नहीं होता। वस्त्र में तन्तु के गुण होते हैं, इसी प्रकार मूल प्रकृति के गुण कार्य जगत् में रहते हैं।

यथा च प्राणादि ॥२०॥

जैसे प्राण. अपान, व्यान आदि प्राण से भिन्न नहीं होते, वे सब एक ही प्राण के भेद हैं, इसी प्रकार पृथिवी आदि जगत् भी उपादान प्रकृति से अभिन्न धर्मवाला है।

इतरव्यपदेशाद् हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥२१॥

परमात्मा से अन्य (जीव) को ब्रह्म कहने से जगत् में जो हित या अहित हो रहा है, वह भी परमात्माकृत माना जाएगा।

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥२२॥

ब्रह्म जीवात्मा से भिन्न अथवा महान् है, क्योंकि शास्त्र में इनका भेद बताया गया है। (भोक्ता जीवात्मा अलग है और जगत्स्रष्टा ब्रह्म अलग।)

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥२३॥

जैसे सत्ता धर्मवाले होने से पत्थर, काष्ठादि प्राकृतिक पदार्थ ब्रह्म नहीं हो सकते, ऐसे ही केवल चेतन धर्मवाला होने से जीव का ब्रह्म होना सिद्ध नहीं होता।

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥२४॥

यदि यह कहो कि संसार में किसी भवनादि के निर्माण के लिए अनेक साधनों का संग्रह देखे जाने से ब्रह्म जगत् का कारण नहीं हो सकता, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि अकेली गाय से दूध स्रवित होने के समान अकेला ब्रह्म प्रकृति से जगत् का निर्माण कर देता है।

देवादिवदपि लोके ॥२५॥

जैसे लोक में देवादि स्वसंकल्प से अनेक कार्य कर डालते हैं, वैसे ही ब्रह्म भी संकल्पमात्र से प्रकृति को विविध रूपों में परिवर्तित कर देता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥२६॥

ब्रह्म पूर्णरूप से जगद्रूप में परिवर्तित हो गया अर्थात् ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है, ऐसा मानें तो ब्रह्म परिणामी होगा और यदि ब्रह्म के एक देश में सृष्टि मानें तो ब्रह्म को निरवयव कहनेवाले श्रुतिवाक्यों से विरोध होगा।

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥२७॥

श्रुति के वेदमूलक होने से उक्त शंका नहीं रहती, क्योंकि वेद में ईश्वर को निरवयव और जगत् का निमित्त कारण कहा है।

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥२८॥

परमात्मा में तो ऐसी अद्भुत शक्तियाँ और गुण हैं कि वह पूर्ण संकल्प से प्रकृति के चाहे जितने अंश में क्रिया कर दे, चाहे जितने अंश को जगत् के रूप में परिणत कर दे।

स्वपक्षदोषाच्च ।।२९।।

प्रधान (प्रकृति) वादियों के अपने पक्ष में दोष आने से ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण होना सिद्ध है।

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ।।३०।।

वह ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है, उसका ऐसा ही वर्णन वेदादि शास्त्रों में है। (अतः सर्वशक्तिमान् ब्रह्म द्वारा जगत् की रचना पूर्णरूप से व्यवस्थित है।)

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ।।३१।।

वह ब्रह्म मन, इन्द्रिय आदि करणरहित है अतः वह जगत् का निर्माण नहीं कर सकता, यदि ऐसा कहो तो इसका समाधान पहले (२।१।२७) कर दिया है।

न प्रयोजनवत्वात् ।।३२।।

पूर्णकाम ब्रह्म का कोई प्रयोजन न होने से वह जगत् का कारण=जगद्रचना में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।।३३।।

परब्रह्म केवल लोकवत्=लोकहितार्थ जगत् की रचना करता है।

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।।३४।।

जगत् में जो विषमता और निर्दयता दिखाई देती है, उसका दोष परमात्मा को नहीं लगता, क्योंकि इस प्रकार की रचना जीवों के शुभाशुभ कर्मों के कारण है, ऐसा ही श्रुतियों में भी वर्णन है।

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ।।३५।।

जगत् की विविध रचना में कर्म निमित्त नहीं हो सकते, क्योंकि सृष्टि से पूर्व (शरीर न होने के कारण) जीवों के कर्मों की सम्भावना ही नहीं, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि जीव और उसके कर्म अनादि हैं।

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ।।३६।।

युक्ति से भी जीव और उसके कर्मों का अनादि होना सिद्ध है, और शास्त्र में भी ऐसा ही उल्लेख मिलता है।

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ।।३७।।

अपेक्षित समस्त धर्मों की उपस्थिति से जगद्रचना सम्भव होती है अर्थात् परमात्मा निमित्त कारण, प्रकृति उपादान कारण और जीवात्माओं के कर्म, उनका फलभोग तथा संस्कार—ये सभी जगद्रचना में आवश्यक हैं।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ।।१।।

चेतन की प्रेरणा के बिना जड़ प्रकृति स्वयं जगद्रूप में परिवर्तित हो जाती है, केवल अनुमान से किया गया यह अर्थ ठीक नहीं।

प्रवृत्तेश्च ॥२॥

जड़ प्रकृति में प्रवृत्ति=क्रिया न होने से भी अनुमान-कथन ठीक नहीं। (प्रवृत्ति चेतन का धर्म है, जड़ का नहीं।)

पयोऽम्बुवच्चेत् तत्रापि ॥३॥

दूध और जल के दृष्टान्त के समान प्रकृति भी स्वतः प्रवृत्त हो जाती है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ भी चेतन का सहयोग है। (दूध का प्रवृत्त होना गौ के अधीन है और नदियों का प्रवृत्त होना परमात्मा के अधीन है।)

व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात् ॥४॥

जब तक किसी चेतन व्यवस्थापक की अपेक्षा (प्रभाव, शक्ति) न मानी जाए तब तक जड़ प्रकृति विपरीत प्रवृतिवाली नहीं हो सकती। (प्रकृति स्वयं जगद्रूप में परिवर्तित हो जाए तो प्रकृति का निवर्त्तन=प्रलय या प्रकृतिभाव नहीं हो सकता) प्रकृति के अनवस्थित दोष से भी यह मन्तव्य ठीक नहीं।

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥५॥

तृणादि के दूध में परिवर्तित होने के समान जड़ प्रकृति स्वयं जगद्रूप में परिवर्तित हो जाती है, यह भी ठीक नहीं क्योंकि बैल आदि का खाया घास दूध में परिणत नहीं होता।

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥६॥

प्रकृति में जगद्रचना की (चेतन अनुग्रह के विना) स्वाभाविक शक्ति स्वीकार करने पर भी दोष आता है, क्योंकि अचेतन प्रकृति में प्रयोजन का अभाव है।

पुरुषाश्मवदिति चेत् तथाऽपि ॥७॥

जैसे पुरुष शरीर में लगी हुई सुई को चुम्बक सामने करके निकाल लेते हैं वैसे ही प्रकृति में भी जीवों के भोगसम्पादनार्थ प्रवृत्ति होती है, यदि ऐसा कहा जाए तो भी पूर्वोक्त दोष बना रहता है।

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥८॥

अव्यक्त प्रकृति में जगद्रचना की प्रवृत्ति नहीं घटती, क्योंकि जीवात्माएँ उसके अङ्गी=व्यवस्थापक नहीं हैं, वे तो उसके भोक्ता है, अतः प्रकृति का स्वयं सर्ग-प्रलय परिणाम ठीक नहीं।

अन्यथानुमित्तौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥९॥

अन्य प्रकार से (काल को व्यवस्थापक मानकर) अनुमान करने पर भी सर्ग-प्रलय की व्यवस्था सम्भव नहीं, क्योंकि काल में ज्ञातृशक्ति का अभाव है।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥१०॥

नास्तिकता का प्रसङ्ग आने से भी जगत् की रचना में प्रकृति का स्वतन्त्र कारण होना युक्तियुक्त नहीं।

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥११॥

ह्रस्व=द्व्यणुक और परिमण्डल=परमाणु—इन दोनों के द्वारा स्वतन्त्रता से महत् और दीर्घ की उत्पत्ति के समान जगदुत्पत्ति भी अयुक्त है।

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥१२॥

चेतन कर्त्ता की प्रेरणा के बिना परमाणुओं में दोनों प्रकार (अभिघात=धक्का और प्रयत्न) से क्रिया का होना सम्भव नहीं, अतः सृष्टि की रचना नहीं हो सकती।

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥१३॥

जीवात्माओं में अदृष्ट का समवाय सम्बन्ध स्वीकार कर लेने पर भी परमाणुओं में क्रिया नहीं हो सकती और समवाय के सदा वर्तमान रहने के कारण सर्ग-प्रलय की व्यवस्था न रहने से जगद्रचना असम्भव होगी।

नित्यमेव च भावात् ॥१४॥

और, स्वभाव के सदा वर्तमान रहने से सृष्टि भी नित्य ही रहेगी।

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥१५॥

परमाणु रूप आदि गुणवाले होने के कारण अनित्य हैं, क्योंकि लोक में रूप आदि गुणवाले पदार्थ अनित्य देखे जाते हैं।

उभयथा च दोषात् ॥१६॥

परमाणुओं में दोनों प्रकार (रूपादिमान् और रूपादि रहित, न्यून या अधिक गुणवाले) के धर्म होना दोष के कारण युक्त नहीं।

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥१७॥

वेदवेत्ता ऋषियों के द्वारा स्वीकार न किये जाने के कारण इस (स्वतन्त्र परमाणु-कारणवाद) की सर्वथा उपेक्षा करना उपयुक्त है।

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥१८॥

दोनों प्रकार का (बाह्य और आध्यात्मिक जगत्) दो हेतुओंवाला समुदायरूप मन्तव्य भी अनादरणीय है, क्योंकि चेतन के बिना समुदाय नहीं बन सकता।

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥

यदि ऐसा कहो कि एक-दूसरे का कारण होने से समुदाय बन जाएगा तो ठीक नहीं, क्योंकि वह तो केवल उत्पत्ति का कारण होगा, समुदाय का नहीं।

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥२०॥

पूर्वक्षण को उत्तरक्षण का उत्पादक मानें तो वह भी नहीं, क्योंकि क्षणिक होने से वह अगले को उत्पन्न नहीं कर सकता। (क्षण=उस क्षण में रहनेवाली वस्तु)

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥२१॥

विना कारण (पूर्वक्षण) के कार्य (उत्तरक्षण) की उत्पत्ति मानने पर प्रतिज्ञा-हानि होती है, अन्यथा कारण-कार्य दोनों की एकसाथ उपलब्धि होती है।

प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥२२॥

प्रतिसंख्यानिरोध[1] और अप्रतिसंख्यानिरोध[1] की प्राप्ति=सिद्धि नहीं होगी, प्रवाह का विच्छेद न होने के कारण।

---

१. ज्ञानबल से विद्यमान वस्तु का अभाव स्वीकार करना प्रतिसंख्यानिरोध है, इसके विपरीत स्वाभाविक विनाश अप्रतिसंख्यानिरोध है।

उभयथा च दोषात् ॥२३॥

दोनों प्रकार से दोष उपस्थित होने के कारण पूर्वोक्त वस्तुनिरोध असंगत है।

आकाशे चाविशेषात् ॥२४॥

पृथिव्यादि की समानता से आकाश में वस्तुत्व सिद्ध होता है, इसे अभाव मानना असङ्गत है।

अनुस्मृतेश्च ॥२५॥

अनुस्मृति या प्रत्यभिज्ञान (पूर्वानुभूत वस्तु का पश्चात् स्मरण) से भी क्षणिक-वाद ठीक नहीं। (प्राप्त करना भी क्षणिक होने से अनुस्मृति नहीं हो सकती।)

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥२६॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति मानना असङ्गत है, क्योंकि अभाव से भाव की उत्पत्ति कहीं नहीं देखी गई।

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥२७॥

अभाव से भाव की उत्पत्ति मानने पर उदासीन=प्रयत्न न करनेवालों को भी सफलता मिल जाएगी।

नाभाव उपलब्धेः ॥२८॥

सब अभाव-मात्र है, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से भाव उपलब्ध होता है।

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥२९॥

भावरूप जगत् के पदार्थ स्वप्न की प्रतीति के समान नहीं हैं, क्योंकि उनमें परस्पर विपरीत धर्म देखे जाते हैं। (इस सूत्र से जगत् मिथ्या है, यह सिद्धान्त खण्डित हो गया।)

न भावोऽनुपलब्धेः ॥३०॥

जगत् ब्रह्मरूप नहीं है, क्योंकि ब्रह्मरूप से जगत् की उपलब्धि कभी नहीं होती।

क्षणिकत्वाच्च ॥३१॥

जगत् के क्षणिक (परिवर्तनशील) होने से भी जगत् का ब्रह्मभाव नहीं हो सकता।

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥३२॥

जगत् का ब्रह्मभाव किसी भी प्रकार से सिद्ध न होने से अमान्य है।

नैकस्मिन्न सम्भवात् ॥३३॥

केवल ब्रह्म ही है, ऐसा स्वीकार करने पर जगत् की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं।

एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम् ॥३४॥

जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानने पर ब्रह्म में अपूर्णता का दोष आ जाएगा।

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥३५॥

पर्याय (ब्रह्म को घटने-बढ़नेवाला मानने) से भी विरोध का समाधान नहीं होता, क्योंकि विकार आदि होने से दोष बना रहता है।

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ।।३६।।

अन्त्य=ब्रह्म की मुख्य अवस्था से भी विरोध का परिहार नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म की दोनों अवस्थाओं के नित्य होने से वे दोनों समान हैं।

पत्युरसामञ्जस्यात् ।।३७।।

जगत्पति परमेश्वर का शरीरी होना असङ्गत होने से ठीक नहीं।

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ।।३८।।

प्रकृति और जीवात्माओं के साथ सम्बन्ध न हो सकने से भी जगत्पति परमेश्वर शरीरी नहीं हो सकता।

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ।।३९।।

साकार ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता, अतः ब्रह्म का शरीरी होना युक्त नहीं।

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ।।४०।।

ईश्वर को करण=इन्द्रियोंवाला माना जाए तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर ब्रह्म को भोगादि की प्राप्ति होगी।

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ।।४१।।

ईश्वर को शरीरी=इन्द्रियोंवाला मानने पर वह विनाशी और अल्पज्ञ होगा, अविनाशी और सर्वज्ञ नहीं।

उत्पत्त्यसम्भवात् ।।४२।।

परमात्मा की उत्पत्ति असम्भव होने से वह इन्द्रियोंवाला नहीं हो सकता।

न च कर्त्तुः करणम् ।।४३।।

कर्त्ता=ब्रह्म का कोई करण=उपादानरूप साधन नहीं होता, वह बिना साधनों के जगत् की रचना करता है।

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ।।४४।।

विज्ञान का आदि कारण होने से ईश्वर के सम्बन्ध में उत्पत्ति की कल्पना करना असम्भव है। अथवा आत्मा का विज्ञान आदि की उत्पत्ति में आवश्यक होने से इन्द्रियों का निषेध नहीं है।

विप्रतिषेधाच्च ।।४५।।

विभिन्न प्रकार से अवैदिक मतों का खण्डन करके ब्रह्म के सत्यस्वरूप का निश्चय किया गया। अथवा वेदोक्त ईश्वर के विरुद्ध धर्मवाले अर्थात् साकार ईश्वर का प्रतिषेध किया गया। जगत् का कर्त्ता, इन्द्रिय, आकार और उत्पत्ति से रहित है।

।। इति द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयः पादः

न वियदश्रुतेः ।।१।।

आकाश की उत्पत्ति में कोई श्रुतिप्रमाण न होने से आकाश उत्पन्न नहीं होता।

अस्ति तु ॥२॥

श्रुति में आकाश की उत्पत्ति का उल्लेख है तो सही।

गौण्यसम्भवात् ॥३॥

निरवयव, व्यापक आकाश की उत्पत्ति सम्भव नहीं, अतः उसकी उत्पत्ति का निर्देश गौण है।

शब्दाच्च ॥४॥

शब्दप्रमाण से भी आकाश का नित्यत्व=उत्पन्न न होना सिद्ध होता है।

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥५॥

एक पद का गौण और मुख्य दोनों अर्थों में प्रयोग हो सकता है जैसे एक स्थल (**तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपोब्रह्मेति** । तैत्ति० उप० ३।२) में ब्रह्म का मुख्य और गौण प्रयोग हुआ है। यहाँ तप को ब्रह्म कह दिया है।

प्रतिज्ञाऽहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥६॥

(**इदं सर्वमसृजत** । तैत्ति० उप० २।६—परमात्मा इस सबको बनाता है, 'सबमें' आकाश भी आ जाना चाहिए, तब आकाश को अनुत्पन्न बताना प्रतिज्ञाहानि है, सूत्रकार उत्तर देते हैं—) प्रतिज्ञा की हानि नहीं होती, क्योंकि जो कुछ उत्पन्न होता है, वह आकाश से अलग नहीं, क्योंकि वह व्यापक है और उसकी व्यापकता वेद से जानी जाती है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥७॥

जितनी विकाररूप वस्तु होती है, वह कार्य है, रचयिता से उसका विभाग होना सिद्ध है, जैसे लोक में घड़े आदि विकार रचयिता कुम्हार से पृथक् दिखाई देते हैं।

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥८॥

इस विवेचन से वायु भी व्याख्यात किया हुआ समझ लेना चाहिए।

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥९॥

'सत्' शब्दवाच्य मूलकारण (प्रकृति और ब्रह्म) का उत्पन्न होना सम्भव नहीं। 'सत्' कारण की उत्पत्ति युक्ति और प्रमाण किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकती।

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥१०॥

वायु के पश्चात् अग्नितत्त्व की उत्पत्ति होती है, श्रुति भी ऐसा ही कहती है।

आपः ॥११॥

तेज के पश्चात् जल उत्पन्न हुए, ऐसा उल्लेख शास्त्रों में उपलब्ध है।

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥१२॥

जलों के पश्चात् पृथिवी उत्पन्न हुई। तैत्ति० उप० २।१ में अन्न शब्द से पृथिवी का ग्रहण है। यह बात अधिकार, रूप और श्रुत्यन्तर से सिद्ध होती है।

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात् सः ॥१३॥

वह परमेश्वर पृथिव्यादि भूतों को अभिध्यान=संकल्पमात्र से रच देता है। यह अभिध्यान परमात्मा के अस्तित्व का चिह्न है।

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥१४॥

प्रलयक्रम उत्पत्तिक्रम से उलटा होता है, यह बात युक्ति और शास्त्र से सिद्ध है।

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ।।१५।।

मूल उपादान कारण और आकाश के मध्य में विज्ञान और मन—इन दोनों का भी उत्पत्ति और लय-प्रसङ्ग में क्रम निश्चित करना चाहिए, ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनके क्रम में कोई भेद नहीं।

चराचरव्यपाश्रयस्तु तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ।।१६।।

जन्म और मरण का कथन चर और अचर शरीरों के आश्रय होता है। आत्मा में वैसा कथन गौण है। आत्मा के लिए ऐसा व्यवहार शरीर के होने पर ही होता है अर्थात् शरीरवर्ती जीवात्मा की उत्पत्ति और नाश नहीं होते। (इस सूत्र से जीवात्मा की नित्यता सिद्ध होती है।)

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।।१७।।

जीवात्मा उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि उसकी जन्म-मरणविषयक श्रुति उपलब्ध नहीं होती। श्रुतियों से उसके नित्यत्व का पता लगता है।

ज्ञोऽत एव ।।१८।।

आत्मा नित्य होने और श्रुति द्वारा वैसा प्रतिपादित होने से ज्ञानवान्, चेतन और अभौतिक कहा जाता है।

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ।।१९।।

आत्मा की उत्क्रान्ति=शरीर से निकलना, गति=अन्यत्र जाना और आगति (अन्य स्थान से आना) की श्रुतियों से जीवात्मा अणु=परिच्छिन्न सिद्ध होता है।

स्वात्मना चोत्तरयोः ।।२०।।

अगले दोनों (गति और आगति) का स्वात्मा के साथ सम्बन्ध होने से आत्मा का अणु होना सिद्ध होता है।

नाणुरतत् श्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ।।२१।।

आत्मा अणु नहीं है, क्योंकि श्रुति में उसे विभु बताया है, यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ अन्य आत्मा (परमात्मा) का प्रकरण है।

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ।।२२।।

शास्त्र में आत्मा के लिए साक्षात् अणु शब्द का प्रयोग हुआ है और उसका मान सीमित बताया गया है, इन कारणों से भी आत्मा अणु सिद्ध होता है।

अविरोधश्चन्दनवत् ।।२३।।

(आत्मा अणु है तो सर्वाङ्ग में शीत या ताप का अनुभव नहीं होना चाहिए। सूत्रकार दृष्टान्त द्वारा समाधान प्रस्तुत करते हैं—) विरोध नहीं है, क्योंकि जैसे चन्दन की एक बूंद देह के एक देश में लगी समस्त देह को आह्लादित कर देती है, वैसे ही एक देश में विद्यमान आत्मा समस्त देह को प्रकाशित तथा सञ्चालित करता है।

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद् हृदि हि ।।२४।।

शरीर में स्थानविशेष पर लगा चन्दन स्पष्ट दीखता है, अदृष्ट आत्मा के लिए यह दृष्टान्त विषम है, ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्र ने आत्मा को हृदय-प्रदेश में होना स्वीकार किया है।

गुणाद्वा लोकवत् ॥२५॥

जैसे लोक में राजा एक स्थान पर विराजमान होकर समस्त राष्ट्र का सञ्चालन करता है, ऐसे ही जीवात्मा भी एक स्थान पर स्थित हुआ अपने ज्ञानादि गुण से समस्त शरीर में कार्य करता है।

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

जैसे गन्धवाले फूल से उसका गन्धगुण दूर तक प्रभावकारी होता है, ऐसे ही हृदयस्थ आत्मा को कण्टक चुभने की अनुभूति समझनी चाहिए।

तथा च दर्शयति ॥२७॥

श्रुति भी ऐसा ही प्रतिपादन करती है (कि जीवात्मा हृदय से लोमों की जड़ों और नाखूनों के सिरे तक विद्यमान है, अपने चेतन गुणों से)।

पृथगुपदेशात् ॥२८॥

ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के साधन बुद्धि आदि के पृथक् निर्देश होने से बुद्धि आदि साधन को आत्मा कहना अप्रामाणिक है।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

(आत्मा को अंगुष्ठ-प्रमाण कहा है, अतः वह अणु नहीं हो सकता। सूत्रकार कहते हैं—) आत्मा के निवासस्थान की प्रधानता से आत्मा को अंगुष्ठमात्र कहा है, जैसे प्राज्ञ=सर्वव्यापक परमात्मा को हृदयदेश में ग्राह्य होने से अंगुष्ठमात्र कहा है।

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥३०॥

बुद्धि आत्मा का गुण है और गुण यावदात्मभावी (जब तक वस्तु का आत्मा है तब तक रहनेवाला) होता है। आत्मा नित्य है, अतः देहपात होने पर आत्मा के गुण-रूप बुद्धि का विमोक्ष=अभाव नहीं होता। संसार दशा में तो आत्मा के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता ही है, अतः शास्त्र के व्यर्थ होने का दोष नहीं रहता। श्रुति भी ऐसा ही प्रतिपादित करती है।

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥३१॥

पुंस्त्व आदि के समान (जैसे पुरुष में पुंस्त्व उसमें बाल्यकाल से ही होता है परन्तु उसका प्रकटीकरण तरुणावस्था में होता है) मोक्ष में आत्मा के विद्यमान सामर्थ्य की अभिव्यक्ति हो जाने से, उसे आत्मस्वभाव सामर्थ्य से ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है। इस प्रसङ्ग से जीवात्मा का अणु होना स्पष्ट होता है।

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा ॥३२॥

यदि आत्मा को अणु न माना जाए तथा अणु मानकर बुद्धि आदि करणों का सहयोग स्वीकार न किया जाए तो ज्ञान के सर्वदा होने या सर्वथा न होने का दोष आएगा। अथवा इन दोनों में से किसी एक की प्राप्ति होगी।

कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥३३॥

वेदादि शास्त्रों में विधि और निषेधरूप उपदेश जीवात्मा के लिए किये गये हैं, उनका अधिष्ठाता होने से आत्मा कर्त्ता है।

विहारोपदेशात् ।।३४।।

आत्मा के यथेच्छ विहार=इच्छानुसार विचरण, आचरण के उपदेश से भी आत्मा का कर्त्ता होना सिद्ध है।

उपादानात् ।।३५।।

उपादान=ग्रहीता होने, ग्रहण करने की सामर्थ्य से युक्त होने से आत्मा कर्त्ता सिद्ध होता है।

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ।।३६।।

लौकिक और वैदिक क्रिया में भी जीवात्मा को कर्त्ता माना गया है। यदि ऐसा न मानकर बुद्धि को कर्त्ता माना जाए तो निर्देश का विपर्यय हो जाएगा।

उपलब्धिवदनियमः ।।३७।।

जैसे आत्मा अनियम से सुख-दुःख अनुभव करता है वैसे ही हित-कर्म के आचरण और अहित-कर्म के अनुष्ठान में उसके कर्तृत्व की हानि नहीं होती।

शक्तिविपर्ययात् ।।३८।।

शक्ति के विपर्यय=उलट हो जाने से, बुद्धि कर्त्ता नहीं, आत्मा कर्त्ता है।

समाध्यभावाच्च ।।३९।।

यदि बुद्धि को कर्त्ता माना जाए तो समाधि के अभाव की प्राप्ति होगी, अतः आत्मा ही कर्त्ता है।

यथा च तक्षोभयथा ।।४०।।

जैसे शिल्पी=बढ़ई दोनों प्रकार की स्थिति (कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता) में बढ़ई रहता है, ऐसे ही आत्मा इन्द्रिय-व्यापार और अव्यापार दोनों अवस्थाओं में कर्त्ता रहता है।

परात्तु तत् श्रुतेः ।।४१।।

आत्मा का वह कर्तृत्व तो परमात्मा की प्रेरणा से होता है, ऐसा श्रुति से सिद्ध होता है।

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।।४२।।

परमात्मा जीवात्मा को पाप-पुण्य के अनुसार ही प्रेरणा करता है, इसी कारण शास्त्र में विहित और प्रतिषिद्ध कर्म व्यर्थ नहीं होते तथा जगत् का वैचित्र्य बना रहता है।

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।।४३।।

जीवात्मा परमात्मा का अंश है दोनों का भेदकथन होने के कारण, अन्यथा परमात्मा में दासत्व=भाँडपन और कितवत्व=जुआरीपन दोष आ जाए जैसा कि कुछ शाखा-वाले मानते हैं।

मन्त्रवर्णाच्च ।।४४।।

वेद में प्रतिपादित होने से भी जीव-ब्रह्म का अंशांशिभाव सिद्ध होता है।

अपि च स्मर्यते ।।४५।।

अंशांशिभाव निरूपक मन्त्र उपनिषद् द्वारा भी स्मरण किया गया है।'

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥४६॥

आत्मा-परमात्मा का अंशांशिभाव है परन्तु परमात्मा जीवात्मा की भाँति पीड़ित या दूषित नहीं होता, प्रकाश आदि के समान ।

स्मरन्ति च ॥४७॥

परमात्मा का सुख-दुःखरहित होना स्मृति में भी पढ़ा गया है।

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥४८॥

जैसे अग्नि आदि पदार्थ स्थानविशेष के सम्बन्ध से ग्रहण और परित्याग योग्य होते हैं, ऐसे ही जीवात्मा के लिए अनुज्ञा-परिहार (विधि और निषेध) देह-सम्बन्ध से होते हैं।

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥४९॥

जीवात्माओं के शरीर पृथक्-पृथक् होने से संकर-दोष (अन्य के किये कर्म व फल का भोक्ता अन्य) नहीं बनेगा।

आभास एव च ॥५०॥

जीवात्मा के अल्पज्ञ एवं अणु होने से भी संकर-दोष नहीं आएगा। अतः जीवात्मा परमात्मा का अंश[1] होता हुआ भी अल्पज्ञ, अदृश्य शक्तिमान् और एकशरीरवर्ती है, यह सिद्ध हुआ।

अदृष्टानियमात् ॥५१॥

जीवात्मा को ब्रह्म का आभास मानने पर अदृष्ट (धर्म-अधर्म) का नियम न रहने से संकर-दोष प्राप्त होगा।

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥५२॥

जीवात्माओं के संकल्प, ज्ञान और प्रयत्न में भी अदृष्ट के समान अनियम बना रहेगा।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥५३॥

यदि यह कहा जाए कि शरीर आदि प्रदेश से सांकर्य एवं अनियम आदि दोषों का निवारण हो जाएगा तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि यह कथन स्वयं आपत्ति-क्षेत्र में आ जाता है।

इस प्रकार जीवात्माओं का विभुवाद दोषपूर्ण है, अणुवाद ही युक्तिसंगत है।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

---

१. इस प्रकरण में अंश से तात्पर्य खण्ड=टुकड़े से नहीं है अपितु अंश से तात्पर्य है प्रतिनिधि=Miniature। परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ, परमात्मा सर्वशक्तिमान् और जीव अल्पशक्तिमान्, परमात्मा सर्वदेशी और जीव एकदेशी। इसी भाव से जीवात्मा को परमात्मा का अंश कहा है। आचार्य शंकर ने भी कहा—**न हि निरवयवस्य मुख्योंऽशः संभवति।** (ब्र० सू० २।३।४३) निरवयव ब्रह्म का मुख्य अंश सम्भव नहीं।

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थः पादः

तथा प्राणाः ॥१॥

जैसे आकाश आदि तत्त्व उत्पन्न होते हैं, वैसे ही प्राण=इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होती हैं।

गौण्यसम्भवात् ॥२॥

प्राणों की उत्पत्ति को गौण कहना सम्भव नहीं।

तत्प्राक् श्रुतेश्च ॥३॥

श्रुति और स्मृति से भी यह सिद्ध होता है कि प्राण=इन्द्रियाँ आकाश आदि से पूर्व उत्पन्न हो जाती हैं।

तत्पूर्वकत्वाद् वाचः ॥४॥

वागिन्द्रिय के प्राण से पूर्व होने से, वाक्=वाणी की प्राण से पूर्व ही उत्पत्ति सम्भव है।

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥५॥

सामान्य ज्ञान और पृथक्-पृथक् प्रतिपादन से प्राण सात हैं।

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥६॥

हाथ आदि भी तो करण हैं, इस स्थिति में सात ही प्राण=इन्द्रियाँ हैं, ऐसा कहना संगत नहीं।

अणवश्च ॥७॥

प्राण अथवा इन्द्रियाँ अणुरूप हैं। (गोलकों को देखकर लोग यह न समझ बैठें कि इन्द्रियाँ स्थूल हैं।)

श्रेष्ठश्च ॥८॥

मुख्य प्राण=बुद्धि भी अणु है। यह ज्येष्ठ और श्रेष्ठ है, इसलिए इसे विशेषता दी जाती है।

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥९॥

मुख्य प्राण न तो वायुरूप है और न ही वायु का विकार, क्योंकि मुख्य प्राण का वायु से पृथक् उपदेश किया गया है।

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्टाचादिभ्यः ॥१०॥

मुख्य प्राण=बुद्धितत्त्व चक्षु आदि इन्द्रियों के समान करण है, क्योंकि शास्त्रों में उसे चक्षु आदि इन्द्रियों के समान जीवात्मा का करण-साधन बताया गया है।

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥११॥

(मुख्य प्राण इन्द्रिय है तो उसका कोई विषय होना चाहिए, इसका उत्तर देते हैं—) प्राण के अकरण=इन्द्रिय न होने से दोष नहीं आता, क्योंकि मुख्य प्राण इन्द्रियों से विलक्षण हैं। ऐसा ही शास्त्र में प्रतिपादित किया गया है।

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥१२॥

वह मुख्य प्राण मन की भाँति पाँच वृत्तियोंवाला है, ऐसा कहा जाता है।

अणुश्च ॥१३॥

प्राण अणु भी है मन के समान, अथवा अन्य प्राणों = इन्द्रियों के समान।

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥१४॥

ज्योति आदि प्राणों के अधिष्ठान हैं। उनके अधिष्ठान होने का शास्त्र में प्रतिपादन है।

प्राणवता शब्दात् ॥१५॥

प्राणों का सम्बन्ध जीवात्मा के साथ है, जीवात्मा इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। यह शब्दप्रमाण से सिद्ध है।

तस्य च नित्यत्वात् ॥१६॥

जीवात्मा के अविनाशी होने से भी वह भोक्ता है, यह बात सिद्ध है।

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥

श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण, बुद्धि से भिन्न अन्य प्राण = इन्द्रियाँ हैं, क्योंकि शास्त्रों में 'इन्द्रिय' शब्द से उनका वर्णन किया गया है।

भेदश्रुतेः ॥१८॥

श्रुतियों में वागादि इन्द्रियों को प्राण से भिन्न कहा गया है।

वैलक्षण्याच्च ॥१९॥

और भी, वागादि से मुख्य प्राण के विलक्षण होने से भी अन्य प्राण इन्द्रियाँ हैं, यही सिद्ध होता है।

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥२०॥

नाम और रूप की रचना त्रिवृत् कर्म करनेवाले (अग्नि, जल, पृथिवी तीनों को मिलानेवाले) परमात्मा की है, ऐसा शास्त्रों में प्रतिपादन किया गया है।

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥२१॥

शरीर में मांस आदि भूमि के विकार हैं और अन्य दोनों (जल और तेज) के विकार शास्त्र के अनुसार जान लेने चाहिएँ।

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥२२॥

मांस आदि को पार्थिव कहना तो भूमितत्त्व की अधिकता के कारण है। 'तद्वादः' पद की पुनरुक्ति, अध्याय-समाप्ति की सूचक है।

॥ इति द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥१॥

प्रश्न और उत्तर (छान्दो० ५।३।३ और ५।६।१) से यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा पूर्व-शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मशरीरसहित गमन करता है।

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥२॥

त्र्यात्मक (पृथिवी, जल, अग्नि) होता हुआ भी सूक्ष्मशरीर 'अप्' शब्द से कहा जाता है, अपतत्त्व=जल की अधिकता से।

प्राणगतेश्च ॥३॥

मृत्यु के पश्चात् प्राण के आत्मा के साथ जाने से भी सूक्ष्म शरीर का दूसरे जन्म में साथ जाना सिद्ध होता है।

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥४॥

यदि यह कहो कि अग्नि आदि में वागादि प्राणों की गति बताये जाने के कारण प्राणों का आत्मा के साथ गमन असङ्गत है तो ठीक नहीं, क्योंकि वह कथन गौण है।

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥५॥

यदि यह कहो कि प्रथम आहुति स्तर में 'आपः' पाठ नहीं है, तो ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ (श्रद्धा शब्द से) 'आपः' ही कहे गये हैं।

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥६॥

यदि यह कहो कि पञ्च-अग्निविद्या प्रकरण में तत्त्वों के सहित जीवात्मा के जाने का वर्णन नहीं सुना जाता तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि इष्टापूर्त्त=शुभाशुभ कर्म करनेवालों का वर्णन होने से वहाँ आत्मा की गति का निश्चय होता है।

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथा हि दर्शयति ॥७॥

इष्टादि कर्म करनेवालों को दोषों का अन्न या भक्ष्य कहा जाना गौण है; ऐसा इसलिए कहा गया क्योंकि वे जीवात्मा आत्मज्ञानी नहीं हैं, श्रुति में भी वैसा ही प्रतिपादन है।

कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥८॥

इष्ट कर्मों का फल भोग लेने (शुभ कर्मों के क्षीण होने) पर शेष बचे संस्कारों से युक्त जीवात्मा जैसे यहाँ से गया था, उसी से अथवा अन्य मार्ग से यहाँ वापस आता है, ऐसा स्मृतियों से जाना जाता है।

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥९॥

यदि ऐसा कहो कि 'चरण' शब्द के प्रयोग के कारण आचरण से जन्म होता है,

अनुशय (शेष कर्म-संस्कार) से नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि आचार्य कार्ष्णाजिन कहते हैं कि श्रुति में 'चरण' पद कर्म का उपलक्षण है।

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥१०॥

यदि यह कहो कि अनुशय को जन्म का निमित्त मानने से 'चरण' शब्द के निरर्थक होने का दोष आता है तो ठीक नहीं, क्योंकि, अनुशय चरण=आचरण को अपेक्षित करके होता है।

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥११॥

शुभ और अशुभ दो प्रकार के ही 'चरण' हैं, इसे अनुशय का उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं, ऐसा आचार्य बादरि मानते हैं।

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥१२॥

इष्ट आदि कर्म न करनेवालों का भी चन्द्रलोक में जाना उपनिषदों में कहा गया है।

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥१३॥

इष्ट=शुभकर्म न करनेवाले (पापी) यमलोक में पाप का फल भोगकर चन्द्र-मार्ग से यहाँ लौट आते हैं। उनके आरोह और अवरोह की ऐसी गति का वर्णन शास्त्रों में देखा जाता है।

स्मरन्ति च ॥१४॥

स्मृतियों में ऐसा ही प्रतिपादन है (जैसा वेदादि शास्त्रों में)।

अपि च सप्त ॥१५॥

यमलोक और कहीं नहीं अपितु वहीं है जहाँ सात (इन्द्रियाँ) बैठी रहती हैं, अर्थात् मानव-शरीर ही यम का घर है।

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥१६॥

वहाँ (यम-सदनों में) भी उसका व्यापार होने से परमात्मा के ब्रह्माण्ड-नियन्ता होने में कोई दोष नहीं आता।

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥१७॥

चन्द्रलोक की प्राप्ति विद्या और कर्म का फल है, क्योंकि यह उन्हीं का प्रकरण है।

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥१८॥

तीसरे (जन्मने-मरनेवाले) मार्ग में पांचवीं आहुति की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा ही मिलता है।

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥१९॥

स्त्री-पुरुष विषयक आहुतियाँ अयोनिज सृष्टि में नहीं होतीं, ऐसा स्मृतियों में कहा गया है। लोक में भी सम्पर्क के बिना जूं-लीक आदि प्रत्यक्ष मिलती हैं।

दर्शनाच्च ॥२०॥

वैदिकशास्त्र में भी अयोनिज=अमैथुनी सृष्टि का वर्णन है।

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥२१॥

छान्दो० ६।३।१ में जो अण्डज, जरायुज और उद्भिज—तीन प्रकार की सृष्टि

बताई गई है, उसका कारण यह है कि—तीसरे=उद्भिज शरीर में स्वेदज का भी अन्तर्भाव हो जाता है।

साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥२२॥

चन्द्रलोक में फल भोगकर लौटने के समय इष्टादिकारी आत्माओं की स्थिति आकाश आदि के सदृश होती है, ऐसा मानना युक्तिसंगत है।

नातिचिरेण विशेषात् ॥२३॥

इष्ट आदि कर्म करनेवालों का आकाश, वायु, अभ्र आदि से अवरोहण तत्क्षण हो जाता है, आगे कहे विशेष वचनों से यही निश्चय होता है।

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥२४॥

अन्य आत्माओं से अधिष्ठित व्रीहि=जौ आदि में अनुशायी जीवात्माओं का सम्पर्क-मात्र होता है, पूर्वोक्त आकाशभाव के समान, क्योंकि उपनिषदों में इस विषय पर समान कथन है। (जसे आत्मा आकाशादि नहीं बनता वैसे ही धान आदि के सम्बन्ध में समझना चाहिए।)

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥२५॥

यदि यह कहो कि वह अन्न आदि (जीव का धान्य आदि में निवास होने से हिंसा-दोष के कारण) अभक्ष्य होगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वेद में इनके भक्षण का विधान है।

रेतः सिग्योगोऽथ ॥२६॥

व्रीहि आदि के साथ सम्पर्क के अनन्तर अनुशायी आत्माओं की वीर्य-सेचन करने-वाले पुरुष के साथ सङ्गति होती है।

योनेः शरीरम् ॥२७॥

रेतः-सेचन के पश्चात् उस योनि के अनुसार अनुशायी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है।

॥ इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयः पादः

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥१॥

स्वप्नावस्था में जीवात्मा सृष्टि की रचना करता है, ऐसा श्रुति में कहा है।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥२॥

कठशाखावाले आचार्य उस जीवात्मा को स्वप्नकाल में निर्माता कहते हैं और पुत्र आदि वे पदार्थ हैं, जिनका वह निर्माण करता है।

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥३॥

स्वप्न वास्तविक नहीं किन्तु मायामात्र (विपरीत ज्ञानमात्र) है, क्योंकि वहाँ वस्तु का स्वरूप पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता।

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥४॥

स्वप्न वस्तुतत्त्व न सही, भावी शुभाशुभ कर्मों का सूचक तो है ही, क्योंकि श्रुति ऐसा कहती है और स्वप्न के ज्ञाता भी ऐसा ही कहते हैं।

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥५॥

विद्यमान पदार्थों को छोड़कर अन्य पदार्थों में अत्यन्त अनुराग (गम्भीर चिन्तन) से तिरोहित (छिपा हुआ) विषय स्वप्न के रूप में प्रकट होता है। इसी अत्यन्त अनुराग से जीवात्मा का बन्ध और मोक्ष होता है।

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥६॥

जीवात्मा देहसम्बन्ध (देह में रहते हुए) से स्वप्न देखता है, देह से बाहर नहीं, अतः स्वप्न वस्तुतत्त्व नहीं।

तदभावो नाडीषु तत् श्रुतेरात्मनि च ॥७॥

स्वप्न का अभाव होने पर सुषुप्ति होती है; उस समय जीवात्मा नाड़ियों और परमात्मा में अवस्थित रहता है, यह श्रुतिप्रमाण से सिद्ध है।

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥८॥

क्योंकि परमात्मा में जीवात्मा की सुषुप्ति होती है इसलिए उसका प्रबोध परमात्मा से कहा गया है।

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥९॥

जो जीवात्मा सोता है, वही सुषुप्ति से प्रबुद्ध होता है, यह बात कर्मप्रवृत्ति, अनुस्मृति, शब्दप्रमाण और विधि से जानी जाती है।

मुग्धेऽर्द्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥१०॥

मूर्च्छित अवस्था में आधी सुषुप्ति दशा समझनी चाहिए, अन्य अवस्थाओं से विलक्षण होने के कारण।

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥११॥

परमात्मा में स्वप्नादि अवस्थाएँ न जीव के सम्पर्क से सम्भव हैं और न स्वरूप से, क्योंकि श्रुति-स्मृति में परमात्मा को अन्दर-बाहर स्थित रहनेवाला कहा गया है।

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥१२॥

यदि यह कहो कि शास्त्र में भेदकथन से पूर्व सूत्र में कहा गया अर्थ ठीक नहीं तो ऐसा कहना असङ्गत है, क्योंकि शास्त्र में प्रत्येक स्थान पर भेद का कथन नहीं है, अभेद का कथन है।

अपि चैवमेके ॥१३॥

और भी, एक शाखावाले आलंकारिक रूप से परमात्मा में जाग्रत् आदि अवस्थाओं को कल्पित करके पश्चात् स्वरूपतः उसमें अवस्थाएँ नहीं होतीं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं।

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥१४॥

निश्चय ही परमात्मा रूपरहित है, क्योंकि उसका मुख्यरूप से वैसा वर्णन किया गया है।

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥१५॥

परमात्मा के निराकार रूप का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियों की यथार्थता से ब्रह्म के अभाव का प्रसङ्ग नहीं आता, वह तो भावात्मक वस्तु है प्रकाश की भाँति।

आह च तन्मात्रम् ॥१६॥

शास्त्र में भी परमात्मा को प्रकाशमात्र अथवा चेतनमात्र कहा है।

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥१७॥

ब्रह्म के प्रकाशात्मक स्वरूप को श्रुति=वेद दिखलाता है और स्मृति भी उसका प्रतिपादन करती है।

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥१८॥

परमात्मा प्रकाशस्वरूप है, अतः उसकी सूर्यादि के साथ उपमा दी जाती है।

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥१९॥

जल में स्थित चन्द्रमा के प्रतिविम्ब के समान ब्रह्म के प्रतिविम्ब का ग्रहण न होने से ब्रह्म को उस प्रकार का (परिच्छिन्न, एकदेशी) कहना असंगत है।

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥२०॥

अन्तर्यामी होने से ब्रह्म, वस्तु के घटने-बढ़ने का भागी होगा—ऐसा कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि घटना-बढ़ना दोनों पदार्थों के सामञ्जस्य=सावयव सम्बन्ध से होता है। (परमात्मा के विलक्षण और अपरिमित होने में उसका सावयव सम्बन्ध किसी पदार्थ से नहीं है।)

दर्शनाच्च ॥२१॥

सर्वान्तर्यामी परब्रह्म में वृद्धि और ह्रास नहीं होता, यह बात शास्त्रों से भी सिद्ध होती है।

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥२२॥

परमात्मा सूर्य आदि की भाँति प्रकाशस्वरूप है। जहाँ श्रुति में 'नेति-नेति' द्वारा प्रतिषेध है, वह ब्रह्म का नहीं अपितु ब्रह्म की इयत्ता (सीमा, इतना होने) का प्रतिषेध है, क्योंकि श्रुति आगे पुनः ब्रह्म का उपदेश करती है।

तदव्यक्तमाह हि ॥२३॥

वह ब्रह्म अव्यक्त, इन्द्रियों से ग्रहण किया जानेवाला नहीं, ऐसा श्रुति कहती है।

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥२४॥

वह अव्यक्त ब्रह्म विधिपूर्वक योगाभ्यास करने से जाना जाता है, यह श्रुति और स्मृति से विदित होता है।

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥२५॥

योगाभ्यास से आत्मा में ब्रह्म का प्रकाश हो जाता है। उस दशा में आत्मा का ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध (अभेद) हो जाता है, प्रकाश आदि के समान।

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥२६॥

इस तादात्म्य के प्रकटीभाव के साथ जीवात्मा अनन्त परमात्मा के साथ अवस्थित हो जाता है, इस विषय में शास्त्र में भी ऐसे ही प्रमाण मिलते हैं।

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥२७॥

शास्त्रों में दोनों—जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद के कथन का स्पष्टीकरण अहि-कुण्डल (साँप और उसका कुण्डली मारकर बैठना) के दृष्टान्त द्वारा हो जाता है।

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥२८॥

अथवा उस भेद और अभेद के व्यवहार में प्रकाश और उसके आश्रय की भाँति संगति लग सकती है, क्योंकि तेज=सूर्यादि के उदाहरण से उनका अभेद माना गया है।

पूर्ववद्वा ॥२९॥

अथवा, पूर्वप्रतिपादित (वे० ३।२।१९) प्रकाश्य और प्रकाशक या व्याप्य और व्यापक की भाँति मोक्षावस्था में जीवात्मा और परमात्मा का भेद होते हुए भी अभेद होता है।

प्रतिषेधाच्च ॥३०॥

शास्त्रों में जीवात्मा के ब्रह्म हो जाने का निषेध है।

परमतः सेतून्मानसम्बन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥३१॥

परमात्मा के विषय में सेतु=पुल, उन्मान=माप, सम्बन्ध और भेद का कथन होने से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म से परे कोई और तत्त्व भी है।

सामान्यात्तु ॥३२॥

सेतु का व्यपदेश सामान्य धर्म को लेकर कहा गया है। (सेतु नदियों का विधारक होता है, ब्रह्म भी जगत् और लोकों की मर्यादा का विधारक है।)

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥३३॥

लोकप्रसिद्ध पाद=अंश के समान जो ब्रह्म का व्यपदेश है, वह परमात्मा के सुलभ ज्ञानार्थ है, उसे सरलता से जानने के लिए है।

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥३४॥

परमात्मा अनन्त है, परन्तु उसकी प्राप्ति होती है स्थानविशेष (हृदय) में, अतः प्रकाश आदि के समान स्थानविशेष के सम्बन्ध से ब्रह्म में उन्मान=माप का कथन सम्भव है।

उपपत्तेश्च ॥३५॥

अन्तिम आक्षेप (भेदव्यपदेश) का भी युक्ति से समाधान हो जाता है। (**विष्णोर्यत् परमं पदम्।** ऋ० १।१२।१२—यहाँ परमपद से परमात्मा से भिन्न किसी वस्तु का संकेत नहीं है, अपितु यह परमात्मा की अनन्तता का सूचक है।)

तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥३६॥

शास्त्रों में ब्रह्म से परे अन्य किसी सत्ता के प्रतिषेध किये जाने से भी ब्रह्म से परे और कोई तत्त्व नहीं, यही निश्चय होता है।

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥३७॥

इस प्रतिषेध के द्वारा ब्रह्म का सर्वव्यापक होना सिद्ध होता है, क्योंकि इस विषय में आयाम (विस्तार) वाचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

फलमत उपपत्तेः ॥३८॥

सर्वव्यापक परमात्मा से जीवात्माओं को शुभाशुभ कर्मों का फल प्राप्त होता है, यह बात युक्ति से सिद्ध है।

श्रुतत्वाच्च ॥३९॥

न केवल युक्ति से अपितु श्रुति में प्रतिपादित होने से भी परमात्मा ही कर्मफल प्रदाता सिद्ध होता है।

धर्मं जैमिनिरत एव ॥४०॥

श्रुति में प्रतिपादित होने के कारण आचार्य जैमिनी कर्मफल प्रदान करने में धर्म को प्रधान मानते हैं।

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥४१॥

बादरायण=व्यास का कहना है कि पूर्व कहे परमात्मा को कर्मफल-प्रदान में प्रधान कारण मानना चाहिए, क्योंकि वह समस्त विश्व के जन्मादि का कारण है।

॥ इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये तृतीयः पादः

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥१॥

सब उपनिषदों में उपास्यरूप से ब्रह्म ही लक्षित है, अतः उसकी उपासना-विधि में भेद नहीं।

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥२॥

यदि ऐसा कहो कि उपासनाक्रम में अग्नि, प्राण आदि भेद के कारण उपासनाओं में भेद है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा भेद एक में भी सम्भव है।

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च सववच्च तन्नियमः ॥३॥

अध्ययन की प्रथा उस प्रकार की होने के कारण उस शाखा के अध्ययन के शिष्टाचार में अधिकृत हो जाने (अधिकारी बन जाने) पर, यज्ञ के समान स्वाध्याय में 'शिरोव्रत' का नियम है, ब्रह्मोपासना में नहीं, अतः इस आधार पर उपनिषदों में उपासना-भेद कहना असङ्गत है।

दर्शयति च ॥४॥

श्रुति में एक ब्रह्म की ही उपासना दिखाई (वर्णित की गई) है।

उपसंहारोऽर्थाभेदाद् विधिशेषवत् समाने च ॥५॥

उपासना-विज्ञान और उपास्य-ब्रह्म के समान होने पर एक स्थान पर कहे हुए

उपनिषद् वचनों का अन्यत्र उपसंहार कर लेना चाहिए, जैसे विधिशेषों=अग्निहोत्र आदि कर्मों में कर लिया जाता है।

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ।।६।।

यदि यह कहो कि उपसंहार विषय में पृथक् शब्दप्रयोग से उपास्य में अन्यथापन=भेद आ जाएगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ उपास्य और उसके गुणों का कोई भेद नहीं।

न वा प्रकरणभेदात् परोवरीयस्त्वादिवत् ।।७।।

प्रकरण के भेद से भी उपासनाओं में भेद नहीं, परोवरीयस्त्व (सबसे बड़ा होना) आदि के समान।

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ।।८।।

यदि यह कहो कि संज्ञा=नाम के भेद से उपासनाओं में भेद आ जाएगा तो इस विषय में पहले (वे० १।१।२०-३१) समाधान कर दिया गया है। संज्ञाभेद से भी संज्ञी का एक होना तो निश्चित है।

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ।।९।।

परब्रह्म के सर्वत्र व्यापक होने से सब स्थानों में उसकी उपासना का विधान उचित है।

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ।।१०।।

सब अध्यात्मशास्त्रों में ब्रह्म की उपासनाओं का अभेद होने से, आगे कहे जानेवाले गुण दूसरे स्थलों पर उपसंग्रह (सम्बद्ध) करने योग्य हैं।

आनन्दादयः प्रधानस्य ।।११।।

परब्रह्म के आनन्द आदि (आनन्द, सत्य, ज्ञान) गुण हैं।

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ।।१२।।

प्रियशिरस्त्वादि गुणों का उपसंहार उपासनाओं में प्राप्त नहीं होता, क्योंकि प्रियशिरस् (प्रिय, मोद, प्रमोद) आदि गुणों में उत्कर्ष और अपकर्ष होने से ब्रह्म में भी वृद्धि और ह्रास का दोष आएगा।

इतरे त्वर्थसामान्यात् ।।१३।।

प्रियशिरस् आदि से भिन्न आनन्द आदि गुण उपासनाओं में अभीष्ट हैं, क्योंकि उनमें उपास्य अर्थ समान है।

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ।।१४।।

परब्रह्म को इन्द्रिय आदि प्रकृतिपर्यन्त तत्त्वों से पर=उत्कृष्ट, सूक्ष्म बताया जाना उसकी उपासना=चिन्तन के लिए है। कोई प्रयोजन न होने से 'अर्थ' आदि तत्त्व उपासनीय नहीं है।

आत्मशब्दाच्च ।।१५।।

उपनिषद् के परत्व प्रकरण में प्रयुक्त आत्मा शब्द से भी यही प्रमाणित होता है कि ब्रह्मस्वरूप का निरूपण करनेवाले गुणों का उपासनाओं में उपसंहार होता है, दूसरों का नहीं।

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥१६॥

उक्त प्रकरण (गूढोत्मा न प्रकाशते। कठो० १।३।१२) में आत्मा पद से परमात्मा का ग्रहण है, अन्य अनेक स्थलों की भाँति, यह बात अगले वाक्य से निश्चित होती है।

अन्वयादिति चेत् स्यादवधारणात् ॥१७॥

'आत्मा' पद का प्रयोग अन्वय (पद-पदार्थ-सम्बन्ध) से जीवात्मा के लिए माना जाए तो इसका निश्चय अवधारण (पूर्वापर प्रसङ्ग के आधार पर) से करना चाहिए।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥१८॥

समस्त जगत् ब्रह्म का कार्य है, इस कथन से ब्रह्म के अपूर्वता गुण का उपसंहार उपासनाओं में समझना चाहिए। ('अपूर्व' पद से तात्पर्य है कारणरहित।)

समान एवं चाभेदात् ॥१९॥

उपास्य ब्रह्म के अभेद=एक होने से अपूर्वता गुण की भाँति 'अनपरता' आदि गुणों का भी उपसंहार जानना चाहिए। (अनपर का अर्थ है जो स्वयं कार्यरूप में परिणत नहीं होता।)

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥२०॥

इस प्रकार एक ब्रह्म की उपासना होने रूप सम्बन्ध से दूसरे स्थल में वर्णित गुणों का भी उपसंहार वैदिक-उपासनाओं में होना चाहिए।

न वा विशेषात् ॥२१॥

श्रुति से अन्यत्र स्मृति में वर्णित परमात्मा के गुणों का उपसंहार श्रुति में नहीं किया जाता, क्योंकि ब्रह्मस्वरूप के वर्णन में वेदादि शास्त्रों का कथन विशेषता रखता है।

दर्शयति च ॥२२॥

'श्रुति' शब्द श्रुति (वेद एवं उपनिषद्) में कहे हुए ब्रह्मवर्णन की प्रामाणिकता और उसकी सफलता को दर्शाते भी हैं।

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥२३॥

पूर्वोक्त अभेद हेतु से संभृति (धारण, पोषण) तथा द्युव्याप्ति (समस्त विश्व में व्याप्त होना) गुणों का उपसंहार भी उपासनाओं में अभिप्रेत है।

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥२४॥

उपासनाओं में उन गुणों का उपसंहार करना चाहिए, जो वहाँ नहीं पढ़े गये जैसे पुरुष (ब्रह्म) विद्या में किया जाता है।

वेधाद्यर्थभेदात् ॥२५॥

वेध (बींधना) आदि गुणों का उपसंहार नहीं होता, अर्थभेद होने के कारण।

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत् तदुक्तम् ॥२६॥

छान्दोग्य-उपनिषद् (८।१३।१) में प्रयुक्त 'हानि' पद त्याग अर्थ में है, यह बात 'उपायन' शब्द के सान्निध्य से ज्ञात होती है, कुशा, छन्दस्तुति और उपगान की भाँति। यह बात अन्यत्र (पूर्वमीमांसा १०।८।४ में) कही गई है।

साम्पराये तर्त्तव्याभावात् तथा ह्यन्ये ॥२७॥

ब्रह्मज्ञानी को परलोक में भोग द्वारा पार होने योग्य कुछ शेष नहीं रह जाता, अतः ब्रह्मज्ञान होने पर पाप-पुण्य दोनों की निवृत्ति हो जाती है जैसाकि अन्य शाखावाले मानते हैं।

छन्दत उभयाविरोधात् ॥२८॥

छान्दोग्य उपनिषद् में पठित 'पाप' पद पाप-पुण्य दोनों के लिए प्रयुक्त है। पाप का कथन अनायास=स्वाभाविक रूप से होने के कारण दोनों स्थलों (मुण्डक० ३।१।३ और छान्दोग्य ८।१३।१) में कोई विरोध नहीं है।

गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥२९॥

ब्रह्मोपासन को गतिवाला और गतिहीन—दोनों प्रकार का स्वीकार किये जाने से गति की सफलता प्रमाणित होती है, ऐसा न माना जाए तो शास्त्रवचनों में विरोध होगा।

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोलब्धेर्लोकवत् ॥३०॥

ब्रह्मोपासक की देवयान मार्ग से गति होती है, यह युक्तियुक्त है, गति के हेतु उपासना का फल प्राप्त होने के कारण, जैसाकि लोक में देखा जाता है।

अनियमः सर्वासामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥३१॥

उपासनाओं के फलस्वरूप ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर प्रत्येक उपासक को ब्रह्म-साक्षात्कार हो जाता है, ऐसा नियम नहीं। इसमें कोई विरोध नहीं, यह श्रुति और स्मृति से ज्ञात होता है।

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥३२॥

ब्रह्मोपासना से जिनको मोक्षाधिकार प्राप्त हो गया है, वे अधिकारपर्यन्त वहाँ ठहरते हैं (तत्पश्चात् लौट आते हैं।) अथवा ब्रह्मोपासना से मोक्षाधिकारप्राप्त महानु-भावों को योग्यता=ज्ञान के अनुसार मोक्ष-आनन्द की प्राप्ति होती है।

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसद्वत् तदुक्तम् ॥३३॥

अक्षर उपासनाओं में कहे धर्मों का उपसंहार तो अन्य उपासनाओं में होता है, क्योंकि सर्वत्र ब्रह्म समान है और वही अस्थूलता=सूक्ष्मता आदि धर्म हैं, औपसद (यज्ञ विशेष) के समान। यह बात अन्यत्र (पूर्वमीमांसा ३।३।९ में) कही गई है।

इयदामननात् ॥३४॥

उतने गुणों का उपसंहार समझना चाहिए जितने गुणों का शास्त्र में कथन किया गया है।

अन्तरा भूतग्रामवत् स्वात्मनः ॥३५॥

अपने आत्मा में ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। आत्मा में ब्रह्म ऐसे ही व्याप्त है जैसे भूतसमूह में।

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥३६॥

यदि यह कहो कि आत्मा में ब्रह्म की उपासना मानने पर उपासना की अन्य विधियाँ असंगत हो जाएँगी, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि एक ही बात को भिन्न-भिन्न रीति से समझाया जाता है।

व्यतिहारो विशिंषन्ति हीतरवत् ॥३७॥

उपासना-सिद्धि की परम अवधि व्यतिहार (उपास्य और उपासक की परस्पर एकरूपता की प्रतीति होना) है, क्योंकि आचार्य एक को दूसरे के समान प्रतिपादित करते हैं।

सैव हि सत्यादयः ॥३८॥

विभिन्न उपनिषदों में वर्णन होने पर भी सर्वत्र उपासना वही है, इसलिए सत्यादि गुणों का उपसंहार उनमें परस्पर होता है।

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥३९॥

छान्दोग्य में वर्णित सत्यकाम आदि गुण दूसरे स्थान (बृहदारण्यक में) पर उपसंहार कर लेने चाहिएँ, क्योंकि दोनों स्थानों पर आश्रय आदि का भेद है।

आदरादलोपः ॥४०॥

आदर=श्रद्धापूर्वक इन उपासनाओं का अनुष्ठान करना चाहिए जिससे इनका लोप न हो।

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥४१॥

श्रद्धापूर्वक उपासना के अनुष्ठान से ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर उपासक को मोक्ष-प्राप्ति होती है, ऐसा शास्त्र से सिद्ध है।

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥४२॥

उपासना से प्रतिबन्ध (चित्त विक्षेप आदि) का नाश होता है और ब्रह्मज्ञान का प्रादुर्भाव भी। ऐसा नियम नहीं है कि ब्रह्मज्ञान से केवल प्रतिबन्ध नाश होता है या केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है। ब्रह्मदर्शन से दोनों फलों की प्राप्ति होती है।

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥४३॥

जैसे दक्षिणा यज्ञ के वैगुण्य (अपूर्णता) का निराकरण करती हुई यज्ञ का साधन होती है, ऐसे ही उपासना ज्ञान का साधन है। यह अन्यत्र (पूर्वमीमांसा ३।७।१९ में) कहा है।

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥४४॥

ब्रह्मज्ञान मोक्षसाधन में अतिशय बलवान् है, यह प्रमाणों की बहुलता से ज्ञात होता है और शास्त्रों में भी कहा है।

पूर्वविकल्पः प्रकरणात् स्यात् क्रियामानसवत् ॥४५॥

प्रकरण से ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्म के साथ ज्ञान का विकल्प होना चाहिए जैसे बाह्य क्रिया के साथ मानसिक क्रिया का विकल्प होता है।

अतिदेशाच्च ॥४६॥

अतिदेश (सामान्य कथन के अपवाद) से भी उक्त अर्थ की पुष्टि होती है।

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥४७॥

अध्यात्मशास्त्रों में निश्चय कर दिये जाने से ज्ञान ही मोक्ष का साधन है।

दर्शनाच्च ॥४८॥

इस विषय में अन्य प्रमाणों के देखे जाने से भी ज्ञान ही मोक्ष का साधन निश्चित होता है।

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥४९॥

प्रकरण की अपेक्षा श्रुति आदि अधिक बलवान् माने गये हैं, इसलिए प्रकरण से श्रुतिवचनों की बाधा नहीं होती।

अनुबन्धादिभ्य प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम् ॥५०॥

विभिन्न विद्याओं के फल पृथक् देखे जाते हैं, इसी प्रकार अनुबन्ध आदि कारणों से कर्म तथा ज्ञान का फल पृथक् देखा जाता है, अतः मोक्ष-प्राप्ति में कर्म एवं ज्ञान का विकल्प नहीं कहा जा सकता, यह अन्यत्र कहा है।

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥५१॥

पृथक् फल की प्राप्ति के कारण केवल नाम की समानता से ज्ञान का उपासना के साथ विकल्प नहीं हो सकता, जैसे 'मृत्यु' शब्द की समानता से लोकसंहार की प्राप्ति नहीं होती।

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥५२॥

'ज्ञान से मोक्ष होता है'—इस विषय में शब्दप्रमाण की बहुलता है, इसलिए ज्ञान का मोक्षफल से सम्बन्ध निश्चित होता है।

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥५३॥

कुछ अनात्मवादी कहते हैं कि आत्मा के नाम से कहे जानेवाले सब कार्य शरीर में होते हैं, अतः ज्ञान से उपासक-आत्मा मोक्ष में जाता है, ऐसा कहना युक्तिसंगत नहीं।

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥५४॥

आत्मा का शरीर से पृथक् अस्तित्व है, क्योंकि आत्मा के अभाव में शरीर रहते हुए भी उससे कार्य नहीं हो पाते। मृत शरीर में आत्मगुणों की उपलब्धि नहीं होती, अतः आत्मा शरीर से भिन्न चेतन है और उसके लिए मोक्ष का उपदेश युक्तियुक्त है।

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥५५॥

उद्गीथ आदि उपासनावाली विधियाँ जिन शाखाओं में पढ़ी हैं, उन्हीं में नहीं समझनी चाहिएँ अपितु उनका अनुवर्तन प्रत्येक शाखा में कर लेना चाहिए।

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥५६॥

जैसे एक वेद के मन्त्रों का अन्य वेदप्रतिपादित कर्म में विनियोग हो जाता है, ऐसे ही एक शाखा की उपासना-विधि का अन्यत्र अनुवर्तन हो जाएगा।

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥५७॥

दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों के समान समष्टि उपासना का अनुवर्तन होगा, जैसा कि शास्त्र दिखलाता है।

नाना शब्दादिभेदात् ॥५८॥

विधान और प्रकारभेद से उपासनाएँ अनेक हैं और एक-दूसरे से भिन्न हैं।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥५९॥

सब उपासनाओं का फल समान है, अतः उनके अनुष्ठान में विकल्प मानना युक्तियुक्त है।

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥६०॥

काम्य=लौकिक फलवाली उपासनाओं में समान फल न होने के कारण (काम्य-फल पृथक्-पृथक् होने से) इच्छानुसार उनमें चाहे समुच्चय माना जाए अथवा न माना जाए।

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥६१॥

उद्गीथ आदि अङ्गवाली उपासनाओं में आश्रय के अनुसार विधान होता है, अतः उनमें समुच्चय मानना संगत है।

शिष्टेश्च ॥६२॥

शास्त्रीय विधान से भी अङ्ग-उपासनाओं में समुच्चय का होना प्रमाणित होता है।

समाहारात् ॥६३॥

कर्म में हुई कमी को पूरा करने से अङ्ग-उपासनाओं में आश्रयानुसार समुच्चय माना जाना प्रमाणित होता है।

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥६४॥

अङ्ग-उपासनाओं के अनुष्ठान में समुच्चय इसलिए भी मानना चाहिए कि गुण और उसके आश्रय 'ओम्' का सब कर्मों में समान रूप से होना श्रुति बताती है।

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥६५॥

(गत चार सूत्रों में व्यक्त किये पूर्वपक्ष का उत्तर देते हुए महर्षि व्यास कहते हैं—) कर्म और उपासना के सहभाव की श्रुति न होने से इनका समुच्चय नहीं है।

दर्शनाच्च ॥६६॥

एक विज्ञ=जानकार ब्रह्मा द्वारा यज्ञ, यजमान और ऋत्विजों की रक्षा का उल्लेख देखे जाने से समुच्चय के अनियम का पता लगता है। (कर्म के साथ उपासनाओं का समुच्चय नहीं है; जैसा जहाँ अभिलषित हो समुच्चय अथवा विकल्प के अनुसार अनुष्ठान कर लेना चाहिए।)

॥ इति तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थः पादः

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥१॥

पिछले पाद में प्रतिपादित उपासनाजनित ज्ञान से मोक्ष होता है, यह शास्त्र-वचन से जाना जाता है, ऐसा व्यास मानते हैं।

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥२॥

ज्ञान से पुरुष के लिए जो फल बताया गया है वह कर्म का अङ्ग होने से अर्थवाद

(प्रशंसा) मात्र है, जैसे यज्ञ के उपाङ्गों में फलश्रुति है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं।

आचारदर्शनात् ॥३॥

ज्ञानी व्यक्तियों के कर्मानुष्ठान=यज्ञानुष्ठान करते रहने का शास्त्रों में उल्लेख है, अतः उपासनाविद्या में यज्ञकर्म अभीष्ट है।

तत् श्रुतेः ॥४॥

'ज्ञान कर्म का अङ्ग है'—यह बात श्रुतिप्रमाण से भी सिद्ध होती है।

समन्वारम्भणात् ॥५॥

फल-प्राप्ति में विद्या और कर्म दोनों सहयोगी हैं, अकेले ज्ञान को फलोत्पादक नहीं माना जा सकता, ज्ञान का उपयोग कर्म का अङ्ग होकर सम्भव है।

तद्वतो विधानात् ॥६॥

विद्या-प्राप्त मनुष्य के लिए कर्म के विधान से यह विदित होता है कि ज्ञान कर्म का अङ्ग है।

नियमाच्च ॥७॥

कर्मानुष्ठान का नियम (वेद में 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। यजु० ४०।२, मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे—ऐसा आदेश) पाये जाने से भी ज्ञान कर्म का अङ्ग जाना जाता है।

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥८॥

बादरायण=व्यास का मत है कि ब्रह्मविद्या में कर्मों की अपेक्षा ज्ञान का अधिक उपदेश होने से ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं है। श्रुति में भी ऐसा ही देखने में आता है।

तुल्यं तु दर्शनम् ॥९॥

जो आचारदर्शन (वे० ३।४।४) हेतु से ज्ञान को कर्म का अङ्ग बताया गया है वह दोनों (कर्मानुष्ठान और कर्मत्याग) में तुल्य है।

असार्वत्रिकी ॥१०॥

तत् श्रुते: (वे० ३।४।४) से जो श्रुति (यदेव विद्यया करोति। छा० १।१।१०) कही गई है, वह सर्वत्र घटनेवाली नहीं है, केवल उद्गीथ प्रकरण की है।

विभागः शतवत् ॥११॥

सौ मुद्राओं के विभाग की भाँति विद्या का विभाग (परा और अपरा) जानना चाहिए।

अध्ययनमात्रवतः ॥१२॥

'आचार्यकुल में वेद पढ़कर गुरु के विधानानुसार सम्पूर्ण कर्म करें—यह तो वेदाध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी के लिए कहा है, मुमुक्षु के लिए नहीं, अतः ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं माना जा सकता।

नाविशेषात् ॥१३॥

नियम का हेतु भी ज्ञान को कर्म का अङ्ग सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि वह तो एक सामान्य कथन है।

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥१४॥

अथवा, कर्म की स्तुति के लिए आयुपर्यन्त कर्मानुष्ठान की अनुमति है।

कामकारेण चैके ॥१५॥

कतिपय शाखावाले ज्ञानी को उसकी अपनी इच्छानुसार कर्म करना बताते हैं।

उपमर्दं च ॥१६॥

कुछ शाखावाले ब्रह्मविद्या से कर्मों का उपमर्द=नाश मानते हैं। (यदि ज्ञान कर्म का अङ्ग हो तो उसका क्षय होना सम्भव नहीं, अतः ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं।)

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥१७॥

ऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारियों और संन्यासियों में ब्रह्मविद्या के प्रति निष्ठा और अग्निहोत्र आदि कर्म का अभाव देखा जाता है (अतः ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं हो सकता) क्योंकि शास्त्रों में ऊर्ध्वरेताओं के लिए अग्निहोत्रादि कर्म का विधान नहीं है।

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥१८॥

शास्त्रवचनों में ऊर्ध्वरेता-आश्रमियों का कथनमात्र है, विधि नहीं है, ऐसी आचार्य जैमिनि की मान्यता है, क्योंकि कर्मत्याग की शास्त्र निन्दा करता है।

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥१९॥

शास्त्रवचनों में सब आश्रमों के लिए समान कथन होने से गृहस्थाश्रम की भाँति अन्याश्रम (संन्यासादि) भी अनुष्ठान के योग्य हैं, ऐसा बादरायण का मत है।

विधिर्वा धारणवत् ॥२०॥

अथवा, धारणविधि के समान 'प्रव्रजन्ति' को संन्यासाश्रम की विधि समझना चाहिए।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥२१॥

यदि यह कहो कि ब्रह्मलोक चाहते हुए संन्यासीजन संन्यास धारण करते हैं—यह कथन स्तुतिमात्र है, विधि नहीं, तो ठीक नहीं क्योंकि विधि का विधायक अपूर्व=भिन्न हेतु वहाँ विद्यमान है।

भावशब्दाच्च ॥२२॥

शास्त्र में संन्यास ग्रहण किये जाने का व्यवहार है, इसी से संन्यास आश्रम की विधि का निश्चय होता है।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥२३॥

यदि यह कहो कि कथाएँ मनोरञ्जनार्थ होती हैं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ये कथाएँ विशेषता से युक्त हैं।

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥२४॥

उक्त प्रकार प्रतिषेध से ज्ञान कर्म का अङ्ग न होने पर अध्यात्म सन्दर्भों के साथ समन्वय से ज्ञान स्वतन्त्र रूप से मोक्ष का साधन है, ऐसा सिद्ध होता है।

अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥२५॥

मोक्ष-प्राप्ति का साधन केवल ज्ञान है, अतः उस दशा में अग्निहोत्रादि कर्मानुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती।

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥२६॥

ज्ञान-प्राप्ति के लिए सब कर्मों की अपेक्षा है, क्योंकि ज्ञान के लिए यज्ञादि कर्मों के अनुष्ठान का शास्त्र ने प्रतिपादन किया है, अश्व=घोड़े के समान।

शमदमाद्युपेतः स्यात् तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥२७॥

ज्ञानोत्पत्ति में कर्मों की अपेक्षा होने पर भी ब्रह्म-जिज्ञासु को शम-दम आदि से युक्त होना चाहिए, क्योंकि ज्ञान-प्राप्ति में उनका विधान है, ज्ञान-साधन के रूप में शम-दम आदि के अवश्य अनुष्ठेय होने के कारण।

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥२८॥

प्राणों पर संकट उपस्थित होने पर मुमुक्षु के लिए सब अन्नों, सब-कुछ के आहार की अनुमति शास्त्र देता है, ऐसा शास्त्र में उल्लेख पाया जाता है।

अबाधाच्च ॥२९॥

प्राण-संकट में पड़ने पर सब प्रकार का आहार करने से—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः।' छान्दोग्य ७।२६।२, इस श्रुति से विरोध भी नहीं आता।

अपि च स्मर्यते ॥३०॥

स्मृति में भी प्राण-संकट उपस्थित होने पर अभक्ष्य-भक्षण कहा है।

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥३१॥

प्राण-संकट के अवसर को छोड़कर अन्य अवस्था में अभक्ष्य-भक्षण का श्रुति और स्मृति में निषेध है।

विहितत्वाच्चाश्रमकर्माऽपि ॥३२॥

शास्त्रविहित होने के कारण मुमुक्षु को ब्रह्मचर्यादि स्वाश्रमकर्मों का भी अनुष्ठान करना चाहिए।

सहकारित्वेन च ॥३३॥

ज्ञान के सहकारी होने के कारण भी अपने-अपने आश्रमकर्मों का अनुष्ठान मुमुक्षु के लिए आवश्यक है।

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥३४॥

विद्या के सहकारी और आश्रमकर्म—दोनों रूप में किये जानेवाले, वे कर्म भिन्न नहीं हैं, एक ही हैं—इस विषय में श्रुति और स्मृति दोनों प्रमाण हैं।

अनभिभवं च दर्शयति ॥३५॥

आश्रमकर्म और विद्या सहकारीकर्म—दोनों एक हैं (ब्रह्मचर्याश्रम धर्म है, परन्तु विद्या का सहकारी है।) ब्रह्मचर्यरूप आश्रम कर्म से आत्मा के अनभिभव=साक्षात्कार को श्रुति दर्शाती है।

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥३६॥

आश्रमकर्म के बिना भी ज्ञान की प्राप्ति होती है, क्योंकि शास्त्र में वैसा देखा जाता है।

अपि च स्मर्यते ॥३७॥

स्मृति भी ऐसा ही प्रतिपादन करती है कि आश्रमकर्म के बिना भी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता हो जाता है।

विशेषानुग्रहश्च ॥३८॥

योगादि के बिना ज्ञान-प्राप्ति हो जाने पर परमात्मा का विशेष अनुग्रह समझना चाहिए।

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥३९॥

श्रुति-स्मृति प्रमाण से विदित होता है कि आश्रमकर्म की अपेक्षा शम-दम आदि ज्ञान के अन्तरङ्ग साधन हैं, अतः उनका अनुष्ठान ज्ञान-प्राप्ति में अत्यावश्यक है।

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥४०॥

नैष्ठिक ब्रह्मचारी अथवा वानप्रस्थ आदि होकर गृहस्थ में वापस नहीं आता, यह जैमिनि का भी मत है (व्यास का तो है ही) क्योंकि शास्त्र का ऐसा विधान है और आरोह के समान अवरोह का कहीं उल्लेख नहीं है।

नाधिकारिकमपि पतनानुमानात् तदयोगात् ॥४१॥

प्रायश्चित्ताधिकार (मीमांसा ६।८।२२) में कहा है—'पतित ऊर्ध्वरेता के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है।' ऊर्ध्वरेता के पतित हो जाने पर वह प्रायश्चित का अधिकारी नहीं है, प्रायश्चित्त के योग्य नहीं है।

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत् तदुक्तम् ॥४२॥

कुछ आचार्य ऊर्ध्वरेता अवस्था को प्राप्त हुए आश्रमी के पतित होने को उपपातक मानते हैं, अतः पूर्वोक्त अभक्ष्य भोजन के प्रायश्चित्त के समान उसका प्रायश्चित्त भी मानते हैं।

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥४३॥

नैष्ठिक—ऊर्ध्वरेता का पतित होना चाहे उपपातक हो या महापतक, उसके प्रायश्चित्त का विधान हो या न हो—प्रत्येक अवस्था में उसका बहिष्कार होना चाहिए, यह स्मृति और शिष्टाचार से प्रमाणित होता है।

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥४४॥

कर्म का अनुष्ठान यजमान को करना चाहिए, क्योंकि श्रुति उस कर्म के फल का मिलना यजमान को बताती है, यह आत्रेय ऋषि का मत है।

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥४५॥

अङ्ग-उपासना ऋत्विजों का कर्म है क्योंकि, उसके अनुष्ठान के लिए यजमान द्वारा ऋत्विजों को मोल लिया जाता है, यह औडुलोमि का विचार है।

श्रुतेश्च ॥४६॥

श्रुतिवचन से भी यही सिद्ध होता है कि यह कृत्य ऋत्विज के द्वारा अनुष्ठान करने योग्य है।

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ।।४७।।

ब्रह्मज्ञान के लिए उपासक को तीसरे (श्रवण, मनन, निदिध्यासन) सहकारी का अनुष्ठान विहित है। विधि-निषेध के समान यह विकल्प से होता है।

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ।।४८।।

गृहस्थाश्रम में ज्ञान के सब साधनों का सम्भव होने के कारण गृहस्थाश्रमी से ब्रह्मविद्या विषयक प्रकरण का उपसंहार हुआ है। (संन्यासी ही ब्रह्मविद्या के अधिकारी नहीं हैं, गृहस्थाश्रमी को भी ब्रह्मविद्या-प्राप्ति का अधिकार है।)

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ।।४९।।

गृहस्थ को इतर आश्रमकर्मों का अनुष्ठान मौनवत् करना चाहिए, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा ही उपदेश है।

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ।।५०।।

ब्रह्मज्ञानी गुरु द्वारा उपदिष्ट साधनों का अनुष्ठान करते हुए उसे प्रकट न कर (दण्ड-कमण्डलु आदि चिह्नों को प्रयुक्त न करता हुआ) निरन्तर उसमें तत्पर रहे।

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ।।५१।।

किसी प्रतिबन्ध (विघ्न) के प्रस्तुत न होने पर इस जन्म में भी ब्रह्मज्ञान हो जाता है, श्रुति में ऐसा प्रतिपादन होने से।

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थावधृतेः ।।५२।।

ज्ञान प्राप्त हो जाने पर मुक्तिरूप फल के प्राप्त होने में कोई नियम नहीं है। ऐसा कभी नहीं होता कि आत्मज्ञान इस जन्म में हो और मोक्ष अगले जन्म में। मुक्ति में इस जन्म या परजन्म की अपेक्षा भी नहीं है। 'तदवस्थावधृतेः' पद की पुनरुक्ति अध्याय-समाप्ति की सूचक है।

।। इति तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।।

चतुर्थाध्याये प्रथमः पादः

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥१॥

शास्त्रों में अनेक स्थानों पर, अनेक प्रकार से पुनः-पुनः उपदेश से यह विदित होता है कि ब्रह्मज्ञान के साधनों का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए।

लिङ्गाच्च ॥२॥

शास्त्रीय वचनों से भी ब्रह्मज्ञान के साधनों की बारम्बार आवृत्ति करने की मान्यता सिद्ध होती है।

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥३॥

उपासना का विषय सर्वव्यापक परमात्मा है। ज्ञानी और ध्यानी उसे प्राप्त करते और दूसरों को कराते हैं।

न प्रतीके न हि सः ॥४॥

मूर्ति आदि जड़ पदार्थ में परमात्मबुद्धि न करे, क्योंकि मूर्ति परमात्मा नहीं है।

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥५॥

जहाँ कहीं मन, आदित्य आदि जड़ वस्तुओं में ब्रह्मभाव विधान किया है—वह ब्रह्म के उत्कर्ष, ब्रह्म के महत्त्व को बढ़ाने के लिए किया है।

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥६॥

कर्म के अङ्गभूत उद्गीथ आदि में आदित्य की भावना करना ठीक है, क्योंकि वह युक्तिसंगत है।

आसीनः सम्भवात् ॥७॥

शान्ति से आसन लगाकर उपासना करनी चाहिए, क्योंकि बैठकर ही उपासना करना ठीक-ठीक सम्भव है।

ध्यानाच्च ॥८॥

ध्यान से भी यही निश्चय होता है कि उपासना बैठकर ही करनी चाहिए (ध्यान से उपासना होती है और ध्यान आसन की अपेक्षा रखता है।)

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥९॥

निश्चलता की अपेक्षा करके ही उपासना करे।

स्मरन्ति च ॥१०॥

आचार्य स्मृतियों में उपासना के लिए बैठने का विधान भी करते हैं।

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥११॥

जहाँ चित्त एकाग्र हो सके, ऐसे स्थान में आसन लगाकर उपासना करनी चाहिए। इसके लिए दिशा, देश, काल आदि की कोई विशेषता नहीं है।

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् ॥१२॥

मरणपर्यन्त उपासना करता रहे, क्योंकि मरते समय तक उपासना करना शास्त्रों में देखा गया है।

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥१३॥

उपासना से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने पर उत्तर=अगले पापों का अश्लेष (विलगाव, न लगना) और पिछले पापों का नाश हो जाता है, अध्यात्मशास्त्रों में ऐसा ही बताया गया है।

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥१४॥

प्रारब्धभोग के पश्चात् शरीर छूट जाने पर ब्रह्मज्ञानी का पाप के समान पुण्य से भी सम्बन्ध नहीं रहता।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥१५॥

अनारब्धकार्य (जिनका भोगरूप फल आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे) पहले किये हुए कर्मों (पाप-पुण्य) दोनों का ही ज्ञान से नाश होता है, क्योंकि उन कर्मों की वही अवधि=सीमा है।

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥१६॥

अग्निहोत्रादि पुण्य कर्म तो ब्रह्मज्ञान के लिए हैं, अतः उनका नाश नहीं होता, शास्त्रों में ऐसा ही विधान देखा जाता है।

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥१७॥

अग्निहोत्रादि नित्यकर्म के अतिरिक्त अन्य भी काम्यकर्म, शुभ कर्म हैं जो एक शाखावाले के मत में ठीक हैं।

यदेव विद्ययेति हि ॥१८॥

जो कर्म विद्या=ज्ञानसहित किया जाता है, वह श्रेष्ठ होता है, अतः विद्या=उपासना का किया जाना आवश्यक है।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा सम्पद्यते ॥१९॥

प्रारब्ध (जिनका फल मिलना आरम्भ हो गया है ऐसे) पाप-पुण्य कर्म को भोग से नष्ट करके ध्यानी जन ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥

अथ चतुर्थाध्याये द्वितीयः पादः

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥१॥

मरते हुए मनुष्य की वाणी मन में लीन हो जाती है, क्योंकि तब वाणी के व्यापार का अभाव देखा जाता है। शास्त्रवचन से भी यही सिद्ध होता है।

अत एव च सर्वाण्यनु ॥२॥

तत्पश्चात् अन्य सब इन्द्रियाँ भी वाणी का अनुसरण करती हुई मन में लीन हो जाती हैं।

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥३॥

जिस मन में सारी इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं, वह मन प्राण में लीन हो जाता है।

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥४॥

प्राण आत्मा में लीन हो जाता है, यह आत्मा के उपगम (उत्क्रमण, अनुगमन और अवस्थान) से ज्ञात होता है।

भूतेषु तत् श्रुतेः ॥५॥

प्राणसंयुक्त आत्मा भूतों में अवस्थित रहता है, ऐसा श्रुति में प्रतिपादन है।

नैकस्मिन् दर्शयतो हि ॥६॥

उत्क्रमण दशा में आत्मा एक तैजस् भूत में अवस्थित नहीं रहता (अपितु पाँचों भूतों में अवस्थित रहकर उत्क्रमण करता है) क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनों में ऐसा ही विधान है।

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥७॥

प्राण निकलने के आरम्भ से मोक्ष-प्राप्ति के पूर्व तक ज्ञानी और अज्ञानी—दोनों की उत्क्रान्ति समान ही होती है।

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥८॥

अज्ञानियों का सूक्ष्मशरीर प्रलय तक और ज्ञानियों का सूक्ष्मशरीर ब्रह्म-प्राप्ति तक रहता है। जब तक सूक्ष्मशरीर है तभी तक संसार है।

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥९॥

वह शरीर जो प्रलयपर्यन्त बना रहता है अति सूक्ष्म होता है, यह बात शब्द-शास्त्र से ज्ञात होती है।

नोपमर्देनातः ॥१०॥

क्योंकि वह सूक्ष्मशरीर है, अतः स्थूलदेह के नाश से उसका नाश नहीं होता।

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥११॥

स्थूल शरीर के स्पर्श से जो गर्मी प्रतीत होती है, वह सूक्ष्म शरीर की है, यह बात युक्ति से सिद्ध है।

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥१२॥

यदि यह कहो कि प्राणों के उत्क्रम के निषेध के कारण सूक्ष्मशरीर आत्मा के साथ प्रलयपर्यन्त नहीं रहता तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ प्राणों के उत्क्रमण का प्रतिषेध आत्मा से किया है, शरीर से नहीं।

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥१३॥

कई शाखावालों का स्पष्ट कथन है कि जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण प्राणों के साथ होता है।

स्मर्यते च ॥१४॥

सूक्ष्मशरीर के साथ जीवात्मा का उत्क्रमण स्मृतियों में भी स्वीकार किया गया है।

तानि परे तथा ह्याह ।।१५।।

वे वागादि सम्पन्न सूक्ष्मभूत परब्रह्म में लीन हो जाते हैं, क्योंकि श्रुति में ऐसा विधान है।

अविभागो वचनात् ।।१६।।

लय का तात्पर्य अविभाग (पृथक् रूप से प्रतीत न होना) है, यह शास्त्रीयवचन से ज्ञात होता है।

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात् तच्छेषगत्यनुस्मृति-योगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।।१७।।

आत्मा के निवास=हृदय का अग्रभाग प्रकाशित होकर आत्मा के शरीर से बाहर निकलने के मार्ग को प्रकाशित कर देता है, खोल देता है। तब ब्रह्मविद्या के सामर्थ्य से तथा उपासना के अङ्गभूतमार्ग की गतिविषयक अनुस्मृति की संगति से और हृदयस्थ ब्रह्म से अनुगृहीत होकर उपासक आत्मा एक सौ एकवीं सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकल जाता है।

रश्म्यनुसारी ।।१८।।

ब्रह्मोपासक सूर्यरश्मियों का अनुसरण करता हुआ ऊर्ध्वगमन करता है।

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद् दर्शयति च ।।१९।।

यदि यह कहो कि रात्रि में मरनेवाला सूर्यरश्मियों का अनुसरण नहीं कर सकता तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि नाड़ी और रश्मियों का सम्बन्ध शरीर के रहने तक बना रहता है, ऐसा श्रुतियों में कहा है।

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ।।२०।।

पूर्वोक्त हेतु से (जब तक शरीर है तब तक रश्मियों का सम्बन्ध रहता है) दक्षिणायन में मरनेवाला उपासक भी रश्मियों द्वारा ब्रह्मलोक को जाता है।

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्त्तेचैते ।।२१।।

दक्षिणायन और उत्तरायण में उत्क्रमण के ये फल योगियों=प्राणायामादि साधकों के प्रति स्मृति में कहे गये हैं, न कि ब्रह्मोपासक विद्वानों के प्रति। फिर ये दोनों (दक्षिणायन और उत्तरायण) फलप्रदर्शन स्मृति में कहे गये हैं, न कि श्रुति में, (अतः ये दोनों फलप्रदर्शन आदरणीय नहीं हैं, रश्म्यनुसारी गति ही सब प्रकार से प्रामाणिक है)।

।। इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।।

अथ चतुर्थाध्याये तृतीयः पादः

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ।।१।।

ब्रह्मोपासक अर्चि आदि (किरण आदि अवलम्बनों) द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, क्योंकि उपासक के लिए शास्त्र में यही मार्ग प्रसिद्ध है।

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥२॥

संवत्सर के पश्चात् वायु को प्राप्त होता है, सामान्य और विशेष दोनों प्रकार से इसका वर्णन हुआ है।

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥३॥

विद्युत् के पश्चात् वरुणलोक को जाता है, क्योंकि इन दोनों का परस्पर सम्बन्ध है।

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥४॥

वे अर्चि आदि देवयान मार्ग में ब्रह्मोपासकों को आगे-आगे ले जानेवाले हैं, विद्युत्-धाराओं की भांति (ये न मार्ग हैं, न पड़ाव हैं, न भोगस्थान हैं, न लोकों के समान हैं), क्योंकि श्रुति में ऐसे लक्षण पाये जाते हैं।

उभयव्यामोहात् तत्सिद्धेः ॥५॥

देह से उत्क्रमण करनेवालों की ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ दोनों मूर्च्छित हो जाती हैं, उस समय वे आत्माएँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं होतीं, अतः अर्चि आदि आतिवाहिकों (आगे-आगे ले जानेवालों) की सिद्धि वाञ्छनीय है।

वैद्युतेनैव ततस्तत् श्रुतेः ॥६॥

विद्युत् से आगे वे आत्माएं ब्रह्मलोक मोक्ष में पहुँचती हैं, यह उस विषय की श्रुति से विदित होता है।

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥७॥

आचार्य बादरि का मत है कि अर्चि आदि मुमुक्षु को कार्यब्रह्म को प्राप्त कराती हैं, क्योंकि कार्यब्रह्म के प्रति गमनक उपदेश बन सकता है, न कि सर्वगत व्यापक ब्रह्म के प्रति।

विशेषितत्वाच्च ॥८॥

उपासक कार्यब्रह्म (ब्रह्मलोकों) को प्राप्त होता है—यह बात शास्त्र में निर्दिष्ट विशेषण 'ब्रह्मलोकान्' से भी सिद्ध होती है। (बहुवचन निर्देश कार्य में सङ्गत है, ब्रह्म तो एक है अनेक नहीं।)

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥९॥

(ब्रह्म गमयति। छा० ५।१०।२) इस स्थल में समीपता का कथन ज्ञान-दृष्टि से है, न कि देश-दृष्टि से।

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥१०॥

ब्रह्मदर्शन हो जाने पर उपासक के लिए कार्यब्रह्मलोक समाप्त हो जाता है, तब वहाँ से लोकों के अध्यक्ष परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा गया है।

स्मृतेश्च ॥११॥

स्मृति से भी ज्ञात होता है कि उपासक कार्यब्रह्मलाक को जाकर वहाँ से परब्रह्म को प्राप्त होता है।

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥१२॥

(स एनान् ब्रह्म गमयति। छा० ५।१०।२) इस वचन में आचार्य जैमिनि ब्रह्म शब्द से परब्रह्म का ग्रहण करते हैं, क्योंकि ब्रह्म शब्द मुख्यरूप से परब्रह्म में ही प्रयुक्त हुआ है।

दर्शनाच्च ॥१३॥

उस देवयान मार्ग में गन्तव्यरूप से अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म ही है, कार्यब्रह्म नहीं। शास्त्र में भी ब्रह्मपद परब्रह्म परमेश्वर के अर्थ में देखा जाता है।

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥१४॥

कार्यब्रह्मलोक में उपासक की प्राप्ति का तात्पर्य कहीं भी नहीं है।

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथाऽदोषात् तत्क्रतुश्च ॥१५॥

प्रतीक=मूर्ति का आलम्बन न करके जो साक्षात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म की उपासना करते हैं, सूक्ष्मशरीर अमानव पुरुष उन उपासकों को देवयान मार्ग द्वारा ब्रह्मलोक तक ले जाता है—यह सूत्रकार व्यास का मत है। ऐसा मानने पर पहुँचाने में कार्यब्रह्म कहा जाए अथवा मुख्यब्रह्म—दोनों प्रकार से कोई दोष नहीं है, क्योंकि उनका संकल्प ब्रह्मप्राप्ति विषयक रहता है।

विशेषं च दर्शयति ॥१६॥

श्रुति विशेष रूप से स्पष्ट करती है कि ब्रह्म या ब्रह्मलोक दोनों एक ही हैं। अथवा शास्त्र प्रतीकालम्बन उपासकों की गति भिन्न बताता है और ब्रह्मोपासकों के लिए देवयान गति का विशेष रूप से निर्देश करता है।

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

अथ चतुर्थाध्याये चतुर्थः पादः

सम्पद्याविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥१॥

(स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। छा० ८।१२।३) 'स्वेन' पद से युक्त इस श्रुति के कथन से विदित होता है कि आत्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर अपने कैवल्यरूप से प्रकट होता है।

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥२॥

प्रतिज्ञावाक्य से यह ज्ञात होता है कि मुक्तावस्था में जो रूप प्रकट होता है वह आत्मा का अपना वास्तविक रूप है। अथवा मुक्तात्माओं को सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। (अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छा० ८।१२।१) इस प्रतिज्ञा-वाक्य से।

आत्मा प्रकरणात् ॥३॥

'सम्प्रसाद' पद से आत्मा का ग्रहण होता है, यह बात प्रकरण से स्पष्ट है।

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥४॥

मोक्ष में मुक्तात्मा ब्रह्म के साथ अविभाग से (आनन्द को धारण किये हुए) अवस्थित रहता है, यह बात श्रुति में देखी गई है।

ब्राह्मणे जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥५॥

मोक्ष में आत्मा ब्रह्मसम्बन्ध रूप से अवस्थित रहता है उपन्यास (उपक्रम-उपसंहार) से यह रूप जाना जाता है, ऐसा आचार्य जैमिनि मानते हैं।

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥६॥

चेतनमात्र शरीर से आत्मा मोक्ष में अवस्थित रहता है, क्योंकि उसका वही स्वरूप है—ऐसा आचार्य औडुलोमि मानते हैं। (स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में रहता है। ऋषि दयानन्द, 'सत्यार्थप्रकाश', नवम समुल्लास)।

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥७॥

आचार्य बादरायण मुक्ति में आत्मा के चेतनमात्र कथन का भी पूर्व ब्रह्मरूप कथन (जैमिनि मत) से अविरोध मानते हैं, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा गया है।

संकल्पादेव तु तत् श्रुतेः ॥८॥

मोक्ष में ऐश्वर्य-भोगादि केवल संकल्प से होता है, श्रुति भी ऐसा ही प्रतिपादित करती है। (मुक्ति में···संकल्प मात्र शरीर रहता है। ऋषि दयानन्द, 'सत्यार्थ प्रकाश', नवम समुल्लास)।

अत एव चानन्याधिपतिः ॥९॥

सत्यसंकल्पवाला होने से मुक्त आत्मा स्वयं ही अपना राजा, स्वामी हो जाता है, ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई उसका अधिष्ठाता=स्वामी नहीं होता।

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥१०॥

आचार्य बादरि (व्यास के पिता) मोक्ष में शरीर, इन्द्रिय आदि के अभाव को मानते हैं, क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है।

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥११॥

आचार्य जैमिनी मोक्ष में शरीर, इन्द्रिय आदि का होना मानते हैं, क्योंकि शास्त्र में इस विषय में विकल्प पढ़ा गया है।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥१२॥

श्रुति में दोनों प्रकार का वर्णन है, अतः सूत्रकार बादरायण दोनों प्रकारों (स्थूल-शरीर के अभाव और सूक्ष्मशरीर के भाव) को मानते हैं, द्वादशाह की भाँति। द्वादशाह यज्ञ (बारह दिन चलनेवाला यज्ञ) सत्र भी है और अहीन भी।

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥१३॥

मुक्ति में स्थूलशरीर के अभाव में स्वप्न की भाँति आनन्द की अनुभूति होती है।

भावे जाग्रद्वत् ॥१४॥

मोक्ष में शरीर, इन्द्रियादि होने पर, जीवन्मुक्तावस्था में जाग्रत् दशा के समान आनन्द-अनुभूति होती है। अथवा मुक्ति में सांकल्पिक शरीर के वर्तमान होने पर जाग्रत् की भाँति आनन्द की अनुभूति होती है।

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥१५॥

जैसे प्रकाशक प्रदीप प्रकाश्य वस्तुओं में अपने प्रकाश से आविष्ट होकर उन्हें प्रकाशित कर देता है, उसी प्रकार यह आत्मा मुक्तावस्था में ऐश्वर्य प्राप्त कर सांकल्पिक मन, वाक् आदि को प्रकाशित कर देता है, श्रुति भी ऐसा ही कथन करती है।

स्वाप्ययसम्पत्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥१६॥

जहाँ आत्मा के अन्दर-बाहर न जाने आदि का वर्णन है, वह सुषुप्ति और सम्पत्ति में से किसी एक की अपेक्षा से है, क्योंकि शास्त्र में ऐसा ही प्रकट किया गया है।

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥१७॥

जगत् के उत्पत्ति आदि व्यापार को छोड़कर अन्य ऐश्वर्य मुक्तात्मा को प्राप्त हो जाता है, क्योंकि जहाँ जगत् की रचना का शास्त्र में कथन है, वहाँ ब्रह्म का प्रकरण है, मुक्तात्माओं के साथ जगद्रचना आदि का सम्बन्ध नहीं है।

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥१८॥

यदि यह कहो कि मुक्तात्मा के इच्छानुसार कार्य करने का प्रत्यक्ष उपदेश होने से जगद्व्यापार का सामर्थ्य भी सिद्ध होता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ पूर्ण ऐश्वर्य का उपदेश नहीं अपितु अधिकार की सीमा में अवस्थिति का कथन है।

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥१९॥

मुक्तात्माओं का ऐश्वर्य विकार में वर्तनेवाला रहता है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही प्रतिपादन करती है।

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥२०॥

श्रुति और स्मृति यह बतलाती हैं कि ब्रह्म समस्त विश्व के अन्दर और बाहर व्यापक है, इससे उसके अनन्त ऐश्वर्य का पता लगता है।

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥२१॥

मुक्तात्मा की मोक्ष में ब्रह्म के साथ समता ब्रह्मानन्द की अनुभूति के आधार पर शास्त्र ने बतलाई है। (आनन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके वह आनन्दी बन्न जाता है, जगद्व्यापार के लिए मुक्ति का ऐश्वर्य नहीं है।)

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥२२॥

मुक्तात्मा मुक्ति की अवधि से पूर्व अपनों या परिचितों का उद्धार करने के लिए जगत् में नहीं आता; वहाँ से लौटना उसके अपने अधीन नहीं अपितु परमात्मा के अधीन है। यह बात श्रुतिप्रमाण से जानी जाती है। 'अनावृत्तिः शब्दात्' पदों की पुनरुक्ति अध्याय और ग्रन्थ-समाप्ति की सूचक है।

॥ इति चतुर्थाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥

॥ समाप्तश्चायं ग्रन्थः ॥

सूत्र-अनुक्रमणिका

सूत्र	पृष्ठ
अंशो नानाव्यय	४४७
अंसशिरोनूक	३७०
अकरणत्वाच्च	४४९
अकर्तुरपि फलो	१०२
अकर्मक्रतुसंयु	२०६
अकर्म चोर्ध्वमा	२८५
अकर्मणि चाप्रत्य	२६५
अकर्मत्वात्तु नैवं	२६१
अकर्म वा कृतदूषा	४०६
अकर्म वा चतुर्भि	३३६
अकर्म वा संसगार्थं	३३६
अकार्यत्वाच्च ततः	२८०
अकार्यत्वाच्च नाम्नः	३४३
अकार्यत्वाच्च शब्दा	३१६
अकार्यत्वेऽपि	११७
अक्तत्वाच्च जुह्वां	२११
अक्रतुयुक्तानां वा	३७६
अक्रिया वा अपूपहेतु	३३४
अक्षरधियां त्वव	४६०
अक्षरमम्बरान्तधृतेः	४३०
अगुणा च कर्मचोदना	१८८
अगुणे तु कर्मशब्दे	१८७
अग्निधर्मः प्रतीष्टकं	३१३
अग्नियोगः सोम	३९५
अग्निवदिति चेत्	३९६
अग्निहोत्रादि तु	४७०
अग्निहोत्रे चाशेष	३८६
अग्निस्तु लिङ्गदर्शं	१८९
अग्नीधश्च वनिष्ठु	३७१
अग्नीषोमविधानात्तु	३८०
अग्नेरूर्ध्वज्वलनं	७४
अग्नेर्वा स्याद्	३१३
अग्नेः कर्मत्व	२५२
अग्न्यङ्गमप्रकरणे	२१८
अग्न्यतिग्राह्यस्य	३७७
अग्न्यादिगतिश्रुते	४५१
अग्न्याधेयस्य नैमि	३४५
अग्न्याधेये वाऽवि	३९८
अग्रहणादिति चेत्	३७२
अङ्गगुणविरोधे च	४११
अङ्गवत्क्रतूनामानु	२५२
अङ्गविधिर्वा निमित्त	२७०
अङ्गविपर्यासो विना	३९८
अङ्गहीनश्च तद्धर्मा	२६०
अङ्गानां तु शब्द	३८२
अङ्गानां तूपघात	२३९
अङ्गानां मुख्यकाल	२४६, ३९४
अङ्गानि तु विधान	३८९
अङ्गावबद्धास्तु	४६२
अङ्गित्वानुपपत्ते	४४०
अङ्गे गुणत्वात्	२३८
अङ्गेषु च तद्भावः	३८९
अङ्गेषु यथाश्रय	४६३
अङ्गेषु स्तुतिः	२३८
अचलत्वं चा	४६९
अचाक्षुषाणामनु	९६

अचेतनत्वेऽपि ११८
अचेतनेऽर्थबन्ध १७३
अचोदकाश्च संस्काराः १८६
अचोदना गुणार्थेन २१७
अचोदनेति चेत् ३९१
अचोदितं च कर्म २०८
अजामिकरणार्थं ३८१
अज्ञानाच्च ६४
अणवश्च ४४९
अणुत्वमहत्त्वयो ८०
अणुत्वमहत्त्वा ८०
अणुपरिमाणं तत् ११४
अणुमहदिति ७९
अणुश्च ४५०
अणुश्यामतानित्य ३३, ३९
अणुसंयोगस्त्व ७०
अणोर्महतश्चोप ७९
अत एव च नित्य ४३१
अत एव च सर्वा ४७०
अत एव चाग्नीन्ध ४६५
अत एव चान्यन्या ४७५
अत एव चोपमा ४५५
अत एव न देवता ४२८
अत एव प्राणः ४२५
अतत्संस्कारार्थं २७१
अतद्गुणत्वात्तु २८१
अतद्विकारश्च २५०
अतद्विकाराच्च २७५
अतश्चायनेऽपि ४७२
अतस्त्वितरज्ज्या ४६७
अतः प्रबोधो ४५४
अतिथौ तत्प्रधान ३१२
अतिदेशाच्च ४६१
अतिप्रसक्तिरन्य ९९
अतीतानागतं स्व १६२
अतीन्द्रियमिन्द्रियं ११०
अतुल्यत्वात्तु नैव २००
अतुल्यात्तु वाक्य १८७
अतुल्यत्वादसमान २२४
अतुल्याः स्युः ३४७
अतोऽनन्तेन ४५५
अतोऽन्यापि ४७०
अतो विपरीत ७९
अत्ता चराचर ४२६
अत्यन्तदुःखनि १३७
अत्यन्तप्रायैक १२
अत्रापि प्रतिनिय १३८
अत्र्यार्षेयस्य हानं २६०
अथ तत्पूर्वकं ३
अथ त्रिविधदुःखा ९३
अथ योगानुशास १४५
अथ विशेषलक्ष २९८
अथातः क्रत्वर्थं २२९
अथातः शेषलक्षण १९४
अथातो धर्मं व्याख्या ५३
अथातो धर्मजिज्ञासा १६७
अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ४२३
अथान्येनेति संस्था २५३
अदक्षिणत्वाच्च ३६७
अदुष्टं विद्या ८८
अदृष्टद्वारा चेद १४२
अदृष्टवशाच्चेत् ९६
अदृष्टाच्च ७८
अदृष्टानियमात् ४४८
अदृष्टोद्भूतिवत् १४२
अदृश्यत्वादिगुण ४२८
अद्रव्यं चापि दृश्यते २९१
अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः १८९
अद्रव्यत्वात्तु शेषः २०७
अद्रव्यत्वेन द्रव्यम् ५८
अद्रव्यत्वेन नित्यत्व ५९
अद्रव्यशब्दत्वात् ११७

अद्विर्वचनं वा श्रुति	१६१	अनभ्यासस्तु वाच्य	३८५
अधर्मत्वमप्रदान	३२७	अनभ्यासे पराक्	३५८
अधिकं च विवर्णं	३१६	अनभ्यासो वा छेदन	३८५
अधिकं तु भेदनिर्दे	४३८	अनभ्यासो वा प्रयोग	३८५
अधिकं वाऽन्यर्थत्वात्	३५०	अनर्थकं च तद्वचनम्	१८३
अधिकं वा प्रतिप्रसवात्	२८२	अनर्थकं त्वनित्यं	२८६
अधिकं वाऽर्थवत्वात्	३७१	अनर्थकश्च कर्मसंयो	२७१
अधिकं वा स्यादिति	३७४	अनर्थकश्च सर्वनाशे	२६६
अधिकं वा स्याद्ब	२८२	अनर्थकश्चोपदेशः	१६८
अधिकश्च गुणः	४१२	अनर्थापत्तावर्थापत्त्य	१५
अधिकश्चैक वाक्य	३४६	अनवस्थाकारित्वाद	४१
अधिकानाञ्च दर्श	३५७	अनवस्थायित्वे च	१६
अधिकारश्च सर्वेषां	३८४	अनवस्थितेरसंभवा	४२७
अधिकारादिति चेत्	३१२	अनवानोपदेशश्च	३१७
अधिकाराद्वा प्रकृति	३०५	अनसां च दर्शयति	४०६
अधिकारित्रैविध्या	६६, १३८	अनादावद्य यावद	१०७
अधिकारिप्रभेदान्न	११६	अनादिरविवेको	१३८
अधिकारे च मन्त्र	१६८	अनाम्नाते दर्शनात्	३७७
अधिकोपदेशात्तु	४६४	अनाम्नातेष्वमन्त्र	१८४
अधिष्ठानाच्चेति	१०५	अनाम्नादशब्द	३२२
अधिष्ठानानुपपत्तेश्च	४४३	अनारब्धकार्ये	४७०
अध्ययनमात्रवतः	४६४	अनारम्भेऽपि	१२२
अध्यवसायो बुद्धिः	१०६	अनाविष्कुर्वन्न	४६८
अध्यस्तरूपोपासनात्	१२३	अनावृत्तिशब्दात्	४७६
अध्यापनादप्रतिषेधः	१६	अनिग्रहस्थाने निग्रह	५०
अध्यूध्नी होतु	३७०	अनिज्यां च वनस्पते	३२६
अध्रिगुः सवनीयेषु	३२२	अनिज्या वा शेषस्य	३७३
अध्रिगोश्च विपर्या	४०४	अनित्य इति विशेषतः	६६
अध्वर्युर्वा तदर्थो	२२५	अनित्यत्वग्रहाद्	२६
अध्वर्युर्वा तन्नयाय	२२३	अनित्यत्वात्तु नैवं	१६०, २६०
अध्वर्युस्तु दर्शनात्	२२६	अनित्यत्वेऽपि नायौक्ति	६५
अनधिष्ठितस्य	१४१	अनित्यत्वेऽपि स्थिरता	८३२
अनन्तरं व्रतं तद्	२५१	अनित्यदर्शनाच्च	८६६
अनपापश्च कालस्य	३८१	अनित्यश्चायं कारणातः	६३
अनपेक्षत्वात्	१६८	अनित्यसंयोगात्	८७०
अनभिभवं च	४६६	अनित्यसंयोगान्म	८७३

अनित्याशुचिदुःखा	१५०	अनुषङ्गो वाक्य	१८५
अनित्येऽनित्यम्	८०	अनुष्ठेयं बादरायणः	४६५
अनित्येष्वनित्या	७९	अनुस्मृतेर्बादरिः	४२८
अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः	३५	अनुस्मृतेश्च	४४२
अनिमित्तनिमित्त्वा	३५	अनेकद्रव्यवत्त्वेन	५६
अनियतदिग्देश	७०	अनेकद्रव्यसमवा	२४, ६९
अनियमः सर्वासाम	४६०	अनेन सर्वगतत्व	४५७
अनियमः स्यादिति	३९९	अनैकान्तिकः सव्यभि	७
अनियमे नियमान्ना	१९	अन्तर उपपत्तेः	४२७
अनियमोऽन्यत्र	२४४	अन्तरा चापि तु	४६६
अनियमोऽविशेषात्	२८२, ३४६, ४१८	अन्तरा भूतग्राम	४६०
अनियमो वार्थान्तर	२८७	अन्तरा विज्ञानमनसी	४४५
अनिरुप्तेऽभ्युदिते	२७३	अन्तर्बहिश्च कार्यं	४१
अनिर्देशाच्च	३२८	अन्तर्याम्यधिदैवा	४२७
अनिष्टादिकारि	४५२	अन्तवत्त्वमसर्वज्ञ	४४३
अनुकृतेस्तस्य	४३१	अन्तस्तद्धर्मोपदे	४२४
अनुक्तस्यार्थापत्तेः	४६	अन्तः करणधर्म	१२७
अनुग्राह्याच्च जौह	२३३	अन्तः करणस्य	१०२
अनुग्राह्याच्च पाद	२८२	अन्ते तु बादरायण	२४९
अनुज्ञापरिहारौ	४४८	अन्ते तूत्तरयोर्दध्यात्	२५०
अनुत्तरार्थो वाऽर्थं	३०९	अन्ते यूपाहुतिस्त	३९१
अनुत्पत्तौ तु कालः	२३९	अन्ते वा कृतकाल	३६४[२]
अनुनिर्वाप्येषु	४१३	अन्ते वा तदुक्तम्	२५०
अनुपपत्तेस्तु न	४२६	अन्ते स्युरव्यवायात्	२५१
अनुपभोगेऽपि	१४०	अन्त्यमरेकार्थे	२११
अनुपलम्भात्मक	१६, ४६	अन्त्ययोर्यथो	१७१
अनुपलम्भादप्यनु	१६	अन्त्यावस्थिते	४४३
अनुप्रसर्पिषु सामा	२१५	अन्नप्रतिषेधा	२०७
अनुबन्धादिभ्यः	४६२	अन्यतरकर्मज	८१
अनुभूतविषयासम्प्र	१४६	अन्यतरतोऽति	३०४
अनुमानव्यवस्थानात्	१७५	अन्यत्रान्त्येभ्यो	५६
अनुवषट्काराच्च	३०१	अन्यत्राभावाच्च	४४०
अनुवादश्च तदर्थं	३१३	अन्यथात्व शब्दा	४५८
अनुवादे त्वपुन	४९	अन्यथानुमितौ च	४४०
अनुवादोपपत्तेश्च	१४	अन्यथाभेदानुप	४६०
अनुवादो वा दीक्षा	३१३	अन्यदन्यस्माद	१७

अन्य दर्शनाच्च　१७७
अन्य दैव हेतुरि　६४
अन्यधर्मत्वेऽपि　१०६
अन्यपरत्वमविवे　१३०
अन्यभावव्या　४३०
अन्ययोगेऽपि　१०८
अन्यविधानादारण्य　४०७
अन्यश्चार्थः प्रतीयते　१८३
अन्यसृष्ट्युपरागे　११८
अन्यस्यापीति चेत्　२६२
अन्या अपीति चेत्　२७४
अन्याधिष्ठि तेषु　४५३
अन्यानर्थक्यात्　१७०
अन्यायश्चानेक　१७६
अन्यायस्त्वविकारेण　३२१
अन्यायस्याचोदि　३२१
अन्यार्थं तु जैमिनिः　४३४
अन्यार्थश्च परामर्शः　४३१
अन्यार्था वा पुनः　१९०
अन्यार्थेनाभिसम्बन्धः　२६२
अन्येन वैतच्छास्त्रा　२६९
अन्येनापीति चेत्　२७७
अन्ये स्युर्ऋत्विजः　३६६
अन्यो वा स्यात्　२२१
अन्यो वोद्धृत्या　४१८
अन्वयं चापि दर्शयति　३१८
अन्वयादिति चेत्　४५९
अन्वयो वाऽनारभ्य　३५९
अन्वयो वाऽर्थवादः　३१८
अन्वाहार्ये दर्शनात्　४२०
अन्वाहेति च　३५२
अपदेशः स्यादिति　३६६
अपदेशो वाऽर्थस्य　२०५
अपनयस्त्वेकदेश　२२७
अपनयनाद्वा पूर्वं　१९९
अपनयनो वा विद्य　२७२
अपनयो वाऽर्थान्तरे　३२८
अपनयो वाऽऽधान　२५५
अपनयो वा प्रवृत्या　२७३
अपनयो वा प्रसिद्धे　३९३
अपरस्मिन्नपरं युग　६१
अपराधात्कर्तुश्च　१७१
अपराधेऽपि च　२६३
अपरिग्रहस्थैर्ये　१५३
अपरिग्रहाच्चा　४४१
अपरिमिते शिष्ट　२८२
अपरिसंख्यानाच्च　२२
अपरीक्षिताभ्युपगमा　५
अपवर्गेऽप्येवं　४३
अपवादमात्रम　९८
अपवृत्ते तु चोदना　२३९
अपसर्पणमुपस　७५
अपाकृते तद्विकारा　३१९
अपाकृतेन हि　२७३
अपां संघातो विल　७४
अपां संयोगाद्विभागा　७४
अपां संयोगाभावे　७३
अपि च सप्त　४५२
अपि चस्मर्यते　४३१, ४४७, ४६६, ४६७
अपि चैवमेके　४५४
अपि तु कर्मशब्दः　२९१
अपि तु वाक्यशेषः　३७६
अपि तु वाक्यशेषत्वा　३७६
अपि त्वन्याय　३२१
अपि त्ववयवार्थ　३४८
अपि त्वसन्निपाति　३२५
अपि वाऽङ्गमनिज्याः　२४०
अपि वाऽतद्विकार　३००
अपि वाऽन्यानि　२७९
अपि वाऽन्याय　२९५
अपि वाऽन्यार्थं　२५९
अपि वाऽप्येकदेशे　२६४

अपि वाऽभिधान ३३०
अपि वाऽर्थस्य २६८
अपि वाऽव्यतिरेका २६५
अपि वाऽहर्गणे ३६१
अपि वाऽऽख्याविका ३५५
अपि वाऽऽग्नेयवद् ३७१
अपि वाऽऽज्यप्रधान ३५४
अपि वाऽऽम्नानानसा २३७
अपि वा कर्तृसामा १७४
अपि वा कर्मपृथक् ३९०
अपि वा कर्मवैशम्यात् ३४७
अपि वा कामसंयोगे २६२
अपि वा कारणाग्रहणे १७५, २२९
अपि वा कालमात्रं २४०
अपि वा कृत्स्नसंयोगा २७७, २८३
अपि वा क्रत्वभावाद २८४
अपि वा क्रमकाल २४५
अपि वा क्रमसंयोगाद् १९३
अपि वा गायत्री २५१
अपि वाङ्गानि २४२
अपि वा चोदनैक ४०३
अपि वा तदधिकारा २८३, ३४८
अपि वा दानमात्रं ३७०
अपि वा द्विरुक्तत्वा २१९
अपि वा द्विसमवायो ३२३
अपि वा धर्मविशेषात् ३५९
अपि वा नामधेयं १८७
अपि वा परिसंख्या ३७०
अपि वा पौर्णमास्यां ३८०
अपि वा प्रतिपत्ति ४०२
अपि वा प्रतिमन्त्र ३४४
अपि वा प्रयोगसा १८३
अपि वा फलकर्तृ ४०१
अपि वा यजति श्रुते ३०३
अपि वा यजमानाः ३६६
अपि वा यद्यपूर्व २८९
अपि वा लौकिके २८५
अपि वा विहितत्वा ३७९
अपि वा वेदतुल्य २६३
अपि वा वेदनिर्देशाद २६०
अपि वा शब्दपूर्व ३१२
अपि वा शुषभाजां २६८
अपि वा शेषकर्म २८१
अपि वा शेषभूत ३३१, ३३२
अपि वा श्रुतिभूतत्त्वा ३४९
अपि वा श्रुतिभेदात् २२१
अपि वा श्रुतिसंयोगात् १८३
अपि वा संख्यावत्त्वा ३५९
अपि वा संप्रयोगे ३८४
अपि वा सद्वितीये २०५
अपि वा सर्वत्रकर्मणि २९२
अपि वा सर्वधर्मः १७५
अपि वा सर्वसंख्या २४९
अपि वेन्द्राभि ४०१
अपि वोत्पत्तिसंयोगा २३६, २६१
अपि संराधने ४५५
अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गाद ४३७
अपुरुषार्थत्वमन्यथा १३८
अपुरुषार्थत्वमुभयथा ९८
अपूर्वं च प्रकृतौ ४१२
अपूर्वतां तु दर्शमेद् ३७२
अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ३२५
अपूर्वत्वाद्व्यवस्था ३१२
अपूर्वत्वाद्विधानं २७२
अपूर्वव्यपदेशाच्च ३३४
अपूर्वासु तु संख्यासु ३५६
अपूर्वे च विकल्पः ३०६
अपूर्वे चार्थवादः ३७६
अपूर्वे त्वविकारो ३२२
अपूर्वे वापि भागि २९२
अप्तेजोवायूनां २६
अप्रकरणे तु तद्धर्म २०७

अप्रकरणे तु यच्छा ३७७
अप्रकृतत्वाच्च १८६
अप्रमाणाच्छब्दा ३१५
अप्रतिकर्षो वा ३९३
अप्रतिघानात्सन्नि २५
अप्रतिषेधो वा दर्शना ३७२
अप्रतिषेधो वा प्रति ३७३
अप्रतीकालम्बना ४७४
अप्रत्यभिज्ञानं च २७
अप्रत्यभिज्ञाने च २७
अप्रयोगाङ्गमिति ३९६
अप्रयोजकत्वादे २०९
अप्रसिद्धर्वाऽन्य ४०६
अप्रसिद्धौऽन्पदे ६५
अप्राकृतत्वान्मैत्रा ३७१
अप्राप्ता चानुप १७०
अप्राप्यग्रहणं काचा २४
अप्सु तेजसि वायौ ७९
अप्सु शीतता ६१
अबाधाच्च ४६६
अबाधाददुष्टका १००
अबाधे नैष्फल्यम् १२६
अब्राह्मणे च दर्शनात् ३७०
अभक्षो वा कर्म ३७१
अभागिप्रतिषेधाच्च १७०
अभावं बादरिराह ४७५
अभावदर्शनाच्च २३२, ४०९
अभावप्रत्ययालम्ब १४६
अभावाच्चेतरस्य २७३
अभावादतिरात्रेषु ३५९
अभावाद्भावोत्पत्तिः ३५
अभिघातजे मुसलादौ ७२
अभिघातान्मुसल ७२
अभिघारणे विप्र २३२
अभिधानं च कर्म १८३
अभिधानेऽर्थवादः १७४
अभिधानोपदेशाद्वा २९५
अभिध्योपदेशाच्च ४३५
अभिमानीव्यपदेशात्तु ४३६
अभिमानोऽहंकारः १०९
अभिव्यक्तेरित्याश्म ४२८
अभिव्यक्तौ चाभिभवात् २४
अभिव्यक्तौ दोषात् ६३
अभिषेचनोपवास ७७
अभिसन्ध्यादिष्वपि ४४८
अभूतं नास्तीत्यन ८६
अभूदित्यपि ८९
अभ्यस्येतार्थवत् ४१३
अभ्यासः सामिधेनी ३१४
अभ्यासवैराग्याभ्यां १४६
अभ्यासात् १७
अभ्यासात्तु प्रधानस्य ३४४
अभ्यासेनेतराः ३१७
अभ्यासेऽपि तथेति ३२५
अभ्यासे च तदभ्या ३६४
अभ्यासेन तु संख्या ३५७
अभ्यासोऽकर्मशेष २६३
अभ्यासो वाऽविकारा ३२५
अभ्यासो वा प्रयाज ३३३
अभ्युदये काला २७२
अभ्युदये दोहा ३२८
अभ्युपगमेप्यर्था ४४०
अभ्युपेत्य काल १४
अभ्यूहश्चोपरिपा ३३५
अम्बुवद्ग्रहणात्तु ४५५
अयक्ष्यमाणस्य २५४
अयज्ञवचनाच्च ३५७
अयतस्य शुचि ७८
अयनेषु चोदना १८८
अयमेष त्वया कृतं ८५
अयसोऽयस्कान्ता २३
अयाज्यत्वाद्वासानां ४०२

अयोनौ चापि	२९१
अरण्यगुहापुलिनादि	४२
अरूपवदेव हि	४५४
अरूपिष्वचक्षुषाणि	७०
अर्चिरादिना तत्प्रथितेः	४७२
अर्थ इति द्रव्यगुणकर्म	८५
अर्थकर्म वाऽभिधान	२३५
अर्थकर्म वा कर्तृ	२३५
अर्थकर्म वा शेषत्वा	३९४
अर्थकारिते च द्रव्येण	३१२
अर्थकृते चानुमानं	२४४
अर्थद्रव्यविरोधे	२६७
अर्थप्राप्तवदिति	३७५
अर्थभेदस्तु तत्रार्थे	३८२
अर्थ लोपादकर्म स्यात्	१९४
अर्थवास्तु नैक	३८५
अर्थवादश्च तदर्थत्वात्	३२८
अर्थवादश्च तदर्थवत्	२४२, २८२
अर्थवादोपपत्तेश्च	१८९, २४१
अर्थवादो वा	१७३
अर्थवादो वाऽनुप	२०८
अर्थवादो वाऽर्थस्य	२५१
अर्थवादो वा प्रकरणात्	२०६
अर्थवादो वा विधिशेष	२८३
अर्थविप्रतिषेधात्	१७३
अर्थसमवायात्प्राय	२६६
अर्थस्तु विधिशेष	१७२
अर्थस्य चासमाप्तत्वा	३०७
अर्थस्य त्वविभक्त	२८९
अर्थस्य व्यपवर्गित्वा	२६५
अर्थस्य शब्दभाव्य	२८९
अर्थाच्च	१८४, २४४
अर्थात्तु लोके विधिः	३८८
अर्थात्सिद्धश्चेत्	१२७
अर्थादापन्नस्य स्व	४९
अर्थाद्वा कल्पनैकदेश	१८०
अर्थाद्वा लिङ्गकर्म	४०२
अर्थानां च विभक्त	२७८
अर्थान्तरं च	७८
अर्थान्तरं ह्यर्थान्तर	६४
अर्थान्तरे विकारः	३२४
अर्थापत्तितः प्रतिपक्ष	४६
अर्थापत्तिरप्रमाण	१५
अर्थापत्तेर्द्रव्येषु	२९७
अर्थापत्तेस्तद्धर्मः	३४५
अर्थापरिमाणाच्च	२७१
अर्थाभावात्तु नैवं स्यात्	२७८
अर्थाभावात्तु नैवं स्याद्	३२२
अर्थाभावे संस्कार	३४२
अर्थाभिधानकर्म च	२३१
अर्थाभिधानसंयोगः	३१४
अर्थाभिधानसाम	१९६
अर्थेऽपीति चेत्	२३४
अर्थे त्वश्रूयमाणे	३५०
अर्थे समवैषम्यमतो	२३१
अर्थे स्तुतिरन्या	१७२
अर्थेन च विपर्यासे	३४२
अर्थेन च समवेतत्वात्	२५८
अर्थेन त्वपकृष्यते	१८२
अर्थेनेति चेत्	२१७
अर्थैकत्वादेकं वाक्यं	१८५
अर्थैकत्वाद्विकल्पः	३१८[२]
अर्थैकत्वे द्रव्यगुण	१९५
अर्थो वा स्यात्	३१२
अर्भकौकस्त्वात्	४२६
अलातचक्रदर्शन	३२
अल्पश्रुतेरिति	४३१
अवकीर्णिपशुश्च	२८६
अवचनाच्च स्वशब्द	२७१
अवदानाभिघारणा	२५३
अवभृथे च तद्वत्	३९६
अवभृथे प्रधाने	३९१

अवभृथे बर्हिषः ३७३
अवयवनाशेऽप्यव २१
अवयवविपर्यास ४६
अवयवान्तरभावे ४०
अवयवावयविप्रसङ्ग ४०
अवशिष्टं तु कारणं २४२
अवस्थितिवैशेष्या ४४५
अवस्थितेरितिकाश ४३५
अवाक्यशेषाच्च १७५
अवाच्यत्वात् ३६२
अवाच्यत्वान्नेति ३५२
अवान्तरभेदाः ११६
अविकारमेकेऽनार्ष ३२१
अविकारो वा प्रकृति ४१३
अविकारो वाऽर्थं ३५१
अविकारो वा प्रकृति ४१३
अविकारो वा बहूना ३२३
अविज्ञातं चाज्ञानम् ४६
अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे ६
अविज्ञेयात् १७३
अविद्यमानवचनात् १७३
अविद्या ६६
अविद्याक्षेत्रमुत्तरे १५०
अविद्या च विद्या ८०
अविद्यास्मिताराग १५०
अविद्यमानात्तु नैवं ३८२
अविधिश्चेत्कर्मणा ३८६
अविभागाच्च शेष २११
अविभागात्तु कर्मणो १६०
अविभागात्तु नैवं २८८
अविभागाद्विधानार्थे १७६
अविभागेन दृष्टत्वात् ४७५
अविभागो वचनात् ४७२
अविरुद्धं परम् १७३
अविरुद्धोपपत्ति ३३२
अविरोधश्चन्दनवत् ४४५
अविरोधो वा उपरि ४१३
अविवेकनिमित्तो वा १४२
अविवेकाद्वा तत्सिद्धिः १०२
अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः १७३
अविशेषश्चोभयोः ६३
अविशेषात्तु शास्त्रस्य २२६
अविशेषात्स्तुति २०४
अविशेषाद्विशेषा ११३
अविशेषान्नेति चेत् ३५७
अविशेषापत्ति १३८
अविशेषाभिहितेऽर्थे ८
अविशेषेण यच्छा ३७७
अविशेषे वा किञ्चि ८
अविशेषोक्ते हेतौ ४८
अवेष्टौ चैकतन्त्र्यं ४००
अवेष्टौ यज्ञसंयो १८८
अवैद्यत्वादभावः २६०
अव्यक्तं त्रिगुणा १०५
अव्यक्तग्रहणमनवस्था ३१
अव्यक्तासु तु सोम २६६
अव्यभिचाराच्च २४
अव्यभिचारात् १११
अव्यवस्थात्मनि ६
अव्यवायाच्च २४६
अव्यूहाविष्टम्भ ४१
अशक्तिरष्टविंशति ११६
अशक्तौ ते प्रतीयेरन् २२३
अशब्दमिति चेत् २४४
अशाब्द इति चेत् २६७
अशास्त्रत्वाच्च ३६१
अशास्त्रत्वात्तु नैवं ३७०
अशास्त्रलक्षणत्वा २१८, ४१२
अशास्त्रलक्षणाच्च ३०६
अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः २६३
अशिष्टेन च सम्बन्धात् ३८१
अशुचीति शुचिप्रति ७८

अशुद्धमिति चेन्न	४५३	असम्भवस्तु सतो	४४४
अशेषं तु समञ्जस	२८१	असाधकं तु ताद	२५७
अशेषत्वात्तदन्त:	२८१	असाधनानुचिन्तनं	१२१
अशेषत्वात्तु नैवं	२१७	असार्वत्रिकी	४६४
अश्मादिवच्च	४३८	अस्ति तु	४४४
अश्रवणकारणानुप	१७	अस्तेयप्रतिष्ठा	१५३
अश्रुतत्वादिति चेन्न	४५१	अस्त्यात्मा नास्ति	१३७
अश्रुतित्वाच्च	३००	अस्थानात्	१६७
अश्रुतित्वादिति चेत्	३५६	अस्थियज्ञोऽविप्रति	३३९
अश्रुतित्वान्नेति चेत्	३००	अस्पर्शत्वात्	१६
अश्रुतेस्तु विकार	२९१	अस्पर्शत्वादप्रति	१७
अश्ववदिति चेत्	२६८	अस्मिन्नस्य च	४२४
अश्वस्य चतुस्त्रिं	३२६	अस्यां च सर्वलिङ्गा	२७५
असंगोऽयं पुरुष	९४	अस्येदं कार्यं कारणं	८७
असंयुक्तं प्रकरणा	२०२	अस्येदं कार्यकारण	८७
असंयुक्तास्तु तुल्य	३४६	अस्येदमिति	८८
असंयोगात्तदर्थेषु	३१४	अस्यैव चोपपत्ते	४७१
असंयोगात्तु नैवं	२६५	अहंकार: कर्त्ता न	१४१
असंयोगात्तु मुख्यस्य	२०२	अहंकारकर्त्रधीना	१४२
असंयोगात्तु वै क्रतं	२४६	अहनि च कर्म	२८६
असंयोगाद्विधिश्रुता	३४६	अहमिति प्रत्यगा	६७
असंस्पृष्टोऽपि	३८७	अहमिति मुख्ययो	६७
असत: क्रियागुण	८६	अहमिति शब्दस्य	६६
असति चाभावात्	७८	अहरङ्गंवांशु	३६५
असति चासंस्कृतेषु	४१७	अहरन्ताच्च परेण	३६५
असति नास्तीति च	८२	अहर्गणे च तद्धर्म:	२८१
असति प्रतिज्ञोपरो	४४१	अहर्गणे च प्रत्यहं	३९६
असत्यर्थे नाभाव	१५	अहर्गणे यस्मिन्नप	२७६
असदिति चेन्न	४३६	अहर्गणे विषाणा	३९५
असदिति भूतप्रत्यक्ष	८६	अहानि वाऽभिसंख्या	२८४
असद्व्यपदेशा	४३७	अहिंसाप्रतिष्ठायां	१५३
असन्ततेश्चा	४४८	अहिंसासत्यास्तेय	१५२
असमवायात् सामान्य	५५	अहिनिर्ल्वयिनीवत्	१२१
असमाहितान्त: करणा	८७	अहीनवचनाच्च	३०४
असम्बन्धश्च कर्मणा	३१६	अहीनवत्पुरुषस्य	२०६
असम्बन्धात्तु	२४६	अहीने दक्षिणाशास्त्रं	३६७

अहीनो वा प्रकरणाद्	२०२	आतञ्चनाभ्यास	२७२
अह्ना वा श्रुतिभूत	४००	आतिवाहिकास्त	४७३
आकालिकेप्सा	१७१	आत्मकर्मसु मोक्षो	७८
आकाशव्यतिभेदा	४१	आत्मकर्म हस्तसंयो	७२
आकाशस्तल्लिङ्गात्	४२५	आत्मकृते परिणा	४३५
आकाशासर्वगतत्वं	४१	आत्मगृहीति	४५९
आकाशे चाविशेषात्	४४२	आत्मनि चैनं विचित्रा	४३८
आकाशोऽर्थान्तर	४३३	आत्मनित्यत्वे	३४
आकृतिर्जातिलिङ्गा	२०	आत्मन्यात्ममनसो:	८७
आकृतिस्तदपेक्षत्वा	२०	आत्मप्रेरणयदृच्छा	२९
आकृतिस्तु क्रियार्थ	१७७	आत्ममनसो: संयोग	८८
आख्या चैवं तदर्थ	२०२	आत्मशब्दाच्च	४५८
आख्या चैवं तदावे	३१८	आत्मशरीरेन्द्रियार्थ	४
आख्या प्रवचनात्	१६९	आत्मसंयोगप्रयत्न	७२
आख्या हि देशसंयो	१७६	आत्मसमवायादात्म	८७
आगन्तुकत्वाद्वा	४१३	आत्मान्तर गुणाना	७६
आगमेन वाऽभ्यास	३५६	आत्मा प्रकरणात्	४७४
आगमो वा चोदना	२६६	आत्मार्थत्वात्	१०९
आग्नेयवत्पुनर्वच	१९१	आत्मेति तूपगच्छ	४६९
आग्नेयसूक्तहेतु	१९०	आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ	७४
आग्नेये कृत्स्नविधि:	३६९	आत्मेन्द्रियार्थसन्निक	६५, ६६
आग्रयणाद्वा	३५८	आदरादलोप:	४६१
आघाराग्निहोत्र	१८६	आदर्शोदकयो: प्रसाद	२५
आघारे च दीर्घ	४१५	आदाने करोतिशब्द:	२३४
आचारदर्शनात्	४६४	आदितो वा तन्न्याय	३५५
आचाराद् गृह्यमा	२६४	आदितो वा प्रवृत्ति:	३५५
आच्छादने त्वैका	३५०	आदित्यरश्मे: स्फटि	२५
आज्यं वा वर्णसामा	३०१	आदित्यवद्यौगप	१६८
आज्यभागयोर्ग्रहणं	३७३	आदित्यसंयोगात्	६१
आज्यभागयोर्वा	३७३	आदित्यादिमतय:	४६९
आज्यभागाद्वानिर्दे	३६९	आदिमत्वादैन्द्रियक	१५
आज्यमपीति चेत्	२५५	आदेशार्थेतरा	२७४
आज्यसंस्था प्रति	३२९	आद्यहेतुता तद्	९९
आज्याच्च सर्वं	२१०	आधानं च भार्या	२८५
आज्ये च दर्श	२१०	आधानेऽपि तथेति	२२७
आञ्जस्यादभेद	१०४	आधाने सर्वशेष	२८८

आधेयशक्तियोग	१२७
आधेयशक्तिसिद्धौ	१२८
आध्यात्मिकादिभेदा	११६
आध्यानाय प्रयोजना	४५८
आनन्तर्यं च साम्ना	३८०
आनन्तर्यमचोदना	१९६
आनन्तर्यात्तु चैत्री	२७४
आनन्दमयोऽभ्यासात्	४१८
आनन्दादयः प्रधान	४५८
आनर्थक्यं च संयोगा	२६१
आनर्थक्यमिति चेन्न	४५२
आनर्थक्यात्तदङ्गेषु	१९५
आनर्थक्यात्त्वधिकं	३५०
आनर्थक्यादकारणं	१७९
आनर्थक्यान्नेति	२५२
आनुपूर्व्यवतामेके	३५४
आनुमानिकमप्ये	४३३
आपः	४४४
आपेक्षिको गुण	११२
आप्तिः संख्या	३३६
आप्तोपदेशः शब्दः	३, १०२
आप्तोपदेशसाम	१३
आप्रायणात्तत्रापि	४७०
आब्रह्मस्तम्भपर्यं	११७
आभास एव च	४४८
आमनन्ति चैन	४२९
आमने लिङ्गदर्श	३५०
आमिक्षोभयभाव्य	३०३
आम्नातस्त्वविका	३२५
आम्नातादन्यदधि	३१५
आम्नानं परिसंख्यार्थं	३५७
आम्नायवचनं तद्वत्	३९२
आम्नायवचनाच्च	४१९
आम्नायस्य क्रियार्थं	१७०
आरम्भणीय विकृतौ	४११
आरम्भस्य शब्द	३८३
आरम्भासमवायाद्वा	३५१
आराच्छिष्टमसंयु	२१८
आरादपीति चेत्	२१९
आर्त्विज्यमित्यौडु	४६७
आर्थापत्याच्च	३११
आर्षं सिद्धदर्शनं	८८
आर्षेयवदिति	२८६
आवापवचनं वा	३५६
आविवेकाच्च प्रवर्त	११३
आवृत्तिरसकृदुपदे	१२१, ४६९
आवृत्तिस्यत्राप्यु	११७
आवृत्तिस्तु व्यवाये	३६४
आवृत्या मन्त्रकर्म	३४४
आवेश्येरन् वाऽर्थे	३१९
आश्रयव्यतिरेकाद्	३८
आश्रयासिद्धेश्च	१३६
आश्रयिष्वविशेषेण	२३०
आश्रितत्वाच्च	३१७
आसादनमिति चेत्	३९२
आसीनः सम्भवात्	४६९
आहकारिकत्वश्रु	१०९
आह च तन्मात्रम्	४५५
इच्छाद्वेषपूर्विका	७८
इच्छाद्वेषप्रयत्न	४
इज्यायां तद्गुण	२८०
इज्याविकारो वा	२१४
इज्याशेषात्स्विष्ट	३७०
इत इदमिति	६१
इतर इतरवत्तद्दोषात्	११८
इतरथान्धपरम्परा	१२०
इतरपरामर्शात्	४३०
इतरप्रतिषेधो वा	३९१
इतरलाभेऽप्यावृत्तिः	१२३
इतरव्यपदेशाद्धिता	४३८
इतरस्यापि नात्य	११५
इतरस्याश्रुतत्वाच्च	३०६

इतरस्याप्येवमसं	४७०	ईश्वरासिद्धेः	१०१
इतरेतरप्रत्यय	४४१	ईहार्थश्चाभावात्	३४०
इतरेत्वर्थसामान्यात्	४५८	उक्तं क्रियाभिधानम्	२९२
इतरेषाञ्चानुपल	४३६	उक्तं च तत्त्वमस्य	३२३
इतरेषु तु पित्र्याणि	२८६	उक्तं तु वाक्यशेष	१७१
इतरो वा तस्य	४११	उक्तं तु शब्दपूर्वत्व	१६९
इति कर्तव्यताऽविधे	२९५	उक्तं समवाये पार	३०९
इदानीमिव सर्वत्र	१०७	उक्तं समाम्नायैदम	१७७
इन्द्रियदोषात्	८८	उक्तमनिमित्तत्वम्	२६१
इन्द्रियान्तरविकारात्	२२	उक्तमभावदर्शनम्	३५७
इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्	२५	उक्तश्चाऽनित्यसंयो	१७४
इन्द्रियार्थप्रसिद्धि	६४	उक्तश्चार्थेऽसम्बन्धः	३०८
इन्द्रियार्थसन्निकर्षो	३	उक्ता गुणाः	७९
इन्द्रियेषु साधक	१११	उक्ता विकाराच्च	३५६
इन्द्रियैर्मनसः	२८	उक्त्वा च यजमा	२२२
इयदामननात्	४६०	उक्थाऽग्निष्टोम	३५८
इषावयुगपत् संयो	७३	उक्थ्यविच्छेद	३५८
इषुकारवन्नैक	१२२	उक्थ्याच्च वचनात्	३५८
इष्टानिष्टकारण	८९	उक्थ्यादिषु वाऽर्थ	२०३
इष्टित्वेन तु	२८४	उखायां काम्य	४१७
इष्टित्वेन संस्तुते	२८४	उत्कर्षः संयोगा	३९८
इष्टिपूर्वत्वाद	२८४	उत्कर्षादपि मोक्षस्य	९३
इष्टिरयक्ष्यमाणस्य	२५४	उत्कर्षाद् ब्राह्मणस्य	२५४
इष्टिराजसूय	३८९	उत्कर्षे सूक्तवाकस्य	३९९
इष्टिरारम्भसंयोगा	३३०	उत्कर्षो वा ग्रहणाद्	२०३
इष्टिरिति चैक	३९०	उत्कर्षो वा दीक्षित	२७५
इष्टिषु दर्शपूर्णमास	२९९	उत्कर्षो वा द्वियज्ञवत्	३२२
इष्ट्यन्तेन वातदर्था	२५२	उत्कृष्येतैकसंयुक्तौ	३२४
इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं	२१६	उत्क्रमिष्यत एव	४३५
इष्ट्यावृत्तौ प्रयाज	३१४	उत्क्रान्तिगत्यागती	४४५
इहेदमिति यतः	८२	उत्क्षेपणमवक्षेपण	५३
ईक्षतिकर्मव्यपदेशा	४३०	उत्तरवदिप्रतिषेध	२९४
ईक्षतेर्नाशब्दम्	४२३	उत्तरस्य वा मन्त्रा	३४३
ईदृशेश्वरसिद्धिः	११७	उत्तरस्याप्रतिपत्ति	४९
ईश्वरप्रणिधानाद्वा	१४७	उत्तराचेदाविर्भू	४३१
ईश्वरः कारणं	३५	उत्तरार्थस्तु स्वाहा	३०९

उत्तरासु न यावत्स्व	३८६	उदाहरणसाधर्म्या	६
उत्तरास्वश्रुतित्वा	३८३	उदाहरणापेक्षस्तथे	६
उत्तरोत्पादे च पूर्व	४४१	उद्गातृचमसमेक:	२१२
उत्थाने चानुप्ररोहात्	२७५	उपगाश्च लिङ्गदर्श	२२२
उत्पत्तावभिसम्बन्ध	२४३	उपगेषु शरवत्	३५०
उत्पत्तिकालविशये	२३९	उपदेशभेदान्नेति	४२५
उत्पत्तितादर्थ्या	३७९	उपदेशस्त्वपूर्वं	२८४
उत्पत्तिनां समत्वाद्वा	२९६	उपदेशाच्च साम्न:	३१५
उत्पत्तिनामधेयत्वाद्	३०६	उपदेशो वा याज्या	१९७
उत्पत्तिरिति चेत्	२१५	उपदेश्योपदेष्ट्रत्वा	१२०
उत्पत्तिर्वा प्रयोजक	३९८	उपधानं च तादर्थ्यात्	३३५
उत्पत्तिवद्वाऽदोष:	१०४	उपनयन्नाधीत होम	२८५
उत्पत्तिशेषवचनं च	२९६	उपपत्तिकारणाभ्यनु	४६
उत्पत्तेश्चातत्प्रधान	२३६	उपपत्तेश्च	४५६
उत्पत्तेस्तु निवेश:	३८१	उपपद्यते चा	४३९
उत्पत्तौ कालभेदात्	३६८	उपपन्नश्च तद्वियो	३२
उत्पत्तौ तु बहुश्रुते:	२२१	उपपन्नस्तल्लक्षणा	४६०
उत्पत्तौ नित्यसंयोगात्	२६०	उपपूर्वमपि लोके	४६७
उत्पत्तौ येनसंयुक्तं	२३५	उपभोगादितरस्य	११३
उत्पत्तौ वाऽवचना	१६९	उपमर्दं च	४६५
उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा	२८८	उपरवमन्त्रस्तन्त्रं	४०४
उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा	२८८	उपरागात्कर्तृत्वं	१०७
उत्पत्त्यसंयोगात्	२३४	उपरिष्टात्सोमानां	३९८
उत्पत्त्यसम्भवात्	४४३	उपलब्धिवदनियम:	४४७
उत्पन्नाधिकारात्	२११	उपलब्धेरद्विप्रवृत्ति	१३
उत्पन्नाधिकारो	२९३	उपलभ्यमाने चानुप	१७
उत्पादव्ययदर्शनात्	३७	उपवादश्च तद्वत्	३७६
उत्सर्गस्य क्रत्वर्थ	३४९	उपवीतं लिङ्गदर्शनात्	२०६
उत्सर्गाच्च भक्त्या	३२४	उपवेशश्च पक्षे स्यात्	२७२
उत्सर्गेऽपि परिग्रह:	४१८	उपसंहारदर्शनान्नेति	४३८
उत्सर्गे तु प्रधान	२२१	उपसंहारोऽर्थभेदात्	४५७
उदगयनपूर्वपक्ष	२८६	उपसत्सु यावदुक्त	३७३
उदयनीये च तद्वत्	३९४	उपस्तरणाभिघारण	३३५
उदवसानीया: सत्र	३३९	उपस्थितेऽतस्तद्व	४६१
उदानजयाज्जल	१५९	उपहव्येऽप्रतिप्रसव:	१९३
उदासीनानामपि	४४२	उपांशुयाऽवचनाद्यथा	२७२

उपांशुयाजमन्तरा ३७९
उपादाननियमात् १०३
उपादानात् ४४७
उपाधिभेदेऽप्येक १०६
उपाधिर्भिद्यते न तु १०६
उपाधिश्चेत्तत्सिद्धौ १४०
उपायो वा तदर्थत्वात् २०९
उभयकारणोपपत्ते ४६
उभयत्राप्यन्यथा १३३
उभयत्राप्येवम् १२७
उभयथा गुणाः ५४
उभयथा च दोषात् ४४१, ४४२
उभयथापि न कर्मा ४४१
उभयथाऽप्यविशेष १३९
उभयथाप्यसत्कर १०१
उभयपक्षसमान ९८
उभयपानात्पृषदा ३५३
उभयव्यपदेशात्त्व ४५६
उभयव्यामोहात्त ४७३
उभयसाधर्म्यात् ४५
उभयसाम्नि चैवमेका ३१९
उभयसाम्नि नैमित्तिकं ३५९
उभयसाम्नि विश्वजिद् ३६४
उभयसिद्धिः प्रमा १०२
उभयात्मकं मनः ११०
उभयान्यत्वात्कार्यं १०४
उभयार्थमिति चेत् २३९
उभयो पितृयज्ञवत् २८४
उभयोरविशेषात् ३२०
उभयोश्चाङ्गसंयो ४१२
उभयोस्तु विधानात् ३८१
उभयोः पक्षयोरन्य १६
उभाभ्यां व न हि २७०
उष्णिक्ककुभो २५०
ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ११७
ऊर्ध्वरेतस्सु च ४६५
ऊष्मजाण्डजजरायु १३४
ऊहः १७४
ऊहादिभिः सिद्धिरष्ट ११६
ऋग्वा स्यादाम्नात ३२६
ऋग्गुणत्वान्नेति ३०६
ऋजीषस्य प्रधान ३६९
ऋणक्लेशप्रवृत्त्य ३८
ऋतम्भरा तत्र १४९
ऋत्विक्फलं करणे २२६
ऋत्विग्दानं धर्ममात्रा ३३७
एकं वा चोदनैकत्वात् २३७, ३०३
एकं वा तण्डुल २४८
एकं वा शब्दसाम २५५
एकं वा संयोगरूप १९१
एक आत्मनः शरीरे ४६२
एककपालानां वैश्व २९०
एककपालैन्द्राग्नौ २९०
एककर्मणि विकल्पो ३००
एककर्मणि शिष्टत्वाद् ४१३
एकत्रिके तृचादि ३५५
एककालत्वात् ७९
एकचितिर्वा स्याद २४१
एकत्वयुक्तमेकस्य १९५
एकत्वाद्वैकभागः ३७१
एकत्वाभावाद् भक्ति ८१
एकत्वेऽपि न गुणा ३२४
एकत्वेऽपि परम् २९१
एकत्वेऽपि पराणि २९२
एकत्वैकपृथक्त्व ८१
एकदिक्काभ्यामेक ८२
एकदेश इत्येकस्मिन् ८९
एकदेशकालकर्तृत्वं ३८८
एकदेशत्वाच्च विभक्ति २७६
एकदेश द्रव्यश्चो २३१
एकद्रव्यत्वात् ७९
एकद्रव्यत्वान्न ६२

एकद्रव्यमगुणं	५४	एकार्थत्वादविभागः	३१६, ३३७
एकद्रव्ये संस्काराणां	४०३	एकार्थत्वान्नेति चेत्	३६८
एकधर्मोपपत्तेरवि	४६	एकार्थसमवायिकारणा	८६
एकधेत्येकसंयोग	३२३	एकार्थस्तु विकल्पेरन्	४१३
एकधोपहारे सहत्वं	३३७	एकाहाद्वा तेषां	३०५
एकनिष्पत्तेः सर्वं समं	२३१	एके तु कर्तृसंयोगा	३४८
एकपात्रे क्रमादध्वर्युः	२१३	एके तु श्रुतिः	३४८
एकर्चस्थानानि यज्ञे	३६२	एकेनापि समाप्येत	३८३
एकवाक्यत्वाच्च	३३०	एकेषां चाशक्यत्वात्	४०५
एकविनाशे द्वितीया	२१	एकैकशस्त्व	३३६
एकशब्द्यात्तथा	३८४	एकैकश्येनोत्तरोत्तर	२६
एकश्रुतित्वाच्च	२३०	एतदनित्ययोर्व्याख्या	८१
एकसंख्यमेव स्यात्	३०५	एतयैव सविचारा	१४६
एकसमये चोभया	१६२	एतस्मिन्नसंभवन्न	२६४
एकस्तु समवायात्त	३२४	एतेन कर्माणि गुणा	७५
एकस्तोमो वा	२५३	एतेन गुणत्वे भावे	७०
एकस्माच्चेद्यथा	२०६	एतेन दिगन्तरालानि	६२
एकस्मिन्नेकसंयो	२०४	एतेन दीर्घत्वह्रस्व	८०
एकस्मिन्भेदाभावाद्	४०	एतेन नित्येषु नित्य	७६
एकस्मिन्वा देवता	२००	एतेन नियमः प्रयुक्तः	३२
एकस्मिन्वाऽर्थधर्म	२०५	एतेन भूतेन्द्रियेषु	१५७
एकस्मिन्वा विप्रति	३३४	एतेन मातरिश्वा	४४४
एकस्मिन्समवत्त	२१०	एतेन योगः प्रयुक्तः	४३६
एकस्य कर्मभेदादिति	२२१	एतेन विभागो व्याख्या	८१
एकस्य तु लिङ्गभे	१८८	एतेन शाब्दं व्याख्या	८७
एकस्य तूभयत्वे	२३६	एतेन शिष्टा परिग्रहा	४३७
एकस्य वा गुणविधि	४०३	एतेन सर्वे व्याख्या	४३५
एकस्य वा श्रुतिसाम	३५०	एतेन हीनसमविशि	७६
एकस्यां वा स्तोम	३५५	एतेनाघटोऽगौर	८६
एकस्यैवं पुनः श्रुतिः	१८५	एतेनाप्सूष्णता	६०
एकः संस्कारः क्रिया	१३५	एवं चात्माऽकात्स्न्यं	४४२
एकाग्नित्वादपरेषु	३६२	एवं मुक्तिफलानियम	४६८
एकाग्निवच्च दर्शनम्	४०५	एवं शून्यमपि	१३१
एकादशपञ्चतन्मात्रं	१०६	एवमप्युपन्यासात्	४७५
एकादशिनीवन् त्र्यनी	३६१	एवमितरस्याः	११६
एका पञ्चेते धेनु	३४७	एवमेकत्वेन	१०६

ऐकभौतिकमित्य	११४	कर्तृतो वा विशेषस्य	२०३
ऐकशब्द्यादिति	३८३	कर्तृदेशकालानाम	२३५
ऐकशब्द्ये परा	१७८	कर्तृभेदस्तथेति	३९२
ऐकादशिनेषु सौत्यस्य	२९९	कर्तृविधेर्नानार्थ	३८२
ऐकार्थ्याच्च तद	३१७	कर्तृसंस्कारो वचना	३३६
ऐकार्थ्यादव्यवाय:	३८७	कर्मकरो वा क्रीत	२६६
ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत	३००, ३७५	कर्मकर्तृव्यपदेशा	४२६
ऐन्द्राग्ने तु लिङ्ग	२००	कर्मकर्मसाध्यं न	५४
ऐन्द्रावायवस्या	३५९	कर्मकारितश्चेन्द्रिया	२४
ऐन्द्रावायवे तु	२१२	कर्मकार्यात्	२३२
ऐन्द्रियकत्वाद्रूपा	३१	कर्मकार्यात्सर्वे	२२२
ऐहिकमप्यप्रस्तुत	४६८	कर्म च द्रव्यसंयो	३३१
ओदनो वाऽन्नसंयो	३३३	कर्मजे कर्म यूपवत्	२९४
ओदनो वा प्रयुक्त	३३३	कर्मणश्चैकशब्द्यात्	३४३
औत्तरवेदिको	२९४	कर्मणस्त्वप्रवृत्ति	२९९
औत्पत्तिकस्तु शब्द	१६७	कर्मण: पृष्ठशब्द:	२९५
औत्पत्तिके तु द्रव्य	३४१	कर्मणोस्तु प्रकरणे	३७९
औदासीन्यं चेति	१०७	कर्मण्यारम्भभाव्य	३८४
औदुम्बर्या: परार्थ	२७७	कर्म तथेति चेत्	२६२
औपभृतं तथेति	२३३	कर्म धर्मो वा प्रवण	१७६
औषधं वा विशदत्वा	३०१	कर्मनिमित्तयोगाच्च	११८
औषधसंयोगाद्वो	२७३	कर्मनिमित्त: प्रकृते:	१४२
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा	१५८	कर्मभि: कर्माणि	८०, ८१, ८२
कण्डूयणे प्रत्यङ्गं	४०३	कर्मयुक्ते च दर्शनात्	२३५
कपालविकारो वा	३३३	कर्मवद् दृष्टेर्वा	११८
कपालानि च कुम्भी	४०२	कर्म वा विधिलक्षणम्	३१६
कपालेऽपि तथेति	४१७	कर्म वैचित्र्यात् प्रधान	११७
करणं त्रयोदशविध	१११	कर्म वैचित्र्यात् सृष्टि	१४०
करणवच्चेन	४४३	कर्म सन्तानो वा	४१५
करिष्यद्वचनात्	४०४	कर्मसु भावात्कर्म	५७
करोति शब्दात्	१६७	कर्मस्वपीति चेत्	३५७
कर्त्ताशास्त्रार्थ	४४६	कर्माऽभेदं तु जैमिनि:	२६५
कर्त्तुर्वाश्रुतिसंयोगा	१९०, २५७	कर्माकाशसाधर्म्या	२७
कर्त्तुस्तु धर्मनियमा	२९१	कर्माक्रुष्टेर्वा	२१८
कर्त्तु: स्यादिति	३७९	कर्माण्यपि जैमिनि:	२९४
कर्तृगुणे तु कर्मा	१९५	कर्मानिवस्थायिग्रह	३१

कर्माभावादेवमिति ३१४
कर्मार्थं तु फलं २२६
कर्मार्थत्वात्प्रयोगे ३८२
कर्माशुल्काकृष्णं १६१
कर्मेन्द्रियबुद्धी १०६
कर्मैके तत्र दर्श १६७
कल्पनोपदेशाच्च ४३४
कल्पान्तरं वा तुल्य २८२
कामकारेण चैके ४६५
कामसंयोगात् ३६१
कामसंयोगे तु ३६०
कामाच्च नानुमाना ४२४
कामादीतरत्र तत्र ४६१
कामेष्टौ च दानशब्दा ३३६
कामो वा तत्संयोगेन २३८
काम्यत्वाच्च २५२
काम्यानि तु न ३४०
काम्यास्तु यथाका ४६३
काम्येऽकाम्येऽपि १००
काम्ये कर्मणि २३८
काम्येषु चैव २६५
कायरूपसंयमात् १५७
कायाकाशयो: १५६
कायेन्द्रियसिद्धि १५४
कारणं त्वसमवा ७५
कारणं स्यादिति १७६
कारणकारणसम ६०
कारणगुणपूर्वक: कार्य ६०
कारणगुणपूर्वक: पृथि ७६
कारणत्वेन चाकाश ४३४
कारणद्रव्यस्य प्रदेश १६
कारणपरत्वात् ८२
कारणबहुत्वाच्च ७६
कारणभावाच्च १०३
कारणभावात्कार्य ६६
कारणमिति द्रव्ये ८६
कारणसमवायात् ६०
कारणसामान्ये ५५
कारणाच्च २१०
कारणाज्ञानात् ६४
कारणादभ्यावृत्ति: २४७
कारणाद्वाऽनवसर्ग: २४८
कारणानुपूर्व्याच्च २१४
कारणान्तरादपि ४६
कारणान्तरानुक्लृप्ति ५६
कारणाभावात्कार्यं ५६
कारणायौगपद्यात् ८५
कारणेन काल: ७५, ८०
कारणे समवायात् ६०
कार्त्स्न्यं वा ३२६
कार्यं कर्मान्तिरस्य ६४
कार्यं वादरिरस्य ४७३
कार्यकारणयोरेक ८१
कार्यतस्तत्सिद्धे: १०८
कार्यत्वादुत्तरयो ३५३
कार्यदर्शनात्तदु १०३
कार्यविरोधि कर्म ५४
कार्यविशेषेण ६१
कार्यव्यासङ्गात् ४६
कार्याख्यानाद ४५६
कार्यात्कारणा १०५
कार्यात्ययेतद ४७३
कार्यान्तरा प्रादुर्भा ६०
कार्यान्यत्वे प्रयत्ना ४७
कार्येषु ज्ञानात् ६४
कालप्राधान्याच्च २७५
कालभेदात्त्वावृत्ति ३६१
कालभेदान्नेति ३८०
कालवाक्यभेदा ४१०
कालविधिर्वोभयो २७१
कालश्चेत्सन्नय २७१
कालश्रुतौ काल २३६

कालस्तु स्याद २७१
कालस्येति चेत् ३२०
कालात्ययापदिष्टः ७
कालान्तरेऽर्थवत्वं ४१४
कालान्तरेणाऽनिष्प ३७
कालाभ्यासेऽपि ३०५
कालार्थत्वाद्वोभयोः २७१
कालोत्कर्ष इति २४६
कालो वोत्पन्न २७१
किञ्चित्साधर्म्या ४४
कुऽयान्नरितानु २५
कुत्राऽपि कोऽपि १३७
कुम्भादिष्व ३०
कुसुमवच्चमणिः १११
कूर्मनाड्यां १५८
कृतकं चाभिधा १६१
कृतताकर्तव्योप १२
कृतत्वात्तु कर्मणः २०६
कृतदेशात्तु पूर्वेषां २४६
कृतनियमलंघना १२२
कृतप्रयत्नापेक्षास्तु ४४४
कृतात्ययेऽनुशय ४५१
कृतार्थं प्रति नष्ट १५२
कृते वा विनियोग १६६
कृत्स्नत्वात्तु तथा ३७६
कृत्स्नभावात्तु ४६८
कृत्स्नप्रसक्ति ४३८
कृत्स्नविधानाद्वा २६८
कृत्स्नैकदेशावृत्ति ४०
कृत्स्नोपदेशादु १६८
कृष्णसारे सत्युप २३
कृष्णलेष्वर्थलोपा ३३५
केशसमूहेतैमिरि ४०
कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च १०६
क्रतुतोवाऽर्थवादानु २०३
क्रतुवद् वानुमानेना ३८४
क्रतोश्च तद्गुणत्वा ३७५
क्रतौ फलार्थवाद २३७
क्रत्वग्निशेषो वा २५१
क्रत्वन्तरवदिति २४५
क्रत्वन्तरे वा तन्न्या ३७५
क्रत्वन्तरेषु पुन ३८३
क्रत्वन्ते वा प्रयोग २५२
क्रत्वर्थं तु क्रियेत ३४०
क्रत्वार्थायामिति ४००
क्रमकोपश्च यौग ३८७
क्रमकोपोऽर्थशब्दा २५३
क्रमानिर्देशादप्रति ३५
क्रमवृत्तित्वाद २७
क्रमशोऽक्रमश ११०
क्रमश्च देशसा २०२
क्रमादुपसर्जनोऽन्ते ३५५
क्रमान्यत्वं परिणा १५७
क्रमेण च नियम्यते २४४
क्रयणश्रपणपुरो ३०२
क्रयणेषु तु विकल्पः ४१६
क्रियतेवाऽर्थवाद ३३५
क्रियस्य धर्ममात्र २५८
क्रियागुणवत्सम ५४
क्रियागुणव्यपदेशा ८६
क्रियाणामर्थशेषत्वा ३८४
क्रियाणामाश्रित २६५
क्रियार्थत्वादितरे ३२७
क्रियावत्वाद् गुण ५६
क्रिया वा देवतार्थं ४१०
क्रिया वा मुख्या ३३४
क्रिया वा स्याद ३२६
क्रिया स्याद्धर्म ३४१
क्रियेरन् वाऽर्थं ३२६
क्रीतत्वात्तु भक्त्या २५८
क्लेशकर्मविपाक १४७
क्लेशमूलःकर्मा १५१

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः	४६	गुणत्वाच्च वेदे न	२२५
क्वचिद्विधानाच्च	२६५	गुणत्वात्	८२
क्वचिद्विधानान्नेति	३८८	गुणत्वेन तस्य	२२४
क्वचिद्विनाशकरणा	२८	गुणत्वेन देवता	३००
क्वचिन्निवृत्तिदर्श	१०	गुणपरिणामभेदा	११०
क्षणतत्क्रमयोः संयमा	१६०	गुणमुख्यविशेषा	३३३
क्षणप्रतियोगी	१६४	गुणमुख्येव्यति	२०२
क्षणिकत्वाच्च	४४२	गुणयोगाद्बन्धः	१२३
क्षत्रियत्वगतेश्चो	४३२	गुणलोपे तु मुख्य	३४१
क्षामे तु सर्वदाहे	२६९	गुणवादस्तु	१७०
क्षीणवृत्तेरभिजात	१४८	गुणविधिस्तु न	२९३
क्षीरविनाशे कारणा	२८	गुणविशेषादेकस्य	२१९
क्षुदादिभिः प्रवर्तना	४२	गुणवैधर्म्यान्न	५५
गणचोदनायां यस्य	३०४	गुणशब्दस्तथेति	३१४
गणादुपचयस्त	३०५	गुणश्चानर्थकः स्यात्	१८२
गणेषु द्वादशस्य	३६९	गुणश्चाऽपूर्वसंयोगे	१८७
गतियोगेऽप्याद्य	१४०	गुणसाधारण्यश्रुते	४६३
गतिशब्दाभ्यां	४३०	गुणस्तु क्रतुसंयोगा	१८७
गतिश्रुतिरप्युपा	९९	गुणस्तु श्रुतिसंयोगा	१८५
गतिश्रुतेश्च	१४१	गुणस्य तु विधान	२५९
गतिसामान्यात्	४१८	गुणस्य तु विधानार्थे	१७९
गतेकर्मास्थियज्ञ	३४०	गुणस्य सतोऽपवर्गः	६२
गतेरर्थवत्त्वमुभय	४६०	गुणात्सङ्गोपबन्धः	१८८
गन्धक्लेदपाक	२३	गुणादप्रतिषेधः	१७४
गन्धत्वाद्यव्यति	२५	गुणादयज्ञत्वम्	३५८
गन्धरसरूपस्पर्श	४, २६	गुणादीनां च नात्यन्त	१२७
गव्यस्य च तदादि	२९९	गुणाद्वाऽप्यभिधानं	१९७
गानसंयोगाच्च	३१५	गुणाद्वा द्रव्यशब्दः	३०६
गायत्रीषु प्राकृतीना	३०५	गुणाद्वा लोकवत्	४४६
गार्हपते वा	२७८	गुणानां च परार्थं	१९६, २९६, ३८१
गीतिषु समाख्या	१८४	गुणानां तूत्पत्ति	२४३
गुणकर्मसु गुण	८४	गुणान्तरापत्त्युप	१९
गुणकर्मसु च भावा	५६	गुणान्तराप्रादुर्भा	७०
गुणकर्मसु सन्निकृ	८४	गुणाभावात्	१९७
गुणकामेष्वाश्रि	३००	गुणाऽभिधानात्	२२०
गुणकालविकारा	४०५	गुणाभिधानान्मन्द्रा	१९९

गुणार्थात्वादुपदेश ४१५
गुणार्थमिति चेत् २६१
गुणार्था वा पुन: १९३
गुणार्थित्वान्नेति २६०
गुणार्थेन पुन: श्रुति: १७३
गुणार्थो व्यपदेश: १८४
गुणावेशश्च सर्वत्र ३०७
गुणाश्च नामसंयुक्ता २४३
गुणेपीति चेत् ३३२
गुणैर्गुण: ८२
गुणैर्दिग्व्याख्यता ७५, ८०
गुणोऽपि विभाव्यते ८२
गुणोपबन्धात् १८६
गुणो वा श्रपणार्थं ३२८
गुणो वा स्यात्कपा ३३२
गुरुत्वप्रयत्न ५५
गुहां प्रविष्टावा ४२७
गृहपतिरिति च ४१९
गोत्ववच्च समन्वय: ३०६
गोत्वाद् गौसिद्ध ४४
गौश्चेन्नात्म ४२३
गौणो वा कर्म २२६
गौण्यसम्भवात् ४४४, ४४९
ग्रहणं वा तुल्यत्वात् ३७७
ग्रहणं समानविधानं ३७७
ग्रहणस्यार्थवत्त्वा ३७४
ग्रहणस्वरूपाऽस्मिता १६०
ग्रहणाद्वाऽनपाय: १९९
ग्रहणाद्वाऽपनीतम् २००
ग्रहणार्थं प्रतीयेत ३१७
ग्रहणां च सम्प्रति ३३२
ग्रहाणां देवता ३५३
ग्रहभावे तद्वचनम् ३३२
ग्रहार्थं च पूर्वं ४०७
ग्रहेष्टकमौपानु २५१
ग्रावस्तुतो भक्षो २१२
घटादिनिष्पत्ति ४५
घ्राणरसनचक्षु ४
चक्रभ्रमणवद् १२०
चक्षुरादिवत्तु तत्स ४४९
चतुर्थे चतुर्थेऽहन् ३५९
चतुर्धाकरणे च ४२०
चन्द्रादिलोके १४१
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् १५८
चमसवदविशेषात् ४३४
चमसवदिति चेत् २११
चमसाध्वर्यवश्च २२१
चमसांश्चमसाध्वर्यं २२३
चमसिनां वा २१३
चमसे चान्यदर्शं २१३, २२३
चमसेषु समाख्या २१२
चमसैश्च तुल्य २१४
चरणादिति चेन्नो ४५१
चरमोऽहंकार: ९९
चराचरव्यपाश्रय: ४४५
चरावपीति चेत् २०४
चरुशब्दाच्च ३०१
चरुर्हविर्विकार: ३३३
चरौ वाऽर्थोक्तं २०४
चरौ वा लिङ्गदर्श ३३४
चातुराश्रम्यमुपधा ७७
चातुर्भौतिकमपि ११४
चातुर्वर्ण्यमविशेषा २५९
चिकीर्षया च २२०
चितितन्मात्रेण ४७५
चित्तान्तरदृश्ये १६२
चित्तेरप्रतिसंक्रमा १६३
चिदवसाना मुक्ति १४१
चिदवसानो भोग: १०२
चेतनोद्देशान्नियम: १०८
चेष्टेन्द्रियार्थाश्रय: ४
चोदनां प्रतिभावाच्च २२४

चोदनानामनाश्रया ३४७
चोदना पुनरारम्भः १८१
चोदना पृथक्त्वे ४०१
चोदना प्रभुत्वाच्च ३४२
चोदनायां त्वनारम्भो २३०
चोदनायां फलाश्रुतेः २३७
चोदनार्थकात्स्न्यात्तु २१५
चोदनालक्षणोऽर्थो १६७
चोदनालिङ्गसंयोगे ३४६
चोदना वाऽपूर्वत्वा २०३
चोदना वाऽप्रकृतत्वा १८६
चोदना वा कर्मोत्सर्गो ३२६
चोदना वा गुणानां १८५
चोदना वा द्रव्य २७०
चोदना वा शब्दार्थस्य १८६
चोदना शेषभावाद्वा २८८
चोदनासमुदायात्तु ३१३
चोदनासामान्याद्वा २६४
चोदनासु त्वपूर्वं ३५५
चोदनैकत्वाद्राज ३६६
चोदितं तु प्रतीयेता १७५
चोदिते तु परार्थे १६५, ३१४
चोदितत्वाद्यथा २५७
चोद्यन्ते चार्थकर्म २३०
छन्दत उभयाविरो ४६०
छन्दश्च देवतावत् २००
छन्दसि तु यथादृ ३२१
छन्दः प्रतिषेधस्तु २००
छन्दोऽभिधानान्ने ४२५
छन्दोव्यतिक्रमा ३६२
छागेन कर्माख्या २८७
छागो वा मन्त्रवर्णात्तु २८६
छिन्नहस्तवद्वा १२१
जगत्सत्यत्वम १४१
जगत्साम्नि सामा ३५६
जगद्वाचित्वात् ४३४
जगद्व्यापारवर्जं ४७६
जडप्रकाशयोगात् १०६
जडव्यावृत्तो १४१
जन्मादिव्यवस्थातः १०६
जन्माद्यस्य यतः ४२३
जन्मौषधिमन्त्र १६१
जपाश्चाकर्मसंयुक्ताः ४१६
जपो वा अग्निसंयो २८४
जवास्फटिकयोरिव १३६
जाघनी चैकदेशत्वात् २०३
जातिं तु बादरायणो २५७
जातिदेशकालव्य १६१
जातिदेशकालसमया १५३
जातिर्नैमित्तकं ३२१
जातिलक्षणदेशै १६०
जातिविशेषे चानि १३
जातिविशेषाच्च ७८
जातिविशेषात्परम् २११
जातिः १७६
जातेर्वा तत्प्रायवच २८७
जात्यन्तरपरिणामः १६१
जात्यन्तराच्च २३३
जात्यन्तरेषु भेदः ४०२
जीवत्यवचनमायु ३४१
जीवन्मुक्तश्च ११६
जीवमुख्यप्राण ४२५, ४३४
जुहोति चोदनानां ३०८
जुह्वादीनामप्रयुक्त २७६
जैमिनेः परतन्त्रत्वा ४०५
ज्ञस्येच्छाद्वेषनि ३०
ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोप २२
ज्ञाते च वाचनं २२५
ज्ञानग्रहणाभ्यास ४३
ज्ञाननिर्देशे ज्ञान ८४
ज्ञानलिङ्गत्वादा ११
ज्ञानविकल्पानां च ४६

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेश	२९	तत्कार्यं धर्मादिः	१०९
ज्ञानान्मुक्तिः	११४	तत्कार्यतस्तत्सिद्धे	१०५
ज्ञानयौगपद्यादेकं	३२	तत्कार्यत्वमुत्तरेषाम्	९९
ज्ञेयत्वावचनाच्च	४३३	तत्कालात्त्वावर्तेत	३९६
ज्ञोऽत एव	४४५	तत्कालास्तु यूपकर्म	३९४
ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु	४५०	तत्काले वा लिङ्गदर्श	२२७
ज्योतिरुप क्रमा तु	४३४	तत्कालो वा प्रस्तरवत्	३९५
ज्योतिर्दर्शनात्	४३२	तत्तु समन्वयात्	४२३
ज्योतिष्टोमे तुल्या	२४३	तत्त्रिविधिं वाक्छलं	७
ज्योतिश्चरणाभि	४२५	तत्त्रैराश्यं रागद्वेष	३४
ज्योतिषि भावाच्च	४३२	तत्त्वं भावेन	६०, ६१[२], ८३
ज्योतिषैकेषाम्	४३४	तत्त्वप्रधानभेदाच्च	४२
ज्योतिष्टोम्यस्तु	३६७	तत्त्वभाक्तयोर्नानात्व	१५
तं शिष्यगुरुस	४३	तत्त्वाध्यवसायसंरक्ष	४३
त आकाशे न विद्यन्ते	५८	तत्त्वाभ्यासान्नेति	११९
त इन्द्रियाणि तद	४५०	तत्परं पुरुषख्याते	१४६
तच्चोदकेषु मन्त्रा	१८३	तत्पुनः पृथिव्यादि	७०
तच्चोदना वेष्टेः	३०९	तत्पूर्वकत्वाद्वाचः	४४९
तच्छब्दो वा	२५०	तत्पृथक्त्वं च दर्श	३४५
तच्छिद्रेषु प्रत्यया	१६३	तत्प्रकरणे यत्त	२०६
तच्छेदो नोपपद्यन्ते	१७९	तत्प्रकृतेर्वा	२५३
तज्जपस्तदर्थं	१४७	तत्प्रकृत्यर्थं यथान्ये	२१६
तज्जयात्प्रज्ञा	१५६	तत्प्रख्यञ्चान्य शास्त्रम्	१७८
तज्जः संस्कारो	१४९	तत्प्रतिषिध्य प्रकृति	३२६
तडितोऽधिवरुणः	४७३	तत्प्रतिषेधार्थं	२४८
ततश्च तेन सम्ब	३११	तत्प्रतिषेधे च तथा	३२७
ततश्चावचनं	३१४	तत्प्रधाने वा	२०६
ततस्तद्विपाकानु	१६१	तत्प्रयुक्तत्वे च धर्म	३१२
ततः कृतार्थानां	१६३	तत्प्रयुक्तस्येति चेत्	
ततः क्लेशकर्मनिवृ	१६३	तत्प्रवृत्तिर्गणेषु	२९९
ततः क्षीयते प्रकाशा	१५४	तत्प्रवृत्त्या तु	४१२
ततः परमा वश्यते	१५५	तत्प्राक् श्रुतेश्च	४४९
ततः पुनः शान्तो	१५७	तत्प्रामाण्ये वा न	१०
ततः प्रकृतेः	९८	तत्प्रामाण्ये वा नार्थ	१५
ततः प्रत्यक् चेतना	१४७	तत्र जौहवमनुयाज	२३३
ततः प्रातिभश्रावण	१५९	तत्र तत्त्वमभियोग	२७६
ततोऽणिमादिप्रादु	१५९	तत्र दानं विभागेन	३४६
ततोऽपि यावदुक्तं	३७२	तत्र ध्यानजमनाश	२६१
ततो द्वन्द्वानभिघातः	१५४	तत्र निरतिशयं	२४७
ततो मनो जवित्वं	१६०	तत्र प्रतिहोमो न	२७५
तत्कर्मार्जितत्वात्	११२	तत्र प्रत्ययैकतान	२५६
तत्कारित्वादहेतुः	३५	तत्र प्राप्तविवेकस्या	२००

तत्र विप्रतिषेधाद्वि २७६
तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ७४
तत्र शब्दार्थज्ञान १४९
तत्र शरीरं द्विविधं ७०
तत्र सर्वेऽविशेषात् २३८
तत्र स्थितौ यत्नो १४६
तत्रात्मा मनश्चाप्रत्यक्षे ८४
तत्रान्यानृत्विजो ३३९
तत्रापि च तद्व्यापाराद् ४५२
तत्राप्यवरोध: १३८
तत्राभावस्य हेतु ३०९
तत्रार्थात्कर्तृ २२१
तत्रार्थात्प्रतिवचनम् २१४
तत्राविप्रतिषिद्धो ३१६
तत्राहर्गणेऽर्थाद्वा ३६९
तत्रैकत्वमयज्ञा २३०
तत्रोत्पत्तिरविभक्ता २३२
तत्रौषधानि चोद्यन्ते ३१०
तत् श्रुते: ४६४
तत् श्रुतौ चान्य ३३३
तत्सन्निधानादधि १०२
तत्संयोगात्कर्मणो २२३
तत्संयोगात्क्रतुस्तदा १८९
तत्संयोगो विभाग: ७८
तत्संस्कारश्रुते ३७८
तत्संस्तवाच्च २१०
तत्समवायात् कर्म ८७
तत्सम्बन्धात्फल ३८
तत्सर्वत्राविशेषात् २०८
तत्सर्वार्थमनादेशात् २३७
तत्सर्वार्थमविशेषा २०४
तत्सिद्धि: १७९
तत्सिद्धेरलक्षिते १५
तत्सिद्धौ सर्वसिद्धे १०१
तथाऽग्निहविषो: ३०८
तथाऽत्यन्तसंशय ९
तथाऽन्यप्रतिषेधात् ४५६
तथाऽपूर्वम् २४६
तथाऽभावे भावात् ८६
तथाऽभिधानेन २२०
तथाऽऽशेषसंस्कारा १११
तथाऽऽज्यभागाग्नि ३३१
तथा ऽऽशिरे ३९८
तथाऽऽहारस्य ३२
तथा कर्मोपदेश: ३८३
तथा कामोऽर्थसंयो २२५
तथा गुण: ५४
तथा गुणेषु भावाद् ५७
तथा च ज्वलनम् ३३५
तथा च दर्शयति ४४६
तथा च लिङ्गम् २३०
तथा च लिङ्गदर्शनम् ३३४, ३४८, ३६०
तथा च लोकभूतेषु २२९
तथा च सोमचमस: ३४८
तथाचान्यार्थदर्शनम्[1] २४२
तथा चान्यार्थदर्शनं कामु ३८७
तथाचैकवाक्यतो ४६५
तथा तद्ग्रहणे स्यात् ३७२
तथात्मसंयोगो हस्त ७२
तथादक्षिणा प्रतीची ६१
तथा दग्धस्य विस्फो ७३
तथा दोष: ३४
तथा द्रव्यान्तरेषु ८७
तथा द्रव्येषु गुण २३५
तथा निर्मन्थ्ये १७८
तथान्त: क्रतुयुक्तानि २६४
तथा पय: प्रतिषेध: ३८७
तथापस्तेजोवायुश्च ८५
तथा पूर्ववति स्यात् ३०७
तथा पृथक्त्वम् ८१
तथाप्येकतरदृ १०३
तथा प्रतिग्रह: ७६
तथा प्राण: ४४९
तथा फलाभावात् १७०
तथा भक्षप्रैषा २८६
तथा भावादुत्पन्नस्य ४५
तथाभिघारणस्य ३४६
तथा भूतेन संयोगाद् ३४३

१. निम्न स्थानों पर भी देखें—२४३², २४४, २४९, २५८, २६०, २७३, २८१, ३००, ३०५, ३१७, ३७९, ३८०, ३८६, ३८८, ३८९, ३९०, ३९९, ४०१², ४११।

तथा याज्या पुरोरुचोः १८३
तथा यावदुक्तमा २५६
तथा यूपस्य वेदिः २२०
तथा रूपे कारणैकार्थे ६०
तथावभृथः सोमात् २६३
तथा विरुद्धानां त्यागः ७७
तथा वैधर्म्यात् ६
तथा व्रतमुपेतत्वात् ४०७
तथा शरेष्वपि ३०७
तथा सोमविकारा २५६
तथा स्यादध्वर ३६०
तथा स्वप्नः ८८
तथा स्वामिनः फल २६६
तथा हस्तसंयोगाच्च ७२
तथा हि लिङ्गदर्शनम् २६४
तथाह्वानमपीति १६७
तथेतरस्मिम् ३०७, ३७४, ३८६, ४१८
तथेत्युपसंहारादुप १३
तथेहापि स्यात् ३०७
तथेहि ३८६, ३६१
तथैकार्थविकारे ३७४
तथोत्तरस्यां ततौ ३५१
तथोत्थानविसर्जते १६७
तथोत्पत्तिरितरेषां २६५
तदकर्मणि च २६५
तदत्यन्तविमोक्षो ५
तददुष्टे न विद्यते ७६
तददृष्टकारितमिति ३२
तदधिगम उत्तरे ४७०
तदधिष्ठानाश्रये ११३
तदधीनत्वादर्थ ४३३
तदनन्यत्वमारम्भ ४३७
तदनारम्भ आत्मस्थे ७४
तदनित्यत्वमग्ने ३६
तदनुपलब्धेरनुप १६, ४६
तदनुपलब्धेरहेतुः २४
तदनुविधानादेक ६०
तदन्तरप्रतिपत्तौ ४५१
तदन्तरालानुपलब्धे १६
तदन्नमयत्वश्रुतेश्च ११४
तदपि दुःखशबल १३७
तदपि बहिरङ्ग १५६
तदपेक्षं च द्वादशत्वम् ४०१
तदप्रामाण्यमनृत १३
तदभावः सात्मकप्रदा २१
तदभावनिर्धारणे च ४३२
तदभावश्चापवर्गो ४३
तदभावात्संयोगा १५२
तदभावादणु मनः ८०
तदभावेऽग्निवदिति ३२०
तदभावे तदभाव ६८
तदभावे नास्त्यन १७
तदभावे संयोगा ७५
तदभावो नाडीषु ४५४
तदभिध्यानादेव तु ४४४
तदभ्यासः समासः ३१७
तदयौगपद्यलिङ्ग ११
तदर्थं यमनियम ४३
तदर्थ एव दृश्य १५२
तदर्थत्वात्प्रयोगस्य १७७
तदर्थमिति चेन्न ३८१
तदर्थवचनाच्च २५४
तदर्थशास्त्रात् १७२
तदर्थे व्यक्त्याकृति १६
तदलिङ्गमेकद्रव्य ५६
तदव्यक्तमाह हि ४५५
तदष्टसंख्यं श्रवणात् २३३
तदशक्तिश्चानुरूप १७६
तदसंख्येयवासना २६३
तदसंशयः पूर्वहेतु ४०
तदाऽवयवेषु स्यात् ३६०
तदाख्यो वा प्रकरणो २६८
तदात्मगुणत्वेऽपि २८
तदात्मगुणसद्भावा २२
तदादि वाऽभिसम्बन्धा २४६
तदा द्रष्टुः स्वरूपे २४५
तदापीतेः संसार ४७१
तदा विवेकनिम्नं २६३
तदावृत्तं तु जैमिनि ३०५
तदाश्रयत्वादपृथ ४२
तदा सर्वावरणमला १६३
तदुक्तदोषम् ३१६
तदुक्तित्वाच्च २५७
तदुक्ते श्रवणा २३६

तदुत्पत्तिश्रुतेर्वि ११०
तदुत्पत्तिश्रुतेश्च १००
तदुत्पत्तेर्वा प्रवचन ४१४
तदुत्पत्तेस्तु निवृत्ति ३१९
तदुत्सर्गे कर्माणि २२९
तदुपरागापेक्षित्वा १६२
तदुपलब्धिरितरे २७
तदुपर्यपि बादरा ४३१
तदुपहूत उपाह्वयस्वे २१४
तदृग्द्रव्यं वचनात् ३१६
तदेकदेशो वा २३३
तदेकपात्राणां समवा २१४
तदेवार्थमात्रनिर्भासं १५६
तदोकोऽग्रज्वलनम् ४७२
तद्गुणसारत्वात्तु ४४६
तद्गुणाद्वा स्वधर्मः २२४
तद्गुणास्तुविधीये १७८
तद्दुष्टज्ञानम् ८८
तद्दुष्टभोजने न ७६
तद्देशानां वाऽग्र ३६०
तद्देशानां वा संघात ३१३
तद्बीजात्संसृतिः ११३
तद्भावे तदयोगादु ९७
तद्भूतस्थानाद ३९६
तद्भूतस्य तु नात ४६७
तद्भूतानां क्रियार्थेन १६९
तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो १८६
तद्युक्तं च कालभेदात् ४०६
तद्युक्तस्येति चेत् ३१२
तद्युक्ते च प्रतिषेधात् २८२
तद्युक्ते तु फलश्रुति २२०
तद्योगे तत्सिद्धावन्यो १२६
तद्योगेऽपि न नित्य १२५
तद्योगोऽप्यविवेकान्न ९५
तद्रूपत्वाच्च शब्दा २७२
तद्रूपत्वे सादित्वम् १२६
तद्वचनादाम्नायस्य ५३, ९०
तद्वचनाद्विकृतौ २४५
तद्वच्च देवतायां ३८०
तद्वच्च लिङ्गदर्शनम् २२३, २३०
तद्वच्च शेषवचनम् २११
तद्वतो विधानात् ४६४
तद्वत्सवनान्तरे २१७
तद्वर्जं तु वचन २१५
तद्विकल्पाज्जाति ८
तद्विकारेऽप्यपूर्वं २५०
तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाण १०
तद्विपर्ययाद्वा विपरी ६
तद्विशेषेणादृष्ट ७३
तद्विस्मरणेऽपि १२२
तद्वैराग्यादपि दोष १६०
तद्व्यपदेशं च १७८
तद्व्यवस्थानं तु भूय २६
तद्व्यवस्थानादेवात्म २१
तद्धतिः शब्दान्नेति २६९
तद्धाने प्रकृतिः १०५
तद्धि तथेति चेत् ३९७
तद्धेतुव्यपदेशाच्च ४२४
तन्त्रमध्ये विधानाद्वा ४०५, ४१०
तन्त्राधिकरणाभ्युपगम ५
तन्त्रिसमवाये चोदनातः ४०५
तन्त्रीणां प्रकरणात् ३८०
तन्नित्यं तच्चिकीर्षा २६६
तन्नित्यवच्च पृथक् ३०५
तन्निमित्तं त्ववय ३९
तन्निर्धारणानि ४६१
तन्निवृत्तावुपशान्तो १११
तन्निष्ठस्य मोक्षो ४२३
तन्न्यायत्वादद्द ४१४
तन्न्यायत्वादशक्ते ३८७
तन्मः प्राण उत्तरा ४७१
तन्मयत्वाच्च ७८

तन्वभावे सन्ध्यवदु ४७५
तपश्च फलसिद्धि २२४
तपः स्वाध्यायेश्वर १५०
तमो विशाला मूलतः ११७
तयोरन्यत्वे तुच्छ १०५
तयोरप्यभावो १२
तयोर्निष्पत्तिः ८९
तर्काप्रतिष्ठानाद् ४३७
तल्लक्षणावरोधाद ३६
तल्लिङ्गत्वादिच्छा ३०
तस्माच्च विप्रयोगे २७१
तस्माच्छरीरस्य ११३
तस्मादागमिकम् ५९
तस्मादागमिकः ६६
तस्मिन्नेषणमनर्थं ३३४
तस्मिन्संज्ञा विशेषाः २९१
तस्मिन्संस्कारकर्म ४१८
तस्मिन्सति श्वास १५४
तस्मिन्सोमः प्रवर्त्ते ३०८
तस्मिंस्तु शिष्यमाणा २६३
तस्मिंश्च फलदर्शं २६६
तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ३०१
तस्य कार्यं लिङ्गम् ६९
तस्य च क्रिया ग्रहणा २९१
तस्य च देवतार्थं ४१७
तस्य च नित्यत्वात् ४५०
तस्य निमित्तपरीष्टिः १६७
तस्य च पात्रदर्शनात् ३०२
तस्य द्रव्यत्वनित्य ६६[२]
तस्य धेनुरिति गवां ३४७
तस्य प्रशान्तवाहिता १५६
तस्य भूमिषु विनियोगः १५६
तस्य रूपोपदेशाभ्यास १९९
तस्य वाचकः प्रणवः १४७
तस्य वाऽप्यनुमानिक ३७६
तस्य सप्तधा प्रान्त १५२
तस्य समभिव्याहारतो ७६
तस्य हेतुरविद्या १५२
तस्यां तु वचनादे ३२६
तस्यां तु स्यात् ३३०
तस्याग्रयणाद् ३५८
तस्यापि निरोधे १४९
तस्या भावादव्यभि ६९
तस्योपदेशसमाख्या २२३
तस्योभयथा ३६१
ता एव सबीज १४९
तादर्थ्यात्कर्म २५८
तादर्थ्याद्वा तदा ३२२
तादर्थ्येन गुणार्थं २६२
तानि द्वैधं गुण १८१
तानि परे तथा ४७२
ताभिश्च तुल्यसंख्या २४१
ताभ्यां वा सह ३७८
ताभ्यां विगृह्य कथनम् ४३
तारकं सर्वविषयम् १६०
तासां च कृत्स्नवचनात् ३२५
तासामग्निः प्रकृतितः २१६
तासामनादित्वं १६१
तीव्रसंवेगानामासन्नः १४७
तुल्यं च साम्प्रदायिक १७०
तुल्यं तु कर्तृधर्मेण १७६
तुल्यं तु दर्शनम् ४६४
तुल्यजातीयेष्वर्था ६२
तुल्यत्वात् क्रययो १७८
तुल्यधर्मत्वाच्च ३६०
तुल्यवच्च प्रसंख्या २४१
तुल्यवच्चाभिधाय ३७८
तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः १८२
तुल्यः सर्वेषां पशु २१६
तुल्या च कारणश्रुति २४३
तुल्या च प्रभुतागुणे ३४३
तुल्यानां तु यौगपद्य ३८७

तुल्येषु नाधिकारः	३१२	ते ह्लादपरितापफला	१५१
तुष्टिर्नवधा	११६	तैश्चापदेशो ज्ञान	११
तृचे वा लिङ्ग	३६२	त्रपुसीसलोहरजत	५८
तृचे स्यात् श्रुति	३१७	त्रयमन्तरङ्गं पूर्वे	१५६
तृणे कर्म वायुसंयो	७३	त्रयमेकत्र संयमः	१५६
तृतीयशब्दादावरोधः	४५२	त्रयस्तथेति चेत्	३६३
तृतीयसवने वचनात्	३५८	त्रयाणां द्रव्यसम्प	२६०
तेजोऽपस्तथा	४४४	त्रयाणां स्वालक्षण्यम्	११०
तेजसो द्रव्यान्तरेणा	७५	त्रयाणामेव चैवमु	४३३
तेजस्युष्णता	६१	त्रयीविद्याख्या	२०१
तेजोरूपस्पर्शवत्	५८	त्रयोदशरात्रादिषु	३०४
तेन च कर्म संयोगात्	३००	त्रिशच्च परार्थत्वात्	२००
तेन च संस्तवात्	३६५	त्रिकस्तृचे धुर्ये	३५५
तेन त्वर्थेन यज्ञस्य	३११	त्रिगुणा चेतनत्वादि	१०४
तेन रसगन्धस्पर्शेषु	६६	त्रिगुणादिविपर्ययात्	१०५
तेनान्तःकरणस्य	६८	त्रिधा त्रयाणां व्यवस्था	१३६
तेनैव तस्याग्रहणा	२६	त्रिभिः सम्बन्धसिद्धिः	१२८
तेनोत्कृष्टस्य	२१७	त्रिवत्सश्च	३४८
तेनोत्पत्तिकत्वात्	२६०	त्रिविधविरोधापत्ते	१०३
ते प्रतिप्रसवहेयाः	१५१	त्रिवृति संख्यात्वेन	३६४
ते विभक्त्यन्ताः	१६	त्रिवृद्वदिति चेत्	३६३
ते व्यक्तसूक्ष्मा	१६२	त्रैकाल्यसिद्धेर्हेतो	४५
तेषां चैकावदानत्वा	३३६	त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च	१०
तेषां तु वचनाद्	३३९	त्रैकाल्यासिद्धेः प्रति	१०
तेषां मोहः पापीयान्	२४	त्र्यङ्गैर्वा शर	३७०
तेषां वा द्वयवदानत्वं	३७०	त्र्यनीकायां न्यायो	३६१
तेषामपि तद्योगे	१२६	त्र्यात्मकत्वात्तु	४५१
तेषामप्रत्यक्ष	३३०	त्वक्पर्यन्तत्वा	३१
तेषामृग्यत्रार्थवशेन	१८४	त्वगव्यतिरेकात्	७५
तेषामौत्पत्तिक	२६४	त्वष्टारं तूपलक्षयेत्	२००
तेषामर्थेन सम्बन्धः	१९४	दक्षिणाकाले यत्स्वं	२८१
तेषु चाऽवृत्तेरवय	४०	दक्षिणायुक्तवचनाच्च	३३७
तेषु समवेतानां	३८९	दक्षिणेऽग्नौ वरुण	३६१
तेष्वदर्शनाद्विरोध	१७५	दधिग्रहो नैमित्तिक	२४०
ते समाधावुपसर्गा	१५६	दधि वा स्यात्	३५४
ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वाद	२२३	दधिसंघातसामा	३०३

दघ्नस्तु गुणभूत ३५४
दघ्नः स्यान्मूर्तिसामा ३०३
दर्विहोमो यज्ञाभिधा ३०७
दर्शनमैष्टिकानां २६६
दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ २१
दर्शनाच्च ४५२,४५५,४६२,४६३, ४७४
दर्शनाच्चान्यपात्र ३०८
दर्शनात्काललिङ्गानां २६४
दर्शनादिति चेत् २१५
दर्शनाद्विनियोगः १७५
दर्शनाद्वैकदेशे २६६
दर्शपूर्णमासयो २४२
दर्शयतश्चैवं ४७६
दर्शयति च ३१७, ४५७, ४५६
दर्शयति चाथो ४५५
दशत्वं लिङ्गदर्श २२२
दशपेये क्रियप्रति ३६३
दशमविसर्गवचनाच्च ३६५
दशमेऽहनीति ३६५
दहर उत्तरेभ्यः ४३०
दातुस्त्वविद्यमान ३७१
दाने पाकोऽर्थलक्षणः ३४५
दाढ्यर्थमुत्तरेषाम् १३८
दिक्कालावकाश ७५
दिक्कालावकाशा १०६
दिग्देशकालाका ११
दीक्षाकालस्यशिष्ट २७५
दीक्षाणां चोत्तरस्य ३६३
दीक्षादक्षिणं तु २२०
दीक्षापराधे चानुग्रहात् २७५
दीक्षापरिमाणे यथा २७४
दीक्षासु विनिर्देशा २८१
दीक्षितस्य दानहोम ३७६
दीक्षिताऽदीक्षित व्यय ३६७
दीक्षोपसदां च संख्या ४०१
दुःखजन्मप्रवृत्ति ३
दुःखदौर्मनस्याङ्ग १४८
दुःखनिवृत्तेर्गौणः १३१
दुःखविकल्पे सुखा ३८
दुःखाद्दुःखं जला १००
दुखानुशयी द्वेषः १५०
दुष्टं हिंसायां ७६
दूरभूयस्त्वात् १७०
दृग्दर्शनशक्त्यो १५०
दृष्टं च दृष्टवत् ६३
दृष्ट आत्मनिलिङ्गे ६७
दृष्टस्तयोरिन्द्रस्य १२२
दृष्टः प्रयोग इति ३०७, ३८५
दृष्टादृष्टप्रयोजना ७७
दृष्टानां दृष्टप्रयोजना ६०
दृष्टानुमितानां नियोग २५
दृष्टानुश्रविकविषय १४६
दृष्टान्तविरोधादप्रति २१
दृष्टान्तसिद्धेश्च ६७
दृष्टान्तस्य कारणानप ४५
दृष्टान्ताच्च ८०
दृष्टान्ते च साध्यसा ४७
दृष्टेषु भावाद् ८५
दृश्यते ९८३
दृश्यते तु ४३६
देवतया वा नियम्येत ३०४
देवता तु तदाशी ३२३
देवता वा प्रयोजयेद ३११
देवतायां च तदर्थं २६६
देवतायाश्च हेतुत्वे ३३२
देवतायास्त्वनिर्वच ३८०
देवतालयश्रुतिर्वा ९०६
देवताश्रये च २६३
देवदत्तो गच्छति ६७
देवादिवदपि ४३८
देशपृथक्त्वान्मन्त्रो ४०८
देशबद्धमुपांशुत्वं ३१३

देशबन्धचित्तस्य १५६
देशमात्रं वा प्रत्यक्षं २२०
देशमात्रं वाऽशिष्टे २२०
देहयोगाद्वा सोऽपि ४५४
देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ १३७
दैक्षस्य चेतरेषु २९९
दैवतैर्वैककर्म्यात् २४८
दैवादिप्रभेदा ११६
दोषदर्शनादुभयोः १२३
दोषनिमित्तं रूपा ३९
दोषनिमित्तानां तत्त्व ३९
दोषबोधेऽपि नोप ११९
दोषात्तु वैदिके २०८
दोषात्त्विष्टिलौकिके २०८
दोहयोः कालभेदाद २१७
द्यावोस्तथेति चेत् ३२२
द्युभ्वाद्यायतनम् ४२९
द्रवत्वं चाविशिष्टम् ३०३
द्रवत्वात् स्यन्दनम् ७३
द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात् १९५
द्रव्यं वा स्याच्चोदना १८९
द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं ५४
द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति ७५
द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्था ५६
द्रव्यगुणधर्मभेदा २४
द्रव्यगुणयोः ५४
द्रव्यगुणसंस्कार १९४
द्रव्यत्वं गुणत्वं ५६
द्रव्यत्वगुणत्व ८३
द्रव्यत्वनित्यत्वे ६०, ६१[२]
द्रव्यत्वेऽपि समु ४१७
द्रव्यदेवतं तथेति ३८९
द्रव्यदेवतावत् ३९१
द्रव्यवत्त्वात्तु पुंसा २५८
द्रव्यविकारं तु पूर्व ४१७
द्रव्यविकारवैष १८
द्रव्यविधिसन्नि ३४६
द्रव्यसंख्याहेतु ३१२
द्रव्यसंयोगाच्च २०७
द्रव्यसंयोगाच्चोद १८६
द्रव्यसंस्कारकर्म २३६
द्रव्यसंस्कारविरोधे २६७
द्रव्यसंस्कारप्रकरणा २२६
द्रव्यस्याकर्मकाल ३९४
द्रव्याणां कर्मसंयोगे २५७
द्रव्याणां तु क्रियार्थानां २३७
द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं ५५
द्रव्याणि त्वविशेषेणा २२९
द्रव्याणि द्रव्यान्तर ५४
द्रव्यादेशे तद् २९३
द्रव्यान्तरवद्वा ४०३
द्रव्यान्तरे कृतार्थ ४०३
द्रव्यान्तरेऽनिवेशाद ३०६
द्रव्याश्रयगुणवान् ५४
द्रव्ये चाचोदितत्वा १९२
द्रव्ये द्रव्यगुणकर्मा ८४
द्रव्येषु ज्ञानं व्याख्या ८४
द्रव्येषु पञ्चात्मकं ८५
द्रव्येष्वनितरेतर ८४
द्रव्येष्वारम्भगाभि ३५१
द्रव्ये स्वगुणपरगुणो ३१
द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात् २११
द्रव्योत्पत्तेश्चोभयोः २७०
द्रव्योपदेश इति चेत् १८२
द्रव्योपदेशाद्वा ३०८
द्रष्टा दृशिमात्रः १५२
द्रष्टृत्वादिरात्मनः ११०
द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो १५१
द्रष्टृदृश्योपरक्तं १६३
द्वयोरिव त्रयस्यापि १३४
द्वयोरेकतरस्य वाप्य १०१
द्वयोरेकतरस्य वौदासी ११८

द्वयोरेकदेशलब्धो ९६
द्वयोर्विधिरिति चेत् २९३
द्वयोस्तु प्रवृत्योरभा ६३
द्वयोस्तु हेतुसामर्थ्यं २३३
द्वयोः प्रधानं मनो १११
द्वयोः सबीजमन्यत्र १३३
द्वादशशतं वा प्रकृति २८१
द्वादशवेदुभय ४७५
द्वादशाहस्तु लिङ्गात् २७४
द्वादशाहस्य व्यूढ ३६१
द्वादशाहस्य सत्रत्व ३६७
द्वादशाहिकमहर्गणे २९६
द्वादशाहे तत्प्रकृति ४००
द्वादशाहे तु वचनात् ३६८
द्वाभ्यामपि तथैव १२२
द्वाभ्यामपि प्रमाण १४०
द्वाभ्यामप्यविरोधान्न १४०
द्वित्वप्रभृतयः ५५
द्वित्वबहुत्वयुक्तं २०२
द्विपुरोडाशायां स्याद ३८१
द्विविभागः स्याद् ३७१
द्विरात्रादिनामैका ३०३
द्विविधस्यापि हेतो १८
द्वेष्ये वा चोदना ३३९
द्वैधं वा तुल्य ३१५
द्वैयह्काल्य तु २५६
द्व्यर्थत्वं च विप्रति २८८
द्व्याधानं च द्वियज्ञ २५९
द्व्याम्नातेषूभौ २२५
धर्मं जैमिनिरत ४५७
धर्ममात्रे तु कर्म १८२
धर्ममात्रे त्वदर्शना ३८४
धर्मविकल्पनिर्देश ८
धर्मविप्रतिषेधाच्च २०४
धर्मविशेषप्रसूताद् ५३
धर्मविशेषाच्च ७१
धर्मस्य शब्दमूलत्वाद् १७४
धर्मस्यार्थकृतत्वाद् ३१९
धर्माच्च ८८
धर्माद्वा स्यात् ३८०
धर्मानुग्रहाच्च ३०१[२], ३०३
धर्मोपदेशाच्च न हि २०१
धर्मोपपत्तेश्च ४३०
धारणाऽऽकर्षणोप १२
धारणार्थत्वात्सोमे ४०७
धारणासनस्वकर्मणा ११५
धारणासु च योग्यता १५५
धारणे च परार्थत्वात् ३२७
धारासंयोगाच्च ३६०
धुर्येष्वपीति चेत् ३५६
धृतेश्च महिम्नो ४३०
धेनुवच्चाश्वदक्षिणा ३४८
धेनुवद्वत्साय १११
ध्यानं निर्विषयं मनः १३९
ध्यानधारणाभ्यास १३९
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः १५१
ध्यानाच्च ४६९
ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् १५८
ध्रौवाद्वा सर्वसंयो ३७९
न अणुनित्यत्वात् १६
न अभिव्यक्तिनिबन्ध १०४
न आकृतिव्यक्त्य २०
न आत्मप्रतिपत्ति २२
न ऋग्व्यपदेशात् १८४
न एकदेशत्रास १२
न कर्मकर्तृसाधन १३
न कर्मण उपादान १००
न कर्मणः परार्थ ४१७
न कर्मणान्यधर्म ६४
न कर्मणाप्यतद् ६९
न कर्मसंयोगात् ३५३, ३८३, ४०८[२]
न कर्मानित्यत्वात् १६

न कर्मविभागादिति	४३९	न चासिद्धं विकारात्	६३
न कल्पनाविरोध	११०	न चेदन्यं प्रकल्प	३७६
न कामचारित्वं	१२३	न चैकं प्रति शिष्यते	१९१
न काम्यत्वात्	२५९	न चैकचित्ततन्त्रं	१६२
न कारणलयात्	११७	न चैकदेशोपलब्धि	११
न कारणावयवभावा	३७	न चैकसंयोगात्	२७६
न कार्याश्रयकर्तृ	२१	न चोदनातो हि	३११
न कार्ये नियम	१२८	न चोदनापृथक्	३९९
न कालनियमो	१२३	न चोदनाभिसम्ब	३४१
न कालभेदात्	४०२	न चोदनाविधिशेष	३८९
न कालयोगतो	९४	न चोदनाविरोधात्	२६८, २८६
न कालविधिश्चो	१९७	न चोदनाविरोधाद्धविः	२११
न कालेभ्य उपदि	२६४	न चोदनैकत्वात्	३७५
न किञ्चिदप्यनुशा	१३६	न चोदनैकवाक्य	३९३
न कृत्स्नस्य पुनः	३९७	न चोदनैकार्थ्यात्	२१५
न केशनखादिषु	३१	न चोदितत्वात्	३५७
नक्तञ्चरनयनरश्मि	२४	न तज्जस्यापि तद्रूप	१२४
न क्रिया स्यादिति	१७७	न तत्त्वान्तरं वस्तु	१२७
न क्लेशसन्ततेः	३९	न तत्त्वान्तरं सादृश्यं	१३३
न गतिविशेषात्	९९	न तत्प्रधानत्वात्	२७७, ३१६
न गत्यभावात्	२७	न तत्र ह्यचोदित्वात्	२८७
न गुणादर्थकृत	३२५	न तत्सम्बन्धात्	२४६
न गुणार्थत्वात्	४०७	न तत्स्वभासं दृश्य	१६२
न गुणार्थत्वाप्राप्ते	३७९	न तदपलापस्तस्मा	१३३
न घटाद्धटनिष्पत्तेः	३५	न तदर्थबहुत्वात्	२५
न घटाभावसामान्य	१५	न तदर्थत्वाल्लोकवत्त	१८२
न च कर्तुः करणम्	४४३	न तदर्थान्तरभावात्	८
न च कार्ये प्रतिपत्त्य	४७४	न तदवस्थानात्	१९
न चतुष्ट्वमेतिह्य	१४	न तदाशीष्ट्वात्	३४०
न च दृष्टानां स्पर्श	५८	न तदाशुगतित्वा	२९
न च पर्यायादप्य	४४२	न तदीप्सा हि	२६७
न च स्मार्तमतद्धर्मा	४२७	न तद्भूतवचनात्	३३१
न चाङ्गविधिरङ्गे	३४३	न तद्वत्प्रयोजनै	२१८
न चानङ्गं सक्त	३८०	न तद्वाक्यं हि	२१९
न चावयव्यवयवा	४०	न तद्विकाराणां सुवर्ण	१८
न चाविशेषाद्	३४५	न तल्लक्षणत्वादु	२७०

न तस्यादुष्टत्वाद	२७२	न नित्यशुद्ध-बुद्ध	९४
न तस्यानधिकाराद	२३४	न नित्यः स्यादात्म	१३८
न तस्येति चेत्	२३२	न नियमः प्रमाणान्त	१२७
न तादृक् पदार्था	९५	न निर्भागत्वं कार्य	१३२
न तु कार्याभावात्का	५६	न निर्भागत्वं तद्यो	१३१
न तु दृष्टान्तभावात्	४३७	न निर्वापशेषत्वात्	३४१
न तुल्यत्वात्	२१५, ३७२	न निष्पन्नावश्यम्भा	४३
न तुल्यहेतुत्वादुभ	३७५	न पक्तिनामत्वात्	२०४
न तु शरीरविशेषाद्	६७	न पयसा परिणाम	२८
न तूत्पन्ने यस्य	३२७	न पदार्थत्वात्	३१४
न तृतीये तथोप	४५२	न परिणामचातु	१३२
न तेजोऽपसर्पणात्	१३४	न पाँचभौतिकं शरीरं	१३४
न त्रिभिरपौरुषेयत्व	१२८	न पाकजगुणान्त	३१
न त्वशेषे वैगुण्यात्	२६९	न पार्थिवाप्ययोः	२६
न त्वनित्याधिकारो	३७८	न पुत्रपशुस्त्री	३८
न त्वाम्नातेषु	१८३	न पुरुषकर्माभावे	३५
न त्वेतरप्रकृति	३३९	न पूर्वत्वात्	१७१
न दक्षिणा शब्दात्त	३३८	न पूर्ववत्वात्	२८८
न द्रष्टात्ततिसद्धि	९३	न पौरुषेयत्वं	१२९
न देवताग्निशब्द	२६६	न प्रकृतावकृ	३६३
न देशभेदेऽप्य	१३४	न प्रकृतावपीति	३०९
न देशमात्रत्वात्	३९२	न प्रकृतावशब्द	३७४
न देशयोगतो	९४	न प्रकृतेरशास्त्र	२०३
न देशादिलाभा	१३२	न प्रकृतेरेकसंयो	२०३
न देहमात्रतः कर्मा	१३५	न प्रतिनिधौ सम	२६७
न देहारम्भकस्य प्रा	१३५	न प्रतीके न हि सः	४६९
न दोषलक्षणावरोधा	३४	न प्रत्यक्षेण यावत्ता	११
न द्रव्यं कार्यं कारणं	५४	न प्रत्यभिज्ञाबाधात्	९७
न द्रव्याणां कर्म	५५	न प्रदीपप्रकाश	१०
न द्रव्ये नियमस्त	१३४	न प्रयोगसाधारण्यात्	३९६
न द्वयोरेककाला	९६	न प्रयोजनवत्वात्	४३९
न द्व्यर्थत्वात्	३३३	न प्रलयोऽणुसद्	४१
न धर्मापलापः	१२६	न प्रवृत्तिः प्रति	३९
न नाम्ना स्याद	१९१	न प्रसिद्धग्रहण	३६६
न नित्यत्वं वेदानां	१२९	न प्राङ्नियमात्	४०८
न नित्यत्वात्	२६२	न बाह्यबुद्धिनिय	१३६

न वाह्याभ्यन्तर	९६	न वाऽर्थान्तरसंयोग	३३४
न बीजांकुरवत्	१२६	न वाऽविरोधात्	४१२
न बुद्धिलक्षणाधि	२६	न वाऽसम्बन्धात्	२५२
न बुद्ध्यादि	१३६	न वाऽकर्मपृथक्	३९०
न भक्तित्वात्	२९३	न वा कल्पविरोधात्	२७८
न भक्तित्वादेषा	२७४	न वा कृतत्वात्	४०८
न भागलाभो भोगि	१३१	न वाक्यशेषत्वात्	२९८
न भागियोगो भागस्य	१३२	न वाक्यशेषत्वद्गुणा	३०९
न भावे भावयो	१०४	न वा ऋत्वभिधाना	२९७
न भावोऽनुपलब्धेः	४४२	न वा तत्सहभावा	४६३
न भूतचैतन्यं	१३६	न वा तासां तदर्थ	२१६[२]
न भूतप्रकृतित्व	१३२	न वा परार्थत्वा	३५३
न भूतियोगेऽपि कृत	१२४	न वा परिसंख्यानात्	२२२
न भूमिः स्यात्	२८०	न वा पात्रत्वाद	२३२
न भेदादिति चेन्न	४५४	न वा प्रकरणभेदात्	४५८
न भोगाद्रागशान्ति	१२३	न वा प्रकरणात्	१७८
न मलिनचेतस्यु	१२३	न वा प्रधानत्वा	३६१
न मिश्रदेवतात्वा	२५५	न वा प्रयोगसम	२८७
न मुक्तस्य पुनर्बन्ध	१३८	न वायुक्रिये पृथगु	४४९
न मुक्तामुक्तयो	१२९	न वार्थधर्मत्वात्	२९७
न यज्ञस्याश्रुतित्वा	३१३	न वा विशेषात्	४५९
न यज्ञादेः स्वरूप	१२८	न वा शब्दकृतत्वा	२४८
न युगपद्ग्रहणात्	२७	न वा शब्दपृथक्त्वा	३७१
न युगपदनेकक्रियो	३२	न वा संयोगपृथक्त्वा	२८०
न युगपदर्थानुप	२५	न वा संस्कार	३५४
न रागादृते तत्सिद्धिः	१२५	न वा स्याद्गुण	३५४
न रात्रावप्यनुप	२४	न वा स्वाहाकारेण	३०८
न रूपनिबन्धात्	१३२	न विंशतौ दशेति	३०५
न रूपादीनामितरे	३१	न विकारधर्मानु	१८
नर्तकीवत् प्रवृत्त	११९	न विज्ञानमात्रं	९८
न लक्षणात्रस्थिता	१५	न विद्यातोऽप्यव	९५
न लौकिकानामा	३०८	न विधेश्चोदित	३८८
न वक्तुरात्मोपदेशा	४२५	न विनष्टेभ्योऽनि	३५
न वयं षट्पदार्थ	९५	न वियदश्रुतेः	४४३
न वाऽङ्गभूतत्वात्	३३०	न विलक्षणत्वाद	४३६
न वाऽनारम्यवाद	२७७	न विषयव्यवस्था	२१

न विशेषगति	१३१	न सर्वेषामधिकारः	२२२
न विशेषगुणो	१३१	न सर्वोच्छित्तिर	१३१
न वैदिकमर्थ	२९४	न सांसिद्धिकं चैत	११४
न वैश्वदेवो हि	४०७	न साध्यसमत्वात्	३२
न वोत्पत्तिवाक्य	३९५	न सामयिकत्वा	१३
न व्यर्थत्वात्सर्व	२९३	न सामान्यादप्यु	४६२
न व्यवस्थानुपपत्तेः	३६	न सुखस्याप्यन्त	३८
न व्यापकत्वं मनसः	१३१	न स्थानतोऽपि	४५४
न शब्दगुणोपलब्धेः	२६	न स्थाननियमः	१३९
न शब्दनित्यत्वं	१३०	न स्थूलमितिनिय	१३४
न शब्दपूर्वत्वात्	३७६	न स्मरणकालनि	२९
न शब्दैकत्वान्	२३९	न स्मृतेः स्मर्त्तव्य	२२
न शास्त्रपरिणाम	१७५	न स्याद्देशान्तरे	१७६
न शास्त्रलक्षणत्वात्	३९७	न स्याद्विशये तन्न्या	३६३
न शिलापुत्रवद्	१३७	न स्वभावतोबद्धस्य	९३
न शेषसन्निधानात्	२३१	न स्वभावसिद्धिरापे	३७
न श्रवणमात्रात्त	१०८	न स्वभावसिद्धेर्भा	३७
न श्रुतिप्रतिषेधात्	३९९	न स्वरूपशक्ति	१२७
न श्रुतिविप्रतिषे	२१७, २८५	न स्वातन्त्र्यात्त	११४
न श्रुतिविरोधो	१४१	न स्वामित्वं हि	२७८
न श्रुतिसमवायित्वा	१८२	न हेतुतः साध्य	४६
न षट्पदार्थनियम	१३२	नाऽनङ्गत्वात्	२६७
न संकल्पनिमित्त	२३, ३९	नाऽप्रकरणत्वाद	२२७
न संख्योपसंग्रहा	४३४	नाऽशब्दं तत्प्रमाण	२३०
न संज्ञासंज्ञिसम्ब	१३३	नाऽसन्नियमात्	१७५
न संयोगपृथक्त्वा	४०७	नाकारोपरागो	१३१
न सकृद्ग्रहणात्	१२७	नाकृतत्वात्	२४५
न सतो बाधदर्शना	१२९	नाकृताभ्यागमप्रसं	३३
न सद्यः कालान्तरो	३७	नाकृतिव्यक्त्य	२०
न सन्निपातित्वाद	४०४	नाजः सम्बन्धो	१३३
न समत्वात्प्रयाज	३६३	नाचोदितत्वात्	३२०
न समवायात्	२६२, ३१४, ३९२	नाड्यो वायुसंयोगा	७४
न समवायोऽस्ति	१३३	नाणिमादियोगो	१३२
न सम्बन्धनित्य	१३३	नाणुनित्यता	१३२
न सर्वगुणानुपलब्धेः	२६	नाणुनित्यत्वा	२६
न सर्वस्मिन्निवेशात्	२०१	नाणुरतत् श्रुते	४४५

नाततसंस्कारत्वात्	२७४	नान्यथाख्यातिः	१२९
नातिचिरेणविशेषा	४५३	नान्यनिवृत्तिरूपत्वं	१३३
नातीतानागतयो	१२, ३५	नान्यार्थत्वात्	४०६
ना तुल्यप्रकृतीनां	१८	नान्योपसर्पणेऽपि	१४०
नात्मप्रतिपत्ति	२२	नापि कर्माऽचाक्षुष	६२
नात्ममनसोः सन्नि	११	नापौरुषेयत्वा	१२९
नात्माऽविद्यां नोभ	१३०	नाप्रकरणत्वात्	३१०
नात्माऽश्रुतेर्नित्य	४४५	नाप्रत्यक्षे गवये	१३
नादवृद्धिपर	१६८	नाप्राप्तप्रकाश	१३४
नादानस्यानित्य	२८१	नाभाव उपलब्धेः	४४२
नाद्वैतमात्मनो	१३०	नाभावप्रामाण्यं	१५
नाद्वैतश्रुतिविरोधो	१०६	नाभासमात्रमपि	१२४
नाधिकारिकत्वात्	३२०	नाभिचक्रे कायव्यूह	१५८
नाधिकारिकमपि	४६७	नामधेये गुणश्रुतेः	१७८
नानन्दाभिव्यक्ति	१३१	नामरूपधर्मविशेष	१९१
नानर्थकत्वात्	२६७	नाम्नस्त्वौत्पत्तिक	२९२
नानात्मनाऽपि प्रत्य	१३०	नार्थपृथक्त्वात्	२३७, ३८३
नानादिविषयोप	९६	नार्थविशेषप्राबा	११, ४२
नानाबीजे एकमुलू	२४८	नार्थाभावात्	३७४
नानार्थत्वात्सोमे	४०६	नार्थाभावात् श्रुतेः	२९१
नाना वा कर्तृभेदात्	३९२	नावस्तुनो वस्तुसि	१००
नानाशब्दादिभेदा	४६२	नावस्थातो देहधर्म	६४
नाना हानि वा	३०४	नाविद्याशक्तियोगो	१२६
नानित्यतानित्य	३६	नाविशेषात्	४६४
नानिर्वचनीयस्य	१२९	नावृत्तिधर्मत्वात्	३५६
नानुक्तेऽन्यार्थदर्श	२४२	नाशः कारणलयः	१०४
नानुमानमतच्छब्दा	४२९	नाशक्योपदेश	९४
नानुमीयमानस्य	२४	नाशिष्टत्वादितर	३९७
नानुमेयत्वमेव	१३३	नाशेषभूतत्वात्	२६९
नानुवादपुनरुक्त	१४	नाश्रुतत्वात्	३१२, ३७२, ४०८
नानुश्रुतिकादपि	१००	नाश्रुतित्वात्	४१३
नानेकलक्षणैरेक	३६	नासंहानात्कपाल	३३२
नान्तः शरीरवृत्ति	२९	नासतः ख्यानं नृश्रृंग	१२९
नान्धादृष्ट्या	१०७	नासतोऽदृष्टत्वात्	४४२
नान्यत्र प्रवृत्य	२३	नासदुत्पादो नृश्रृंग	१०३
नान्यत्वेऽप्यभ्यास	१७	नासन्न सन्न सद्	३७

नासन्निधानात् २८९
नासमवायात् २४५
नासमवायात्प्रयोजने २३९
नासम्भवात् ३२५
नासामर्थ्यात् २८३
नास्ति घटो गेहे ८७
नास्ति हि तत्र स्थिर ९६
निकायिनां च पूर्वं २९९
निगदो वा चतुर्थं १८४
निग्रहस्थानप्राप्तस्या ४९
निजमुक्तस्य बन्ध १०१
निजशक्तिर्व्युत्प १२८
निजशक्त्यभिव्यक्ति १३३
निजशक्त्यभिव्यक्तेः १२९
निजशक्त्युद्भवमि १२७
नित्यं परिमण्डलम् ८०
नित्यत्वप्रसङ्गश्च ३३
नित्यत्वाच्चानित्यै २८०
नित्यत्वेऽपि नात्मनो १३९
नित्यत्वेऽविकाराद् १८
नित्यधारणाद्वा ४१८
नित्यधारणे विकल्पो ४१८
नित्यमनित्यभावाद ४७
नित्यमुक्तत्वम् १०७
नित्यमेव च भावात् ४४१
नित्यवैधर्म्यात् ६२
नित्यश्च ज्येष्ठशब्द २४०
नित्यस्तु स्याद्दर्शन १६८
नित्यस्याप्रत्याख्यानं ३६
नित्यानामतीन्द्रिय १८
नित्यानुवादो वा ३७२
नित्ये नित्यम् ८०
नित्येष्वभावाद ६१
नित्योपलब्ध्यनु ४४६
नित्यो वा स्यादर्थ २४१
निमित्तत्वमविवे ११९
निमित्तनैमित्तक ३४
निमित्तनैमित्तकोप ३४
निमित्तमप्रयोजकं १६१
निमित्तविधानाद्वा ३५९
निमित्तव्यपदेशात् १३४
निमित्तानिमित्तयोरर्था ३६
निमित्तार्थे च २५९
नियतं वार्थवत्त्वात् २८६
नियतकारणात्वान्न ११५
नियतकारणात्तदु ९५
नियतधर्मसाहित्य १२७
नियमश्च निरनुमानः २२
नियमस्तु दक्षिणाभिः २२२
नियमहेत्वभावाद्य २८
नियमाच्च ४६४
नियमानियमविरोधा १९
नियमानियमौ तु ३०
नियमार्थः क्वचिद्विधिः २६६
नियमार्था गुणश्रुतिः २१८
नियमार्था वा पुनः २३५
नियमो बहुदेवते ३२४
नियमो वा तन्निमित्त २६३
नियमो वा श्रुतिविशेष ३१५
नियमो वैकार्थ्यं २८७
नियमो वोभयभागि ३२१
निरवदानात्तु शेषः २०९
निरवयवत्वादहेतुः ३७
निराशः सुखी पिंगला १२२
निरुप्ते स्यात्त २७३
निरोधश्छर्दि ११५
निर्गुणत्वमात्मनो १३७
निर्गुणत्वात्तदसम्भवा १४२
निर्गुणत्वान्न चिद्धर्मा १०६
निर्गुणादिश्रुतिविरो ९९
निर्दिष्टकारणाभावे ४६
निर्दिष्टस्येति चेत् ४०८

निर्देशस्य गुणार्थ	२६८
निर्देशाच्छेषभक्षो	२६८
निर्देशात्तस्या	२३१
निर्देशात्तु पक्षे स्यात्	२५६
निर्देशात्तु विकल्पे	२६७
निर्देशात्तु विकृता	२२६
निर्देशाद्वाऽन्यदा	२६८
निर्देशाद्वा तद्धर्मः	२८२
निर्देशाद्वा त्रयाणां	२५६
निर्देशाद्वा वैदिकानां	४०६
निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेत्	२१८
निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन्	३१६
निर्देशो वाऽनाहित	२८४
निर्मन्थ्यादिषु चैवम्	२६३
निर्माणचित्तान्य	१६१
निर्मातारं चैके	४५३
निर्वपणलवन	४०३
निर्विचारवैशारद्ये	१४६
निवीतमिति मनुष्य	२०५
निवृत्तिदर्शनाच्च	२२०
निवृत्तिर्वाऽर्थलो	३१८
निवृत्तिर्वा कर्मभेदात्	३००
निशि नेति चेन्न	४७२
निशियज्ञे प्राकृत	४१०
निःश्वासोच्छ्वासो	२३
निष्कासस्यावभृथे	३६३
निष्क्रमणं प्रवेशनमि	५६
निष्क्रयत्वात्	८२
निष्क्रयवादाच्च	२७०
निष्क्रयश्च तदङ्ग	२४२
निष्क्रयस्य तदसम्भवात्	६६
निष्क्रयाणां समवायः	७५
निष्पन्नग्रहणान्नेति	३०७
निःसंख्यत्वात्	८१
निःसङ्गेऽप्युपरागो	१३६
नेच्छाभिधानात्तद	३४०

नेतरादितरहानेन	११६
नेतरार्थत्वात्	२६०
नेतरेतरधर्मप्रसङ्गा	२५
नेतरोऽनुपपत्तेः	४२४
नेन्द्रादिपदयोगो	१३२
नेन्द्रार्थयोस्तद्विना	२८
नेश्वराधिष्ठिते	१२५
नैकत्वात्तस्य चानधि	२७७
नैकदेशत्वात्	२१७, ३६०
नैकदेशत्रासत्साद	१२
नैकप्रत्यनीकभावात्	३४
नैकव्यपदेशात्	३६६
नैकस्मिन् दर्शयतो	४७१
नैकस्मिन्नसम्भवात्	४४२
नैकस्मिन्नासास्थि	२१
नैकस्यानन्दचिद्रूप	१३०
नैकान्ततो बन्धन	११६
नैमित्तिकं तु	२१६
नैमित्तिकं तूत्तरा	३१७
नैमित्तिकं वा कर्तृ	२०४
नैमित्तिकमतुल्य	२१८
नैमित्तिके तु	३४१
नैमित्तिके विकारत्वात्	२३६
नैरपेक्ष्येऽपि प्रकृत्यु	११८
नैष्कर्तृकेन संस्त्वात्	३३८
नोत्तरेणैकवाक्य	३६२
नोत्पत्तिकारणान	२८
नोत्पत्तितत्कारणोप	३६
नोत्पत्तिनिमित्तत्वा	३२
नोत्पत्तिविनाशकारणो	२८, ३६
नोत्पत्तिशब्दत्वात्	३२२
नोत्पत्तिसंयोगात्	२३६
नोत्पत्तौ हि	२२१
नोदनविशेषादु	७२
नोदनविशेषाभावा	७२
नोदनादाद्यमिषोः	७३

नोदनापीडनात्	७४	परत्रसमवायात्	६०
नोदनाभिघातात्	७३	परत्वापरत्वयोः	८२
नोपदिष्टत्वात्	४००	परधर्मत्वेऽपि	१३७
नोपदेशश्रवणेऽपि	१२२	परन्तु श्रुतिसामान्य	१६९
नोपमर्दनातः	४७१	परमतः सेतून्मान	४५६
नोभयं च तत्त्वा	१०३	परमाणुपरममहत्त्वा	१४८
नोभाभ्यां तेनैव	१३०	परश्वादिष्वारम्भ	३०
नोष्णशीतवर्षा	२२	पराक्छब्दत्वात्	३५६
न्यायविप्रतिषेधा	२५१	परात्तु तत् श्रुतेः	४४७
न्यायानि वा प्रयुक्त	४०६	पराभिध्यानात्तु	४५४
न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम्	२२७	परामर्शं जैमिनि	४६५
न्यायो वा कर्म	२६१	परार्थत्वाच्च शब्दा	३१६
न्यूनसमाधिकोप	१८	परार्थत्वाद् गुणानां	१७९
पक्षप्रतिषेधेप्रति	४८	परार्थान्येको यजमान	४१८
पक्षेणार्थकृतस्येति	२०३	परार्थे न त्वर्थ	३१८
पक्षेणेति चेत्	२२२	परिक्रयश्च ताद	३३८
पक्षे वोत्पन्नसंयोगात्	२४१	परिक्रयाच्च लोक	३४७
पक्षे संख्या सहस्रवत्	३६५	परिक्रयार्थं वा	३३७
पञ्चवृतिर्मनोवद	४४९	परिक्रयाविभागाद्वा	३६८
पञ्चशरावस्तु द्रव्य	२७०	परिक्रीतवचनाच्च	३३७
पञ्चशारदीया	३९३	परिच्छिन्नं न सर्वा	१००
पञ्चसंचरेष्वर्थ	२८९	परिणामतापसंस्कार	१५१
पञ्चावयवयोगात्	१२७	परिणामत्रयसंयमाद	१५७
पटवच्च	४३८	परिणामैकत्वाद्वस्तु	१६२
पत्नीसंयाजान्तत्वं	३१३	परिधिर्द्वयर्थत्वादु	४११
पत्यादिशब्देभ्यः	४३३	परिमाणं चानियमेन	३८५
पत्युरसामञ्जस्यात्	४४३	परिमाणात्	१०४
पदकर्माप्रयोजकम्	२३१	परिशेषाद्यथोक्त	३०
पद्मादिषु प्रबोध	२२	परिशेषाल्लिङ्गमाका	६०
पयोऽम्बुवच्चेत्	४४०	परिषत्प्रतिवादि	४९
पयोदोषात्पञ्च	२७२	परिसंख्या	१७३
पयो वा कालसामा	३०३	परिसंख्यार्थं प्रवणं	२९४
पयो वा तत्प्रधान	३०३	परुषिदितपूर्णघृत	२०६
परं जैमिनिर्मुख्य	४७४	परेण च शब्दस्य	४६२
परं वा त्रुटेः	४१	परेणाऽवेदनाद्दीक्षितः	२५२
परक्कृतिपुराकल्पं	२८२	परेषां प्रतिषेधः	३४२

परेषु चाग्रशब्दः ३६०
परो नित्याऽनुवादः ३२७
पर्यग्निकरणाच्च ३०२
पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे ३२८, ३९२
पर्यास इति चा २५०
पल्लवादिष्वनुप १२८
पवमानहविष्वैक ४००
पवमाने स्यातां ३५१
पशावनालम्भ २३१
पशावपीति चेत् ३३१
पशावेकहविष्ट्वं ३६९
पशुगणे कुम्भी ४०२
पशुगणे तस्य २४८
पशुचोदनायाम २८६
पशुत्वं चैकशब्द्यात् ३१५
पशुः पुरोडाशविकारः ३०२
पशुसवनीयेषु ४१२
पशुस्त्वेवं प्रधानं ३२६
पशोश्च विप्रकर्ष ४१२
पशौ च पुरोडाशे ३९५
पशौ च लिङ्गदर्श २९९
पशौ तु चोदनैक ३९०
पशौ तु संस्कृते ४१०
पश्चात्सिद्धो न ९
पश्वङ्गं रशना २४२
पश्वङ्गं वार्थकर्म २४२
पश्वतिरेकश्च ४०१
पश्वतिरेके चैकस्य ३६५
पश्वभिधानाद्वा ३१५
पश्वानन्तर्यात् ३०३
पाकस्य चान्नकारि ३४५
पाञ्चभौतिको ११४
पाणिनिमित्तप्रश्लेषा १७
पाणेः प्रत्यङ्गभावा २७८
पाणेस्त्वश्रुतिभूत ३९५
पात्नीवते तु पूर्व १८९, १९९
पात्रचयान्तानुप ३८
पात्रेषु च प्रसङ्गः ४०६
पानव्यापच्च तद्वत् २०८
पारम्पर्यतोऽन्वेषणा १०४
पारम्पर्येण तत्सिद्धौ १४१
पारम्पर्येऽपि प्रधाना १३९
पारम्पर्येऽप्येकत्र ९८
पारिप्लवार्था इति ४६५
पारिभाषिको वा १२५
पार्थिवं गुणान्तरोप २३
पार्थिवाप्यतैजसं २३
पार्वणहोमयोस्त्व ३२०
पाशुकं वा तस्य ४१२
पिण्डार्थत्वाच्च ३३४
पितापुत्रवदुभयो १२१
पितृयज्ञः स्वकालत्वा २४१
पितृयज्ञे तु दर्शनात् २८५
पितृयज्ञे संयुक्तस्य २८५
पिशाचवदन्यार्थो १२१
पुंस्त्वादिवत्त्वस्य ४४६
पुत्रकर्मवदिति चेत् ९६
पुनरम्युन्नीतेषु सर्वे १९९
पुनराधेयमोदन २७०
पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ४
पुनर्विशिष्टे प्रवृत्तिः ७६
पुरस्तादैन्द्रवाय ३६०
पुरुषकल्पेन वा २८०
पुरुषबहुत्वं व्यवस्था १४०
पुरुषविद्यायामिव ४५९
पुरुषश्च कर्मार्थे १९४
पुरुषापनयात्स्व ३३७
पुरुषापयनो वा ३३७
पुरुषार्थं करणोद् १११
पुरुषार्थं संसृति ११४
पुरुषार्थशून्यानां १६४
पुरुषार्थैकसिद्धि २६१

पुरुषार्थोऽत: ४६३
पुरुषश्चाश्मवदि ४४०
पुरोडाशस्त्वनिर्देशे २५५
पुरोडाशस्य च ३०२
पुरोडाशाभ्या ३७८
पुरोऽनुवाक्याधि २२३
पुष्पवस्त्रयोः सति ६०
पूरणप्रदाहपाट १३
पूर्वं च लिङ्गदर्शनात् २५१
पूर्वं तु बादरायणो ४५७
पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ ६
पूर्वकृतफलानुबन्धा ३२, ४२
पूर्वपूर्वगुणोत्क २६
पूर्वभावमात्रे न ६७
पूर्वभावित्वे द्वयो ६६
पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य ३२६
पूर्ववद्वा ४५६
पूर्ववन्तोऽविधाना १७६
पूर्वविकल्पः प्रकरणा ४६१
पूर्वसिद्धसत्त्वस्या १३०
पूर्वस्मिश्चामन्त्र ३४४
पूर्वस्मिश्चावभृथ ३६३
पूर्वस्य चाविशिष्ट ३०१
पूर्वापाये उत्तरायोगात् ६७
पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनु २२
पूर्वैश्च तुल्यकाल ३७६
पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं ११३
पृथक् चावयेभ्यो ४०
पृथक्त्वनिवेशात्सं १८७
पृथक्त्वाद्विधित: ३८५
पृथक्त्वाद्व्यव २३७
पृथक्त्वे त्वभिधान २४२
पृथगुपदेशात् ४४६
पृथिवीकर्मणा तेज: ७४
पृथिव्यादिरूपरस ७६
पृथिव्याधिकरण ४४४
पृथिव्यापस्तेजो ४, ५३
पृथुश्लक्ष्णे चाऽनपूप ३३५
पृषदाज्यवद्वाऽह्नां ३६७
पृषदाज्ये समुच्चय ३७५
पृष्ठार्थेऽन्यद्रथ ३५३
पृष्ठार्थे वाऽतदर्थं ३६४
पृष्ठार्थे वा प्रकृति ३६३
पृष्ठे रसभोजन ३६४
पृष्ठ्यस्य युगपद्वि ३६२
पृष्ठ्यावृत्तौ चाग्र ३६१
पौर्णमासीवदुपांशु १८६
पौर्णमासी वा २४५
पौर्णमास्यामनियमो २७४
पौर्णमास्यूर्ध्वं २५५
पौर्वापर्यञ्चाभ्यासे ३४४
पौर्वापर्यायोगादप्रति ४६
पौर्वापर्ये पूर्वं २७६
पौष्णं पेषणं विकृतौ २०४
प्रकरणं तु पौर्णमा १८५
प्रकरणविशेषाच्च ३२२
प्रकरणविशेषात्तु २१६
प्रकरणविशेषादसं २१६
प्रकरणविशेषाद्वा २०६
प्रकरणशब्दसामान्या २४०
प्रकरणाच्च ४२७
प्रकरणात् ४२६
प्रकरणात्तु काल: २५५
प्रकरणादिति चेत् २३६
प्रकरणाद्वोत्पत्त्य २२२
प्रकरणान्तरे प्रयोजना १८६
प्रकरणाविभागादुभे १६८
प्रकरणाविभागाद्वा २१७
प्रकरणाविभागे च २४०
प्रकरणे सम्भवन्नपकर्षो १७२
प्रकरणो वा शब्दहेतु २७५
प्रकारान्तरासम्भवात् १४१

प्रकारान्तरासम्भवादवि १३८
प्रकाशक्रियास्थिति १५१
प्रकाशतस्तत्सिद्धौ १४१
प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ४५५
प्रकाशादिवच्चावैशे ४५५
प्रकाशादिवन्नैवम् ४४८
प्रकाशश्रयवद्वा ४५६
प्रकृतस्य गुणश्रुतौ ३५१
प्रकृतादर्थादप्रति ४८
प्रकृतिदर्शनाच्च ३५७
प्रकृतिनिबन्धनाच्चे ६४
प्रकृतिपुरुषयोरन्यत् १३१
प्रकृतिलिङ्गसंयोगा ३४६
प्रकृतिवत्त्वस्य चानुप· ३४२
प्रकृतिवास्तवे १०८
प्रकृतिविकृत्योश्च १६८
प्रकृतिविवृद्धौ १७
प्रकृतिश्च प्रतिज्ञा ४३५
प्रकृतिः कालास्ते: ३९८
प्रकृतेराञ्जस्यात् ११९
प्रकृतेराद्योपादान १३९
प्रकृतेरिति चेत् २६३
प्रकृतेश्चाविकारात् ३६४
प्रकृतेः पूर्वोक्तत्वाद २४८
प्रकृतैतावत्त्वं हि ४५५
प्रकृतौ चाऽभावदर्शनात् ३५७
प्रकृतौ तु स्वशब्द २४५
प्रकृतौ यथोत्पत्ति ३२०
प्रकृतौ वाऽद्विरुक्तत्वात् २१५
प्रकृतौ वा शिष्टत्वात् ३५७
प्रकृत्यनियमाद् १९
प्रकृत्यनुपरोधाच्च ३४३, ३४४
प्रकृत्यर्थत्वात् ३९८
प्रकृत्या च पूर्वत्त ३८६
प्रक्रमात्तु नियम्ये २६२
प्रक्रमाद्वा नियोगेन १९२
प्रख्याभावाच्च १६९
प्रगाथे च ३१८
प्रच्छर्दनविधार १४८
प्रणतिब्रह्मचर्योप १२२
प्रणयनन्तु सौमिक २९४
प्रणिधाननिबन्धा ३०
प्रणिधानलिङ्गादि २६
प्रणीतादि तथेति चेत् ३१३
प्रतिकर्षञ्च दर्शयति ३६०
प्रतिकर्षो वा नित्या ३६०
प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञा ४८
प्रतिज्ञाऽहानिरव्यति ४४४
प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे ४८
प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्ग ४३५
प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोप ६
प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः ४८
प्रतिदृष्टान्तधर्मम्य ४८
प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे ४५
प्रतिदक्षिणं वा कर्तृ ३९९
प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाक ३१
प्रतिनिधिश्च २१८
प्रतिनिधौ चाविकारात् ३२२
प्रतिनियतकारण १३८
प्रतिपक्षहीनमपि वा ४३
प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः ४५
प्रतिपत्तिरिति चेत् १९८
प्रतिपत्तिरिति चेन्न ३९३
प्रतिपत्तिर्वाऽकर्म ३९४
प्रतिपत्तिर्वा तन्न्याय २३५
प्रतिपत्तिर्वा यथा ३९८
प्रतिपत्तिर्वा शब्दस्य २३४
प्रतिपत्तिस्तु शेषत्वात् ४१७
प्रतिप्रधानं वा ४०२
प्रतिप्रस्थातुश्च ३७१
प्रतिबन्ध दृशः १०२
प्रतियूपं च दर्शनात् २३४
प्रतिषिद्धंच ।विशेषेण २६६

प्रतिषिद्धविज्ञानाद्वा ३७९
प्रतिषिद्धाचोर्ध्वं २७५
प्रतिषिद्धचविधानाद्वा ३८०
प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य ४७
प्रतिषेधवचनोत्तर ३७२
प्रतिषेधविप्रतिषेधे ४७
प्रतिषेधश्च कर्मवत् ३३८
प्रतिषेधस्य त्वरायु ३७३
प्रतिषेधः प्रदेशे ३७४
प्रतिषेधः स्यादिति ३७२
प्रतिषेधाच्च ३७७, ४५६
प्रतिषेधाच्च पूर्वं २१९
प्रतिषेधादकर्म ३७६
प्रतिषेधादिति चेन्न ४७१
प्रतिषेधानुपपत्ते ४६
प्रतिषेधाप्रामाण्यं १५
प्रतिषेधेऽपि समानो ४७
प्रतिषेधेष्वकर्मत्वा २६३
प्रतिषेधो वा विधिपूर्वं ३७२
प्रतिषेध्येनित्यम ४७
प्रतिसंख्याऽप्रति ४४१
प्रतिहोमश्चेत्साय ३७५
प्रतीत्यप्रतीतिभ्यां १३०
प्रतीयत इति चेत् २३०
प्रत्यक्षनिमित्तत्वा ११
प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वा ५९
प्रत्यक्षमनुमानमेक ११
प्रत्यक्षलक्षणानुप १०
प्रत्यक्षादीनामप्रा ९
प्रत्यक्षाद्गुणसंयो २९२
प्रत्यक्षानुमानागम १४५
प्रत्यक्षानुमानोपमान ३
प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां ७०
प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्ष १३
प्रत्यक्षोपदेशाच्च २१३
प्रत्यक्षोपदेशादिति ४७६
प्रत्यङ्गं वा ग्रहवद ३६९
प्रत्ययं चापि दर्शयति १९३
प्रत्ययस्य परचित्त १५७
प्रत्ययाच्च २३७
प्रत्ययात् ३४६
प्रत्यर्थं चाऽभिसंयोगा २५७
प्रत्यर्थं श्रुतिभाव २६२
प्रत्यहं सर्वसंस्कारः ३६८
प्रथमं वा नियम्यते ३८६
प्रथमस्य वा कालवचनम् ३९०
प्रथमाशब्दात् ६३
प्रथमेऽश्रवणादिति ४५१
प्रथमोत्तमयोः प्रणय २९४
प्रदानं चापि सादन ३६०
प्रदानदर्शनं श्रपणे ३२७
प्रदानवदेव ४६१
प्रदीपवदावेश ४७६
प्रदीपार्चिः सन्त्यभि ३१
प्रदीपोपादानप्रसङ्ग ४५
प्रदेशादिति चेन्ना ४४८
प्रधानं त्वङ्गसंयुक्तं ३४२
प्रधानकर्मार्थत्वा ३८७
प्रधानशक्तियोगा १२५
प्रधानशब्दानुप ३८
प्रधानसृष्टिः परार्थं ११७
प्रधानाच्चान्यसं ३३०
प्रधानापवर्गे वा ३९६
प्रधानाविवेकादन्या ९५
प्रधानेनाभिसंयोगाद २३९
प्रधाने श्रुतिलक्षणम् २६८
प्रपञ्चमरणाद्यमा ११४
प्रमुत्वादार्त्विज्यं ४१९
प्रमाणतर्कसाधनोपा ७
प्रमाणतश्चार्थप्रति ४२
प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणा १०
प्रमाणप्रमेयसंशय ३

प्रमाणविपर्यय १४५
प्रमाणानुपपत्त्युप ४३
प्रमाणाभावान्न १२६
प्रमेयता च तुलाप्रामाण्य १०
प्रयत्नकार्यानेकत्वा ४७
प्रयत्नविशेषान्नोदन ७२
प्रयत्नशैथिल्यानन्त १५४
प्रयत्नयौगपद्याज्ज्ञाना ६६
प्रयाजवदिति चेन्ना ३५०
प्रयाजानां त्वेकदेश ३७३
प्रयाजेऽपीति चेत् ३२०
प्रयाजे च तन्न्याय ३३१
प्रयाणे त्वार्थनिर्वृत्ते: ४०३
प्रयुज्यत इति चेत् ३१७
प्रयोगचोदनाभावाद् १७७
प्रयोगचोदनेति चेत् ३९१
प्रयोगशास्त्रमिति १७५
प्रयोगस्य परम् १६८
प्रयोगान्तरे वोभया २७६
प्रयोगे पुरुषश्रुते २६१
प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्र १७६
प्रयोजनभिसम्बन्धा ३८२
प्रयोजनैकत्वात् ४४०
प्रवर्तनालक्षणा ४
प्रवृत्तत्वात्प्रवर २१४
प्रवृत्तवरणात्प्रति ४०८
प्रवृत्तित्वादिष्टे: २९८
प्रवृत्तिदोषजनितो ४
प्रवृत्तिनिवृत्ती च ६५
प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं १६१
प्रवृत्तिर्यथोक्ता ३४
प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धि ४
प्रवृत्तेऽपीति चेत् २६७
प्रवृत्ते प्रापणान्नि २७३
प्रवृत्ते वा प्रापणा २७४
प्रवृत्तेश्च ४४०
प्रवृत्तौ चापि ताद २९९
प्रवृत्या कृतकालानां २४६
प्रवृत्या तुल्यकाला २४४
प्रवृत्या नियतस्य २९७
प्रवृत्यालोकन्या १५८
प्रशंसा १८०
प्रशंसा च विहरणा २५३
प्रशंसार्थमजामि ३८१
प्रशंसा सोमशब्द: ३०२
प्रशंसाऽस्यभिधानात् ३२६
प्रसंख्यानेऽप्यकुसी १६३
प्रसिद्धग्रहणत्वाच्च ३३३
प्रसिद्धसाधर्म्यात्सा ३
प्रसिद्धसाधर्म्योदुप १२
प्रसिद्धा इन्द्रियार्था: ६४
प्रसिद्धाधिक्यं प्रधानस्य १४०
प्रसिद्धिपूर्वकत्वादप ६५
प्रसिद्धेश्च ४३०
प्रस्तरे शाखाश्रयण २७१
प्रकाशौ च तथेति ३४८
प्राकृतं वा नामत्वात् २९४
प्राकृताच्च २४९
प्रागपरोधान्मल २०७
प्रागाथिकं तु ३१८
प्रागुच्चारणादनुप १६
प्रागुत्पत्ते: कारणाभावा ४५
प्रागुत्पत्तेरभावानि ३९
प्रागुत्पत्तेरभावो १५
प्राग्लोकम्पृणाया २५१
प्राङ्निष्पत्तेर्वृक्ष ३७
प्राजापत्येषु चाम्ना ३५०
प्राण: कम्पनात् ४३२
प्राणगतेश्च ४५१
प्राणभृच्च ४२९
प्राणवता शब्दात् ४५०
प्राणस्तथाऽनुगमात् ४२५

प्राणादयो वाक्यशेषात् ४३४
प्राणापाननिमेषोन्मे ६६
प्रातरनुवाके च २२३
प्रातस्तु षोडशिनि २७५
प्रातिभवत्तु २९
प्रातिभाद्वा सर्वम् १५८
प्रात्यहिकक्षुत्प्रति ९३
प्रापणाच्च निमित्त २४७
प्राप्तार्थप्रकाशलिङ्गा १३४
प्राप्तिस्तु रात्रि ३५५
प्राप्तेर्वा पूर्वस्य ३७३
प्राप्तौ चानियमात् ३२
प्राप्य साध्यमप्राप्य ४४
प्रायश्चित्तं निमित्तेन १९२
प्रयश्चित्तमधिकारे २७५
प्रायश्चित्तमापदि २७९
प्रायश्चित्तविधाना २६५, २७९
प्रायश्चित्तेषु चैका ४१४
प्राये वचनाच्च १८६
प्रारम्भविभागाच्च ४११
प्राश्येत वा ३६५
प्रासङ्गिकं च २४६
प्रासङ्गिके प्रायश्चितं ३२६
प्रासनवन्मैत्रावरुण २३५
प्रियशिरस्त्वाद्य ४५८
प्रीतेरात्माश्रयत्वाद्द ३८
प्रीत्यप्रीति विषादा १०४
प्रेत्यहाराभ्यास २२
प्रैषानुवचनं मैत्रा २२३
प्रैषेषु च परा २२६
प्रोक्षणाच्च ३०२
प्रोक्षणीष्वर्थसंयो १७८
फलं च पुरुषार्थं १९४
फलं चाकर्मसन्निधौ १८९
फलं तु तत्प्रधानायां २३६
फलं तु सह चेष्टया १९४
फलकामो निमित्त २६२
फलचमसविधाना ४१९
फलचमसो नैमित्तिको २१४
फलदेवतयोश्च ३११
फलनिवृत्तिश्च १८३
फलमत उपपत्तेः ४५७
फलमात्रेयो निर्देशा २३८
फलवत्तां च दर्शयति २५९
फलवदोक्तहेतुत्वा २४०
फलश्रुतेस्तु कर्म १८७
फलसंयोगस्त्वचोदि २३९
फलसंयोगात्तु २२०
फलस्य कर्मनिष्पत्ते १७१
फलाभावादिति चेत् ३८३
फलारम्भनिवृत्तेः ३८५
फलार्थत्वात्कर्मणः २५७
फलार्थित्वात्तु २५८
फलार्थित्वाद्वा २६२
फलैकत्वादिष्टिश २९०
फलोत्साहऽविशेषात् २५८
फलोपदेशो वा २३८
बन्धकारणशैथिल्या १५९
बन्धो विपर्ययात् ११५
बर्हिराज्ययोरसंस्कारे १७८
बलेषु हस्तिबला १५८
बहिरकल्पिता वृत्ति १५९
बहिष्पवमाने तु ३५६
बहिस्तूभयथाऽपि ४६७
बहुभिर्योगि विरोधे २२१
बहुभृत्यवद्वा २०८
बहुवचनात्तु बहूनां ३६६
बहुवचनेन सर्वं ३८५
बहुशास्त्रगुरुपासने १२२
बहूनां तु प्रवृत्ता २६६
बहूनामिति चैकस्मि ३६६
बहूनामिति तुल्येषु ३६७

बह्वर्थत्वाच्च ३८६
बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः ३८
बाधनालक्षणं दुःखम् ५
बाधितानुवृत्या ११६
बाहुप्रशंसा वा ३२६
बाह्यप्रकाशानुग्रहाद २४
बाह्याभ्यन्तरविषया १५४
बाह्याभ्यन्तरस्तम्भ १५४
बाह्याभ्यन्तराभ्यां ६७
बुद्धशास्त्रात् १७२
बुद्धिपूर्वा ददाति ७६
बुद्धिपूर्वावाक्यकृति ७६
बुद्धिरूपलब्धि ४
बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ३७
बुद्धेश्चैवं निमित्तसद् ४२
बुद्ध्यर्थः पादवत् ४५६
बुद्ध्या विवचनात्तु ४१
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां १५३
ब्रह्मदानेऽवशिष्ट ३४८
ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ४६६
ब्रह्मापीति चेत् ४०८
ब्राह्मणविहितेषु ४१५
ब्राह्मणस्य तु सोम २६४
ब्राह्मणा वा तुल्य २१५
ब्राह्मणानां वेतरयो २७८
ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसि ७६
ब्राह्मणे जैमिनि ४७५
भक्तिरसन्निधाव २२७
भक्त्यानिष्क्रियवादः २४२
भक्त्या वाऽयज्ञ २९५
भक्त्येति चेत् ३०७, ३८६
भक्षाणां तु प्रीत्यर्थं ३३६
भक्षार्थो वा द्रव्ये २१०
भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः २०९
भवप्रत्ययो विदेह १४७
भाक्तं वाऽनात्मवि ४५१
भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं १३४
भागित्वात्तु नियम्यते २९६
भागित्वाद्वा गवां ३४६
भावं जैमिनि ४७५
भावं तु बादरायणो ४३२
भावदोष उपधा ७७
भावनोपचयाच्छुद्ध ११५
भावशब्दाच्च ४६५
भावार्थाः कर्मशब्दा १८१
भावे चोपलब्धेः ४३७
भावे जाग्रद्वत् ४७५
भावे तद्योगेन तत्सि १००
भावोनुवृत्तेरेव ५६
भाषास्वरोपदेशेषु ४१४
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् १५८
भूतगुणविशेषोपलब्धे २६
भूतमभूतस्य ६५
भूतादिपादव्यपदेशो ४२५
भूतेभ्यो मूर्त्युपादान ३२
भूतेषु तत् श्रुतेः ४७१
भूतो भूतस्य ६५
भूमा १८०
भूमासम्प्रसादाद ४३०
भूम्नः क्रतुवज्ज्याय ४६२
भूयस्त्वाद्गन्ध ८५
भूयस्त्वेनोभयश्रुति २०२
भृतत्वाच्च परि ४०८
भृत्यद्वारा स्वाम्यधिष्ठि १३५
भेदव्यपदेशाच्च ४२४
भेदव्यपदेशाच्चान्यः ४२५
भेदव्यपदेशात् ४२९
भेदश्रुतेः ४५०
भेदस्तु कालभेदाच्चो ३८८
भेदस्तु गुणसंयोगाद् ३६८
भेदस्तु तद्भेदात् ४०१
भेदस्तु सन्देहाद्देव ४०२

भेदान्नेति चेन्नैकस्या ४५७
भेदार्थमिति चेत् २६६
भोक्तुरधिष्ठानाद् भोगा १३५
भोक्तृभावात् १०५
भोक्त्रापत्तेरविभा ४३७
भोगमात्रसाम्य ४७६
भोगेनत्वितरे ४७०
भोजने च तत्संख्यं ३५९
भ्रान्तं तत् ८१
मङ्गलाचरणं शिष्टा १२५
मणिगमनं सूच्य ७३
मदशक्तिवच्चेत् ११४
मधु ना दीक्षिता ३६४
मधूदके द्रव्यसामान्या ३०१
मध्यनिन्दनोल्काप्रकाशा २४
मध्यमयोर्वा गत्यर्थं २९४
मध्यमायां तु वचनाद् २५१
मध्यस्थं यस्य तन्मध्ये २४०
मध्ये रजोविशाल ११७
मध्वादिस्वसम्भवात् ४३२
मनोतायां तु ३५३
मन: कर्मनिमित्त ३३
मन्त्रतस्तु २४५
मन्त्रवर्णश्च तद्वत् ३३१
मन्त्रवर्णाच्च ३२०, ४४७
मन्त्रविशेशनिर्देशा ३५२
मन्त्रश्चाऽकर्मकरणा २२५
मन्त्रस्य चार्थवत्वात् २४८
मन्त्राणां करणार्थं ४१५
मन्त्राणां कर्मसंयोगात् ४१४
मन्त्राणां सन्निपाति ४१५
मन्त्रादिवद्वाऽविरोध: ४६२
मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्य १४
मन्त्राश्च सन्निपातित्वात् ४०६
मन्त्रेष्ववाक्यशेष ३७७
मन्त्रोपदेशो वा ४१४
महतोऽन्यत् १४२
महत्यनेकद्रव्य ६९
महदणुग्रहणात् २३
महदाख्यमाद्यं ६६
महदादिक्रमेण १०९
महद्दीर्घवद्वा ह्रस्व ४४०
महदुपरागाद्विप १०९
महद्वच्च ४३४
मांसं तु सवनीयानां २२७
मांसपाकप्रतिषेधश्च ४०९
मांसपाको विहित ४०९
मांसादि भौमं ४५०
माघी वैकाष्टका २७४
मातापितृजं स्थूलं ११३
मानं प्रत्युत्पादयेत् ३६९
मानसमहरन्तरं ३६५
मान्त्रवर्णिकमेव ४२४
मायागंधर्वनगर ४२
मायामात्रं तु ४५३
मासि ग्रहणं च तद्वत् ३७७
मासि ग्रहणमभ्यास ३७८
मिथश्चानर्थसम्वन्ध १७८
मिथश्चानर्थसम्बन्धात् १९६
मिथो वा विप्रतिषेधाच्च २९६
मिथ्योपलब्धेर्विनाश ४२
मुक्तवद्धयोरन्यतरा १०१
मुक्त: प्रतिज्ञानात् ४७४
मुक्तात्मन: प्रशंसा १०२
मुक्तिरन्तरायध्व १३८
मुक्तोपसृप्यव्यय ४२९
मुख्यं वा पूर्वश्चोदना ४११
मुख्यक्रमेण वाङ्गा २४५
मुख्यस्य शब्दाभिसं २३१
मुख्यस्य धारणं वा ३९७
मुख्याद्वा पूर्वं २०९
मुख्याधिगमे मुख्य २६७

मुख्यानन्तर्यमा	२४८	यत्सिद्धावन्यप्रकरण	५
मुख्यार्थो वा ऽङ्गस्या	२२७	यत्स्थाने वा तद्गीतिः	३१५
मुख्येन वा नियम्यते	३५९	यथा च तक्षोभयथा	४४७
मुख्यो वाऽ विप्रति	४१९	यथा च प्राणादि	४३८
मुग्धेऽर्धसम्पत्तिः	४५४	यथा दुःखात्क्लेशः	१३७
मुष्टिकपालावदाना	२४७	यथा दृष्टमयथादृष्ट	६२
मुष्टिलोपात्तु संख्या	३४१	यथा देवतं वा	१९९
मूर्तत्वाद् घटादिवत्	९९	यथा निवेशञ्च प्रकृति	३५५
मूर्तत्वेऽपि न संघात	११४	यथा प्रदानं वा	२५४
मूर्तिमतां च संस्थानो	४१	यथाभिमतध्यानाद्वा	१४८
मूर्धज्योतिषि सिद्ध	१५८	यथार्थं त्वन्या	३२१
मूले मूलाभावा	९८	यथार्थं वा शेषभूत	१९८
मृदुमध्याधिमात्र	१४७	यथाश्रुतीति चेत्	२७०, ३७५
मेघपतितत्वं स्वामि	३२३	यथोक्तं वा विप्रति	३५२
मैत्रीकरुणामुदितो	१४८	यथोक्तं वा सन्निधानात्	३१५
मैत्र्यादिषु बलानि	१५८	यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु	३२
मौनवदितरेषा	४६८	यथोक्तहेतुत्वात्पा	३०
य एतेनेत्यग्नि	२५२	यथोक्ताध्यवसाया	९
यच्चान्यदसद	८६	यथोक्तोपपन्नश्छत्व	७
यजति चोदनादहीन	३६७	यदभीज्या वा तद्विषयौ	३२०
यजति चोदनाद्द्रव्य	२३६	यदि च हेतुरवतिष्ठेत	१७२
यजतिस्तु द्रव्यफल	१८९	यदि तु कर्मणो	३८९
यजमानसंस्कारो वा	३९७	यदि तु ब्रह्मस्तदूनं	३४९
यजुर्युक्तेऽध्वर्यो	३४९	यदि तु वचनात्तेषां	३४०
यजूंषि वा तद्रूपत्वात्	१८४	यदि तु सान्नाय्यं	३७९
यज्ञकर्म प्रधानं	३११	यदि दृष्टमन्वक्ष	६७
यज्ञदत्तं इति सन्निकर्षे	६६	यदि वा प्याभिधान	२८८
यज्ञस्य वा तत्संयो	३१३	यदि वाऽविशये नियमः	३०७
यज्ञायुधानि धार्येरन्	३९७	यदिष्टरूपरसगन्ध	७८
यज्ञोत्पत्त्युपदेशे	४०८	यदेव विद्ययेति	४७०
यतोऽभ्युदयनिः	५३	यद्युद्गाता जघन्यः	२७६
यत्नाभावे प्रसुप्तस्य	७३	यद्वा तद्वा तदु	१४२
यत्र संशयस्तत्रैव	९	यमनियमासन	१५२
यत्रेतिवाऽर्थत्वात्	१८३	यमर्थमधिकृत्य	५
यत्रैकाग्रता तत्रावि	४६९	यष्टुर्वा कारणाग	२१४
यत्सम्बद्धं सत्	१०१	यस्मात्प्रकरणचिन्ता	७

यस्याद्विषाणी तस्मादश्व ६५
यस्माद्विषणी तस्माद्गो ६५
यस्मिन् गुणोपदेशः १७७
यस्मिन्नदृष्टेऽपि १२९
यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य २२९
यस्य लिङ्गमर्थसंयो २९८
यस्य वा प्रभुः स्यादित २८०
यस्य वा सन्निधाने ३४६
याजमानस्तु तत्प्रधान २२४
याजमाने समाख्या २२५
याज्यानुवाक्यासु ४१६
याज्यापनयेनाप २१४
याज्यावषट्कार ४१५
याञ्चाक्रयणम २८६
यावच्छक्यं तावद्धि ३६३
यावच्छरीरभावि ३१
यावज्जीविकोऽभ्यासः १९०
यावत् श्रुतीति चेत् ३७४
यावत्स्वं वाऽन्य ३८६
यावदधिकारमव ४६०
यावदर्थं वाऽर्थशेष ३६८
यावदात्मभावित्वा ४४६
यावदुक्तम् ३०६
यावदुक्तं वा कर्मणः १८८
यावदुक्तं वा कृत ३५७
यावदुक्तमुपयोगः ३४०
यावद्विकारं तु ४४४
याशब्दसमूहत्याग १९
युक्तितोऽपि न बाध्यते ९६
युक्तेः शब्दान्तराच्च ४३७
युगपज्जायमानयो ९७
युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति ४
युगपज्ज्ञेयानुप २८
युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थं १०
युतसिद्ध्यभावात् ८१
यूपवदिति चेत् ३५३
यूपश्चाकर्मकाल ३९४
यूपाङ्गं वा तत्संस्का २४२
येषां तूत्पत्तावर्थे १८१
येषां वाऽपरयोर्होम ३१०
येषामुत्पत्तौ स्वे १८१
यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते १८१
यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते १८२
योगश्चित्तवृत्ति १४५
योगसिद्ध्योऽप्यौष १३६
योगसिद्धिर्वा २३८
योगाङ्गानुष्ठानाद १५२
योगाद्वा यज्ञाय ४१०
योगिनामबाह्य १०१
योगिनः प्रति च ४७२
योग्या योग्येषु १२८
योनिशस्या च २९१
योनिश्च हि गीयते ४३५
योनेः शरीरम् ४५३
यो वा यजनीयेऽहनि ३९७
यौप्यस्तु विरोधे ४११
रचनानुपपत्तेश्च ४३९
रशना च लिङ्गदर्श ४१८
रश्म्यनुसारी ४७२
रश्म्यर्थसन्निकर्ष २३
रसप्रतिषेधो वा ३२८
रागविरागयो १०८
रागोपहतिर्ध्यानम् ११५
राजपुत्रवत्तत्वोप १२१
रूपं वाऽशेषभूत २९४
रूपरसगन्धस्पर्श ५३, ५८, ८१
रूपरसस्पर्शवत्य ५८
रूपलावण्यबल १६०
रूपाणां रूपम् ५५
रूपात्प्रायात् १७०
रूपादिमत्त्वाच्च ४४१
रूपादिरसमलान्त ११०

रूपान्यत्वान्न २८७
रूपाल्लिङ्गाच्च २८७
रूपैः सप्तभिरात्मा ११६
रूपोपन्यासाच्च ४२८
रेतः सिग्योगो ४५३
रोधोपघातसादृश्ये १२
लक्षणमात्रमितरत् २७३
लक्षणव्यवस्थानादे ३६
लक्षणार्था शृतश्रुतिः २७२
लक्षितेष्वलक्षण १५
लब्धातिशययोगात् १२३
लयविक्षेपयोर्व्या १३९
लाघवातिपत्ति ४००
लाघ्वादिधर्मैः १०४
लिङ्गं मन्त्रचिकिर्षा ३२१
लिङ्गं संघातधर्म २९७
लिङ्गक्रमसमाख्यानात् १९८
लिङ्गतो ग्रहणान्ना २८
लिङ्गदर्शनाच्च[1] १६६
लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे १९०
लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ३१८
लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि ४६१
लिङ्गमवशिष्टं संख्या ३५५
लिङ्गमवशिष्टं सर्वं १९२
लिङ्गविशेषनिर्देशात् १९९, २५७, ३१५
लिङ्गशरीरनिमित्तक १४२
लिङ्गसमवायात् १८०
लिङ्गसमाख्यानाभ्यां १९९
लिङ्गसाधारण्याद्धि ३००
लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वा २९६
लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गं २९६
लिङ्गाच्च १९७, २०१, २५३, २९३, २९६, ३०४, ४६९
लिङ्गाच्चानित्यः शब्दः ६३
लिङ्गाच्चेज्या २८०
लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ३१३
लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ३१०
लिङ्गाभावाच्च नित्य १७६
लिङ्गेन द्रव्यनिर्देशे ३६८
लिङ्गेन वा नियम्येत २९५
लिङ्गोपदेशाच्च १७४
लीनवस्तुलब्धाति १०१
लोकवत्तु लीला ४३९
लोकवदिति चेत् १७१
लोकस्य नोपदेशात् १४१
लोके कर्मणि वेद २६३
लोके कर्मार्थलक्षणम् ३८४
लोके व्युत्पन्नस्य १२८
लोके सन्नियमा १६९
लौकिकपरीक्षकानां ५
लौकिके दोषसंयोगाद् ३२१
लौकिकेश्वरवदित १२५
लौकिकेषु यथाकामी ३९७
वंक्रीनान्तु प्रधान ३२५
वचनं त्वाज्यभक्षस्य ३३७
वचनं परम् २०५, ४१९
वचनं वा भागित्वा ३४१
वचनं वा सत्रत्वात् ३३९
वचनं वा हिरण्यस्य ३३७
वचनमिति चेत् ३०६, ३१५
वचनविधानोऽर्थे ७
वचनाच्च २१३
वच्चनाच्चाऽन्याय्य २६७
वचनात्कामसंयो ४००
वचनात्तु ततोऽन्यत्व २९५
वचनात्तु तन्त्रभेदः ४००

१. निम्न स्थलों पर भी देखें—१८६, १८८, १८९, २०५, २०८, २०९, २१४, २१६, २१७, २१९, २२६, २३०, २३२, २५१, २५४, २४८, २६१, २७८, २८१, २८९, २९१, २९३, २९८, ३०८, ३०९, ३१७, ३२१[2], ३२३, ३३१-३३३, ३४६, ३५०, ३५४, ३५८, ३६०, ३६१, ३६४, ३७७, ३९१, ३९२, ३९६, ४००, ४१०, ४१६.

वचनात्तु द्वादशाहे	२५०	वशायामर्थसमवायात्	१८३
वचनात्तु द्विसंयोग	२७७	वषट्कारश्च कर्तृवत्	२००
वचनात्तु परि	२४७	वषट्काराच्च भक्ष	२१३
वचनात्तु समुच्चयः	२१९	वषट्कारे नानार्थत्वा	४१५
वचनात्त्वयथार्थं	१९७	वसतीवरीपर्यन्तानि	४०१
वचनात्परिवृत्ति	३६१	वसाहोमस्तन्त्र	३९०
वचनात्संख्या	३५८	वस्तुत्वे सिद्धान्तहानिः	९५
वचनात्सर्वपेषणम्	२०५	वाक्यछलमेवोपचार	८
वचनादतदन्त	३६५	वाक्यनियमात्	१७२
वचनादननुज्ञातभक्ष	२१४	वाक्यविभागस्य	१४
वचनादसंस्कृतेषु	४१७	वाक्यशेषत्वात्	२०६
वचनादितरेषां स्यात्	२२४, २२५	वाक्यशेषश्च तद्वत्	२२५
वचनादिति चेत्	१९८, २७८, ४१८	वाक्यशेषो वा क्रतु	३७७
वचनादिष्टिपूर्वत्वम्	२५४	वाक्यशेषो वा दक्षिणा	४०९
वचनाद्धर्मविशेषः	१८४	वाक्यसंयोगाद्वोत्कर्षः	३९९
वचनाद्रथकारस्या	२६१	वाक्यानां च समाप्त	१९६
वचनाद्वा शिरोवत्	२७७	वाक्यानां तु विभक्त	३१७
वचनाद्विनियोगः स्यात्	३१८	वाक्यान्वतात्	४३५
वचनाद्वैकाल्यं स्यात्	२५६	वाक्यार्थश्च गुणार्थवत्	२३७
वचनानि त्वपूर्वत्वात्	२१२, ३५१	वाक्यासमवायात्	१९१
वचनानीतराणि	३०२	वाग्विसर्गो हविष्कृता	३९५
वचने हि हेत्वसाम	२३२	वाङ्मनसि दर्शं	४७०
वत्ससंयोगे व्रतचोदना	२७१	वाङ्मात्रं न तु	९५
वत्सस्तु श्रुतिसंयोगात्	२७१	वाच्यवाचकभाव	१२८
वदतीति चेन्न प्राज्ञो	४३३	वाजिने सोमपूर्वत्वं	३०१
वनिष्ठुसन्निधाना	३२६	वादिविप्रतिपत्ते	१०३
वपानां चानभिघारण	३९३	वामदेवादिर्मुक्तो	१०७
वरणमृत्विजामान	३३८	वायुमब्दादविशेष	४७३
वर्जने गुणभावि	३२७	वायुसन्निकर्षे प्रत्यक्षा	५९
वर्णक्रमनिर्देशवन्नि	४८	वायोर्वायुसंमूर्च्छनं	५९
वर्णत्वाव्यतिरेकाद्व	१८	वासनायाऽर्थख्यापनं	१३५
वर्णान्तरमविकारः	१६८	वाससि मानोपाव	३६९
वर्णे तु बादरि	३१८	वासिष्ठानां वा ब्रह्मत्व	२७९
वर्तमानाभावः पततः	१२	वासो वत्सञ्च	३४५
वर्तमानाभावे सर्वा	१२	वास्तुसाम्ये चित्तभेदा	१६२
वशाद्वाऽगुणार्थं स्यात्	१८२	विकरणत्वान्नेति	४३९

विकल्पवच्च दर्शयति ४१४
विकल्पस्त्वेका ३३६
विकल्पे त्वर्थकर्म ४१७
विकल्पो वा प्रकृतिवत् ३२४
विकल्पो वा समत्वात् ३५५
विकल्पो वा समुच्चय ४१५
विकल्पोऽविशिष्ट ४६३
विकारधर्मित्वे नित्यत्व १९
विकारप्राप्तानामपुन १८
विकारशब्दान्नेति ४२४
विकारस्तत्प्रधाने ३१४
विकारस्तु प्रदेश ३२५
विकारस्त्वप्रकरणे ३४५
विकारस्थान इति चेत् ३९९
विकारकरणाग्रहणे ४१४
विकारः पवमानवत् ४१३
विकारस्त्वनुभयतो २८२
विकाराच्च न भेदः ४०५
विकारादेशोपदेशात् १७
विकारावर्ति च ४७६
विकारास्तु कामसंयोगे २१९
विकारे चाश्रुतित्वात् ३८०
विकारे तु तदर्थं ३७७
विकारे त्वनुयाजानां २४८
विकारो नोत्पत्तिक २८७
विकारो वा तदर्थत्वात् ३२१
विकारो वा तदुक्त ४१७
विकारो वा तदुक्ते हेतुः ३२१
विकारो वा प्रकरणात् १८८
विकृतिः प्रकृति २४५
विकृते प्रकृतिकाल २५५
विकृतो चापि तद्वच ३२२
विकृतो त्वनियमः ३७४
विकृतौ प्राकृतस्य ३७१
विकृतौ शब्दत्वात् ३४२
विकृतौ सर्वार्थः २२७
विक्रयी त्वन्यः २२२
विचित्रभोगानुप ९४
विच्छेदः स्तोम ३५८
विजातीयद्वैतापत्ति ९५
विज्ञानस्य परिषदा ४९
विज्ञानादिभावे वा ४४३
वितर्कबाधने प्रतिपक्ष १५३
वितर्कविचारानन्दा १४६
वितर्का हिंसादयः १५३
विदितबन्धकारण १०६
विद्यां प्रति विधानाद्वा ४१४
विद्या कर्मणोरिति ४५२
विद्यातोऽन्यत्वे ब्रह्म १२६
विद्यानिर्देशान्नेति २६०
विद्याप्रशंसा १७१
विद्याबाध्यत्वे जगतो १२६
विद्यायां धर्मशास्त्रम् १९१
विद्यावचनमसंयो १७४
विद्याविद्यातश्च ६२
विद्याऽविद्याद्वैविध्या ४०
विद्यैव तु निर्धारणात् ४६१
विधिं तु बादरायणः ३७९
विधिकोपश्चोपदेशे १९७
विधित्वं चावशिष्टं ३४३
विधित्वान्नेति ३६३
विधिना चैकवाक्य २०६
विधिनिगमभेदात् ३५२
विधिप्रत्ययाद्वा २५३
विधिमन्त्रयोरैका १८३
विधिरप्येकदेशे २६८
विधिरिति चेत् २९८, ३०९
विधिरिति चेन्न ३८८
विधिवत्प्रकरणा ३८८
विधिर्वा धारणवत् ४६५
विधिर्वासंयोगान्त २०६
विधिर्वा स्याद १७१

विधिर्विधायकः	१४	विप्रतिषेधाच्च न	२५
विधिविहितस्यानु	१४	विप्रतिषेधाच्च सम	४००
विधिशब्दस्य मन्त्र	३५१	विप्रतिषेधात्ताभिः	२४१
विधिशब्दाश्च	१७४	विप्रतिषेधात्क्रिया	३४४
विधिश्चानर्थकः	१७१	विप्रतिषेधात्तु गुण्य	२८३
विधिस्त्वपूर्वत्वात्	२०५	विप्रतेषेधे कारणः	२२५
विधीनां त्वेकवाक्य	१७०	विप्रतिषेधे तद्वचनात्	३४२
विधेस्तु तत्र भावात्	३४४	विप्रतिषेधे परम	४१६
विधेस्तु विप्रकर्षः	३६३	विप्रयोगे च दर्शनात्	२२५
विधेस्त्वेकश्रुतित्वाद	३८३	विभक्त्यन्तरोपपत्ते	१७
विधेस्त्वितरार्थं	३८८	विभक्ते वाऽसमस्त	३६२
विधेः कर्मापवर्गित्वा	२३६	विभज्य तु संस्कार	३६८
विधेः प्रकरणान्तरे	३३०	विभवाद्वा प्रदीप	३८७
विधौ च वाक्यभेदः	१७२	विभवान् महानाकाश	८०
विधौ तु वेदसंयोगा	२८३	विभागं चापि दर्श	३४७
विध्यतिदेशात्त	३४४	विभागश्रुतेः प्रायश्चित	२७६
विध्यन्तो वा प्रकृति	२९६	विभागः शतवत्	४६४
विध्यपराधे च	२६५	विमुक्तबोधान्न सृष्टिः	१४०
विध्यर्थवादानुवाद	१४	विमुक्तमोक्षार्थं	१०८
विध्येकत्वादिति	३९७	विमुक्तिप्रशंसा मन्दा	१३१
विनाशकारणानुपल	१७², २९	विमृश्य पक्षप्रति	६
विनिरुप्ते न मुष्टी	२७३	विरक्तस्य तत्सिद्धेः	१०८
विपर्ययभेदाः पञ्च	११६	विरक्तस्य हेयहान	१२३
विपर्ययेण तु कर्मो	४४४	विरामप्रत्ययाभ्यास	१४६
विपर्ययो मिथ्या	१४६	विरुद्धोभयरूपा चेत्	९५
विप्रतिपत्तिरप्रति	८	विरोधश्चापि पूर्व	१९०
विप्रतिपत्तौ च सम्प्र	९	विरोधः कर्मणीति	४३१
विप्रतिपत्तौ तासामा	३३३	विरोधित्वाच्च	३७५
विप्रतिपत्तौ वा	२४५	विरोधिनाञ्च तत्	३७५
विप्रतिपत्तौ विकल्पः	३२२	विरोधिना त्वसंयोगा	१९३
विप्रतिपत्तौ हविषा	३००	विरोधिनामेकश्रुतौ	३७३
विप्रतिपत्त्यवयवस्था	९	विरोधे च श्रुति	२२६
विप्रतिषिद्धधर्माणां	४११	विरोधे त्वनपेक्ष्यं	१७४
विप्रतिषिद्धे च	२४१	विरोध्यग्रहणात्तथा	३७४
विप्रतिषेधाच्च	३४२, ४०७, ४४३	विरोध्यभूतं भूतस्य	६५
		विवक्षितगुणोपपत्ते	४२६

विविक्तबोधात्प्रधा ११८
विविधबाधनायो ३८
विवृद्धिः कर्मभेदात्तु २४९
विवृद्धिर्वा नियमा २४८
विवेकख्यातिरवि २५२
विवेकान्निःशेष १२०
विषयत्वाव्यतिरेका २५
विषयप्रत्यभिज्ञानात् २७
विषयवती वा प्रवृत्ति १४८
विषयोऽविषयोऽप्य १०३
विषाणी ककुद्मान ५८
विष्णुर्वा स्याद्धोत्रा ३८०
विशये प्रायदर्शनात् १८९
विशये लौकिकः २९४
विशिष्टस्य जीवत्व १४२
विशिष्टे आत्मत्याग ७७
विशेषं च दर्शयति ४७४
विशेषकार्येष्वपि १०२
विशेषणभेदव्यप ४२८
विशेषणाच्च ४२७
विशेषणानर्थक्य १२८
विशेषदर्शनाच्च १८५
विशेषदर्शिन आत्म १६३
विशेषानुग्रहश्च ४६७
विशेषार्था पुनः श्रुतिः ४००
विशेषाऽविशेषलिङ्ग १५१
विशेषितत्वाच्च ४७३
विशेषा वा तदर्थं ३१५
विशोका वा ज्योतिष्मती १४८
विश्वजिति वत्स ४१२
विश्वजिति सर्वपृष्ठे ३६२
विश्वजिदप्रवृत्ते भावः २९२
विष्टं ह्यपरं परेण २७०
विहारदर्शनं विशिष्ट २६
विहारप्रकृतित्वाच्च २९७
विहारप्रतिषेधाच्च ३६३
विहारस्य प्रभुत्वा २७९
विहारोपदेशात् ४४७
विहारो लौकिकानाम् ४०९
विहितत्वाच्चश्रम ४६६
विहितप्रतिषेधात् १९२
विहितप्रतिषेधो वा ३२७
विहितस्तु सर्वधर्मः १९४
विहताम्नानान्नेति २८९
वीतरागजन्मादर्श २३
वीतरागविषयं वा १४८
वीते च कारणे २३८
वीते च नियम २३८
वृक्षगुल्मलतौषधि १३६
वृक्षाभिसर्पणमित्य ७४
वृत्तयः पञ्चतयः १११, १४५
वृत्तिनिरोधात् ११५
वृत्तिसारूप्यमितरत्र १४५
वृत्यनुपपत्तेरपि ४०
वृद्धिदर्शनाच्च ४०२
वृद्धिश्चकर्तृभूम्ना १६८
वृद्धिह्रासभावा ४५५
वृधन्वान्पवमान ३५१
वेदलिङ्गाच्च ७१
वेदसंयोगात् २०७
वेदसंयोगान्न २०२
वेदांश्चैके सन्निकर्षं १६९
वेदिप्रोक्षणे मन्त्राभ्यासः ४०३
वेदिसंयोगादिति चेत् ३९२
वेदोपदेशात्पूर्वं २२३
वेदो वा प्रायदर्शनात् २०१
वेद्युद्धननव्रतं विप्रति ४१०
वेधाद्यर्थभेदात् ४५९
वैगुण्यादिध्मा ४१०
वैगुण्यान्नेति चेत् २५९, २७४
वैदिकं च ७४
वैद्युतेनैवततस्त ४७३

वैधर्म्याच्च न	४४२	व्यवायान्नानुष	१८५
वैराग्यादभ्यासा	११६	व्याख्यातं तुल्यानां	३८८
वैरूपसामा क्रतुसंयोगा	३६३	व्याघातादप्रयोगः	३५
वैलक्षण्याच्च	४५०	व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः	२१०
वैशेष्यात्तु तद्वाद	४५०	व्याधिस्त्यानसंशय	१४७
वैश्वदेवे विकल्प	१७८	व्यापन्नस्याप्सु	२७६
वैश्वानरश्च नित्यः	२४१	व्याप्तेश्च समञ्जसम्	४५८
वैश्वानरः साधारण	४२८	व्यावृत्तोभयरूपः	१०७
वैश्वामित्रस्य हौत्र	२७९	व्यासक्तमनसः पाद	२९
वैषम्यनैर्घृण्ये	४३९	व्याहततत्वादयुक्तम्	३७
व्यक्ताद् घटनिष्पत्ते	३५	व्याहतत्वादहेतुः	११, ४१
व्यक्ताद्व्यक्तायां	३४	व्युत्थाननिरोध	१५६
व्यक्तिभेदः कर्म	१३३	व्युद्धृत्याऽऽसादनं	३३५
व्यक्तिर्गुणविशेषा	२०	व्यूढो वा लिङ्ग	३६१
व्यक्त्याकृतिजात	२०	व्यूर्ध्वभाग्स्य	२७३
व्यक्त्याकृतियुक्ते	२०	व्यूहान्तराद् द्रव्या	२८
व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति	२०१	व्यूद्धवचनं च	३३२
व्यतिरेकस्तद्भावा	४६२	व्रतधर्माच्च लेप	३२७
व्यतिरेकात्	५५	शंकते च निवृत्ते	३४५
व्यतिरेकानवस्थिते	४४०	शंकते चानुपोषणात्	२९८
व्यतिरेको गन्धवत्	४४६	शंयौ च सर्वपरिदाना	२०७
व्यतिहारो विशिषन्ति	४६१	शंय्विवडान्तरत्वे विकल्पः	३७२
व्यपदेशभेदाच्च	१८२	शकलश्रुतेश्च	२३४
व्यपदेशश्च तद्वत्	१८५, ३०२	शक्तस्य शक्यकरणम्	१०३
व्यपदेशश्च तुल्य	२१८	शक्तितश्चेति	१०५
व्यपदेशाच्च	१८४, २२४, २२६	शक्तिभेदेऽपि भेद	११०
व्यपदेशाच्च क्रियायां	४४७	शक्तिविपर्ययात्	४४७
व्यपदेशादपकृष्येत	२०७	शक्त्युद्भवानुद्भवा	९४
व्यपदेशादितरेषां	२२५	शब्द इति चेन्नातः	४३१
व्यपदेशाद्देवतान्त	३३१	शब्द ऐतिह्यानर्था	१५
व्यपवर्गं च दर्शयति	१९०	शब्दज्ञानानुपाती	१४६
व्यभिचारादहेतुः	३४	शब्दपृथक्त्वाच्च	१८३
व्यवस्थातो नाना	६८	शब्दभेदान्नेति	३८२
व्यवस्थितः पृथिव्यां	६१	शब्दमात्रमिति चेत्	२९०
व्यवस्था वाऽर्थसंयो	१९६	शब्दलिङ्गाविशेषाद	६०
व्यवस्था वाऽर्थस्य	१९५	शब्दवत्तूपलभ्यते	२३०

शब्दविप्रतिषेधाच्च	२४६	शारीरश्चोभयेऽपि	४२७
शब्दविभागाच्च	३६१	शास्त्रं चैवमनर्थकं	२६०
शब्दविशेषात्	४२६	शास्त्रदृष्टविरोधाच्च	१७०
शब्दश्चातोऽकाम	४६६	शास्त्रदृष्ट्या तूपदे	४२५
शब्दसंयोगविभवाच्च	४१	शास्त्रफलं प्रयोक्तरि	२२१
शब्दसामञ्जस्यमिति	३६८	शास्त्रयोनित्वात्	४२३
शब्दसामर्थ्याच्च	३०६	शास्त्रसामर्थ्याच्च	६८
शब्दाच्च	४४४	शास्त्रस्था वा	१७५
शब्दादिभ्योऽन्तः	४२८	शास्त्राणां त्वर्थवत्त्वेन	२६३
शब्दादेव प्रमितः	४३१	शास्त्रात्तु विप्रयोग	३६८
शब्दानाञ्च सामञ्ज	२६२	शिष्टत्वाच्चेतरासां	३४५
शब्दानां चासामञ्ज	२६१	शिष्टाकोपेऽविरुद्ध	१७५
शब्दान्तरत्वात्	३०८	शिष्टा तु प्रतिषेधः	३७६
शब्दान्तरे कर्मभेदः	१८५	शिष्टेश्च	४६३
शब्दार्थत्वात्तु नैवं	३१६	शीघ्रतरगमनोपदेश	१४
शब्दार्थत्वाद्विकारस्य	३१७	शुक्लपटवद् बीज	६४
शब्दार्थप्रत्ययाना	१५७	शुगस्य तदनादरश्रवणा	४३२
शब्दार्थयोः पुनर्वचनं	४६	शूद्रश्च धर्मशास्त्रत्वात्	२८१
शब्दार्थव्यवस्थानाद	१३	शून्यं तत्त्वं भावो	६८
शब्दार्थश्च तथा लोके	३८४	शृताशृतोपदेशाच्च	३७०
शब्दार्थश्चापि लोकवत्	३४६	शृतेऽपि पूर्ववत्वा	४१७
शब्दार्थावसम्बन्धौ	८२	शृतोपदेशाच्च	३२८
शब्दे प्रयत्ननिष्पत्ते	१७६	शेष इति चेत्	२३७
शब्दैस्त्वर्थविधि	२६०	शेषत्वात् पुरुषार्थ	४६३
शब्दोऽनुमानमर्थ	१३	शेषदर्शनाच्च	२०६
शमदमाद्युपेतःस्यात्	४६६	शेषप्रतिषेधो वाऽर्था	३२६
शमिता च शब्दभेदात्	२२२	शेषभक्षाश्च तद्वत्	३३८
शरीर गुणवैधर्म्यात्	३१	शेषभक्षास्तथेति	४०७,४०८
शरीरदाहे पातकाभावात्	२१	शेषवदिति चेत्	४०७
शरीरव्यापित्वात्	३१	शेषवद्वा प्रयोजनं	३८२
शरीरादिव्यतिरिक्तः	१०५	शेषश्च समाख्यानात्	२०८
शरीरोत्पत्तिनिमित्त	३२	शेषस्तु गुणसंयुक्तः	१६६
शरीरेष्वपीति चेत्	३७४	शेषस्य हि परार्थ	३८२
शाखायां तत्प्रधानत्वात्	२३४[२]	शेषःपरार्थत्वात्	१६४
शान्तोदिताव्यपदेश्य	१५७	शेषाणां वा चोदनैक	३५१
शामित्रे च पशुपुरो	४०६	शेषाद् द्व्यवदाननाशे	२६८

शेषाः प्रकरणे	२०७	श्रुत्या सिद्धस्य	१०६
शेषे च समत्वात्	३३८	श्रेष्ठश्च	४४६
शेषे ब्राह्मणशब्दः	१८४	श्रोत्रग्रहणोयोऽर्थः	६२
शेषे यजुः शब्दः	१८४	श्रोत्राकाशयोः सम्बन्ध	१५६
शेषे वा समवैति	३७०	श्वस्त्वेकेषां तत्र	२१७
शौचसन्तोषतपः	१५३	श्वः सुत्या वचनं	४०१
शौचात्स्वाङ्ग	१५३	षट्चितिः पूर्ववत्	२४१
श्येनवत् सुखदुःखी	१२१	षडह्वा तत्र हि	२६३
श्येनश्लाकश्य	३२६	षडभिर्दीक्षयतीति	३४४
श्येनस्येति चेत्	२८६	षड्विंशतिम्यासेन	३२४
श्रद्धावीर्यस्मृति	१४७	षष्ठीव्यपदेशादपि	१३७
श्रपणं चाऽग्निहोत्रस्य	४०६	षोडशादिष्वप्येवं	१३२
श्रयणां त्वपूर्वं	३२८	षोडशिनो वैकृतत्वं	३५७
श्रवणाध्यनार्थं	४३२	षोडशी चोक्थ्यसंयो	२४७
श्राद्धवदिति चेत्	२८५	संकल्पादेव तु	४७५
श्रुतत्वाच्च	४२४, ४५७	संकल्पितेऽप्येवम्	११५
श्रुतानुमानप्रज्ञा	१४६	संख्या तु चोदनां	३४१
श्रुतितो वा लोक	३६२	संख्यात्वेवं प्रधानं	३२५
श्रुतिन्यायविरोधा	६७	संख्याभावः सामा	६३
श्रुतिप्रमाणत्वा	२६५, २८८	संख्याभावात्	१६८
श्रुतिप्रामाण्याच्च	२३	संख्यायाश्च	३५६
श्रुतिरपि प्रधान	१२६	संख्यायाश्च शब्द	३०६
श्रुतिलक्षणमानुपूर्व्यं	२४४	संख्यायुक्तं क्रतोः	२०४
श्रुतिलिङ्गवाक्य	२०२	संख्याविहितेषु	४१५
श्रुतिलिङ्गादिभि	१२७	संख्यासामञ्जस्यात्	३६५
श्रुतिविरोधान्न कुत	१३६	संख्यासु तु विक	४१६
श्रुतिश्च	१२०	संख्याः परिमाणानि	७०
श्रुतिश्चैषां प्रधान	२८६	संख्यैकान्तासिद्धिः	३७
श्रुतेर्जाताधिकार	२०१	संज्ञाकर्म त्वस्मद्वि	५६
श्रुतेश्च	४६७	संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगा	१८७
श्रुतेश्च तत्प्रधा	३२८	संज्ञातश्चेत्तदयुक्त	४५८
श्रुतेस्तु शब्दमूल	४३८	संज्ञामूर्तिक्लृप्ति	४५०
श्रुतोपनिषत्	४२७	संज्ञाया आदित्वात्	७१
श्रुत्यपायाच्च	२३४	संज्ञोपबन्धात्	१८६
श्रुत्यादिबलीय	४६२	संदिग्धाः सति	६३
श्रुत्यानर्थक्यमिति	३७४	सं प्रतिपत्तिभावाच्च	६३

सं प्रैषे कर्मगर्हा १७३
सं भृतिद्युव्या ४५६
संभोगप्राप्ति ४२६
संयमने त्वनुभूये ४५२
संयवनार्थानां या २३४
संयुक्तं वा तदर्थं २१८
संयुक्तसमवायाद ९०
संयुक्तस्त्वर्थशब्देन १८९
संयुक्ते तु प्रक्रमात्त २४७
संयोगविभागयोः ८१
संयोगविभागवेगानां ५४
संयोगविभागाश्च ५५
संयोगादभावः कर्मणः ६०
संयीगाद्वा ९०
संयोगाद्विभागाच्च ६३
संयोगानां द्रव्यम् ५५
संयोगाभावे गुरु ७२
संयोगिनो दण्डात् ८२
संयोगिसमवा ६४
संयोगे वाऽर्थापत्ते ३५२
संयोगोपपत्तेश्च ४१
संवत्सरो वा विचालि २८३
संवपनं च तादर्थ्यात् ३३४
संशयनिर्णयान्त ८९
संसर्गरसनिष्पत्ते २३१
संसर्गित्वाच्च ३२४
संसर्गिषु चार्थस्य ३२३
संसर्गे चापि दोषः ४१८
संस्कारं प्रतिभावाच्च ३२८
संस्कारकत्वादचोदि १९६
संस्कारपरामर्शात् ४३२
संस्कारप्रतिषेधश्च ३२७
संस्कारप्रतिषेधो वा ३९२
संस्कारलेशतस्त १२०
संस्कारश्च प्रकरणे ३१६
संस्कारश्चाप्रकरणे १८८
संस्कारसाक्षात्कार १५७
संस्कारसामर्थ्याद् ३४४
संस्कारस्तु न भिद्यते १८७
संस्कारस्य तदर्थं २६०
संस्काराणां च दर्श ३९३
संस्काराद्वा गुणाना १९५
संस्कारभावे गुरुत्वात् ७३
संस्कारास्तु पुरुष २२४
संस्कारात्वावर्ते ३९४
संस्कारे च तत्प्रधान २३६, २६०, ४१६
संस्कारे चान्यसंयो ३५०
संस्कारे तु क्रिया ३४४
संस्कारे युज्यमानानां ३११
संस्कारो वा चोदितस्य ३५२
संस्कारो वा द्रव्यस्य ३३८
संस्कृतं स्यात्त २९५
संस्कृतत्वाच्च २०९
संस्कृते कर्मसंस्कारा २५१
संस्थागणेषु तदभ्यासः ३०५
संस्था तद्देवतात्वात् ३२९
संस्थाश्च कर्तृवद्धा २०३
संस्थास्तु समान २१८
संहतपरार्थत्वात् ९८, १०५
स आहवनीयः स्याद ४१८
स एव तु कर्मानु ४५४
स एष पूर्वेषामपि १४७
स कपाले प्रकृत्या ३३४
स कुल्यः स्यादिति २८३
सकृत्तु स्यात् ३८४
सकृत्त्वं चैकध्यं ३२३
सकृदिज्यां कामु ३८८
सकृदिति चेत् ४०२
सकृद्वाऽऽरम्भ ३१४
सकृद्वा कारणैक ३८४
सकृन्मानं च ३९४
सक्रियत्वाद् गति १३१

सगुणद्रव्योत्पत्ति २३
सगुणस्य गुणलोपे ३५२
सगुणानामिन्द्रिय २६
स चतुर्विधः सर्वं ५
सच्चासत् ८६
सतः परमदर्शनं १६८
सतः परमविज्ञानम् १७४
स तद्धर्मा स्यात् २६६
सति च कार्यदर्श ८९
सति च नैकदेशेन ३७८
सति चाभ्यासशास्त्र ४१४
सति चोपासनस्य ४०९
सतिमूले तद्विपाको १५१
सति सव्यवचनम् २३२
स तु दीर्घकालनैरन्त १४६
सतो लिङ्गाभावात् ६२
सतोस्त्वाप्तिवचनं ३३६
सत्कार्यसिद्धान्त १३०
सत्तामात्राच्चेत् १२६
सत्त्वपुरुषयोरत्य १५८
सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि १६०
सत्त्वपुरुषान्यता १६०
सत्त्वरजस्तमसां ९७
सत्त्वशुद्धि सौमन १५४
सत्त्वाच्चावरस्य ४३७
सत्त्वादीनामतद्धर्म १४०
सत्त्वान्तरे च यौग १६८
सत्त्वे लक्षणसंयोगा २८८
सत्यपि द्रव्यत्वे ६९
सत्यप्रतिष्ठायां १५३
सत्यवदिति चेत् ४०७
सत्रमहीनश्च द्वादशा ३०३
सत्रमेकः प्रकृति ३६६
सत्रलिङ्गं च दर्शयति ३०४
सत्राणि सर्ववर्णा २७८
सत्रे गृहपति ४१९
सत्रे वोपायि चोदनात् ३०४
सत्सम्प्रयोगे पुरुष १६७
सदकारणवन्नि ६९
सदनित्यं द्रव्यवत् ५४
सदसत् ८६
सदसत्ख्याति १३०
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्त १६२
सदिति यतो द्रव्य ५६
सदितिलिङ्गविशेषाद् ५७
स देवतार्थस्तत्संयो १९७
सद्यः कालान्तरे ३७
स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थ ३
स द्व्यर्थः स्यादुभयोः ३३३
सनिवन्ये च मृति ३३८
स नैमित्तिकः पशो २८७
सन्ततवचनाद्वा ४१५
सन्तर्दनं प्रकृतौ २०३
सन्तानानुमानविशे १६
सन्तापनमधः श्रपणात् ३३५
सन्तोषादनुत्तम १५४
सन्त्योनिजाः ७१
सन्दिग्धस्तूपचारः ६७[२]
सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वा १९५
सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् १८०
सन्ध्ये सृष्टिराह ४५३
सन्नहनञ्च वृत्त ४०७
सन्नहनहरणे तथेति ४०९
सन्निधानविशेषाद् २२७
सन्निधौ त्वविभागात् १९०
सन्निपातश्चेद्य २४९
सन्निपातात्तु २७७
सन्निपाते प्रधाना २४७
सन्निपाते विरोधिना ३१०
सन्निपातेऽवैगुण्या २७६
सन्निवापं च दर्श २७९, ३६६
सप्तगतेर्विशेषि ४४९

सप्यदर्शकं लिङ्गम् ११३
स प्रतिपक्षस्थाना ७
स प्रत्यामनेत्स्थानात् २७०
स प्रायात्कर्मधर्मः २०५
समं तु तत्र दर्शनम् १६८
समं स्यादश्रुतित्वात् ३४७
समत्वाच्च ३३१
समत्वाच्च तदुत्पत्तेः ३४३
समत्वात्तु गुणाना ३४६
समन्वयात् १०५
समन्वारम्भणात् ४६४
समप्रदेशेविकार ३१८
समवायाभ्युपगमा ४४१
समवायिनः श्वैत्यात् ८४
समवाये चोदना २३९
समाकर्षात् ४३४
समाख्यानं त तद्वत २२१, २५२, ३३१
समाख्याभावाच्च ७१
समाधिभावनार्थः १५०
साधिविशेषाभ्यासात् ४२
समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु १३३
समाधिसिद्धिरीश्वर १५४
समाध्यभावा ४४७
समानं जरामरणादिजं ११७
समान एवं चाभेदात् ४५९
समानकर्मयोगे बुद्धेः ११२
समानजयाज्ज्वलनम् १५९
समानतन्त्रसिद्धिः पर ५
समान देवते वा ३५३
समाननामरूपत्वाच्चा ४३१
समानप्रसवात्मिका २०
समानयनं तु मुख्यं २३२
समान वचनं तद्वत् ३९३
समानः कालमाया ३९३
समानः प्रकृतेर्द्वयोः ९८
समाना चासृत्युप ४७१
समानानेकधर्माध्य ९
समानानेकधर्मोप ५
समनेपूर्ववत्त्वादु २८९
समाप्तं च काले वाक्यं १८८
समाप्तिरविशिष्टा १८८
समाप्तिवचनात् ३२९
समाप्तिवच्च संपेक्षा १९२
समाप्तिः पूर्ववत्वाद्य १९२
समारोपणादात्मन्य ३८
समासस्त्वेकाद ३६२
समासेऽपि तथेति ३२५
समाहारात् ४६३
समिध्यमानवतीं २५०
समुच्चयं च दर्श ४१६
समुच्चयस्त्वदोष ४१४
समुच्चयो वा क्रिया ४१६
समुच्चयो वा प्रयोगे ४१६
समुदाय उभयहेतुके ४४१
समुपहूय भक्षणाच्च ३०२
समे आत्मत्यागः ७७
समेषु कर्मयुक्तं १८७
समेषु वाक्यभेदः १८५
समे हीने वा प्रवृत्तिः ७६
सम्पत्तेरिति जैमिनि ४२९
सम्पद्याविर्भावः ४७४
सम्प्रति परिष्वक्तो ११३
सम्प्रदानात् १६
सम्बन्धाच्च १३
सम्बन्धात्सवनोत्कर्षः २४७
सम्बन्धदर्शनात् २८३
सम्बन्धादेवमन्यत्रा ४५९
सम्बन्धानुपपत्तेश्च ४४३
सम्बन्धाभावान्न २१६
सम्भवतोऽर्थस्याति ८
सम्भवेन्न स्वतः ११२
सर्पिर्जतुमधूच्छि ५८

सर्वं नित्यं पञ्च ३६
सर्वं पृथग्भाव ३६
सर्वं वा पुरुषापनया ३४९
सर्वतन्त्राविरुद्ध ५
सर्वत्रकार्यदर्शनात् १३९
सर्वत्र च प्रयोगात् १७५
सर्वत्र तु ग्रहा ३४९
सर्वत्र प्रसिद्धोपदे ४२६
सर्वत्र यौगपद्यात् १६८
सर्वत्र सर्वदा सर्वा १०३
सर्वत्रैवम् ४७
सर्वत्वं च तेषाम ३३७
सर्वत्वमाधिकारिकम् १७१
सर्वथानुपपत्तेश्च ४४२
सर्वथाऽपि त एवोभय ४६६
सर्वधर्मोपपत्ते ४३९
सर्वपृष्ठे पृष्ठशब्दात्ते ३६३
सर्वप्रतिषेधो वा ३२६
सर्वप्रदानं हविष २०८
सर्वप्रमाणप्रतिषे १०
सर्वप्रापिणापि लिङ्गेन ३८७
सर्वमनित्यमुत्पत्ति ३६
सर्वमभावो भावेष्वितरे ३७
सर्वमिति चेत् २४४
सर्वमेवं प्रधान ३४३
सर्वविकारे त्वभ्यासा ३३६
सर्वविकारो वा क्रत्वर्थे ३४८
सर्ववेदान्तप्रत्ययं ४५७
सर्वशक्तौ प्रवृत्तिः २६४
सर्वस्य चैककर्म २५४
सर्वस्य वा क्रतु ३४७
सर्वस्य वैककर्म्यात् ३५२, ३६७
सर्वस्य वैकशब्द्यात् २८९
सर्वस्य वोक्तकाम १८७
सर्वस्वारस्य दिष्टगतौ ३४०
सर्वाग्रहणमवयव्य १२
सर्वाणि त्वेककार्य २४७
सर्वातिदेशस्तु ३१८
सर्वार्थं वाऽऽधानस्य २१६
सर्वार्थत्वैकाग्रतयोः १५७
सर्वार्थत्वाच्च पुत्रार्थो २८५
सर्वार्थमप्रकरणात् २१५
सर्वान्नानुमतिश्च ४६६
सर्वापेक्षा च यज्ञादि ४६६
सर्वाभेदादन्यत्रेमे ४५८
सर्वासम्भवात् संभवे ९३
सर्वासाञ्च गुणाना ३७४
सर्वासां वा समत्वा २४०
सर्वे तु वेदसंयोगात् २१२
सर्वेभ्यो वा कारणा २०९
सर्वे वा तदर्थत्वात् ४१९
सर्वे वा सर्वसंयोगात् २१२
सर्वेषां चाभिप्रथनं ४०३
सर्वेषां चैककर्म्यं १९१
सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् १९८
सर्वेषां तु विधित्वात् २१३
सर्वेषां भावोऽर्थे १८१
सर्वेषां वाऽविशेषात् २२७
सर्वेषां वा चोदना २५३
सर्वेषां वा दर्शना ३०८
सर्वेषां वा प्रतिप्रसवात् २७९
सर्वेषां वा लक्षण १९५
सर्वेषां वा शेषत्व २१९
सर्वेषां वैकजातीयं २४७
सर्वेषां वैकमन्त्र्य २०१
सर्वेषामविशेषात् ३५०
सर्वेषामिति चेत् २८४
सर्वेषु पृथ्व्युपादानम् २३५
सर्वेषु वाऽभावादेक २००
सर्वैर्वा समवायात् २६८
सर्वोपिता च तद्दर्शनात् ४३९
स लौकिकः स्याद् २९५

स लौकिकानां स्यात्	३०७	साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा	६
सवनीये छिद्रापिधानार्थं	४१०	साध्यसमत्वादहेतुः	२७
सव्यदृष्टस्येतरेण	२१	साध्यसाधर्म्यात्तद्	६
सव्यभिचारविरुद्ध	७	साध्यातिदेशाच्च	४४
स सर्वेषामविशेष	२८४	साध्याविशिष्टः	७
स स्तुतशस्त्रो	३५८	सान्तपनीया	२४६
स स्वर्गः स्यात्	२३७	सान्नाय्यं वा	३०२
स स्वामी स्यात्	२६६	सान्नाय्यसंयोगात्	२७३
सहकारित्वेन च	४६६	सान्नाय्याग्निषो	२५६
सहकार्यन्तरविधिः	४६८	सान्नाय्येऽपि तथेति	२७२
सहचरणस्थानता	१९	सान्नाय्येऽप्येवं	४१९
सहत्वे नित्यानुवाद	४००	सा पशूनामुत्प	३४६
सहस्रसंवत्सरं तद्वायु	२८३	साप्तदश्यवन्नि	३७८
स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता	११७	सा प्रकृतिः स्यादधि	२८३
साकम्प्रस्थाय्ये	२११	साभाव्यापत्तिरूप	४५३
साकल्यविधानात्	३८६	सामयिकः शब्दार्थ	८२
साकांक्षं त्वेकवाक्यं	१९५	सामस्वर्थान्तर	३५०
साक्षाच्चोभयाम्नानात्	४३५	सामानि मन्त्रमेके	३१६
साक्षात्सम्बन्धात्	१०७	सामान्यं तच्चिकीर्षा	२६७
साक्षादप्यविरोधं	४२८	सामान्यं विशेष	५६
साग्नीनां वेष्टिपूर्वं	२७९	सामान्यतो दृष्टा	१०२
साङ्गकालश्रुति	४०१	सामान्यतो दृष्टाच्चा	५९, ६६
साङ्गो वा प्रयोग	३९१	सामान्यतो दृष्टान्तयो	४५
सा च प्रशासनात्	४३०	सामान्यप्रत्यक्षाद्	६२
सात्विकमेकादशकं	१०९	सामान्यवतो धर्मयोगो	१८
सादनं चापि शेषत्वात्	३६०	सामान्यविशेषापेक्षं	८४
साधर्म्यवैधर्म्याभ्या	८, ४४	सामान्यविशेषभावेन	५६[२], ५७[२]
साधर्म्यवैधर्म्योत्क	४४	सामान्यविशेषेषु	८४
साधर्म्यात्तुल्यधर्मो	४७	सामान्या कारणवृत्तिः	११०
साधर्म्यात्संशये	४५	सामान्यात्तु	४५६
साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधा	४७	सामान्येन विवादाभावा	१०५
साधारणो वाऽनु	३९५	सामिधेनीस्तदन्ता	२२०
साधारण्यान्न ध्रुवायां	२१०	सामीप्यात्तु	४७३
साध्यत्वादवयविनि	११	साम्ना चोत्पत्ति	३५६
साध्यत्वादहेतुः	२९	साम्नोऽभिधानशब्देन	२९०
साध्यदृष्टान्तयो	४४	साम्नोः कर्मवृद्ध्यैक	२७७

साम्पराये तर्त्तव्या	४६०	सोपक्रमं निरूप	१५७
साम्यवैषम्याभ्यां कार्य	१४०	सोमयानात्तु प्रापणं	२८५
साम्युत्थाने विश्व	२७४	सोमश्चैकेषामग्न्या	२५४
सारस्वते च दर्शनात्	२७९	सोमान्ते च	३९५
सारस्वते विप्रतिषेधा	१९२	सोमेऽवचनाद् भक्षो	२१२
सारूप्यात्	१७९	सौक्ष्म्यात्तदनुप	१०३
सार्वकाम्यमङ्गकामैः	२३८	सौत्रामण्यां च ग्रहेषु	२११
सार्वरूप्याच्च	२४०	सौधन्वनास्तु हीन	२६१
सा लिङ्गादार्त्विजे	२०८	सौभरे पुरुषश्रुते	१८७
सिञ्चिते त्वग्नि	२५२	सौमिके च कृतार्थ	२३५
सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्	१०२	स्तुतयेऽनुमतिर्वा	४६५
सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्वि	७	स्तुतशस्त्रयोस्तु	१८२
सिद्धान्तमभ्युपेत्यानि	५०	स्तुतिमात्रमुपादाना	४६५
सिद्धिरष्टधा	११६	स्तुतिर्निन्दा पराकृतिः	१४
सुकृते दुष्कृते	४५२	स्तुतिव्यपदेशमङ्ग	३६५
सुखदुःखज्ञान	६७	स्तुतिस्तु शब्द	१७२
सुखलाभाभावाद	१३७	स्तोत्रकारिणां वा	२१२
सुखविशिष्टाभिधा	४२७	स्तोभस्यैके द्रव्यान्त	३१८
सुखाद्रागः	७८	स्तोमविवृद्धौ बहिष्प	२५०
सुखानुशयी रागः	१५०	स्तोमवृद्धौ त्वधिकं	३५१
सुत्याविवृद्धौ सुब्रह्म	४०१	स्तोमवृद्धौ प्राकृता	३५६
सुप्तव्यासक्तमनसां	११	स्तोमस्य वा	३६४
सुब्रह्मण्या तु तन्त्रं	३९६	स्थपतिर्निषादः	२६१
सुवर्णादीनां पुनरापत्ते	१८	स्थपतिवल्लौकिके	२८५
सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शते	३९	स्थपतीष्टिः प्रजावद	२८५
सुषुप्त्याद्यसाक्षित्वम्	१०६	स्थानविशेषात्	४५६
सुषुप्त्युत्क्रान्तयो	४३३	स्थानाच्च पूर्वस्य	२१७
सूक्तवाके च काल	१९७	स्थानाच्चोत्पत्ति	२४५
सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्	४३३	स्थानात्तु पूर्वस्य	२१७
सूक्ष्मं प्रमाणतश्च	४७१	स्थानादिव्यपदेशाच्च	४२७
सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्ग	१४९	स्थानाद्वा परिलुप्ये	४१८
सूचकश्च हि श्रुतेरा	४५४	स्थानान्यत्वे नाना	२५
सेनावनवद् ग्रहण	१२	स्थानौ तु देशमात्र	३३१
सैव हि सत्यादयः	४६१	स्थान्युपनिमन्त्रणे	९६०
सोऽध्यक्षे तदुपगमादि	४७१	स्थित्यदनाभ्यां च	४२९
सोऽनपदेशः	६४	स्थिरकार्यसिद्धेः	९६

स्थिरसुखमासनम् ११५, १५४
स्थिरसुखमासनमिति १३८
स्थूलस्वरूपसूक्ष्मा १५९
स्थूलात्पञ्चतन्मात्रस्य ९७
स्पर्शवान् वायुः ५८
स्पर्शश्च वायोः ५८
स्पष्टोऽह्येकेषाम् ४७१
स्फटिकान्यत्वाभि २७
स्फटिकेऽप्यपरापरो २७
स्मरणं त्वात्मनो ३०
स्मरतः शरीरधारणोप २९
स्मरन्ति च ४४८, ४५२, ४६९
स्मर्यते च ४७१
स्मर्यतेऽपि च ४५२
स्मर्यमाणमनुमानं ४२८
स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूप १४९
स्मृतिरिति चेत् २८९
स्मृतिसंकल्पवच्च ४२
स्मृतेर्वा स्याद् ४१९
स्मृतेश्च १३६, ४२६, ४७३
स्मृत्यनवकाश ४३६
स्मृत्यानुमानाच्च १११
स्याच्चैकस्य ब्रह्म ४४४
स्याज्जुहूप्रतिषेध २३३
स्यात्तद्धर्मत्वात् ३५७
स्यत्तस्य मुख्यत्वात् २३२
स्यात्पौर्णमासीवत् ३९१
स्यात्प्रकृतिलिङ्गा २२८
स्यात्प्रयोगनिर्देशा ३९६
स्यात्श्रुति लक्षणे २६७
स्यादनित्यत्वात् २०४
स्यादर्थचोदितानां ३५६
स्यादर्थान्तरेष्व २९२
स्वादिज्यागामी २६९
स्याद्गुणर्थत्वात् ३५३
स्याद्योगाख्या हि १७६
स्याल्लिङ्गभावात् ३००
स्याद्वा आवाहनस्य ३५४
स्याद्वाऽनारभ्य ३१४
स्याद्वाऽन्यार्थदर्शनात् २१२
स्याद्वाऽस्यसंयोगवत् २०७
स्याद्वा कारणभावाद २१३
स्याद्वा कालस्य ४११
स्याद्वा द्रव्यचिकीर्षायां २३१
स्याद्वा द्रव्याभिधानात् ३५४
स्याद्वानिर्धानदर्शनात् ३३७
स्याद्वा प्रत्यक्ष ३३५
स्याद्वा प्रसर्पिकस्य ३३८
स्याद्वा प्राप्तनिमित्त २६९, २७६
स्याद्वा यज्ञार्थ २७७
स्याद्वा विधिस्तदर्थेन २५५
स्याद्वा होत्र ३७१
स्याद्विद्यार्थत्वाद्यथा २५२
स्याद्विशये तन्न्याय ३६६
स्याद्वोभयोः प्रत्यक्ष ३४०
स्याद् व्यपदेशात् ४०७
स्युर्वाऽर्थवादत्वात् ३४०
स्युर्वा होतृकामाः ३४०
स्रुगभिघारणाभावस्य २९८
स्रौवेण वाऽगुण ३७३
स्वकर्म स्वाश्रम ११५
स्वकाले स्याद २५५
स्वदाने सर्वमविशे २८०
स्वपक्षदोषाच्च ४३७, ४३९,
स्वपक्षलक्षणापेक्षो ४७
स्वपक्षे दोषाभ्युप ४९
स्वप्नजागराभ्यामि ११५
स्वप्ननदीतरणा ४०३
स्वप्ननिद्राज्ञाना १४८
स्वप्नविषयाभिमान ४२
स्वप्नान्तिकम् ८८
स्वभावस्यानपायि ९३

स्वभावाच्चेष्टित	११८	स्वार्थेन च प्रयुक्तत्वा	२७९
स्वयोनौ वा	३५३	स्विष्टकृत् श्रवणात्	४१३
स्वरसवाही विदुषो	१५०	स्विष्टकृति भक्षण	३७२
स्वरसामैककपा	२९४	स्विष्टकृदावपि	३५२
स्वरस्तूत्पतिषु	२९१	स्विष्टकृद्देवतान्य	३५२
स्वरस्येति चेत्	२९०	स्वे च	३१८
स्वरुश्चाप्येकदेश	२४२	स्वेन त्वर्थेन	२३०
स्वरुस्तन्त्रापवर्गः	३९४	स्वोपकारादधिष्ठान	१२५
स्करुस्त्वनेकनि	२३३	हरणे जुहोतिर्यो	२३४
स्वर्दृशं प्रति वीक्षणं	३६२	हरणे वा श्रुत्यसंयोगा	३६९
स्ववत्तमपि दर्श	२५८	हविर्गणे परमुत्तरस्य	३०४
स्ववत्तोस्तु वचना	२५८	हविर्धाने निर्वापणार्थ	४०६
स्वविषयानतिक्रमेणे	४०	हविर्भेदात् कर्मणो	३६९
स्वविपयासंप्रयोगे	१५५	हविषा वा नियम्येत	३०२
स्वस्थानत्वाच्च	४१३	हविषो वा गुणभूत	३७८
स्वस्थानविवृद्धि	३६१	हविष्कृत्सवनीयेषु	४१०
स्वस्थानात्तु विवृद्धि	२४९	हविष्कृदध्रिगुपुरोः	४०४
स्वस्वामिशक्त्योः	१५२	हस्तकर्मणा दारककर्म	७२
स्वशब्दोन्माना	४४५	हस्तकर्मणा मनसः	७४
स्वात्मना चोत्तरयोः	४४५	हस्तादयस्तु स्यिते	४४९
स्वाध्यायवद्वचनात्	१७३	हानमेपां क्लेशवदुक्तम्	१६३
स्वाध्यायस्य तथा	४५७	हानौ तूपायनशब्द	४५९
स्वाध्यायादिष्टदेवता	१५४	हारियोजने वा	२९३
स्वाप्ययसम्पत्त्यो	४७६	हिरण्यगर्भः पूर्वस्य	३४३
स्वाप्ययात्	४२३	हिरण्यमाज्य धर्म	३०१
स्वाभिश्च वचनं	३२५	हीनमन्यतमेना	४९
स्वाभिकर्मपरिक्रयः	२२४	हीने परे त्यागः	७७
स्वामित्वादितरेषा	२७८	हेतुत्वाच्च	२३२
स्वामिनि च दर्शना	३३८	हेतुदर्शनाच्च	१७४
स्वामिनः फलश्रुतेः	४६७	हेतुफलाश्रयालम्वनैः	१६२
स्वामिनो वा तदर्थत्वात्	२०२, २२६	हेतुमदनित्यं सक्रिय	१०४
स्वामिनो वैकशब्दद्यादु	३२३	हेतुमात्रमदन्तत्वम्	२०५
स्वामिसप्तदशाः कर्म	२२२	हेतुरपदेशो लिङ्ग	८७
स्वाम्याख्याः स्युर्गृह	३६६	हेतुर्वा स्यादर्थ	१७२
स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था	३२०	हेतूदाहरणाधिकम	४९
स्वार्थे वा स्यात्	२९०	हेतूपादानात् प्रति	३१

हेत्वपदेशात्प्रतिज्ञा	७	होमात्	२१५
हेत्वाभावादसिद्धिः	४२	होमाभिषवभक्षणं	२७०
हेत्वाभासाश्च यथो	५०	होमास्तु व्यवक्ष्ठिरेन्	२०७
हेयं दुःखमनागतम्	१५१	हौत्रास्तु विकल्पे	४१६
हेयत्वावचनाच्च	४२३	होत्रे परार्थत्वात्	४१६
होता वा मन्त्रवर्णात्	२१३	हृदये चित्त संवित्	१५८
होतुस्तथेति चेत्	४०८	हृद्यपेक्षया तु	४३१
होमाऽमषवाभ्यां	२१३		

स्वामी जगदीश्वरानन्द कृत विद्वतापूर्ण पुस्तकें

महाभारतम्
सामवेदशतकम्
वाल्मीकि रामायण (सचित्र)
ऋग्वेदशतकम्
सामवेद भाष्य
यजुर्वेदशतकम्
षड्दर्शनम्
अथर्ववेदशतकम्
विदुरनीतिः
भक्ति-संगीतशतकम्
चाणक्यनीति-दर्पण
दिव्य औषधियाँ
चतुर्वेद शतकम्
चमत्कारी औषधियाँ
विद्यार्थी लेखावली
घरेलू औषधियाँ
गायत्री चालीसा
स्वर्ण-पथ
भगवान् श्रीकृष्ण और गीता उपदेश
दिव्य रसायन : गोमूत्र
यज्ञोपवीत का महत्त्व
ईशोपनिषद्
सत्यनारायण व्रतकथा
वैदिक प्रश्नोत्तरी
भारत की अवनति के सात कारण
ऋग्वेद सूक्तिसुधा
ब्रह्मचर्य गौरव
अथर्ववेद सूक्तिसुधा
विद्यार्थियों की दिनचर्या
यजुर्वेद सूक्तिसुधा
कुछ करो कुछ बनो
वेद सौरभ
मर्यादा पुरुषोत्तम राम
वैदिक उदात्त भावनाएँ
आदर्श परिवार
हास-परिहास
वैदिक विवाह पद्धति
बाल शिक्षा

अक्टूबर 2009 में प्रकाशित नया साहित्य

राजर्षि मनु व उनकी मनुस्मृति : *सम्पादक : डॉ. सुरेन्द्र कुमार*—पं. गंगाप्रसाद उपाध्याय, आचार्य रामदेव, पं. भगवद्दत्त, पं. वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ. भवानीलाल भारतीय, डॉ. कृष्णलाल, डॉ. कृष्णवल्लभ पालीवाल, डॉ. उर्मिला रुस्तगी—इन सभी सुलझे हुए विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों से मनुस्मृति संबंधी भ्रान्तियों को दूर करने में सहायता मिलेगी। डॉ. सुरेन्द्र कुमार जी ने इसका सम्पादन कर अपने मनुस्मृति-संबंधी चिन्तन को भी पाठकों के लाभार्थ प्रस्तुत किया है। सुधी पाठकों के लिए यह बहुत ही उपयोगी सिद्ध होगी। (पृ. सं. 280)

सुविचार : *मदन रहेजा*—हमारा जीवन बीता जा रहा है, परन्तु हम अपनी ही धुन में जिए जा रहे हैं। हमने कभी अपना आत्मनिरीक्षण नहीं किया कि हमने आज तक क्या किया? यदि हम प्रतिदिन एक नया विचार पढ़ें और अपने जीवन में धारण करें तो हमारे जीवन में नया मोड़ आ सकता है। सुविचारों को अपने जीवन में अपना कर अपने अनमोल जीवन को सुधार एवं सँवार सकते हैं। (पृ. सं. 72)

बड़ों की बड़ी बातें : *प्रा. राजेन्द्र जिज्ञासु*—यह पुस्तक ऐसी ही विचारोत्तेजक घटनाओं का संकलन है, जो कि कुछ प्रेरक लोगों के जीवन से ली गई हैं। यह घटनाएँ जो शिक्षा दे रही हैं वह किसी स्कूल-कॉलिज की पाठ्य पुस्तक में नहीं मिलती। यह हमारे विचारों पर गहरी छाप छोड़ते हुए हमारे आचार-व्यवहार में परिवर्तन लाने में सक्षम हैं। (पृ. सं. 144)

गीत भण्डार : *पं. नंद लाल वानप्रस्थी*—लोक व्यवहार में गीतों का बड़ा सार्थक महत्व है। वैदिक काल, मध्य काल और वर्तमान काल में गीतों को पढ़कर, गाकर तथा सुनकर मनुष्य ने अपने दुखों को दूर करने की अनुभूति प्राप्त की है। इसीलिए गीत हमारे सुखों को बढ़ाने में सहायक होते हैं। (पृ. सं. 176)

त्याग की भावना : *पं. धर्मदेव वेदवाचस्पति*—त्याग मनुष्य जीवन का आधार-स्तम्भ है, सब धर्मों का मूल है। त्याग से मनुष्य के आत्मिक तथा सामाजिक जीवन का विकास होता है। श्रेय मार्ग का अनुकरण करने के लिए त्याग का रथ ही सामर्थ्यवान है। पवित्र भाव से किया हुआ त्याग मनुष्य में देवगुणों की पूर्ति करता है। (पृ. सं. 88)

सन्ध्या योग ब्रह्मसाक्षात्कार : *पं. जगन्नाथ पथिक*—प्रत्येक मानव क्लेशों से छुटकारा पाने के लिए छटपटाता है, और आनन्दमयी अक्षय शांति पाने के लिए कटिबद्ध दिखता है, किंतु उसके हाथ प्रायः असफलता ही लगती है। प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक सन्ध्या की वैज्ञानिक व्याख्या को लेखक ने चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है। (पृ. सं. 276)

षड्दर्शनम्

मैं कौन हूँ ? कहाँ से आया हूँ ? मेरे जीवन का उद्देश्य क्या है ? आनन्द की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? परमात्मा की उपलब्धि कैसे हो सकती है ? आदि अनेक प्रश्न मनुष्य के मस्तिष्क में चक्कर काटते रहते हैं। तत्वदर्शियों के मत में मनुष्य को इन विषयों का तत्त्वज्ञान हो सकता है। इसी तत्त्वज्ञान को भारतीय मनीषियों चिन्तकों और विचारकों ने 'दर्शन' की संज्ञा प्रदान की है।

तत्त्वज्ञान होने पर कर्म मनुष्य को बंधन में नहीं डालते। तत्त्वज्ञान मनुष्य को कर्म-बंधन से छुड़ा, प्रकृति और पुरुष का विवेक कराकर मानव-जीवन के चरम लक्ष्य=मोक्ष तक पहुँचा देता है।

भारतीय दर्शनों की विशेषता है उनका व्यवहारिक पक्ष, उनका आशावाद और नैतिक व्यवस्था में विश्वास, कर्म-सिद्धांत और मोक्षमार्ग का निर्देश।

प्रस्तुत पुस्तक में व्याख्या नहीं है, जिन्हें विस्तृत व्याख्या पढ़नी हो वे आचार्य उदयवीर शास्त्री जी के ग्रन्थ पढ़ें। हाँ, इस ग्रन्थ को पढ़ने पर भी दर्शन के अनेक रहस्य समझ आऐंगे।

यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी संस्करण सिद्ध होगा।

— जगदीश्वरानन्द सरस्वती

ISBN : 978-81-7077-121-4
9788170771214
षड्दर्शनम्
रु.300.00
विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द
www.vedicbooks.com

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द